उणादिकोषः

'पीयूष'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतोऽनेकोपयोगिपरिशिष्टैश्चोप-
बृंहितोऽनुसन्धानपरकदृष्ट्या निश्चितेन सूत्रपाठेन युतः



सोमलेखा • पं॰ ईश्वरचन्द्र

|| श्रीः ||

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला

133

उणादिकोषः

'पीयूष'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतोऽनेकोपयोगिपरिशिष्टैश्चोप-बृंहितोऽनुसन्धानपरकदृष्ट्या निश्चितेन सूत्रपाठेन युतः

व्याख्याकारौ

सोमलेखा

एम०ए० (संस्कृत)

एवम्

प० ईश्वरचन्द्रः

उपप्राचार्यः, संस्कृत-विभागाध्यक्षश्च

हरियाणाप्रदेशीयभिवानीनगरस्थराजकीय-

स्नातकोत्तरमहाविद्यालयीये



चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली

उणादिकोषः

प्रकाशक

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली - 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

पुनर्मुद्रित संस्करण 2014
पेज : VIII+528
मूल्य : ₹ 750.00

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069
वाराणसी - 221001



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के. 37/117 गोपाल मन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129
वाराणसी - 221001



चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड़
दरियाग़ंज, नई दिल्ली - 110002

ISBN : 978-81-7084-394-4

मुद्रक :
ए. के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

प्राक्कथन

वेदार्थ के परिज्ञान में वेदाङ्गों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वेदाङ्ग छः हैं, यथा—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्यौतिष। वेदाङ्गों में व्याकरण को सर्वप्रमुख माना गया है। द्र० 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'। संस्कृत व्याकरण परम्परा में अनेक व्याकरण सम्प्रदाय हैं, जिनमें पाणिनीय तन्त्र ही अपने सर्वातिशायी गुणों के आधार पर सर्वश्रेष्ठ है। सभी उपलब्ध व्याकरणों में सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्रपाठ तथा लिङ्गानुशासन—ये पाँच पाठ प्राप्त होते हैं। अतएव वैयाकरण निकाय में व्याकरण की कृत्स्नता के द्योतन के लिए 'पञ्चाङ्ग व्याकरण' का व्यवहार होता है। यद्यपि व्याकरणशास्त्र के उपर्युक्त पाँचों अवयवों में सूत्रपाठ ही मुख्य होता है, तथापि शेष चार अङ्गों के शब्दानुशासन के उपकारी होने से इनका भी महत्त्व कम नहीं है।

संस्कृत भाषा में ऐसे हजारों शब्द प्रचलित हैं, जो धातुओं से निष्पन्न तो हैं, परन्तु व्यवहार में वे उस-उस मूल धातु का अर्थ न देकर किसी अन्य अर्थों में रूढ हो गये हैं। वैयाकरणों ने एतादृश शब्दों को एक पृथक् कोटि में रखा है। ये शब्द रूढ कहलाते हैं। अत: शब्दों की व्युत्पत्ति की दृष्टि से दो प्रमुख मत प्राप्त होते हैं। शाकटायन प्रभृत्ति आचार्यों एवं गार्ग्य आदि नैरुक्तों का मत है कि संस्कृत भाषा के प्रत्येक शब्द का प्रकृतिप्रत्यय विभाग सम्भव है। यह व्युत्पत्तिं पक्ष कहलाता है। शाकटायन से अतिरिक्त आचार्यों का मत है कि संस्कृत के सभी शब्द यौगिक नहीं हैं तथा संस्कृत साहित्य में हजारों ऐसे शब्द उपलब्ध होते हैं जिनमें स्वरवर्णाऽनुपूर्वी विशिष्ट समुदाय से अर्थविशेष की प्रतीति होती है। इन शब्दों में प्रकृतिप्रत्यय विभाग सम्भव नहीं होता है। यह अव्युत्पत्ति पक्ष कहलाता है।

आचार्य पाणिनि ने यौगिक शब्दों का प्रकृतिप्रत्यय विभाग अष्टाध्यायी में कृदन्त प्रकरण के अन्तर्गत किया है। इसके साथ ही पाणिनि के मत में औणादिक शब्दों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मान लिये जाने पर भी प्रकृतिप्रत्यय विभाग रूप सिद्धान्त की रक्षा के लिए उन्होंने उणादि सूत्रों की रचना की।

वैयाकरण सम्प्रदाय में मान्यता है कि प्राचीन काल में उणादि सूत्र शब्दानुशासन के कृदन्त प्रकरण में ही सम्मिलित हुआ करते थे, परन्तु कालान्तर में

इन्हें सूत्रपाठ के खिलपाठ के रूप में सम्मिलित किया जाने लगा। यद्यपि उणादि सूत्रों के स्वल्प होने से उनकी रचना मात्र से आचार्य की रूढ शब्दों के प्रकृतिप्रत्यय विभाग रूप उद्देश्य की पूर्त्ति सम्भव नहीं है, तथापि उणादि सूत्रों को प्रकृतिप्रत्यय विभाग का निदर्शक मात्र कहा जा सकता है। वस्तुत: ये सूत्र 'उणादयो बहुलम्' का प्रपञ्चमात्र हैं। विशेषरूप से वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति में उणादि सूत्रों की प्रमुख भूमिका है।

पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय में आश्रीयमाण उणादि पाठ दो रूपों में प्राप्त हैं। यथा—पञ्चपाद्युणादिपाठ तथा दशपाद्युणादिपाठ। पञ्चपादी में 753 सूत्र हैं। ये पाँच पादों में उपदिष्ट होने के कारण पञ्चपादी कहलाते हैं। दशपादी पाठ का आधार पञ्चपादी पाठ है। अत: पञ्चपादी पाठ प्राचीनतर है। अधिकांश विद्वान् पञ्चपादी पाठ को ही पाणिनीय स्वीकार करते हैं। इस मत के समर्थक महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा भट्टनारायण हैं, परन्तु आचार्य कैयट, श्वेतवनवासी, नागेशभट्ट तथा वासुदेव प्रभृति विद्वान् पञ्चपादी को आचार्य शाकटायन प्रणीत मानते हैं। प्राय: मूलभूत शब्दानुशासन का उपदेशकर्त्ता और उसके खिलपाठों का प्रणेता एक ही आचार्य हुआ करता है। अत: आचार्य पाणिनि के द्वारा उपदिष्ट सूत्रपाठ से सम्बद्ध व उसका खिलपाठ उणादिसूत्र कोष इतर आचार्य (अर्थात् शाकटायन) की रचना कैसे हो सकती है ? अत: उणादि सूत्रों के प्रणेता आचार्य पाणिनि ही हैं।

पञ्चपादी के सूत्रों में न्यूनाधिक्य के साथ अनेक पाठान्तर भी उपलब्ध होते हैं। इसके आधार पर आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक ने पञ्चपादी के तीन पाठों की कल्पना की है; यथा—प्राच्य, औदीच्य और दाक्षिणात्य। द्र० 'व्याकरण शास्त्र का इतिहास' भाग 2।

अधिकांश व्याख्याकारों ने अपनी वृत्तियाँ पञ्चपादी पर ही लिखी हैं। इनमें श्वेतवनवासी के द्वारा आश्रीयमाण पाठ ही अधिक प्रामाणिक है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार पञ्चपादी पर अठारह वृत्तियाँ तथा दशपादी पर तीन वृत्तियाँ—इस प्रकार कुल इक्कीस वृत्तियाँ ही प्राप्त हैं। इनमें मुख्य-मुख्य टीकाओं का विवरण नीचे दिया जा रहा है; यथा—

1. पञ्चपादी पर आचार्य उज्ज्वलदत्त की विस्तृत टीका प्राप्त होती है।

2. पञ्चपादी पर श्वेतवनवासी कृत एक उत्कृष्ट वृत्ति प्राप्त है। यह मद्रास विश्वविद्यालय के 'संस्कृत ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत प्रकाशित हुई है।

3. आचार्य भट्टोजि दीक्षित ने स्वकीय ग्रन्थ वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के अन्तर्गत उणादि पाठ पर एक संक्षिप्त वृत्ति लिखी है। सम्भवत: यह वृत्ति प्राच्य पाठ पर आधारित है। भट्टोजिकृत वृत्ति पर स्वयं दीक्षित ने एक व्याख्या की रचना की है, जो प्रौढमनोरमा के अन्त में प्राप्त होती है। ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने भी एक वृत्ति लिखी है। वासुदेव दीक्षित ने वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी की बालमनोरमा टीका की रचना की। इन्होंने आचार्य भट्टोजि रचित उणादि वृत्ति की व्याख्या लिखी है।

4. नारायणभट्ट ने उणादिकोष पर एक संक्षिप्त वृत्ति लिखी है। सम्भवत: यह वृत्ति दाक्षिणात्य पाठ पर आधारित है।

5. पञ्चपादी पर महादेववेदान्ती की एक वृत्ति प्राप्त होती है, जो अडियार (मद्रास) से प्रकाशित है।

6. रामचन्द्र दीक्षित कृत वृत्ति का नाम 'मणिदीपिका' है।

7. वेङ्कटेश्वर ने पञ्चपादी पर 'उणादि निघण्टु' वृत्ति लिखी है।

8. पेरुसूरि ने 'औणादिक पदार्णव' नामक एक श्लोकबद्ध व्याख्या की रचना की है।

9-10. नारायणसुधी तथा रामशर्मा की वृत्तियाँ भी प्राप्त होती हैं।

11. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पञ्चपादी पर एक उत्कृष्ट वृत्ति का प्रणयन किया है। यह वृत्ति स्वल्पाक्षरा होते हुए भी अत्यधिक उपादेय है। यद्यपि इस व्याख्या में सूत्रार्थ नहीं दिया गया है, तथापि वृत्ति से ही सूत्रार्थ अवगत हो जाता है। स्वामी जी ने प्रत्येक औणादिक शब्द के यौगिक एवं रूढ दोनों प्रकार के अर्थों का निर्देश किया है। यह वृत्ति निर्वचन प्रधान है।

धन्यवाद-ज्ञापन शृङ्खला में मैं सर्वप्रथम अनाथनाथ भगवान् विश्वनाथ का हृदय से आभार प्रकट करती हूँ, जिनकी कृपा के बिना इस जगत् में कोई भी कार्य पूर्ण नहीं हो पाता है। तत्पश्चात् मैं अपने पूज्य पिता पं० ईश्वरचन्द्र के प्रति कृतज्ञ हूँ। आपने मुझे आद्याक्षर ज्ञान से लेकर व्याकरण के आकर ग्रन्थों के अध्यापन पर्यन्त माँ भारती की उपासना रूप मार्ग पर अङ्गुलि पकड़ कर चलना सिखाया है। अपि च, प्रस्तुत व्याख्या में आपका अत्यधिक सहयोग रहा है। अत: मैं अपने पिता के प्रति केवल दो शब्द कहकर अनृणी नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त जिन विद्वानों से अथवा ग्रन्थों से मैंने प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से सहायता ली है, उन सभी के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ। मानव-सुलभ अल्पज्ञता एवं प्रमाद के कारण ग्रन्थ

में कुछ अशुद्धियों का रह जाना स्वाभाविक है। विद्वान् लोगों से विनम्र प्रार्थना है कि मेरी त्रुटियों को क्षमा करते हुए अपने सत्परामर्शों के द्वारा मुझे अनुगृहीत करें, ताकि प्रस्तुत टीका को भविष्य में अधिक उपादेय बनाया जा सके। इत्यलम्।

सोमलेखा

फाल्गुन कृष्णा, द्वितीया
शनिवार, वि०सं० 2064
अभिजित, 1915 सै० 13
भिवानी (हरियाणा)

संक्षेप-बोधक-सूची

अ०	-	अष्टाध्यायी
अका०	-	अकारान्त
अथ०	-	अथर्ववेद
अनु०	-	अनुवृत्ति
अव्य०	-	अव्ययपद
उ०सू०	-	उणादिसूत्र
उदा०	-	उदाहरण
ऋ०	-	ऋग्वेद
ऋ०भा०	-	ऋग्वेदभाष्य
क्षी०त०	-	क्षीरतरङ्गिणी
ग०सू०	-	गणसूत्र
टिप्प०	-	टिप्पणी
तत्त्व०	-	तत्त्वबोधिनी टीका
तु०	-	तुलनीय
द०वृ०	-	दशपाद्युणादिवृत्ति
द्र०	-	द्रष्टव्य
नि०	-	निरुक्त
पञ्च०	-	पञ्चपाद्युणादिवृत्ति
पद०	-	पदच्छेद
पदम०	-	काशिका वृत्ति की पदमञ्जरी टीका
पा०	-	पाणिनीयाऽष्टाध्यायी
पाठा०	-	पाठान्तर
पृ०	-	पृष्ठ
प्र०	-	प्रत्यय
प्रौ०म०	-	प्रौढमनोरमा
फि०सू०	-	फिट्सूत्र
भा०	-	भाग
भौ०	-	भौवादिक

महा०	-	महाभाष्य
यजु०	-	यजुर्वेद
लि०सू०	-	लिङ्गानुशासन सूत्र
वा०	-	वार्तिक
वै०सि०कौ०	-	वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
श्वे०उ०वृ०	-	श्वेतवनवासिकृत उणादिवृत्ति
सं०	-	संस्कृत टीका
स०क०	-	सरस्वतीकण्ठाभरण
समा०	-	समाधान
सा०	-	सायणाचार्य
स्वा०द०वृ०	-	स्वामि-दयानन्दवृत्ति



॥ श्रीः ॥

उणादिकोषः

'पीयूष'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतः



विशेष—पाणिनीय-अष्टाध्यायीगत निम्नलिखित अधिकार उणादि सूत्रपाठ से सम्बद्ध हैं। इनकी व्याख्या नीचे दी जा रही है—

1. **प्रत्ययः (पा० 3.1.1)**—यह अधिकार है। अष्टाध्यायी के पञ्चम अध्याय की समाप्ति पर्यन्त यह अधिकार चलता है। आचार्य पाणिनि ने तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम—इन तीन अध्यायों में विभिन्न प्रत्ययों का उपदेश किया है। इस अधिकार का यहाँ सम्बन्ध होने से उणादिकोष में पठित 'उण्' आदि शब्दों की प्रत्यय-सञ्ज्ञा होती है।

2. **परश्च (पा० 3.1.2)**—यह भी अधिकार है। अष्टाध्यायी के पञ्चम अध्याय की समाप्ति पर्यन्त यह अधिकार जाता है। इसका अर्थ है कि प्रत्यय-सञ्ज्ञक शब्द सदा प्रकृति से परे होता है। इस प्रकार उण् आदि प्रत्यय उणादिसूत्रोक्त धातुओं से परे होते हैं।

3. **आद्युदात्तश्च (पा० 3.1.3)**—यह भी अधिकार है। इसका अर्थ है कि प्रत्ययसञ्ज्ञक शब्द आद्युदात्त होता है। स्वर तीन होते हैं—उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित। आद्युदात्त का अर्थ है—आदि अच् उदात्त होता है। यदि प्रत्यय एकाच् हो तो उसे व्यपदेशिवद्भाव से उदात्त स्वर हो जाता है। यदि प्रत्यय एकाधिक अच् वाला हो तो आदि अच् उदात्त होता है। शेष अचों को 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा० 6.1.155) से अनुदात्त हो जाता है।

4. **अनुदात्तौ सुप्पितौ (पा० 3.1.04)**—यह अधिकार है। अर्थ—सुप् और पित् प्रत्यय अनुदात्त होते हैं। व्याकरणशास्त्र में विभिन्न कार्यों के प्रयोजन से प्रत्यय के साथ अनुबन्धों की योजना की जाती है। यथा—

पित्—सार्वधातुक लक्षण व आर्धधातुक लक्षण गुण करने के लिए प्रत्यय के साथ 'प्' अनुबन्ध जोड़ा जाता है। जिस प्रत्यय के साथ 'प्' अनुबन्ध नहीं होता है तथा

यदि वह शित् भी है तो उस प्रत्यय को 'सार्वधातुकमपित्' (पा० 1.2.4) से ङित् मान लिया जाता है। जिसके परे रहते गुण-वृद्धि का निषेध होता है।

ङित्—जिस प्रत्यय का ङ् इत्सञ्ज्ञक होता है, वह ङित् प्रत्यय होता है। ङित् प्रत्यय के परे रहते गुण-वृद्धि का निषेध होता है।

नित्—न् अनुबन्ध 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196) से आद्युदात्त स्वर के लिए होता है।

लित्—ल् अनुबन्ध 'लिति' के द्वारा उदात्त स्वर के लिए होता है।

कित्—क् अनुबन्ध गुण-वृद्धि निषेध आदि कई कार्यों के लिए होता है।

इसी प्रकार अन्य अनुबन्धों के विषय में जानना चाहिए। 'स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्-भिस्०' (पा० 4.1.2) से इक्कीस प्रत्ययों का विधान किया गया है। सुप् एक प्रत्याहार है। सु से लेकर सुप् तक 21 प्रत्ययों का ग्रहण सुप् प्रत्याहार के द्वारा होता है।

5. धातोः (पा० 3.1.91)—यह अधिकार तृतीय अध्याय की समाप्ति तक चलता है। अर्थ—प्रत्ययसञ्ज्ञक शब्द धातुसञ्ज्ञक शब्द से परे होता है। 'भूवादयो धातवः' (पा० 1.3.1) से धातुपाठ में पठित भू आदि शब्दों की धातुसञ्ज्ञा होती है। उण् आदि प्रत्यय भी सूत्रोक्त धातुओं से परे होते हैं।

6. तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (पा० 3.1.92)—धात्वधिकार में सप्तमी विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट पद की 'उपपद' सञ्ज्ञा होती है। यथा—'वंदः सुपि क्यच् च' (पा० 3.1.106)। यहाँ 'सुपि' सप्तम्यन्त पद है। सुप् की उपपद सञ्ज्ञा है। तदन्तविधि होकर 'सुबन्ते' ऐसा बन जाता है। 'सुपि' का अर्थ है—'सुबन्त उपपद रहते'।

7. कृदतिङ् (पा० 3.1.93)—अर्थात् धात्वधिकार (पा० 3.1.91) में विहित जो तिङ् से भिन्न प्रत्यय, उसकी कृत् सञ्ज्ञा होती है। तिप्-तस् आदि अठारह प्रत्ययों को तिङ् कहते हैं। इस तृतीय अध्याय में तिङ् से अतिरिक्त जो तव्यत् आदि प्रत्ययों का विधान है, वे सभी कृत्सञ्ज्ञक हैं। उण् आदि की कृत् सञ्ज्ञा होने से उण् प्रत्ययान्त शब्द कृदन्त हुआ। तब 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (पा० 1.2.46) से उसकी प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होकर 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च' के अधिकार में 'स्वौजसमौट्छष्टा०' से इक्कीस प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है।

8. उणादयो बहुलम् (पा० 3.3.1)—अर्थात् वर्त्तमान काल में सञ्ज्ञा के वाच्य होने पर उण् आदि प्रत्यय बहुलता से होते हैं। 'बहुलम्' पद की चतुर्धा प्रवृत्ति होती है। यथा—

(i) क्वचित् प्रवृत्ति—कहा विधान होता है। यथा—'कृवापाजिमि०' (उणादि-कोश 1.1) से कृ आदि धातुओं से परे उण् प्रत्यय होता है।

(ii) क्वचिदप्रवृत्ति—कहीं विधान नहीं होता है। यथा—'ञमन्ताड्ड:' (उ०सू० 1.114) के द्वारा षण् धातु से परे 'ड' प्रत्यय होता है। षण् ड—धातुसञ्ज्ञा, ड प्रत्यय। अब 'धात्वादे: ष: स:' से धातु के आदि षकार को सकार आदेश प्राप्त हुआ। इसी प्रकार 'चुटू' के द्वारा 'ड' के डकार की इत्सञ्ज्ञा प्राप्त है। इन दोनों कार्यों की अप्रवृत्ति देखी जाती है। षण्ड सु। षण्ड:। इसी प्रकार 'यजिमनिशुन्धि०' (उ०सू० 3.20) के द्वारा मन् धातु से युच् प्रत्यय होता है। मन् युच्—इस स्थिति में 'युवोरनाकौ' से 'यु' को 'अन' आदेश प्राप्त हुआ, परन्तु इसकी अप्रवृत्ति देखी जाती है। मन् यु सु = मन्यु:।

(iii) क्वचिद् विभाषा—कहीं-कहीं कार्य विकल्प से प्रवृत्त होता है।

(iv) क्वचिदन्यदेव—कहीं सूत्रोक्त क्षेत्र से अतिरिक्त स्थल पर भी कार्य देखा जाता है। यथा—'कृवापाजि.' (उ०सू० 1.1) से कृ आदि आठ धातुओं से उण् प्रत्यय का विधान है, परन्तु उण् प्रत्यय सूत्रोक्त आठ धातुओं से अतिरिक्त धातु से भी देखा जाता है। यथा—रह् उण्—'अत उपधाया:' (पा० 7.2.116) से वृद्धि होकर 'राहु' बनता है। वस् उण् = वासु:। स्ना उण् = स्नायु:। कक् उण् = काकु:

9. **भूतेऽपि दृश्यन्ते (पा० 3.3.2)**—अर्थात् उणादि प्रत्यय भूतकाल में भी देखे जाते हैं।

10. **भविष्यति गम्यादय: (पा० 3.3.3)**—अर्थात् गम्यादि शब्दों में विहित उणादि प्रत्यय भविष्यत् काल में होते हैं।

11. **कर्त्तरि कृत् (पा. 3.4.67)**—अर्थात् कृत्सञ्ज्ञक प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होते हैं, परन्तु 'उणादयो बहुलम्' (पा० 3.3.1) में 'बहुलम्' पद के ग्रहण से उण् आदि प्रत्यय कर्त्ता से भिन्न अर्थ में भी दृष्टिगोचर होते हैं। यथा—तरन्त्यनयेति तरणि:—यहाँ करण अर्थ में प्रत्यय हुआ है।

12. **ताभ्यामन्यत्रोणादय: (पा० 3.4.75)**—अर्थात् अपादान और सम्प्रदान कारकों से अतिरिक्त कारकों में भी उण् आदि प्रत्यय होते हैं।

पूर्वोक्त बारह सूत्रों की यहाँ बार-बार आवश्यकता पड़ती है। अत: उणादि सूत्रों के सम्यग् बोध के लिए पाठकों को इन सूत्रों का अर्थ हृदयगंम कर लेना चाहिए।

प्रथमः पादः

(1) कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् [1.1]

पद०—कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्यः 5.3, उण् 1.1

सं०—कृ-वा-पा-जि-मि-स्वद्-साध्-अश्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य उण् प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्यः यह पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा प्रवृत्त होती है। उण् के णकार की इत् सञ्ज्ञा 'हलन्त्यम्' से होती है। प्रत्ययः, परश्च का अधिकार है। प्रत्यय को णित् करने के दो फल हैं—(i) 'अचो ञ्णिति' (पा० 7.2.115) से वृद्धि आदेश तथा 'अत उपधायाः' से उपधा को वृद्धि आदेश होता है। अर्थ—कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद्, साध् और अश्—इन धातुओं से परे उण् प्रत्यय होता है।

'निरनुबन्धकग्रहणेन सानुबन्धकस्य ग्रहणम्' परिभाषा के द्वारा यहाँ सूत्रोक्त कृ आदि निरनुबन्धक के ग्रहण के विषय में अनुबन्ध युक्त धातुओं का भी ग्रहण होता है अथवा सामान्य रूप से ग्रहण होता है। तब 'कृ' के द्वारा डुकृञ् करणे, कॄञ् हिंसायाम् तथा कृञ् करणे—इन तीन धातुओं का ग्रहण होता है। 'वा' के द्वारा 'वा गतिगन्धनयोः' तथा 'ओवै शोषणे' का ग्रहण होता है। राध-साध ये दो संसिद्धि अर्थ में सौत्र धातु हैं। यहाँ 'साधि' इस णिच् प्रत्ययान्त का ग्रहण होता है अथवा यह प्रकृत्यन्तर है।

स्वा०द०वृ०—करोतीति **कारुः** कर्त्ता, शिल्पी वा। वाति गच्छति जानाति वेति **वायुः** पवनः, परमेश्वरो वा। पाति रक्षति स **पायुः** रक्षकः, गुदेन्द्रियं वा। जयत्यभिभवति तिरस्करोति शत्रूनिति **जायुः** शूरः; जयति रोगानिति **जायुः** औषधं, वैद्यो वा। यो मिनोति प्रक्षिपति स **मायुः**; अथवा मिनोति प्रक्षिपत्यूष्माणमिति **मायुः** पित्तम्। गां विकृतां वाचं मिनोतीति **'गोमायुः'** शृगालो [वा]। स्वद्यते भोक्तुमभीप्स्यते तत् **स्वादु**, भोज्यमन्नं वा। साध्नोति धर्म्यं कर्मेति **साधुः** सज्जनः। अश्नुते व्याप्नोति तत् **आशु** शीघ्रम्। अश्नुते सद्योऽध्वानमिति **आशुः** अश्वो वा; अश्यते भुज्यते शीघ्रमिति **आशुः** धान्यं व्रीहि[र्वा]।

बहुलवचनात्—स्नाति शोधयत्यङ्गानीति **स्नायुः**, नाडी वा। कथ्यते लोलश्च-

श्चलो भवति येनेति **काकुः** भयादिः, ध्वनेर्विकारो वा। हल्यते छिद्यतेऽन्नमनेनेति **हालुः**, दन्तो वा। वसति जगदस्मिन् सर्वस्मिन् वा यो वसति स **वासुः** ईश्वरः, इत्यादि।

उदा०—(1) कारुः (= कर्त्ता, शिल्पि, भृत्य, कलाकार, वर्त्तमान काल)—करोति कृणोति करतीति वा = कारुः। कृ धातु से धातोः, प्रत्ययः, परश्च इनके अधिकार में प्रकृत सूत्र से उण् प्रत्यय हुआ। कृ उण्—'अचो ञ्णिति' से इगन्त अङ्ग कृ के इक् (ऋ) के स्थान पर वृद्धि आदेश प्राप्त हुआ। 'वृद्धिरादैच्' तथा 'उरण् रपरः' के द्वारा ऋ के स्थान पर आर् आदेश हुआ। कार् उ—प्रातिपदिक सञ्ज्ञा तथा प्रथमा एकवचन की विवक्षा में सु प्रत्यय हुआ। कारु सु—अनुबन्धलोप, ससजुषो रुः, विरामोऽवसानम्, खरवसानयोर्विसर्जनीयः।

(2) वायुः (पवन, परमेश्वर)—वाति गच्छति जानाति वायति द्रव्याणि इति वायुः। वा धातु से पूर्ववत् उण् हुआ। 'आतो युक् चिण्कृतोः' (पा० 7.3.33) से युक् आगम हुआ। 'हलन्त्यम्' से क् की इत्सञ्ज्ञा है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से युक् आगम वा अङ्ग का अन्त्य अवयव बनता है। वाय् उ—प्रातिपदिक सञ्ज्ञा, सु।

(3) पायुः (= रक्षक, गुदेन्द्रिय)—पाति रक्षति पिबन्त्यनेन तैलादिकमिति पायुः। पा उण्—'आतो युक् चिण्कृतोः' (पा० 7.3.33) से युक् आगम। पा य् उ—अनुबन्धलोप। पायु—प्रातिपदिक सञ्ज्ञा, सु।

(4) जायुः (= शूर, औषध, वैद्य)—जयत्यभिभवति तिरस्करोति शत्रून्। जयत्यनेन रोगान्। जयति रोगान्। जि उण्—इस स्थिति में 'अचो ञ्णिति' (पा० 7.2.115) से वृद्धि आदेश। जै उ—'एचोऽयवायावः'। जाय् उ सु।

(5) मायुः (= पित्त, गीदड़, मान)—यो मिनोति प्रक्षिपति (ऊष्माणम्)। गां विकृतां वाचं मिनोति इति गोमायुः। करण अर्थ में—मीयतेऽनेनेति। मि उण्—अङ्गसञ्ज्ञा, 'अचो ञ्णिति' से इगन्त अङ्ग को वृद्धि आदेश। मै उ—'एचोऽयवायावः' (पा० 6.1.76)।

(6) स्वादुः (= भोज्य, अन्न)—स्वद्यतेऽनेनेति, स्वदनं वा। स्वद् उण्—'अत उपधायाः' से उपधाभूत ह्रस्व अकार के स्थान पर वृद्धि आदेश—स्वाद् उ सु।

(7) साधुः (= सज्जन)—साध्नोति साधयति वा परकृत्यानीति। साध्नोति धर्म्यं कृत्यमिति। साध् उण् सु।

(8) आशु (= शीघ्र, अश्व, व्रीहि धान्य)—अश्नुते व्याप्नोति तद् आशु। अश्नुते सद्योऽध्वानं सः आशुः। अश्यते भुज्यते शीघ्रं सः। अश् उण्—अत उपधायाः। आशु सु।

विशेष—'उणादयो बहुलम्' (पा० 3.3.1) में 'बहुलम्' के ग्रहण से सूत्रोक्त धातुओं से अतिरिक्त धातुओं से भी उण् उपलब्ध होता है। यथा—

(1) स्नायुः (= नाडी)—स्नाति शोधयत्यङ्गानीति। स्ना उण्—पूर्ववत् युक् आगम।

(2) काकुः (= ध्वनिविकार)—कक्यते लोलश्चञ्चलो भवति येन सः। कक् उण्—'अत उपधायाः' से उपधा के स्थान पर वृद्धि आदेश, सु।

(3) हालुः (= दाँत)—हल्यते छिद्यतेऽन्नम् अनेन सः। हल् उण्—अत उपधायाः।

(4) वासुः (= ईश्वर)—वसति जगद् अस्मिन् सर्वस्मिन् वा यो वसति सः। वस् उण्—पूर्ववत्।

(2) छन्दसीणः [1.2]

पद०—छन्दसि 7.1, इणः 5.1

अनु०—'कृवापाजिमिस्वदि०' (उ०सू० 1.1) से 'उण्' की अनुवृत्ति है।

सं०—छन्दसि अर्थात् वेदे इण्धातोर् उण् प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—'छन्दसि' यह सप्तम्यन्त पद है। यहाँ विषयसप्तमी है। यहाँ 'इण् गतौ' धातु का ग्रहण होता है। इणः यह पञ्चम्यन्त पद है। अर्थ—वेद के विषय में इण् गतौ धातु से परे उण् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—वेद इण् धातोरुण्। एति प्राप्नोति सर्वानिति **आयुः** जीवनकालः। सान्तस्तु द्वितीयपादे वक्ष्यते।

उदा०—(1) आयुः (= जीवन, उर्वश्याः पुत्रः-जटायुः)—एतीति। इ उण्—'अचो ञ्णिति' से वृद्धि आदेश। ऐ उ—'एचोऽयवायावः'। आय् उ सु।

(3) दृसनिजनिचरिचटिरहिभ्यो ञुण् [1.3]

पद०—दृसनिजनिचरिचटिरहिभ्यः 5.3, ञुण् 1.1

सं०—दृ-सन्-जन्-चर्-चट्-रह् इत्येतेभ्यो धातुभ्यो ञुण् प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—दृ, सन्, जन्, चर्, चट् और रह्—इन धातुओं से परे ञुण् प्रत्यय होता है। ण् की 'हलन्त्यम्' से तथा ञ् की 'चुटू' से इत्सञ्ज्ञा होती है। शेष 'उ' बचता है।

दृ के द्वारा 'दृ विदारणे' तथा 'दृ भये'—इन दोनों धातुओं का ग्रहण होता है। सनि के द्वारा 'षण सम्भक्तौ' तथा 'षण दाने'—इन दो धातुओं का ग्रहण होता है। जनि

के द्वारा 'जनी प्रादुर्भावे' तथा 'जन जनने'—इन दो धातुओं का ग्रहण होता है। चरि के द्वारा 'चर गतौ' का, चटि के द्वारा 'चट-वट भेदे' का तथा रहि के द्वारा 'रह त्यागे' का ग्रहण होता है। पूर्वशास्त्र से उण् का अनुवर्त्तन सुलभ होने पर भी ञुण् प्रत्ययान्तर का विधान स्वरार्थ किया गया है। भाव यह है कि 'ञ्' अनुबन्ध अधिक जोड़ने का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर करना है। द्रष्टव्य—ञ्नित्यादिर्नित्यम् (पा० 6.1.196)। ञुण् प्रत्यय में ञ् अनुबन्ध के दो प्रयोजन हैं—आद्युदात्त स्वर तथा 'जनिवध्योश्च' (पा० 7.3.35) से वृद्धि-निषेध। तब ण् अनुबन्ध व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि अनुबन्धद्वय के निर्देश सामर्थ्य से निषिद्ध वृद्धि आदेश निर्बाध हो जाता है। यथा—जन् ञुण्—जानु सु।

स्वा०द०वृ०—दीर्यते भिद्यते इति **दारु,** काष्ठं वा। सनति सम्भजति सनोति ददाति वा स **सानुः**; पर्वतैकदेशशृङ्गबुधमार्गवात्यापर्णवनानि च सानूनि वा। जायन्तेऽस्मात् तत् **जानु,** जङ्घाया उपरिभागो वा। **जनिवध्योश्च** [7.3.35] इति प्रतिषिद्धाऽप्यनुबन्धद्वयसामर्थ्याद् वृद्धिर्भवति। चरति चक्षुरादिष्विति **चारु** शोभनम्। चटति भिनत्तीति **चाटु,** प्रियं वचो वा। रहति त्यजति दोषानिति **राहुः,** ग्रहविशेषो वा।

उदा०—(1) दारु (= काष्ठ)—दीर्यते भिद्यते। दरति। दृणाति। कर्म और कर्त्ता अर्थों में दृ धातु से ञुण् हुआ। दृ उ—'अचो ञ्णिति' (पा० 7.2.115) से वृद्धि आदेश। 'उरण् रपरः' से आर् के रूप में आदेश। दार् उ सु—'स्वमोर्नपुंसकात्' (पा० 7.1.23) से 'सु' का लुक्।

(2) सानुः (= चोटी)—सनति-सनोति ददाति। सन् ञुण्—'अत उपधायाः' (पा० 7.2.116) से उपधा के स्थान पर वृद्धि आदेश, सु।

(3) जानु (= जंघा का उपरिभाग)—जायन्तेऽस्मात् तत् जायते। जन्यते। जन् ञुण्-जन् उ—'अत उपधायाः' से उपधाभूत अत् को वृद्धि आदेश प्राप्त। 'जनिवध्योश्च' (पा० 7.3.35) से वृद्धि-निषेध, परन्तु प्रत्यय में अनुबन्धद्वय के निर्देश से वृद्धि आदेश निर्बाध हो जाता है। जान् उ सु।

(4) चारु (= शोभन)—चरति चक्षुरादिष्विति। चरन्ति यत्र नेत्राणि। अधिकरण अर्थ में चर् धातु से प्रत्यय हुआ। चर् उ—'अत उपधायाः' से वृद्धि। चार् उ सु—'स्वमोर्नपुंसकात्'।

(5) चाटु (= प्रियवचन, चापलूसी)—चटति भिनति। ण्यन्तात् चाटेः धातोर्वा चाटयतीति। चट् धातु से प्रत्यय। अत उपधायाः, सु। बहुलशब्द के ग्रहण से वृद्धि का अभाव होकर 'चटु' शब्द इसी अर्थ में ही उपलब्ध होता है। अथवा 'सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' परिभाषा से वृद्धि आदेश का अभाव होता है।

(6) राहुः (= एक ग्रह)—रहति त्यजति दोषान्। कर्त्तरि। राह्यतेऽनेन। करणे। रह् ञुण्—अत उपधायाः। राह् उ सु। राहि ञुण्—'णेरनिटि' से णिलोप। राह् उ सु।

(4) किञ्जरयोः श्रिणः [1.4]

पद०—किञ्जरयोः 7.2, श्रिणः 5.1

अनु०—'दृसनिजनिचरिचटिरहिभ्यो ञुण्' (उ०सू० 1.3) से 'ञुण्' की अनुवृत्ति है।

सं०—किम् जरा इत्येतयोर् उपपदयोर् यथासङ्ख्यं शृ इण् इत्येताभ्यां ञुण्-प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—'किञ्जरयोः' यह सप्तम्यन्त पद है। 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' (पा० 3.1.92) से किम् और जरा—इन शब्दों की उपपद सञ्ज्ञा है। श्रिणः यह पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा प्रवृत्त होती है अर्थात् शृ और इण्—इन धातुओं से परे प्रत्यय होता है। दो उपपद (किम्, जरा) हैं तथा दो ही धातु (शृ, इण्) हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा प्रवृत्त होकर किम् पूर्वक शृ धातु से तथा जरापूर्वक इण् धातु से प्रत्यय होता है। अर्थ—किम् उपपद रहते शृ धातु से तथा जरा उपपद रहते इण् धातु से ञुण् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—किं शृणात्यनेनेति **किंशारुः**, धान्यविशेषो वा। जरां जीर्णतामेतीति **जरायुः** गर्भाशयो, गर्भावरणं वा।

उदा०—(1) किंशारुः (= एक धान्य)—किं शृणात्यनेन। किम् शृ ञुण्–अनुबन्धलोप, 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि आदेश प्राप्त। 'उरण् रपरः' से आर् के रूप में वृद्धि आदेश, किम् शार् उ—'मोऽनुस्वारः' (पा० 8.3.23) से अनुस्वार, सु।

(2) जरायुः (= गर्भाशय, गर्भावरण)—जरां जीर्णतामेति। जरा इ ञुण्–जरा इ उ—वृद्धि पूर्ववत्। जरा ऐ उ—एचोऽयवायावः। जरा आय् उ सु।

(5) त्रो रश्च लः [1.5]

पद०—त्रः 5.1, रः 6.1, च—अव्य०, लः 1.1

अनु०—'दृसनिजनिचरिचटि०' (उ०सू० 1.3) से 'ञुण्' की अनुवृत्ति है।

सं०—तृ इत्येतस्माद् धातोर् ञुण् प्रत्ययो भवति रेफस्य च स्थाने 'ल्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—त्रः यह पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा प्रवृत्त होकर 'तृ से उत्तर कार्य होता है' ऐसा अर्थ गृहीत होता है। त्रः इस पञ्चम्यन्त पद को विभक्ति

विपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मान लिया जाता है। यहाँ सम्बन्ध अर्थ में षष्ठी है। रः यह भी षष्ठ्यन्त पद है। यहाँ स्थानेयोगा षष्ठी है। अतः रेफ के स्थान पर कार्य होता है। लः यह प्रथमान्त पद है। लकारस्थ अकार मुखसुखार्थ है। अर्थ—'तृ प्लवनसन्तरणयोः' धातु से परे ञुण् प्रत्यय होता है तथा तृ का अवयवभूत जो रेफ, उसके स्थान पर लकार आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—'तृ'धातोर्ञुण् रेफस्य लत्वम्। तरन्ति निःसरन्ति वर्णा यत इति **तालुः** मुखैकदेशः।

बाहुलकात्—अर्यते प्राप्यत इति **आलु** भक्ष्यं कन्दं वा। भृणाति स्वतापेन छेदयति पदार्थानिति **भालुः**, सूर्यः [वा]। शृणाति चित्तं हिनस्तीति **शालुः**, कषायद्रव्यं वा इत्यादि।

उदा० (1) तालुः (= मुख का एक भाग)—तरन्ति निस्सरन्ति वर्णा अस्मात्। अपादाने। तरन्त्यनेन वर्णाः इत्येके करणेऽर्थे प्रत्ययं स्वीकुर्वन्ति। तृ ञुण्—अनुबन्ध लोप। 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि आदेश। 'उरण् रपरः' से रपरत्व। तार् उ—रेफ को लादेश। तालु सु—

विशेष—कुछ व्याख्याकारों के अनुसार तृ में ऋकार का प्रश्लेष है। तब ऋ गतौ धातु से ञुण् प्रत्यय तथा रेफ को लत्व होकर निम्नलिखित शब्द बनता है। यथा—

(2) आलुः (= एक भक्ष्य कन्द) शब्द निष्पन्न होता है। ऋच्छति इयर्त्ति अर्यते वा। ऋ ञुण्—आर् उ—आलु सु। द्रष्टव्य—उणादिकोश की श्री विट्ठल आचार्य कृत वृत्ति तथा माणिक्यदेव प्रणीत वृत्ति।

कुछ विद्वान् बाहुलकात् आलु, भालु तथा शालु—इन शब्दों को साधु मानते हैं। यथा—

(3) आलुः—ऋ ञुण्। (4) भालुः (= सूर्य)—भृणाति स्वातपेन छेदयति पदार्थान् सः। भृ ञुण्—भार् उ—भाल् उ सु। (5) शालुः–शृणाति चित्तं हिनस्ति। शृ ञुण्–पूर्ववत्।

(6) कृके वचः कश्च [1.6]

पद०—कृके 7.1, वचः 5.1, कः 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'दृसनिजनिचरिचटि०' (उ०सू० 1.3) से 'ञुण्' की अनुवृत्ति है।
सं०—कृक उपपदे वच्धातोर् ञुण् प्रत्ययो भवति वचश्च 'क्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'कृके' सप्तम्यन्त पद है। 'कृक' की उपपद सञ्ज्ञा होती है। द्रष्टव्य—'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' (पा० 3.1.92)। वचः पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादि-

त्युत्तरस्य' (पा० 1.1.66) परिभाषा प्रवृत्त होती है। वच् से परे प्रत्यय होता है। वचः को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मान लिया जाता है। यह स्थानेयोगा षष्ठी है। कः प्रथमान्त पद है। ककारस्थ अकार मुखसुखार्थ है। 'अलोऽन्त्य०' परिभाषा से वच् धातु के अन्त्य अल् (चकार) के स्थान पर ककार आदेश होता है। अर्थ—कृक शब्द के उपपद रहते वच् शब्द से उत्तर ञुण् प्रत्यय होता है तथा वच् धातु को ककार अन्त्यादेश होता है।

स्वा०द०वृ०—कृकोपपदाद् वचधातोर्ञुण्। कृकेन[1] कण्ठेन वक्तीति **कृकवाकुः** यवनादिर्मयूरो वा।

उदा०—(1) कृकवाकुः (= मुर्गा, कुत्ता, गृहगोधिका)—कृकेन वक्ति। कृक वच् ञुण्—अनुबन्धलोप। 'अत उपधायाः' से वृद्धि। कृक वाच् उ—'क्' आदेश। कृक-वाक् उ सु।

विशेष—बाहुलकात् कृकपूर्वक दाश् धातु से भी ञुण् होता है। यथा—(1) कृकदाशुः। द्रष्टव्य—ऋग्वेद-सायणभाष्यम् 1.29.7।

(7) भृमृशीङ्तॄचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः [1.7]

पद०—भृमृशीङ्तॄचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्यः 5.3, उः 1.1

सं०—भृ मृ शीङ् तॄ चर् त्सर् तन् धन् मि मस्ज् इत्यतेभ्यो धातुभ्य 'उ' प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—भृ के द्वारा डुभृञ् धारणपोषणयोः व भृञ् भरणे कर ग्रहण होता है। मृ के द्वारा मृङ् का, शी के द्वारा शीङ् का, तॄ के द्वारा तॄ प्लवनसन्तरणयोः का तथा नि के द्वारा डुमिञ् प्रक्षेपणे का ग्रहण होता है। अर्थ—भृ, मृ, शी, तॄ, चर्, त्सर्, तन्, धन्, मि और मस्ज्—इन धातुओं से परे 'उ' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—भरति बिभर्त्ति वेति **भरुः** स्वामी। म्रियन्ते भूतान्यस्मिन्निति **मरुः** निर्जलो देशो वा। शेतेऽसौ **शयुः** शयनशीलः [अजगरो वा]। यस्तरति येन वा स **तरुः** वृक्षो वा। चरति चर्यतेऽग्निना भक्ष्यत इति **चरुः** यज्ञपाको वा। त्सरति कुटिलं गच्छतीति **त्सरुः** खड्गमुष्टिर्वा। तन्यन्ते कर्माण्यनेनेति **तनुः** शरीरं, स्वल्पं वा। धन्यते धनं प्राप्यतेऽनेनेति **धनुः** शास्त्रं शस्त्रं वा। मिनोति सुशब्दं प्रक्षिपतीति **मयुः** वानरो वा। मज्जति शुद्धो भवतीति **मद्गुः** जलप्लवी पक्षी वा। **न्यङ्क्वादित्वात्** [द्रष्टव्य—7.3.53] कुत्वम्, [**झलां जश् झशि** (अ० 8.4.52) इति सकारस्य दकारः]।

1. 'कृकेन' इत्यत्र णत्वं स्यात्। (लेखकः)

बाहुलकात्—गण्डति [यः] स **गण्डुः** वदनैकदेशः, उपधानम् 'तकिया' इति प्रसिद्धं, तैलं वा।

उदा०—(1) भरुः (= स्वामी, विष्णु, सुवर्ण, सागर)—भरति। बिभर्त्ति। भृ उ—'आर्धधातुकं शेषः' (पा० 3.4.114) से 'उ' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (पा० 7.3.84) से गुण आदेश। 'उरण् रपरः' से रपरत्व। भर् उ सु।

(2) मरुः (= निर्जल देश)—म्रियन्तेऽस्मिन् प्राणिनः। मृ उ—पूर्ववत्।

(3) शयुः (= शयनशील, अजगर)—शेतेऽसौ। शेतेऽत्यर्थम्। शी उ—सार्वधातुकार्धधातुकयोः। शे उ—एचोऽयवायावः, सु।

(4) तरुः (= वृक्ष)—यस्तरति येन वा। तरन्ति यं पुष्पफलार्थिनः। तृ उ—आर्धधातुक-लक्षण गुण। तर् उ सु।

(5) चरुः (= यज्ञपाक; हवि)—चरति चर्यतेऽग्निना भक्ष्यते। चरन्ति देवपितृभूतानि यस्मात्।

(6) त्सरुः (= तलवार की मूँठ, सर्पणकीट)—त्सरति कुटिलं गच्छति। त्सर् उ सु।

(7) तनुः (= कृश, शरीर, कोमल, त्वचा)—तन्यन्ते कर्माण्यनेन। तन् उ सु।

(8) धनुः (= धनुष)—धन्यते धनं प्राप्यतेऽनेन सः धनुःशास्त्रमिति उज्ज्वलवृत्तौ। धन् उ सु।

(9) मयुः (= बन्दर, मृग, किन्नर)—मिनोति सुशब्दं प्रक्षिपति। मि उ—गुण, अयादेश, सु।

मि उ—इस दशा में 'मीनातिमीनोतिदीङां ल्यपि च' (पा० 6.1.51) से आत्व प्राप्त था। बाहुलकात् आत्व न हुआ।

(10) मद्गुः (= जल पर तैरने वाला पक्षी)—मज्जत्यम्भसि। मज्जति शुद्धो भवति। मस्ज् उ—न्यङ्क्वादिगण में पाठ होने से 'न्यङ्क्वादीनां च' (पा० 7.3.53) से कुत्व हुआ। म स् ग् उ—'झलां जश् झशि' से सकार के स्थान पर जश् आदेश प्राप्त। 'स्थानेऽन्तरतमः' से दकार। मद् ग् उ सु।

विशेष—बाहुलकात् गण्ड् धातु से 'उ' प्रत्यय प्राप्त होता है। यथा—

(11) गण्डुः (= मुख का एक भाग, तकिया)—गण्डति यः सः। गडि—'इदितो नुम् धातोः' से नुम् आगम। ग न् ड्—अनुबन्धलोप, 'मिदचोऽन्त्यात् परः' से

अन्त्य अच् से परे नुम्। 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (पा० 8.3.24) से नकार के स्थान पर अनुस्वार। 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण गण्ड् उ सु।

(8) अणश्च [1.8]

पद०—अणः 5.1, च—अव्य०।

अनु०—'भृमृशीङ्तृचरित्सरितनिधनि०' (उ०सू० 1.7) से 'उः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अण् इत्येतस्माद् धातोर् उः प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—अणः यह पञ्चम्यन्त पद है। चकार के द्वारा 'उः' का ग्रहण होता है। अर्थ—अण् धातु से 'उ' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—अणति शब्दयतीति **अणुः** अतिसूक्ष्मं वा।

अत्र चकारग्रहणाद् [**बाहुलकाद्**] वा कटति विकारयतीति **कटुः** रसः। वटति गुणकर्माणि विभजतीति **वटुः** द्विजसुतो वा।

उदा०—(1) अणुः (= अत्यधिक सूक्ष्म, शिव का एक नाम)—अणतीति शब्दायतीति। अण् उ सु।

विशेष—(2) कटुः (= एक रस)—बाहुलकात् कट् धातु से भी 'उ' प्रत्यय उपलब्ध होता है। कट् उ सु।

(3) वटुः (= ब्रह्मचारी)—वट् धातु से बाहुलकात् 'उ' प्रत्यय। वटति गुणकर्माणि विभजति। वट् उ सु। कुछ संस्करणों में 'कटिवटिभ्याञ्च' ऐसा अधिक पाठ मिलता है।

(9) धान्ये नित् [1.9]

पद०—धान्ये 7.1, नित् 1.1

अनु०—'भृमृशीङ्तृचरित्सरि०' (उ०सू० 1.7) से 'उः' का तथा 'अणश्च' (उ०सू० 1.8) से 'अणः' का अनुवर्त्तन होता है।

सं०—धान्ये गम्यमाने अण्धातोर् 'उ' प्रत्ययो भवति, प्रत्ययश्च नित् भवति।

व्याख्या—यह एक अतिदेश सूत्र है। अतिदेश का लक्षण इस प्रकार है—अतिदिश्यन्ते तुल्यतया विधीयन्ते कार्याणि येन सः अर्थात् जिसके द्वारा समानता प्रदान की जाय, उसे अतिदेश कहते हैं। जो वैसा नहीं है उसे वैसा कहना अतिदेश कहलाता है। यथा—यह बालक तो सिंह है अर्थात् बालक सिंह नहीं है, परन्तु उसे सिंह के समान जानना है।

नित् का अर्थ है—जिसका न् इत् है। उ प्रत्यय में न् अनुबन्ध नहीं है, तथापि उसे प्रकृत सूत्र के द्वारा नित् कहा गया है। भाव यह है कि यहाँ 'उ' प्रत्यय को वे सभी कार्य होंगे, जो नित् प्रत्यय को होते हैं। अर्थ—'धान्य' अर्थ वाच्य हो तो (शब्दार्थक) अण् धातु से 'उ' प्रत्यय होता है और वह 'उ' प्रत्यय नित् जानना चाहिए। प्रत्यय को नित् आद्युदात्त स्वर के लिए किया गया है। द्रष्टव्य—ञ्नित्यादिर्नित्यम् (पा० 6.1.196)। 'नित्' पद का 'फलिपाटिनमिमनिजनां गुक्०' (उ०सू० 1.18) सूत्र तक अनुवर्त्तन है—ऐसा उणादिवृत्तिकार तथा वै०सि०कौ० कार भट्टोजिदीक्षित मानते हैं। दशपादी वृत्तिकार 'यो द्वे च' सूत्र (द०वृ० 1.106, पञ्च०उ० 1.21) पर्यन्त 'नित्' का अनुवर्त्तन मानते हैं। यथा—'कुर्भ्रश्च' (द०वृ० 1.107) सूत्र की वृत्ति में माणिक्यदेव लिखते हैं—'निदिति निवृतम्'। यजुर्वेद (22.19) में ययु और शिशु शब्द आद्युदात्त प्राप्त होते हैं, परन्तु अथर्ववेद (4.24.2) में 'ययु' शब्द अन्तोदात्त उपलब्ध होता है। काशिकाकार (पा० 6.2.42 की वृत्ति) कुरु शब्द को अन्तोदात्त मानते हैं परन्तु नागेश जी लघु- शब्देन्दुशेखर-वृत्ति में इसे आद्युदात्त मानते हैं। कुरु शब्द 'कृग्रोरुच्च' (उ०सू० 1.24) से सिद्ध होता है। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य नागेश 'नित्' पद का अनुवर्त्तन उ०सू० 1.24 पर्यन्त मानते हैं। श्वेतवनवासी 'अर्जिदृशिकम्यमिपसि०' (उ०सू० 1.27) तक 'नित्' पद का अनुवर्त्तन स्वीकार करते हैं। (द्र०–श्वे०उ०वृ० 1.27) इसके अतिरिक्त 'प्रथिम्रदिभ्रस्जां०' (उ०सू० 1.28) सूत्र के द्वारा व्युत्पाद्यमान 'भृगु' शब्द वैदिक संहिताओं में आद्युदात्त प्राप्त होता है। अपि च मध्यवर्त्ती सूत्रों के द्वारा घटित शब्द अनेकत्र अन्तोदात्त भी देखे जाते हैं। इस प्रकार 'नित्' पद की अनुवृत्ति क्षेत्र के विषय में व्याख्याकारों में वैमत्य प्राप्त होता है। उपर्युक्त विषय का अनुशीलन करने पर निष्कर्षरूपेण कहा जा सकता है कि स्वर सम्बन्धी व्यत्यय का समाधान 'उणादयो बहुलम्' (पा० 3.3.1) सूत्र में 'बहुल' शब्द के ग्रहणवशात् किया जा सकता है।

स्वा०द०वृ०—अणन्ति शब्दायन्ते यैस्ते **अणवः** अन्नविशेषा वा। नित्करणमाद्युदात्तस्वरार्थम्।

उदा०—(1) अणुः (= एक धान्य)—अण्यते प्राणिभिरिति। अण् उ सु। अणु-आद्युदात्त हुआ। शेष अनुदात्त हुआ। उदात्त से परे अनुदात्त स्वरित हुआ। अणुः।

(10) शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च [1.10]

पद०—शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यः 5.3, च—अव्य०।

अनु०—'भृमृशीङ्तृचरित्सरितनि०' (उ०सू० 1.7) से 'उ' का तथा 'धान्ये नित्' (उ०सू० 1.9) से 'नित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—शॄ स्वृ स्निह् त्रप् अस् वस् हन् क्लिद् बन्ध् मन् इत्येतेभ्यो धातुभ्य 'उ' प्रत्ययो भवति, स च नित्सञ्ज्ञो भवति।

व्याख्या—'शॄस्वृ····मनिभ्यः' यह पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा प्रवृत्त होती है। अर्थ—शॄ, स्वृ, स्निह्, त्रप्, अस्, वस्, हन्, क्लिद्, बन्ध् तथा मन्—इन धातुओं से परे 'उ' प्रत्यय होता है और वह निद्वत् होता है।

स्वा०द०वृ०—अत्र चाद् उप्रत्ययो निदिति सम्बन्धः, एवमर्थ एव पृथक्पाठः। शृणाति हिनस्ति येनेति **शरुः** आयुधं कोपो वा। स्वयन्त उपतप्यन्ते प्राणिनोऽनेनेति **स्वरुः** वज्रम् [वा]। स्निह्यति यस्मिन् स **स्नेहुः**, व्याधिर्वा। अग्निं प्राप्य यत् त्रपते लज्जितमिव भवतीति तत् **त्रपु** सीसकं रङ्गं वा। अस्यति प्रक्षिपति वायुमिति **असुः** प्राणः। असुं प्राणं राति ददातीति **असुरो** मेघः। वस्त आच्छादयति दुःखं येन तद् **वसु** धनं वा; वसन्ति प्राणिनो येषु [वासयन्ति वा ये] ते वसवः अग्न्यादयोऽष्टौ। हन्यतेऽनेनेति **हनुः** कपोलावयवः प्रहरणं मृत्युर्वा। क्लिद्यत्यार्द्रीकरोति चित्तमिति **क्लेदुः** चन्द्रमा वा। प्रेम्णा बध्नातीति **बन्धुः** सज्जनो वा। मन्यते चराचरं जगज्जानातीति **मनुः** ईश्वरः; मनुतेऽवबुध्यते शास्त्रमिति **मनुः** विद्वान् राजर्षिः।

बहुलवचनात्—बिन्दत्यवयवीभवतीति **बिन्दुः** परिमाणं जलादिकणो वा।

उदा०—(1) शरुः (= आयुध, क्रोध)—शृणाति हिनस्ति येन। शॄ हिंसायाम् धातु से 'उ' प्रत्यय हुआ। आर्धधातुक लक्षण गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व। शर् उ सु।

(2) स्वरुः (= वज्र)—स्वर्यन्त उपतप्यन्ते प्राणिनोऽनेन सः। स्वृ उ—स्वर् उ सु। स्वृ शब्दोपतापयोः धातु से 'उ' प्रत्यय हुआ। कर्त्ता अर्थ में भी प्रत्यय होता है। यथा—स्वरति इति स्वरुः।

(3) स्नेहुः (= रोग, चन्द्रमा)—स्निह्यति यस्मिन् सः। स्निह्यतीति। स्निह प्रीतौ धातु से 'उ' प्रत्यय। स्निह् उ—'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण हुआ। स्नेह् उ सु।

(4) त्रपु (= एक धातु)—अग्निं प्राप्य यत् त्रपते लज्जितम् इव भवतीति तत्। त्रपूष् लज्जायाम् धातु से 'उ' प्रत्यय। त्रप् उ सु। चूँकि धातु अनेकार्थक होते हैं अतः माणिक्यदेव आचार्य ने इस प्रकार व्युत्पत्ति दर्शायी है—त्रपते तेजसा स्पृष्टम् इति त्रपु।

(5) असुः (= प्राण)—अस्यति प्रक्षिपति वायुम् इति। अस्यन्ति कलेवरम् इति प्राणाः। असु क्षेपणे धातु से 'उ'। अस् उ सु।

(6) वसुः (= धन, रत्न, कुबेर, शिव, वृक्ष, तालाब)—वस्त आच्छादयति

दुःखं येन तत्। वसन्ति प्राणिनो येषु। वासयन्ति ये ते वसवः (अग्न्यादयोऽष्टौ)। वसति सुकृतम् इति। वस निवासे तथा वस आच्छादने धातुओं से 'उ' प्रत्यय। वस् उ सु।

(7) हनुः (= ठोडी; शस्त्र, मृत्यु, रोग, एक ओषधि)—हन्यतेऽनेनेति। हन्त्याहारजातम् इति। हन हिंसागत्योः धातु से 'उ' प्रत्यय। हन् उ सु।

(8) क्लेदुः (= चन्द्रमा)—क्लिद्यत्यार्द्रीकरोति चित्तम्। क्लिद् उ—लघूपध गुण, सु।

(9) बन्धुः (= बन्धु, सज्जन)—(प्रेम्णा) बध्नाति यः। बन्ध् उ सु। लघूपध के अप्राप्त रहने से गुण न हुआ।

(10) मनुः (= ईश्वर, विद्वान्, चौदह की संख्या)—मन्यते चराचरं जगत् जानाति। मनुतेऽवबुध्यते शास्त्रम् इति। मन् उ सु।

विशेष—(1) बिन्दुः (= बूँद) बिन्दत्यवयवीभवति। बिन्द् उ सु। बाहुलकात् बिन्द् धातु से 'उ' प्रत्यय हुआ।

(11) स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च [1.11]

पद०—स्यन्देः 5.1, सम्प्रसारणम् 1.1, धः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'भृमृशीङ्तृचरित्सरितनि०' (उ०सू० 1.7) से 'उः' शब्द का तथा 'धान्ये नित्' (उ०सू० 1.9) से 'नित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—स्यन्द्धातोर् 'उ' प्रत्ययो भवति सः च नित्सञ्ज्ञकः, धातोश्च सम्प्रसारणं भवति, धातोः स्थाने धत्वं भवति।

व्याख्या—स्यन्दि में इक्सहित स्यन्द् धातु का निर्देश है। स्यन्देः यह पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा प्रवृत्त होती है। स्यन्द् से परे कार्य ('उ' प्रत्यय) होता है। सम्प्रसारण एक सञ्ज्ञा है। 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से यण् वर्ण के स्थान पर जायमान इक् वर्ण की सम्प्रसारण सञ्ज्ञा होती है। 'उ' प्रत्यय नित् है। स्यन्देः को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर स्यन्द् के स्थान पर धकार आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह धकार आदेश धातु के अन्त्य अल् अर्थात् दकार के स्थान पर होता है। अर्थ—स्यन्द् धातु से परे 'उ' प्रत्यय होता है; 'उ' प्रत्यय नित् होता है, धातु के यण् वर्ण के स्थान पर सम्प्रसारण (अर्थात् इक्) होता है तथा धातु को धकार अन्तादेश होता है। धकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—स्यन्दन्ते प्रस्रवन्त्युदकान्यस्मिन्निति **सिन्धुः** [समुद्रो नदी-विशेषो वा]।

उदा०—(1) सिन्धुः (= सागर, नदी, हाथी का सूँड, जल)—स्यन्दन्ते

प्रस्रन्त्युदकान्यस्मिन् सः। स्यन्दतेऽत्यर्थम्। स्यन्दू प्रस्रवणे धातु से 'उ' हुआ। स्यन्द् उ—यण् वर्ण (य्) के स्थान पर सम्प्रसारण (इक्) प्राप्त हुआ। 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'य्' के स्थान पर 'इ' हुआ। स् इ अ न् द् उ—'सम्प्रसारणाच्च' (पा० 6.1.107) से पूर्वरूप एकादेश हुआ। सिन्द् उ—धकार आदेश–सिन्ध् उ सु।

(12) उन्देरिच्चादेः [1.12]

पद०—उन्देः 5.1, इत् 1.1, च—अव्य० 1 आदेः 6.1

अनु०—'भृमृशीङ्तृचरित्सरितनि०' (उ०सू० 1.7) से 'उः' का तथा 'धान्ये नित्' (उ०सू० 1.9) से 'नित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—उन्द्धातोर् 'उ' प्रत्ययो भवति, सः च नित्सञ्ज्ञकः। धातोः आदेः वर्णस्य स्थाने 'इत्' आदेशो भवति।

व्याख्या—उन्देः यह पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। इत् यह आदेश है। 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' (पा० 1.1.68) में 'अप्रत्ययः' पद के द्वारा प्रत्यय अर्थात् आदेश का प्रतिषेध कर दिये जाने पर आदेश के द्वारा सवर्ण का ग्रहण नहीं होता है। तब इत् में तकार तपरता के लिए नहीं है अपितु मुखसुखार्थ है। इत् = ह्रस्व इकार। यह धातु के आदि वर्ण (अर्थात् उकार) के स्थान पर होता है। अर्थ—उन्द् धातु से परे 'उ' प्रत्यय होता है, यह नित् होता है तथा धातु के आदि वर्ण के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—उन्द धातोरुः प्रत्यय आदिवर्णस्येकारादेशश्च। उनत्त्यार्द्रीकरोति पदार्थानिति **इन्दुः** चन्द्रमा वा।

उदा०—(1) इन्दुः (= चन्द्रमा)—उनत्त्यार्द्रीकरोति पदार्थान्। उनत्ति तेजसः चक्षुर्मनांसि। उन्दी क्लेदने धातु से नित् संज्ञक 'उ' प्रत्यय। उन्द् उ—उकार के स्थान पर इकार—इन्द् उ सु।

(13) ईषेः किच्च [1.13]

पद०—ईषेः 5.1, कित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'भृमृशीङ्तृचरित्सरितनि०' (उ०सू० 1.7) से 'उः' का तथा 'उन्देरिच्चादेः' (उ०सू० 1.12) से 'इत्, आदेः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—'ईष्' इत्येतस्माद् धातोर् 'उ'प्रत्ययो भवति, स च किद्वद् भवति, धातोर् आदेर् वर्णस्य स्थाने 'इत्' आदेशो भवति।

व्याख्या—ईषेः यह पञ्चम्यन्त पद है। कित् का अर्थ है—जिसका क् इत्सञ्ज्ञक

है। यह अतिदेश सूत्र है। 'उ' प्रत्यय कित् नहीं है, प्रकृत के द्वारा उसे कित् किया जा रहा है। अर्थ—ईष् धातु से परे 'उ' प्रत्यय होता है, वह प्रत्यय किद्वत् होता है और धातु के आदि वर्ण (ई) के स्थान पर 'इ' आदेश होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुण-वृद्धि का निषेध करना है।

स्वा०द०वृ०—अत्र चकारादिच्चादेरित्यनुवर्त्तते, तेन दीर्घस्य ह्रस्वो भवति। ईषति गच्छति हिनस्ति वा शत्रूनिति **इषुः** बाणो वीरो वा। कित्त्वाद् गुणाभावः।

उदा०—(1) इषुः (= बाण, योद्धा, पाँच की संख्या)—ईषति गच्छति। ईषति हिनस्ति शत्रून्। ईष गतिहिंसादर्शनेषु धातु से 'उ' कित् प्रत्यय हुआ। ईष् उ—आदि वर्ण को इकार—इष् उ सु। ईष उञ्छे धातु से कर्म अर्थ में 'इषु' शब्द निष्पन्न होता है। ईष्यत इति इषुः।

विशेष—माणिक्यदेव ने प्रकृत में 'नित्' पद की अनुवृत्ति स्वीकार की है। तदनु 'इषु' शब्द आद्युदात्त होता है। कुछ संस्करणों में 'इषेः किच्च' ऐसा पाठ मिलता है। तब पूर्वसूत्र से 'इत्' पद के अनुवर्त्तन की आवश्यकता नहीं है।

(14) स्कन्देः सलोपश्च [1.14]

पद०—स्कन्देः 5.1, सलोपः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'भृमृशीङ्तृचरित्सरितनि०' (उ०सू० 1.7) से 'उः' का तथा 'उन्देरिच्चादेः' (उ०सू० 1.12) से 'आदेः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—स्कन्द्धातोर् 'उ' प्रत्ययो भवति धातोश्च यः सः तस्य लोपो भवति।

व्याख्या—स्कन्दि में इक् के द्वारा निर्देश है। स्कन्देः यह पञ्चम्यन्त पद है। अर्थ—स्कन्द् धातु से परे 'उ' प्रत्यय होता है और धातु के (आदि में स्थित) सकार का लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—स्कन्दति गच्छति शुष्यति वा येन स **कन्दुः** कुमाराणां क्रीडायै 'गेंद' इति प्रसिद्धं वा।

उदा०—(1) कन्दुः (= गेंद, तन्दूर)—स्कन्दति गच्छति शुष्यति वा येन। स्कन्दतेऽस्मिन्नन्नजाते। स्कन्दि गतिशोषणयोः धातु से 'उ' प्रत्यय हुआ। स्कन्द् उ—धातु के सकार का लोप। कन्द् उ सु।

विशेष—कुछ संस्करणों में 'स्कन्देर्लोपश्च' पाठ उपलब्ध होता है जो अधिक उचित प्रतीत होता है। कारण कि पूर्वशास्त्र से 'आदेः' पद की अनुवृत्ति सुलभ है। अतः

'सलोप:' की अपेक्षा 'लोप:' पद का पाठ ही युक्तियुक्त है। 'आदे:' पद का अनुवर्त्तन होकर आदेर्लोप: अर्थात् आदि वर्ण का लोप होता है—ऐसा इष्ट अर्थ गृहीत होता है।

(15) सृजेरसुम् च [1.15]

पद०—सृजे: 5.1, असुम् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'भृमृशीङ्तृचरित्सरितनि०' (उ०सू० 1.7) से 'उ:' का तथा 'स्कन्दे: सलोपश्च' (उ०सू० 14) से 'सलोप:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सृज्धातोर् 'उ' प्रत्ययो भवति, सकारस्य लोपो भवति, धातोर् असुम् आगमो भवति।

व्याख्या—सृजे: यह इक्युक्त 'सृजि' का पञ्चम्यन्त रूप है। धातु का अवयव असुम् आगम होता है। असुम् के मकार की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा होती है। 'तस्य लोप:' से मकार का लोप होता है। सकारस्थ उकार उच्चारणार्थ है। इत्सञ्ज्ञा किये बिना इसकी निवृत्ति हो जाती है। शेष 'अस्' रहता है। असुम् मित् आगम है। 'मिदचोऽन्त्यात् पर:' (पा० 1.1.46) से यह आगम धातु के अन्त्य अच् (ऋकार) से परे होगा। अर्थ—सृज् धातु से परे 'उ' प्रत्यय होता है, धातु के सकार का लोप होता है तथा धातु को 'असुम्' आगम होता है।

स्वा०द०वृ०—अत्र पूर्वसूत्रात् सलोप इत्यनुवर्तते। धातोरसुमागम आदि-सकारलोपश्च। पुनर्ऋकारस्य यणादेश आगमसकारस्य जश्त्वं च। सृजन्त्युदक-निस्सारणायेति **रज्जुः** जलोद्धरणं वा।

उदा०—(1) रज्जु: (= रस्सी, स्त्रीवेणी)—सृजन्त्युदकनिस्सारणायेति। 'सृज विसर्गे' धातु से 'उ' प्रत्यय। सृज् उ—धातु के सकार का लोप। ऋज् उ—असुम् आगम। ऋ असुम् ज् उ—अनुबन्धलोप। ऋ अस् ज् उ—'इको यणचि' से यण् आदेश। र् अस् ज् उ—'स्तो: श्चुना श्चु:' से श्चुत्व। र श् ज् उ—'झलां जश् झशि' से जश्त्व। रज् ज् उ सु।

विशेष—कुछ संस्करणों में 'असुं' ऐसा पाठ प्राप्त होता है जो व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है, परन्तु 'असुम्' पाठ कहीं अधिक स्पष्ट है।

(16) कृतेराद्यन्तविपर्ययश्च [1.16]

पद०—कृते: 5.1 आद्यन्तविपर्यय: 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'भृमृशीङ्तृचरित्सरितनि०' (उ०सू० 1.7) से 'उ:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—कृत्धातोर् उप्रत्ययो भवति, आद्यन्तविपर्ययश्च भवति।

व्याख्या—कृते: यह पञ्चम्यन्त पद है। आद्यन्त अर्थात् आदि और अन्त का। विपर्यय: अर्थात् उलट-पलट। अर्थ—कृत् धातु से 'उ' प्रत्यय होता है तथा आदि और अन्त वर्णों में उलट-पलट होता है अर्थात् आदि में तकार आदेश तथा अन्त में ककार आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—आद्यन्तविपर्ययोऽर्थादादौ तकारोऽन्ते ककार:, उश्च प्रत्यय:। कृन्तति छिनत्ति वस्त्रादिकमनेन स **तर्कु:** कर्तनी वा।

उदा०—(1) तर्कु: (= कर्त्तनी, कैंची)—कृन्तति छिनत्ति वस्त्रादिकम् अनेन स:। कृत्यतेऽनेन। कृती वेष्टने धातु से 'उ' प्रत्यय। कृत् उ—आद्यन्त वर्णों का विपर्यय। तृक् उ—'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से लघुसञ्ज्ञक, उपधाभूत वर्ण (ऋ) के स्थान पर गुण प्राप्त। 'उरण् रपर:' (पा० 1.1.50) से रपरत्व। तर् क् उ—प्रातिपदिक सञ्ज्ञा, सु।

(17) नावञ्चे: [1,17]

पद०—नौ 7.1, अञ्चे: 5.1

अनु०—'भृमृशीङ्तृचरित्सरितनि०' (उ०सू० 1.7) से 'उ:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—नौ उपपदे 'अञ्च्' इत्येतस्माद् धातोर् 'उ'प्रत्ययो भवति। स: च नित्सञ्ज्ञक इति माणिक्यदेव:।

व्याख्या—'नौ' यह सप्तम्यन्त पद है। 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' से इसकी उपपदसञ्ज्ञा हुई। अञ्चे: पञ्चम्यन्त पद है। अर्थ—'नि' शब्द के उपपद रहते अञ्च् धातु से 'उ' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—ये नितरामञ्चन्ति गच्छन्ति ते **न्यङ्क्व:** जातिविशेषा: हरिणा वा।

उदा०—(1) न्यङ्कु: (= एक हिरण)—नितराम् अञ्चति गच्छति। नियतम् अञ्चति गच्छति। नि अञ्च् उ—'इको यणचि' से यण्। न्यञ्च् उ—'न्यङ्क्वादीनां च' से कुत्व। 'स्थानेऽन्तरतम:' (पा० 1.1.49) से चकार के स्थान पर कुत्व ककार। न्यञ् क् उ—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपाय:' यह परिभाषा है अर्थात् निमित्त (चकार) की निवृत्ति हो जाने पर नैमित्तिक (ञ्) की भी निवृत्ति हुई। ञ् परसवर्ण है। यह अनुस्वार में परिवर्त्तित हुआ। न्यं क् उ—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण:' (पा० 8.4.57) से परसवर्ण कवर्गीय पञ्चम वर्ण ङ् हुआ, सु।

(18) फलिपाटिनमिमनिजनां गुक्पटिनाकिधतश्च [1.18]

पद०—फलिपाटिनमिमनिजनाम् 6.3, गुक्पटिनाकिधत: 1.3, च—अव्य०।

अनु०—'भृमृशीङ्तृचरित्सरितनि०' (उ०सू० 1.7) से 'उः' की अनुवृत्ति है।

सं०—फल् पाट् नम् मन् जन् इत्येतेषां स्थाने क्रमेण गुक् आगमः, पटिरादेशः नाकिरादेशः 'ध्' अन्तादेशः 'त्' अन्तादेशश्च भवति। फल् पाट् नम् मन् जन् इत्येतेभ्यो धातुभ्य 'उ'प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—'फलि····जनाम्' यह षष्ठ्यन्त पद है। यहाँ स्थानेयोगा षष्ठी है। इन धातुओं के स्थान पर गुक् आदि होते हैं। पाँच स्थानी (यथा—फल, पाट्,· नम्, मन् तथा जन्) हैं तथा पाँच ही आदेश (यथा—गुक्, पटि, नाकि, ध और त) हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (पा० 1.3.10) परिभाषा से आदेश क्रमेण होते हैं। गुक् का ककार इत् है। कित्, टित् और मित् आगम हुआ करते हैं। अतः गुक् आगम है, शेष आदेश हैं। 'फलि····जनाम्' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा पञ्चम्यन्त (यथा—फलि····जनेभ्यः) बना लिया जाता है। सूत्रोक्त इन धातुओं से 'उ' प्रत्यय भी होता है। अर्थ—फल्, पाट्, नम्, मन् तथा जन्—इन धातुओं से परे 'उ' प्रत्यय होता है तथा. इन धातुओं को क्रमेण गुक् आगम, पट् आदेश, नाक् आदेश, ध् आदेश तथा त् आदेश होते हैं। भाव यह है कि फल् धातु को गुक् आगम, पाट् धातु को पट् आदेश, नम् धातु को नाक् आदेश, मन् धातु को ध् आदेश तथा जन् धातु को त् आदेश होता है तथा इन से परे 'उ' प्रत्यय होता है। धकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—उप्रत्यये 'फल'धातोर्गुगागमः। फलति निष्पद्यते स **फल्गुः** असारो वा। नपुंसके **'फल्गु'** फलम्। 'पाटि'धातोः पटिरादेशः। पाटयति ज्ञापयति सदसत्पदार्थान् स पटुः वाग्मी विशारदो वा। 'नम'धातोर्नाकिरादेशः। नमतीति **नाकुः** वल्मीको वा। 'मन'धातोर्धकारादेशः। मन्यन्ते विशेषेण जानन्ति यस्मिन् स **मधुः** चैत्रो मासः। **मधूको** मद्यं क्षौद्रं पुष्परसो वा। 'जन'धातोस्तकारादेशः। जायते प्रादुर्भूयतेऽनेनेति **जतु** लाक्षा वा।

उदा०—(1) फल्गुः (= असार)—फलति निष्पद्यते। 'ञिफला विशरणे' धातु से 'उ' प्रत्यय तथा धातु को गुक् आगम। गुक् कित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से गुक् धातु का अन्तावयव बनता है। फल् गुक् उ—'हलन्त्यम्' से ककार की इत्सञ्ज्ञा, गकारस्थ उकार उच्चारणार्थ है। फल् ग् उ सु।

(2) पटुः (= प्रवीण)—पाटयति ज्ञापयति सदसत्पदार्थान्। णिच् प्रत्ययान्त पट गतौ धातु से 'उ' प्रत्यय हुआ तथा धातु को पटि आदेश हुआ। पटि में इकार उच्चारणार्थ है। पट् अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' (पा० 1.1.54) से यह आदेश सम्पूर्ण स्थानी (पाटि) के स्थान पर होता है। पट् उ सु।

(3) नाकुः (= वल्मीक)—नमतीति। नम्यतेऽनेनेति करणेऽर्थे। 'णम प्रह्वत्वे' धातु से 'उ' प्रत्यय हुआ तथा धातु को नाकि आदेश हुआ। नाकि में इकार उच्चारणार्थ है। नाक् अनेकाल् है। अतः सम्पूर्ण स्थानी (यथा—नम्) के स्थान पर होता है। नाक् उ सु।

(4) मधुः (= चैत्र मास)—मन्यन्ते विशेषेण जानन्ति यस्मिन् सः। 'मन ज्ञाने' धातु से 'उ' प्रत्यय तथा धातु को ध् आदेश। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से ध् आदेश मन् धातु के अन्त्य अल् (नकार) के स्थान पर होता है। मधु सु।

(5) जतु (= लाख)—जायते प्रादुर्भूयतेऽनेनेति। जनी प्रादुर्भावे धातु से 'उ' प्रत्यय तथा धातु को त् आदेश, अन्त्य अल् को आदेश। जत् उ सु।

(19) वलेर्गुक् च [1.19]

पद०—वलेः 5.1, गुक् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'भृमृशीङ्तृचरित्सरितनि०' (उ०सू० 1.7) से 'उः' की अनुवृत्ति है।

सं०—वल्धातोर् 'उ'प्रत्ययः, 'गुक्' आगमश्च भवति।

व्याख्या—वलेः यह पञ्चम्यन्त पद है। इससे परे प्रत्यय होता है। प्रकृत सूत्र दो कार्य करता है—(i) 'उ' प्रत्यय तथा (ii) गुक् आगम। गुक् कित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से गुक् धातु का अन्तावयव बनता है। अर्थ—वल् धातु से परे 'उ' प्रत्यय होता है तथा धातु का अन्ताऽवयव गुक् होता है।

स्वा०द०वृ०—वलते संवृणोतीति **वल्गुः** [वाक्]। नपुंसके **'वल्गु'** शोभनम्।

उदा०—(1) वल्गुः (= बकरा)—वल प्राणने धातु से 'उ' प्रत्यय। वल् उ—गुक् आगम। वल् ग् उ—'क्' की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा। गकारस्थ उकार मुखसुखार्थ है। वल्गु सु।

(20) शः कित् सन्वच्च [1.20]

पद०—शः 5.1, कित् 1.1, सन्वत्–अव्य०, च—अव्य०।

अनु०—'भृमृशीङ्तृचरित्सरितनि०' (उ०सू० 1.7) से 'उः' की अनुवृत्ति है।

सं०—'शो'धातोर् 'उ'प्रत्ययो भवति, स च कित्सञ्ज्ञकः। 'उ'प्रत्ययः सन्वद् भवति।

व्याख्या—यह अतिदेश सूत्र है। इसमें दो अतिदेश हैं—(i) 'उ' प्रत्यय कित् होता है। गुणवृद्धि के निषेध के लिए प्रत्यय को कित् किया गया है। (ii) प्रत्यय सन्वत्

होता है। सन्वत् द्वित्व के लिए किया गया है। भाव यह है कि प्रकृत सूत्र से विहित 'उ' प्रत्यय के परे रहते, वे सभी कार्य होते हैं जो सन् प्रत्यय में धातु को होते हैं। आचार्य पाणिनि ने 'धातोः कर्मणः समानकर्त्तृकाद् इच्छायां वा' (पा० 3.1.7) से सन् प्रत्यय का विधान किया है। सन् प्रत्यय में निम्नलिखित कार्य होते हैं—(i) 'सन्यङोः' से द्वित्व होता है। (ii) 'पूर्वोऽभ्यासः' से पूर्वखण्ड की अभ्यास सञ्ज्ञा होती है। (iii) हलादिः शेषः, कुहोश्चुः, अभ्यासे चर्च, उरत्, सन्यतः आदि के द्वारा अभ्यासकार्य होते हैं। अर्थ—शो धातु से परे 'उ' प्रत्यय होता है, जो कित् तथा सन्वत् होता है।

स्वा०द०वृ०—सन्वद्भावाद् द्वित्वादिकम्। श्यति तनूकरोति पित्रोः शरीरमिति **शिशुः** बालको वा।

उदा०—(1) शिशुः (= बालक)—श्यति तनूकरोति पित्रोः शरीरम्। 'शो' तनूकरणे धातु से 'उ' प्रत्यय। शो उ—'आदेच उपदेशेऽशिति' से एच् वर्ण (ओ) के स्थान पर आकार आदेश। शा उ—द्वित्व। शा शा उ—पूर्वोऽभ्यासः, ह्रस्वः तथा स्थानेऽन्तरतमः (पा० 1.1.49) से आकार के स्थान पर ह्रस्व आदेश 'अ' हुआ। श शा उ—'सन्यतः' (पा० 7.4.49) से अत् के स्थान पर इकार आदेश। शि शा उ—'आतो लोप इटि च' (पा० 6.4.64) से आकारलोप। शि श् उ सु।

(21) यो द्वे च [1.21]

पद०—यः 5.1, द्वे 1.2, च—अव्य०।

अनु०—'भृमृशीङ्तृचरित्सरितनि०' (उ०सू० 1.7) से 'उः' की अनुवृत्ति है।

सं०—'या' इत्येतस्माद् धातोर् 'उ'प्रत्ययो भवति, धातोर् द्वे भवतः।

व्याख्या—'यः' यह पञ्चम्यन्त पद है। अर्थ—'या' धातु से परे 'उ' प्रत्यय होता है तथा धातु को द्वित्व होता है। द्वित्व होने पर पूर्ववत् अभ्यास कार्य होते हैं।

स्वा०द०वृ०—अत्रे सन्वदित्यनुवर्तमानेऽपि द्वेग्रहणमभ्यासेत्त्वनिवृत्त्यर्थम्। यान्ति प्राप्नुवन्ति देशान्तरमनेनेति **ययुः** अश्वो वा।

उदा०—(1) ययुः (= अश्व)—यान्ति प्राप्नुवन्ति देशान्तरं येन सः। या उ—द्वित्व। या या उ—'पूर्वोऽभ्यासः' से पूर्वखण्ड की अभ्यास सञ्ज्ञा। 'ह्रस्वः' से ह्रस्वादेश। य या उ—'आतो लोप इटि च' (पा० 6.4.64) से आकारलोप—य य् उ सु।

विशेष—1 शङ्का—पूर्व शास्त्र ('शः कित्सन्वच्च' उ०सू० 1.20) से 'सन्वत्' पद का अनुवर्त्तन प्राप्त है। पुनः प्रकृत सूत्र में 'द्वे' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

समाधान—आचार्य को प्रकृत में 'सन्यतः' से विहित अत् के स्थान पर इकार आदेश रूप कार्य इष्ट नहीं है। यदि सन्वत् कर दिया जाए तो 'सन्यतः' की प्रवृत्ति नहीं रोकी जा सकती। इसके बाध के लिए ही 'सन्वत्' ऐसा न कहकर 'द्वे' ऐसा कहा है।

2. 'ययुः' का एक अर्थ 'स्वर्ग का मार्ग' भी है। यथा—यान्ति तेन सुकृतकर्माणः सः।

·(22) कुर्भ्रश्च [1.22]

पद०—कुः 1.1, भ्रः 5.1, च—अव्य०।
अनु०—'यो द्वे च' (उ०सू० 1.21) से 'द्वे' का अनुवर्त्तन है।
सं०—भृधातोः कुप्रत्ययो भवति, धातोश्च द्वे भवतः।

व्याख्या—भ्रः यह पञ्चम्यन्त पद है। अर्थ—भृ धातु से परे कु प्रत्यय होता है तथा धातु को द्वित्व होता है।

स्वा०द०वृ०—अत्र द्वे इत्यनुवर्त्तते। 'भृ' धातोः कुः प्रत्ययो द्वित्वं च। बिभर्ति सर्वमिति **बभ्रुः** नकुलः पिङ्गलो वा।

सूत्रे **चकारग्रहणाद्** अन्यधातुभ्योऽपि कुः प्रत्ययस्तेषां द्वित्वं च भवति। तद्यथा—करोतीति **चक्रुः** कर्त्ता। हन्तीति **जघ्नुः** हन्ता। पाति रक्षतीति **पपुः** पालक इत्यादि।

उदा०—(1) बभ्रुः (= नेवला, अग्नि, पिंगल वर्ण)—बिभर्त्ति सर्वम् इति। बिभर्त्ति भरति वा तेजः। 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' अथवा 'भृञ् भरणे' धातु से 'कु' प्रत्यय होता है। भृ कु—धातु को द्वित्व। भृ भृ कु—'लशक्वतद्धिते' से ककार की इत्संज्ञा। 'तस्य लोपः' से लोप। 'पूर्वोऽभ्यासः' से अभ्यास सञ्ज्ञा। 'उरत्' (पा० 7.4.66) तथा 'उरण् रपरः' (पा० 1.1.50) से अभ्यास के ऋकार के स्थान पर अर् हुआ। भर् भृ उ—'सार्वधातुकार्धधा०' से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध। 'हलादिः शेषः' से—भ भृ उ—'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास के भकार को बकार। ब भृ उ—इको यणचि, सु।

विशेष—स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार सूत्र में चकार ग्रहण से भृ से अतिरिक्त धातुओं से भी कु प्रत्यय दृष्टिगोचर होता है। यथा—(1) चक्रुः (= विष्णु)—करोति जगद् यः। कृ कृ—कृ कृ उ—कर् कृ उ—क कृ उ—च कृ उ—चक्र् उ सु।

(2) जघ्नुः (= मारने वाला) हन्तीति। हन् उ—ह हन् उ—हलादिः शेषः। 'कुहोश्चुः' से हकार के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के बल पर चवर्गीय झ् आदेश। झ ह न् उ—'अभ्यासे चर्च' से झकार को जश्त्व (जकार)—ज हन् उ—'गमहनजन०' से

हन् की उपधा का लोप। ज ह् न् उ—'अभ्यासाच्च' (पा० 7.3.55) से हकार को घकार। ज घ् न् उ सु।

(3) ततिरुः (= पतंग)—तरतीति, तॄ कु—द्वित्व, उरत्, उरण् रपरः, हलादिः शेषः। तर् तॄ उ—त तॄ उ—ततिर् उ—इत्व, रपरत्व, सु। क्वचित् 'तितिरु' तथा क्वचित् 'ततरु' पाठ प्राप्त होते हैं। द्वित्व से पूर्व 'ॠत इद् धातोः' (पा० 7.1.100) से इत्त्व किया जाना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यथा—तॄ कु—तिर् उ—तिर् तिर् उ—ति तिर् उ सु।

(4) पपुरुः (= चन्द्रमा, समुद्र)—पृणातीति। 'पॄ पालनपूरणयोर्' धातोः कुः। पूर्यतेऽसौ। पॄ कु—प्रत्यय के कित्व होने से गुण का निषेध, द्वित्व, उरत्, उरण् रपरः, हलादिः शेषः—पर् पॄ उ—प पॄ उ—'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (पा० 7.1.102) से उत् आदेश। 'उरण् रपरः' से रपरत्व—प पुर् उ सु।

(5) पपुः (= पालक, विष्णु)—पाति रक्षतीति। पा कु—द्वित्व। पा पा उ—ह्रस्वः—प पा उ—'आतो लोप इटि च' से आकारलोप—प प् उ सु।

सामान्यतया प्रथम प्रकृति का निर्देश होता है तथा पश्चात् प्रत्यय का निर्देश हुआ करता है, परन्तु प्रकृत में प्रकृति से पूर्व प्रत्यय का निर्देश है। अतः कुछ व्याख्याकारों ने इस निर्देश का अर्थ इस प्रकार गृहीत किया है—भृ धातु से अतिरिक्त धातुओं से भी कु प्रत्यय होता है[1]। इस प्रकार पूर्वोक्त चक्रु आदि सभी शब्दों की साधुता दर्शाई जा सकती है।

(23) पॄभिदिव्यधिगृधिधृषिहृषिभ्यः [1.23]

पद०—पॄभिदिव्यधिगृधिधृषिहृषिभ्यः 5.3

अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—पॄ भिद् व्यध् गृध् धृष् हृष्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः 'कु' प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—'पॄ····हृषिभ्यः' यह पद पञ्चम्यन्त है। पूर्वशास्त्र से 'कुः' पद के अनुवर्त्तन के लिए प्रकृत सूत्र में 'च' पद का ग्रहण आवश्यक है परन्तु यहाँ चकार का ग्रहण न किया जाना चिन्तनीय है। अर्थ—पॄ, भिद्, व्यध्, गृध्, धृष् और हृष्—इन धातुओं से कु प्रत्यय होता है।

---

1. माणिक्यदेवकृतोणादिवृत्तिः (दशपाद्याम् 1.107 पञ्चपाद्याम् 1.22)—प्रकृतेः प्राक् प्रत्ययनिर्देशश्चक्र्वादीनां प्रसिद्ध्यर्थः। प्रक्रियाकौमुदीटीका (भा० 2, पृ० 610)—प्राक् प्रत्ययनिर्देशोऽन्येषां सिद्ध्ये।

स्वा०द०वृ०—एभ्यः कुः। पिपर्त्ति पालयति पूरयति वा स **पुरुः** बहुरिन्द्रियं वा। भिनत्तीति **भिदुः** वज्रं वा। विध्यति दुर्गन्धिं दिवसं वेति **विधुः** कर्पूरं चन्द्रमाः वा। व्यधेः **ग्रहिज्या०** [6.1.16] इति सम्प्रसारणम्। गृध्नोत्यभिकाङ्क्षते येन स **गृधुः** कामो वा। धृष्णोति प्रगल्भो भवतीति **धृषुः** दक्षः। हृष्यति स हृषुः हर्षकः। दृशि इति पाठान्तरे **दृशुः** दर्शकः।

उदा०—(1) पुरुः (= स्वर्ग, एक राजा, विस्तीर्ण)—पिपर्त्ति पालयति। पिपर्त्ति पूरयति। पृणाति पूर्यते वा। पृ पालनपूरणयोः धातु से कु प्रत्यय। पृ कु—लशक्वतद्धिते। तस्य लोपः। पृ उ—'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से उत् आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—पुर् उ सु।

(2) भिदुः (= वज्र)—भिनत्तीति। 'भिदिर् विदारणे' धातु से 'कु'। भिद् कु—अनुबन्धलोप। भिद् उ—'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से प्राप्त लघूपध गुण का 'क्ङिति च' से निषेध—भिदु सु।

(3) विधुः (= चन्द्रमा, कपूर, पिशाच, विष्णु, ब्रह्मा)—विध्यति दुर्गन्धिम्। विध्यति दिवसम्। 'व्यध ताडने' धातु से कु प्रत्यय। व्यध् कु—व्यध् उ—'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' (पा० 6.1.16) से सम्प्रसारण। 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्'। यण् (य्) के स्थान पर इक् (इ)। व् इ अध् उ—'सम्प्रसारणाच्च' (पा० 6.1.106) से पूर्वरूप एकादेश। व इ ध् उ—सु।

(4) गृधुः (= कामदेव, कामातुर)—गृध्यतीति। गृध्नोत्यभिकाङ्क्षते येन सः। 'गृधु अभिकाङ्क्षायाम्' धातु से कु प्रत्यय। गृध् कु—गृध् उ—पूर्ववत् लघूपधगुण निषेध।

(5) धृषुः (= दक्ष, साहसी, विश्वस्त)—धृष्णोति प्रगल्भो भवति। 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' धातु से 'कु'। पूर्ववत् लघूपध गुण का निषेध। सु।

(6) हृषुः (= हर्ष, हर्षक, सूर्य, अग्नि, शशी, राहु)—हृष्यतीति। 'हृष तुष्टौ' धातु से कु प्रत्यय। लघूपधगुण का निषेध।

(7) दृशुः (= दर्शक)—पश्यतीति। दृशि इति पाठान्तरम्। तेन दृशिर् धातोः कुप्रत्ययो भवति। दृश् कु—दृशु सु। लघूपधगुण का निषेध।

(24) कृग्रोरुच्च [1.24]

पद०—कृग्रोः 6.2, उत् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—कृ गृ—इत्येतयोर् धात्वोः स्थाने 'उत्' इत्यादेशो भवति, धातुभ्यां च कुप्रत्ययो भवति।

व्याख्या—कृग्रोः यह षष्ठ्यन्त पद है। यहाँ स्थानेयोगा षष्ठी है। कृ और गृ धातुओं को उत् आदेश होता है। यह सूत्र कु प्रत्यय का विधान भी करता है। अतः विभक्तिविपरिणाम से इसे पञ्चम्यन्त (यथा—कृगृभ्याम्) बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा प्रवृत्त होती है। अर्थ—कृ तथा गृ धातुओं से परे कु प्रत्यय होता है तथ इन धातुओं को 'उत्' आदेश हेता है। उत् में तकार उच्चारणार्थ है। उत् = ह्रस्व उकार। 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य अल् (अर्थात् ऋवर्ण) के स्थान पर यह आदेश होता है। 'उरण् रपरः' से उत् आदेश रपर होकर 'उर्' इस रूप में होता है।

स्वा०द०वृ०—यः करोति येन वा स **कुरुः** कुरवो राजानो वा। गृणात्युपदिशति वेदशास्त्रविद्यामाचारं च स **गुरुः** आचार्यः पिता वा, सर्वेषां गुरुत्वादीश्वरः।

उदा०—(1) कुरुः (= पुरोहित, भक्त, एक राजा का कुल)—करोतीति। कीर्यन्तेऽनेन धर्मविजययशांसि। डुकृञ् करणे अथवा कॄ विक्षेपे धातु से कु प्रत्यय। कृ कु—लशक्वतद्धिते, तस्य लोपः। कृ उ—उत् अन्तादेश—कुर् उ सु।

(2) गुरुः (= शिक्षक, पिता, आचार्य)—गृणात्युपदिशति वेदशास्त्रविद्याम् आचारं च। गॄ निगरणे अथवा गृ शब्दे धातु से कु प्रत्यय। पूर्ववत् उत् अन्तादेश, रपरत्व, सु।

(25) अपदुःसुषु स्थः [1.25]

पद०—अपदुःसुषु 7.3, स्थः 5.1
अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—अपदुःसुषूपपदेषु स्था इत्येतस्माद् धातोः कुः स्यात्।

व्याख्या—अपदुःसुषु यह सप्तम्यन्त पद है। अप, दुस् और सु—इनकी 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' (पा० 3.1.92) से उपपद सञ्ज्ञा हुई। स्थः यह पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। अप, दुस् और सु—इन शब्दों के उपपद रहते स्था धातु से परे कु प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—अप दुः सु इत्येतेषूपपदेषु 'स्था' धातोः कुः। अपतिष्ठतीति **अपष्ठु** वामभागः प्रतिकूलः पदार्थो वा। निन्दितस्तिष्ठतीति **दुष्ठु** अविनीतः। सुतिष्ठतीति **सुष्ठु** शोभनम्। सर्वत्र **सुषामादित्वात्** [8.3.98] षत्वम्।

उदा०—(1) अपष्ठु (= वामभाग)—अपतिष्ठतीति। ष्ठा गतिनिवृत्तौ धातु से कु। अप ष्ठा—भूवादयो धातवः, 'धात्वादेः षः सः' से षकार को सकार—अप स्

ठा—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' अर्थात् निमित्त (ष्) की निवृत्ति हो जाने पर नैमित्तिक (ष्टुत्व) की भी निवृत्ति होती है—अप स् था कु—लशक्वतद्धिते, तस्य लोपः, 'आतो लोप इटि च' से आकार का लोप—अपस् थ् उ—'सुषमादिषु च' से षत्व हुआ। अप ष् थ् उ—'ष्टुना ष्टुः' से थकार को ठकार, सु।

(2) दुष्ठु (= अविनीत)—निन्दितस्तिष्ठतीति। दुस् ष्ठा कु। दुस् स्था उ—पूर्ववत् षत्व, सु।

(3) सुष्ठु (= शोभन)—शोभनस्तिष्ठतीति। सु स्था कु—सु स्थ् उ—पूर्ववत् षत्व, ष्टुत्व, सु।

(26) रपेरिच्चोपधायाः [1.26]

पद०—रपेः 5.1, इत् 1.1, च—अव्य०, उपधायाः 6.1

अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—रप्धातोः कुप्रत्ययो भवति, उपधायाश्च स्थाने इत् इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—रपेः यह पञ्चम्यन्त पद है। रपि में इक् का निर्देश है। इत् = ह्रस्व इकार। 'त्' मुखसुखार्थ है। उपधायाः में स्थानेयोगा षष्ठी है। 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' से अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण की उपधा सञ्ज्ञा कही है। रप् धातु में 'अकार' उपधासञ्ज्ञक है। अर्थ—रप् धातु से परे कु प्रत्यय होता है तथा धातु के उपधाभूत वर्ण के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—अनिष्टं रपति वदतीति **रिपुः** शत्रुः। चकारग्रहणात् कुप्रत्यये परे इकारादेश एव समुच्चीयते।

उदा०—(1) रिपुः (= शत्रु) (अनिष्टं) रपति वदतीति। रप व्यक्तायां वाचि धातु से कु प्रत्यय। रप् कु--रप् उ—उपधा अकार के स्थान पर इकार—रिप् उ सु।

(27) अर्जिदृशिकम्यमिपंसिबाधामृजिपशितुक्धुक्दीर्घहकारश्च [1.27]

पद०—अर्जिदृशिकम्यमिपंसिबाधाम् 6.3, ऋजिपशितुक्धुक्दीर्घहकारः 1.3, च—अव्य०।

अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अर्ज् दृश् कम् अम् पंस् बाध्—इत्येभ्यो धातुभ्यः कुप्रत्ययो भवति, सूत्रोक्तधातूनां स्थाने ऋज् पश् तुक् धुक् दीर्घ हकार इत्येते भवन्ति।

व्याख्या—'अर्जि····बाधाम्' यह षष्ठ्यन्त पद है। यहाँ स्थानेयोगा षष्ठी है। इनके स्थान पर ऋज् आदि होते हैं। इनमें ऋज्, पश्—दो आदेश हैं। तुक्-धुक्—

दो आगम हैं। दीर्घ का अर्थ है—दीर्घ आदेश। 'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत:' से आ, ई, ऊ, ॠ—इनकी दीर्घ सञ्ज्ञा होती है। दीर्घ आदेश अच् के स्थान पर ही होता है। 'अचश्च' सूत्र यहाँ अर्थत: उपलब्ध होता है। हकार: = हकार आदेश। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से हकार आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। यहाँ छह स्थानी हैं तथा छह ही कार्य हैं। अत: 'यथासङ्ख्यमनुदेश: समानाम्' (पा० 1.3.10) परिभाषा प्रवृत्त होकर ये कार्य क्रमश: होते हैं।

अर्जि····बाधाम् यहाँ विभक्तिविपरिणाम के द्वारा इसे पञ्चम्यन्त बना लिया जाता है। सूत्रोक्त धातुओं से परे कु प्रत्यय होता है। अर्थ—अर्ज्, दृ·, कम्, अम्, पंस् और बाध्—इन धातुओं से परे कु प्रत्यय होता है तथा (अर्ज् आदि) धातुओं के स्थान पर क्रमेण ऋजि आदेश, पशि आदेश, तुक् आगम, धुक् आगम, दीर्घ आदेश और हकार अन्तादेश होते हैं। भाव यह है कि अर्ज् धातु के स्थान पर ऋजि आदेश, दृश् धातु के स्थान पर पशि आदेश, कम् धातु को तुक् आगम, अम् धातु को धुक् आगम, पंस् धातु के स्थान पर दीर्घ आदेश तथा बाध् धातु के स्थान पर हकार अन्तादेश होता है।

स्वा०द०वृ०—कुप्रत्यये सति अर्ज्यादिप्रकृतीनामृज्यादय आदेशा भवन्ति। अर्जयति सञ्चिनोति गुणानिति **ऋजुः** कोमलो वा। पश्यति सर्वमिति **पशुः**; पश्यन्ति येन वा स **पशुः** अग्नि:; पश्यति जानाति स्वार्थमिति **पशुः** गवादि:। 'कम'धातोस्तुक्। कामयन्ते यं स **कन्तुः** कामो वा। 'अम'धातोर्धुक्। अमति रुजति गच्छति वेति **अन्धुः** कूपो वा। अस्मिन् सूत्रे चकारग्रहणाद् बहुलवचनाद्वा 'अम'धातोर्बुगागमोऽपि भवति। अमन्ति गच्छन्ति चेष्टन्ते प्राणिनो येन तद् **अम्बु** जलम्। 'पंसधातोर्दीर्घ:। पंसयति नष्टमिव भवतीति **पांसुः** धूलिर्वा, क्षेत्रार्थं चिरकालात् सञ्चितं गोमयं वा, इत्याद्येवार्थेषु **पांशु**रिति तालव्यान्तोऽपि शब्दो दृश्यते। बाध्यन्ते विलोड्यन्ते पदार्था याभ्यां तौ **बाहू** भुजौ। प्रायेणाऽयं द्विवचनान्त:।

उदा०—(1) ऋजु; (= कोमल, सरल)—अर्जयति सञ्चिनोति गुणान्। अर्ज् णिच् > अर्जि कु—ऋजि आदेश, इकार उच्चारणार्थ—ऋज् उ सु।

(2) पशु: (= पशु, अग्नि)—पश्यति सर्वम्। पश्यन्ति येन स:। दृश् कु—पश् उ सु। पश्यति जानाति स्वार्थमिति पशु:।

(3) कन्तु: (= काम, हृदय, खत्ती अर्थात् धान्यकोठी)—कामयन्ते यं स:। कामयते काम्यतेऽसौ। कमु कान्तौ से कु प्रत्यय। कम् कु—कम् उ—तुक् आगम, अनुबन्धलोप, 'त्' शेष, 'आद्यन्तौ टकितौ' से कम् का अन्ताऽवयव—कम् त् उ—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (पा० 8.3.24) से अनुस्वार—कं तु—'अनुस्वारस्य ययि

परसवर्णः' से (पा० 8.4.57) से परसवर्ण प्राप्त, 'स्थानेऽन्तरतमः' (पा० 1.1.49) से नकार—कन् तु सु।

(4) अन्धुः (= कूप)—अमति रुजति गच्छति। अम गत्यादिषु धातु से कु। अम् कु—अम् उ—धुक् आगम, अनुबन्धलोप—अम्, ध् उ—'आद्यन्तौ टकितौ' से अन्ताऽवयव। पूर्ववत् अनुस्वार तथा परसवर्ण, सु।

(5) पांसुः (= धूलि, गोबर)—पंसयति नष्टमिव भवति। पंसि नाशने यह एक सौत्र धातु है। पंस् कु—दीर्घ आदेश—पांस् उ सु। कुछ विद्वान् तालव्यशकार घटित पंशि धातु स्वीकार करते हैं। तब 'पांशु' शब्द निष्पन्न होता है।

(6) बाहुः (= शरीर का एक अंग, भुजा)—बाध्यन्ते विलोड्यन्ते पदार्था याभ्यां तौ (बाहू)। बाधते परानिति। बाधृ विलोडने धातु से कु। बाध् कु—बाध् उ—हकार अन्तादेश। बाह् उ सु।

विशेष—(1) अम्बु (= जल)—अमन्ति गच्छन्ति चेष्टन्ते प्राणिनो येन तद्। अमति गच्छति नीचैस्तद्। बाहुलकात् अम् धातु से कु प्रत्यय तथा बुक् आगम होकर 'अम्बु' शब्द निष्पन्न होता है।

(28) प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च [1.28]

पद०—प्रथिम्रदिभ्रस्जाम्—6.3, सम्प्रसारणम् 1.1, सलोपः 1.1, च—अव्य० 1

अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—प्रथ् म्रद् भ्रस्ज्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परे कुप्रत्ययो भवति, सूत्रोक्तधातूनां सम्प्रसारणं यथासम्भवं सलोपश्च भवति।

व्याख्या—प्रथिम्रदिभ्रस्जाम् में स्थानेयोगा षष्ठी है। प्रथ्, म्रद् और भ्रस्ज् धातुओं को सम्प्रसारण और सलोप—ये दो कार्य होते हैं। यण् के स्थान पर जायमान इक् सम्प्रसारण कहलाता है। प्रथ्, म्रद् और भ्रस्ज्—इन तीनों धातुओं में रेफ (यण्) है। अतः सम्प्रसारण विधि सूत्रोक्त तीनों धातुओं में होती है। प्रथ् और म्रद् में स् नहीं है। केवल भ्रस्ज् में स् है। अतः सलोप का सम्बन्ध केवल भ्रस्ज् धातु के साथ है। प्रथिम्रदिभ्रस्जाम् को विभक्तिविपरिणाम से पञ्चम्यन्त बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा प्रवृत्त होती है। प्रथ् आदि तीनों धातुओं से परे कु प्रत्यय होता है। अर्थ—प्रथ्, म्रद् और भ्रज्—इन धातुओं से परे कु प्रत्यय होता है तथा इन धातुओं में स्थित यण् के स्थान पर इक् सम्प्रसारण होता है और भ्रस्ज् धातु के सकार का लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—प्रथ्यादिभ्यः कुः प्रत्ययः। तस्मिन् सति प्रथिम्रद्योः सम्प्रसारणं

[भ्रस्जेः] सलोपश्च । प्रथते कीर्त्तिं वा विस्तारयति स **पृथुः** राजविशेषो, विस्तीर्णः पदार्थो वा । म्रदते म्रदितुं शक्यते स **मृदुः** मादकः कोमलं वा । भृज्जति तपसा शरीरमिति **भृगुः** ऋषिः प्रतापी वा । **न्यङ्क्वादित्वात्** [7.3.53] कुत्वम् ।

उदा०—(1) पृथुः (= एक राजा, अग्नि)—प्रथते विस्तारयति कीर्तिम् । प्रथ विस्तारे धातु से कु । प्रथ् कु—प्रथ् उ—सम्प्रसारण—प् ऋ अ थ् उ—'सम्प्रसारणाच्च' (पा० 6.1.104) से पूर्वरूप—पृथ् उ सु ।

(2) मृदुः (= कोमल, शनि ग्रह)—म्रदते म्रदितुं शक्यते । म्रद्यतेऽसौ । म्रद मर्दने धातु से कु । म्रद् कु—म्रद् उ—सम्प्रसारण—मृद् उ सु ।

(3) भृगुः (एक ऋषि)—भृज्जति (तपसा) शरीरम् । भस्ज पाके धातु से कु । भ्रस्ज् कु—भ्रस्ज् उ—सकार का लोप—भ्रज् उ—सम्प्रसारण—भृज् उ—'न्यङ्क्वादीनां च' (पा० 7.3.53) से कुत्व, 'स्थानेऽन्तरतमः' से गकार—भृग् उ सु ।

(29) लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च [1.29]

पद०—लङ्घिबंह्योः 6.2, नलोपः 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—लङ्घ् बंह् इत्येताभ्यां धातुभ्यां कुप्रत्ययो भवति, तयोश्च नकारलोपो भवति ।

व्याख्या—लङ्घिबंह्योः में स्थानेयोगा षष्ठी है । इन धातुओं के नकार का लोप होता है । 'नलोपः' यहाँ दो पद हैं । 'न' यह लुप्तषष्ठ्यन्त पद है । 'न ङस्' इस दशा में 'सुपां सुलुक्' से सुप् (अर्थात् ङस् विभक्ति) का लुक् हुआ । लोपः यह प्रथमान्त रूप है । 'लङ्घिबंह्योः' को विभक्तिविपरिणाम से पञ्चम्यन्त (यथा—लङ्घिबंहिभ्याम्) बना लिया जाता है । 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है । तब लङ्घि और बंहि से परे कु प्रत्यय होता है । अर्थ—लङ्घ् और बंह् धातुओं से परे कु प्रत्यय होता है तथा इन धातुओं में स्थित नकार का लोप होता है ।

स्वा०द०वृ०—लङ्घिबंहिभ्यां कुरनयोर्नलोपश्च । लङ्घति गन्तुं शक्नोतीति **लघुः** स्वल्पो वा । अस्यैव **'बालमूललघ्वसुरालमङ्गुलीनां[1] वा लो रत्वमापद्यते'** [**महा० 8.2.18**] इति वार्तिकेन रेफः । रघू राजविशेषः । बंहते वर्धतेऽन्येभ्य इति **बहुः** प्रचुरः, सङ्ख्या वा ।

उदा०—(1) लघुः (= हल्का)—लङ्घति गन्तुं शक्नोति । लङ्घ्यतेऽसौ बालैरपि । लघि गतौ धातु से कु । ल ङ् घ् कु—क् का लोप, न् का लोप–लघ् उ सु ।

1. महाभाष्ये 'बालमूललघ्वलमङ्गुलीनाम्' इति पाठ उपलभ्यते । (लेखकः)

(2) बहुः (= प्रचुर, अनेक)—बंहते वर्धतेऽन्येभ्यः । बंहि वृद्धौ धातु से कु । बंह् उ—लशक्वतद्धिते—बह् उ—नकारलोप, सु ।

विशेष—'बालमूललघ्वलमङ्गुलीनां वा लो रत्वम् आपद्यते' (महा० 8.2.18) वार्त्तिक से लघु शब्दस्थ लकार के स्थान पर रेफ होकर 'रघु' शब्द निष्पन्न होता है। नारायणभट्ट प्रकृत में 'रङ्घि' धातु का अधिक पाठ करते हैं। यथा—रङ्घिलङ्घिबंहिभ्यो नलोपश्च ।

(30) ऊर्णोतेर्णुलोपश्च [1.30]

पद०—ऊर्णोतेः 5.1, णुलोपः 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—ऊर्णु इत्येतस्माद् धातोः कुप्रत्ययो भवति, धातोश्च 'णु' इत्येतस्य लोपो भवति ।

व्याख्या—ऊर्णोतेः यह पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। इससे परे कु प्रत्यय होता है। 'ऊर्णोतेः' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त बना लिया जाता है। इसमें स्थानेयोगा षष्ठी मानकर धातु के 'णु' अंश का लोप होता है। अर्थ—ऊर्णु धातु से परे कु प्रत्यय होता है और धातु के 'णु' भाग का लोप होता है। सूत्र में 'णु' ऐसा निर्देश होने से 'अलोऽन्त्यस्य' की प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि आचार्य को अलोऽन्त्य विधि इष्ट होती तो आचार्य प्रकृत के स्थान पर 'ऊर्णोतेर्लोपश्च' ऐसा पाठ करते ।

स्वा०द०वृ०—ऊर्णोत्याच्छादयति या सा **ऊरुः** जङ्घा । कुप्रत्यये णुभागलोपः ।

उदा०—(1) ऊरुः (= जंघा)—ऊर्णोत्याच्छादयति या सा। ऊर्णूयते या। कर्मणि । 'ऊर्णुञ् आच्छादने' धातु से कु प्रत्यय । ऊर्णु कु—अनुबन्धलोप—ऊर्णु उ—'णु' भाग का लोप—ऊ-र् उ सु ।

विशेष—'णुलोपः' के स्थान पर 'नुलोपः' पाठ भी प्राप्त होता है। उज्ज्वलदत्त वृत्तिकार नकारघटित पाठ स्वीकार करते हैं। चूँकि धातु में 'णु' का श्रवण होता है अतः णकारघटित पाठ ही युक्तियुक्त कहा जायेगा।

(31) महति ह्रस्वश्च [1.31]

पद०—महति 7.1, ह्रस्वः 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' का तथा 'ऊर्णोतेर्णुलोपश्च' (उ०सू० 1.30) से 'ऊर्णोतेर्णुलोपः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—महत्यर्थे गम्यमाने ऊर्णु इत्येतस्माद् धातोः कु प्रत्ययो भवति, धातोश्च 'णु' इत्यस्य लोपो भवति, धातोर् ह्रस्वादेशो भवति।

व्याख्या—महति सप्तम्यन्त पद है। इसका अर्थ है—'महान्' ऐसा अर्थ वाच्य होने पर। ह्रस्व आदेश अच् के स्थान पर होता है। अर्थ—'महान्' अर्थ गम्यमान हो तो ऊर्णु धातु से कु प्रत्यय होता है, धातु के 'णु' अंश का लोप होता है तथा धातु को ह्रस्व आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—'ऊर्णु'धातोः कुप्रत्ययस्तस्मिन् णुभागलोप ऊकारस्य ह्रस्वत्वं च। ऊर्णोत्याच्छादयत्यल्पानिति **उरु** महत्।

उदा०—(1) उरु (= विस्तृत, श्रेष्ठ)—ऊर्णोत्याच्छादयत्यल्पान् तद्। ऊर्णु कु—अनुबन्धलोप—ऊर्णु उ—'णु' का लोप—ऊ र् उ—ह्रस्व आदेश—उर् उ सु।

(32) शिलषेः कश्च [1.32]

पद०—शिलषेः 5.1, कः 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—शिलष्धातोः कुप्रत्ययो भवति, धातोः 'क' इत्यादेशो भवति।

व्यख्या—शिलषेः यह पञ्चम्यन्त पद है। शिलषि में इक् का निर्देश है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। 'शिलषेः' को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर शिलेष् को 'क्' आदेश होता है। ककारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'अलोऽन्त्यस्य' से ककार आदेश अन्त्य अल् (षकार) के स्थान पर होता है। अर्थ—शिलष् धातु से परे कु प्रत्यय होता है तथा धातु को ककार अन्तादेश होता है।

स्वा०द०वृ०—शिलष्यति पदार्थैः सह सम्बध्यते स **शिलकुः** परवशो ज्योतिषं वा।

उदा०—(1) शिलकुः (= कामुक, सेवक)—शिलष्यति पदार्थैः सह सम्बध्यते सः। शिलष आलिङ्गने धातु से कु प्रत्यय। शिलष् कु—शिलष् उ—ककार अन्तादेश। शिलक् उ सु।

(33) आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च [1.33]

पद०—आङ्परयोः 7.2, खनिशृभ्यां 5.2, डित् 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' की अनुवृत्ति है।
सं०—आङ्परयोर् उपपदयोर् यथासङ्ख्यं खन्-शृ इत्येताभ्यां धातुभ्यां कु-प्रत्ययो भवति, स च डित् भवति।

व्याख्या—आङ्परयोः यह सप्तम्यन्त पद है। आङ् और पर—ये उपपद हैं। दो उपपद हैं और दो ही धातु हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' से यथासंख्य विधि होती है। अर्थ—आङ् तथा पर—इनके उपपद रहते क्रमेण खन् और शॄ धातुओं से कु प्रत्यय होता है तथा वह प्रत्यय डित् होता है।

भाव यह है कि आङ् के उपपद रहते खन् धातु से तथा पर के उपपद रहते शॄ धातु से प्रत्यय होता है। डित् = जिसका डकार इत्सञ्ज्ञक है। यह अतिदेश सूत्र है। कु प्रत्यय कित् है। टिलोप के लिए इसे डित् अतिदेश किया जा रहा है। 'अचोऽन्त्यादि टि' अर्थात् अच् वर्णों में जो अन्त्य अच्, वह जिस समुदाय के आदि में होता है उस सम्पूर्ण वर्णसमूह की टिसञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—आसमन्तात् खनति भूमिमिति **आखुः** मूषको, वराहो वा। परान् शत्रून् शृणाति हिनस्ति येन स **परशुः** शस्त्रभेदः कुठारो वा। **पृषोदरादित्वात्** [6.3.108] अकारलोपे पूर्वार्थ एव **पर्शुः** अपि दृश्यते।

उदा०—(1) आखुः (= चूहा, सूअर, चोर, कुद्दाल)—आ समन्तात् खनति। आङ्पूर्वक खनु अवदारणे धातु से कु प्रत्यय, अनुबन्धलोप—आ खन् उ—प्रत्यय के डिद्वत् होने से धातु के टिसञ्ज्ञक अंश (अन्) का लोप—आ ख् उ सु।

(2) परशुः (= कुल्हाड़ा, वज्र)—परान् शत्रून् शृणाति हिनस्ति येन सः। पर पूर्वक शॄ हिंसायाम् धातु से कु प्रत्यय, अनुबन्धलोप—पर शॄ उ—टि का लोप—पर श् उ सु। कुछ विद्वान् पृषोदरादित्वात् 'पर' उपपद के अन्त्य अल् अकार का लोप करके 'पर्शु' शब्द निष्पन्न करते हैं। श्वेतवनवासी आचार्य ने पर के स्थान पर 'परा' उपपद मानकर परशु शब्द की व्युत्पत्ति व सिद्धि निम्न प्रकार से की है—

परा शृणोतीति। परा शॄ कु—परा शॄ उ—परा श् उ—'ङ्यापो सञ्ज्ञाछन्द-सोर्बहुलम्' (पा० 6.3.33) में बहुल शब्द के ग्रहण से आप् का आकार न होने पर भी 'परा' के आकार को ह्रस्वादेश (अकार) होता है—पर शु सु। इनके मत में आङ् के साहचर्य से 'परा' का ग्रहण होता है, परन्तु महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि के निम्न वचन से स्पष्ट है कि यहाँ साहचर्य नियम का आश्रय नहीं किया जाता है। द्रष्टव्य—महा० पा० 1.1.59, 4.1.1 'परान् शृणातीति परशुः'। दूसरे—साहचर्य परिभाषा अनित्य है। अतः यहाँ 'परा' उपसर्ग का ग्रहण नहीं होता है।

(34) हरिमितयोर्द्रुवः [1.34]

पद०—हरिमितयोः 7.2, द्रुवः 5.1

अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' का तथा 'आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च' (उ०सू० 1.33) से 'डित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—हरि-मित इत्येतयोर् उपपदयोर् द्रुधातोः कुप्रत्ययो भवति, स च डित्-सञ्ज्ञकः स्यात्।

व्याख्या—हरि और मित—ये दो उपपद हैं। द्रुवः यह पञ्चम्यन्त पद है। अर्थ—हरि और मित—इन शब्दों के उपपद रहते द्रु धातु से कु प्रत्यय होता है और वह डिद्वत् होता है। डित् होने से धातु के टिभाग का लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—हरिणाऽश्वेन वा द्रवति गच्छतीति **हरिद्रुः** दारुहरिद्रा वा। मितं परिमितं द्रवतीति **मितद्रुः** शोभनगमनो वा।

उदा०—(1) हरिद्रुः (= दारुहल्दी)—हरिणाऽश्वेन द्रवति गच्छति। 'हरि' शब्द के उपपद रहते द्रु गतौ धातु से कु प्रत्यय। हरि द्रु कु—अनुबन्धलोप—हरि द्रु उ—टि का लोप—हरि द्र् उ सु। हरयोऽस्मिन् द्रवन्ति सः (अधिकरणे)।

(2) मितद्रुः (= समुद्र, सुन्दर गमन वाला)—मितं परिमितं द्रवति। 'मित' शब्द के उपपद रहते द्रु धातु से कु। मित द्रु कु—अनुबन्धलोप, टिलोप, सु।

(35) शते च [1.35]

पद०—शते 7.1, च—अव्य०।

अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' का, 'हरिमितयोर्द्रुवः' (उ०सू० 1.34) से 'द्रुवः' का तथा 'आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च' (उ०सू० 1.33) से 'डित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—शते चोपपदे द्रुधातोः कुप्रत्ययः स्यात्, स च डित्।

व्याख्या—'शत' उपपद है। अर्थ—'शत' शब्द के उपपद रहते द्रु धातु से परे कु प्रत्यय होता है तथा वह डिद्वत् होता है।

स्वा०द०वृ०—शतधा बहुप्रकारैर्द्रवति गच्छतीति **शतद्रुः** नदीभेदो गङ्गा वा।

अत्र **बाहुलकात्** केवलादपि 'द्रु'धातोः कुप्रत्ययो दृश्यते। यं द्रवन्ति कार्यार्थं प्राणिनः प्राप्नुवन्तीति स **द्रुः** वृक्षः शाखा वा। द्रुवः शाखा अस्मिन् सन्तीति **द्रुमः** वृक्षः। द्युद्रुभ्यां मः [5.2.108] इति सूत्रेण मत्वर्थीयो मः प्रत्ययः।

उदा०—(1) शतद्रुः (= नदी)—शतधा बहुप्रकारैर् द्रवति गच्छति। 'शत' शब्द के उपपद रहते द्रु धातु से कु। शत द्रु कु—शत द्रु उ—शत द्र् उ सु।

विशेष—दशपाद्युणादिवृत्ति में यह सूत्र प्राप्त नहीं होता है। वहाँ इसे बाहुलकात् साधु मान लिया है। भाव यह है कि बहुल शब्द के ग्रहण से हरि और मित शब्दों से अतिरिक्त शब्द के उपपद रहते भी द्रु धातु से कु प्रत्यय देखा जाता है। इसी प्रकार बाहुलकात् केवल द्रु धातु से भी कु प्रत्यय होता है। यथा—(2) यं द्रवन्ति गच्छन्ति प्राणिनः कार्यार्थम् इति सः। द्रु कु—द्र् उ सु = शाखा या वृक्ष। (3) रघुद्रुः (ऋ० 1.140.40)—पूर्ववत्।

(36) खरुशङ्कुपीयुनीलङ्गुलिगु [1.36]

पद०—खरुशङ्कुपीयुनीलङ्गुलिगु—समाहारद्वन्द्वः।

अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—खरु-शङ्कु-पीयु-नीलङ्गु-लिगु—इत्येते कुप्रत्ययान्ताः शब्दा निपात्यन्ते।

व्याख्या—आचार्य पाणिनि ने अपने शास्त्र के प्रणयन में अनेकविध साधनों का उपयोग किया है। यथा—सञ्ज्ञा, अनुवृत्ति, अधिकार, अनुबन्ध, निपातन आदि। आचार्य ने कुछ शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय का स्पष्ट उपदेश न करके उन शब्दों का सूत्र में ज्यों का त्यों पाठ कर दिया है। इसे निपातन कहते हैं। व्याख्याकार उस निपातित शब्द में जिस-जिस कार्य को देखते हैं, उस-उस कार्य की कल्पना निपातन से कर लेते हैं। जिस प्रकरण में किसी शब्द का निपातन किया जाता है, प्रायेण उस प्रकरण से सम्बन्धित कार्य ही उस शब्द में घटित होते हैं। चूँकि खरु आदि शब्दों का पाठ कु प्रत्यय के अधिकार में है। अतः इन्हें कुप्रत्ययान्त जानना चाहिए। अर्थ—खरु, शङ्कु, पीयु, नीलङ्गु और लिगु—ये शब्द कुप्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—खरु इत्येवमादयश्शब्दाः कुप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। 'खन'-धातोः कुः, नस्य रः। खनति शरीरमिति **खरुः** कामो दन्तः संहर्त्ता दर्पोऽश्वो वा। श्वेतार्थे तु वाच्यवत्, यथा—खरुरियं ब्राह्मणी, खरु कुलम्, खरुः पुमान्। यं दृष्ट्वा शङ्कते सन्दिग्धो भवतीति तत् **शङ्कु** विषं कीलं शस्त्रं संख्या वृक्षभेदो जलभेदः पापं स्थाणुर्वा। पिबति पाति वा स **पीयुः** कालः काको वा। कुप्रत्यये धातोरीकारादेशो युगागमश्च। नितरां लङ्गति गच्छतीति **नीलङ्गु** क्रिमिजातिर्भ्रमरः पुष्पं वा। कुप्रत्यये उपसर्गस्य दीर्घत्वम्। सर्वत्र लगति सङ्गच्छते तत् **लिगु** चित्तं वा। 'लगे' धातोरुपधाया इत्त्वम्।

बाहुलकात्—खञ्जति गमने विकलो भवतीति **पङ्गुः**, गतिहीनो वा। कुप्रत्यये 'खञ्ज'धातोः पङ्गादेशः। स्वगन्धेनान्यगन्धान् हन्तीति **हिङ्गुः** वणिग्द्रव्यम्। [कुप्रत्यये हन्तेरुपधाया इत्त्वं गुगागमश्च।]।

उदा०—(1) खरुः (= काम, दाँत, दर्प, अश्व)—खनति (शरीरम्)। खनु अवदारणे धातु से कु प्रत्यय। खन् कु—रेफ अन्तादेश। खर् उ सु। श्वेत अर्थ में विशेष्यानुसारी लिंग होता है। यथा—खरुरियं ब्राह्मणी, खरुरयं पुमान्, खरु कुलम्। खोर्ऋ गतिप्रतिघाते धातु से कु प्रत्यय। खोर् कु—खोर् उ—उपधा (ओकार) के स्थान पर निपातन से अत्व—खर् उ सु—खोरतीति।

(2) शङ्कुः (= सन्दिग्ध, बाण, कील, पुरुषलिंग, विष, शिव)—यं दृष्ट्वा शङ्कते, तद् शङ्कु (विषम्, कीलम्, शस्त्रम्)। शङ्कतेऽस्माज्जनाः सः (बाणः, कीलकः)। शक्यतेऽनेन खनितुं सः (कीलकः)। शकि शङ्कायाम् धातु से कु प्रत्यय। 'इदितो नुम् धातोः' (पा० 7.1.58) से नुम् आगम। श नुम् क् उ—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (पा० 8.3.24) से अनुस्वार। शंक् उ—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (पा० 8.4.57) से परसवर्ण। शङ्क् उ सु। शक्लृ शक्तौ धातु से कु—शक् उ—नुम् आगम निपातन से, अनुस्वार, परसवर्ण—श ङ् क् उ सु।

(3) पीयुः (= काल, काक, सूर्य, अग्नि, सोना)—पिबतीति। पातीति। पा पाने, पा रक्षणे धातु से कु। पा कु—पा उ—धातु को ईकार अन्तादेश निपातन से—पी उ—युक् आगम, 'आद्यन्तौ टकितौ' से धातु का अन्ताऽवयव—पी य् उ सु।

(4) नीलङ्गुः (= भ्रमर, पुष्प, गीदड़, एक कीड़ा)—नितरां लगति गच्छति नीलं गच्छतीति। 'नील' शब्द के उपपद रहते गम्लृ गतौ धातु से कु। नील गम् कु—टिलोप निपातन से —नील ग् उ—उपपद को निपातन से नुम् आगम 'मिदचोऽन्त्यात् परः'—नील न् ग् उ—अनुबन्धलोप, अनुस्वार, परसवर्ण—नीलङ्गु सु। नि उपसर्गपूर्वक लग् धातु से कु—नि लग् उ—उपसर्ग को दीर्घ आदेश निपातन से—नीलगु—नुम् आगम निपातन से—नीलन्गु—अनुस्वार, परसवर्ण, सु।

(5) लिगु (= चित्त)—सर्वत्र लगति सङ्गच्छते। लगे धातु से कु—लग् कु—धातु की उपधा के स्थान पर इकार आदेश निपातन से—लिग् उ सु। दशपाद्युणादि वृत्ति में श्लिष् धातु से कु प्रत्यय करके 'लिगु' की सिद्धि दर्शाई है। यथा—श्लिष् कु—श्लिष् उ—धातु के आदि वर्ण (श्) का लोप—लिष् उ—ग् अन्तादेश निपातन से—लिग् उ सु। श्लिष्यतीति।

विशेष—(क) खरुशङ्कुपीयुनीलङ्गुलिगु—यह अविभक्तिक निर्देश है। सौत्रत्वात् सुप् विभक्ति का लुक् हो गया है।

(ख) बहुल शब्द का ग्रहण होने से निम्नलिखित कुप्रत्ययान्त शब्द निपातन से सिद्ध हैं—

(6) पङ्गुः (= लंगड़ा व्यक्ति)—खञ्जति गमने विकलो भवति । खञ्ज् कु—खञ्ज् उ—धातु को पङ्ग् आदेश निपातन से, अनेकाल् होने से सर्वादेश—पङ्ग् उ सु ।

(7) हिङ्गुः (= रामठ)—(स्वगन्धेनाऽन्यगन्धान्) हन्तीति । हन् कु—हन् उ—निपातन से धातु की उपधा (अकार) के स्थान पर इकार—हिन् उ—गुक् आगम निपातन से, 'आद्यन्तौ टकितौ' से धातु का अन्ताऽवयव—हिन् गुक् उ—अनुबन्ध-लोप—हि न् ग् उ—अनुस्वार, परसवर्ण, सु ।

(8) गडुः (= ग़ाल)—गडतीति । गड सेचने धातु से कु—गड् कु—गड् उ सु ।

(9) अंशुः (= किरण)—अशू व्याप्तौ धातु से कु, निपातन से नुम् आगम—अनुम् श् उ 'नश्चाऽपदान्त०' से अनुस्वार, सु ।

नारायण ने पूर्वोक्त सभी शब्दों का पाठ सूत्र में ही किया है। द्रष्टव्य—खरुशङ्कुपीयुनीलङ्गुलिग्वङ्गुपङ्गुहिङ्ग्वंशवः ।

(37) मृगय्वादयश्च [1.37]

पद०—मृगय्वादयः 1.3, च—अव्य० ।

अनु०—'कुर्भ्रश्च' (उ०सू० 1.22) से 'कुः' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—मृगयुप्रभृतयः शब्दाः कुप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ।

व्याख्या—मृगय्वादि एक गण है । कई बार एक ही कार्य अनेक शब्दों में होता है । ये शब्द संख्या में अधिक होते हैं । अतः इन सभी का परिगणन सूत्र में सम्भव नहीं होता है । लाघवप्रिय आचार्य ने इसके लिए गणपाठ की योजना की है । खिलपाठ के रूप में आचार्य ने गणपाठ किया है ताकि सुविदित रहे कि अमुक गण में कौन-कौन शब्द सम्मिलित हैं । गण का नाम गण में पठित प्रथम शब्द के आधार पर रख दिया है । 'मृगय्वादि' का अर्थ है—मृगय्वादि गण में पठित शब्द । अर्थ—मृगयु आदि कुप्रत्ययान्त शब्द निपातन से सिद्ध हैं ।

स्वा०द०वृ०—मृगय्युप्रभृतयः कुप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । मृग, देव, मित्र, कुमार, अध्वर इत्येतेषूपपदेषु **'या प्रापणे'** इत्यस्मात् कुप्रत्ययो भवति । मृगान् याति प्राप्नोतीति **मृगयुः** व्याधः । देवान् विदुषो याति स **देवयुः** धार्मिकः । मित्रान् यातीति **मित्रयुः** लोकव्यवहारवित् । कुमारावस्थां यातीति **कुमारयुः**, राजपुत्रो वा । अध्वरं यज्ञं यातीति **अध्वर्युः** याजकः । अध्वरस्यान्त्यलोपश्च ।

बहुलवचनात्—कोहयति विस्मापयतीति **कुहुः**, यस्यां चन्द्रो न दृश्यते साऽमावास्या वा कुहुः । पण्डति गच्छतीति **पाण्डुः** रङ्गविशेषो वा, राजविशेषो वा । [धातोर्वृद्धिश्च ।] पीलति प्रतिष्टभ्नोति निरुणद्धि जीवानिति **पीलुः** हस्ती वृक्षः काणुः

परमाणवः पुष्पाणि वा । 'मजि' सौत्रो धातुस्तस्मात् कुः । मञ्जति चित्तं प्रसादयतीति **मञ्जु** शोभनम् । एवं **निघण्टु पलाण्डु कर्करेटु करेटु डमरु** प्रभृतयः शब्दा अप्यत्रैव द्रष्टव्या आकृतिगणत्वादस्य ।

उदा०—(1) मृगयुः (= व्याध, गीदड़)—मृगान् याति प्राप्नोति । 'मृग' शब्द के उपपद रहते या प्रापणे धातु से कु प्रत्यय—मृग या कु—मृग या उ—'आतो लोप इटि च' से आकार का लोप । मृग य् उ सु ।

(2) देवयुः (= धार्मिक)—देवान् विदुषो याति । देव या कु—पूर्ववत् ।

(3) मित्रयुः (= लोकव्यवहार को जानने वाला, स्नेही)—मित्राणि याति । मित्र या कु—पूर्ववत् ।

(4) कुमारयुः (= राजकुमार)—कुमाराऽवस्थां याति । कुमार या कु—पूर्ववत् ।

(5) अध्वर्युः (= यज्ञकर्त्ता)—अध्वरं यज्ञं याति । अध्वर या कु—उपपद के अन्त्य अल् का लोप । अध्वर् य् उ सु ।

(6) कुहुः (= अमावस्या)—कोहयति विस्मापयति, यस्यां चन्द्रो न दृश्यते सा । कुह् कु—प्रत्यय के कित् होने से लघूपध गुण का निषेध—कुह् उ सु ।

(7) पाण्डुः (= एक रंग)—पण्डति गच्छति । पण्ड् कु—निपातन से धातु के अच् को वृद्धि आदेश—पण्ड् उ—पाण्ड् उ सु ।

(8) पीलुः (= हाथी, वृक्ष, पुष्प)—पीलति प्रतिष्टभ्नोति निरुणद्धि जीवान् । पील् कु—अनुबन्धलोप ।

(9) मञ्जु (= शोभन, मधुर)—मञ्जति चित्तं प्रसादयति । मजि सौत्र धातु से कु—मञ्ज् कु सु । ध्यान रहे कि मजि यह इदित् धातु है । यदि इसे मञ्ज स्वीकार करते हैं तो 'कु' प्रत्यय के कित् होने से 'अनिदितां हल उपधाया०' से अनुनासिक लोप होकर 'मजु' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है ।

(10) अश्मयुः (= जिह्म)—अश्मानं याति । अश्मन् या कु—न् का लोप—अश्म या उ—आकारलोप—अश्म य् उ सु ।

(11) चरण्युः (= वायु)—चरं याति । चर या कु—प्रत्यय के स्थान पर निपातन से अण्युच् आदेश—चर या अण्युच्—'हलन्त्यम्' से च् की इत्सञ्ज्ञा, निपातन से धातु का लोप—चर अण्यु—निपातन से उपपद के अन्त्य अल् का लोप—चर् अण्यु सु ।

(12) भुरण्युः (= अग्नि)—भुवं याति । भू या कु—निपातनात् प्रत्यय को अण्युच् आदेश । भू या अण्युच्—धातु का लोप । भू अण्यु—रुट् का आगम निपातन से । 'आद्यन्तौ टकितौ' से प्रत्यय का आद्यवयव हुआ—भू र् अण्यु—यदि उपपद को आगम स्वीकार करते हैं तो रुट् के स्थान पर रुक् आगम मानना होगा—भुर् अण्यु—निपातनात् उपपद को ह्रस्व आदेश, सु ।

आचार्य उज्ज्वलदत्त ने इसे आकृतिगण माना है। उनके अनुसार इस गण में निम्नलिखित शब्दों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए—

(13) निघण्टुः, (14) पलाण्डुः, (15) कर्करेटुः, (16) करेटुः, (17) पेरुः, (18) डमरुः (19) वरेण्युः, (20) कमण्डलुः।

(38) मन्दिवाशिमथिचतिचङ्क्यङ्किभ्य उरच् [1.38]

पद०—मन्दिवाशिमथिचतिचङ्क्यङ्किभ्यः 5.3, उरच् 1.1

सं०—मदि वाश् मथ् चत् चङ्क् अङ्क्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य उरच् प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—'मन्दि·····किभ्यः' पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। मन्दि यह नुम्सहित तथा इक् प्रत्यय के द्वारा मदि स्तुत्यादिषु धातु का निर्देश है। वाशि—यह वाशृ शब्दे धातु का इक् प्रत्यय के द्वारा निर्देश है। मथि—यह इक्पूर्वक मथ विलोडने धातु का उल्लेख है। चति—यह चते याचने धातु का इक्पूर्वक निर्देश है। चङ्कि—यह चकि सौत्र धातु का नुम् आगम तथा इक् प्रत्यय के साथ निर्देश है। अङ्कि—यह भी अकि लक्षणे का नुम् आगम तथा इक् प्रत्यय के सहित निर्देश है। अर्थ—मन्द्, वाश्, मथ्, चत्, चङ्क् तथा अङ्क्—इन धातुओं से परे उरच् प्रत्यय होता है। उरच् के च् की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा होती है। उरच् चित् प्रत्यय है। उरच् प्रत्ययान्त शब्द 'चितः' (पा० 6.1.163) के द्वारा अन्तोदात्त होता है।

स्वा०द०वृ०—मन्दते स्तौति माद्यति वा यस्यां सा **मन्दुरा** अश्वशाला वा। वाश्यते शब्दं करोतीति **वाशुरा** रात्रिर्वा। मथति विलोडयतीति मथुरा नगरी वा। चतते याचते स **चतुरः**, दक्षः कुशलो वा। 'चकि' इति सौत्रो धातुः, चङ्कति सर्वतो भ्रमति येन स **चङ्कुरः** रथो वा। अङ्क्यते लक्ष्यते निःसृतं दृश्यते सः **अङ्कुरः** बीजोत्पादो वा। अत्र खर्जूरादि (उ० 4.91) वक्ष्यमाणगणेन ऊरप्रत्यये **अङ्कूर** इत्यपि, अर्थः स एव।

उदा०—(1) मन्दुरा (= घुड़साल, खाट, चटाई)—मन्दते स्तौति। माद्यति यस्यां सा। मन्द् उरच्—मन्दुर टाप्—'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप् प्रत्यय—मन्दुर आ—हलन्त्यम्, चुटू, तस्य लोपः—मन्दुरा—'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश, सु, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त स् का लोप। अथवा मन्दन्ते मोदन्तेऽस्यां वाजिनः।

(2) वाशुरा (= रात)—वाश्यते शब्दं करोति। वाश् उरच्—पूर्ववत् टाप् आदि। यह शब्द पुँल्लिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है। यथा—(3) वाशुरः (= गधा)।

(4) मथुरा (= एक नगरी)—मथति विलोडयति। मथ्यतेऽसौ जनैः। मथितावस्यां मधुलवणौ नाम राक्षसौ। मथ् उरच् टाप्—पूर्ववत्।

(5) चतुरः (= चतुर)—चततीति। चते वाचने। चत् उरच्—चतुर सु।

(6) चङ्कुरः (= रथ)—चङ्कति सर्वतो भ्रमति येन सः। चङ्कत्यत्यर्थम्। चङ्क् उरच्—चङ्कुर सु।

(7) अङ्कुरः (= कोंपल, जल, रक्त, केश)—अङ्कयतीति। अङ्क्यते लक्ष्यते निःसृतं दृश्यते सः। अङ्क् उरच्—सु।

विशेष—(8) वासुरः—नारायण भट्ट 'वाशि' के स्थान पर 'वासि' पाठ करते हैं। तब 'वासुरः' शब्द बनता है।

(9) मधुरः—पेरुसूरि के अनुसार 'मथि' के स्थान पर 'मधि' पाठ है।

(39) व्यथेः सम्प्रसारणं धः किच्च [1.39]

पद०—व्यथेः 5.1, सम्प्रसारणम् 1.1, धः 1.1, कित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'मन्दिवाशिमथि····उरच्' (उ०सू० 1.38) से 'उरच्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—व्यथ्धातोर् 'उरच्' प्रत्ययः स्यात्, धातोश्च सम्प्रसारणं धकारश्चाऽन्तादेशो भवति। उरच् प्रत्ययः कित्सञ्ज्ञः स्यात्।

व्याख्या—व्यथेः पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। उरच् प्रत्यय को कित् किया गया है। सम्प्रसारण के पश्चात् इक् वर्ण के स्थान पर गुणनिषेध के लिए प्रत्यय को कित् किया गया है। व्यथेः पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को सम्प्रसारण तथा 'ध्' आदेश होते हैं। 'अलोऽन्त्यस्य' से धातु के अन्त्य अल् (थ्) के स्थान पर ध् आदेश होता है। अर्थ—व्यथ् धातु से परे उरच् प्रत्यय होता है, प्रत्यय कित् होता है, धातु को सम्प्रसारण होता है तथा धातु को धकार अन्तादेश होता है। धकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—व्यथते बिभेति यस्मात् स **विधुरो**ऽत्यन्तवियोगः, शरीरत्यागो वा। सम्प्रसारणे सति गुणनिषेधाय कित्त्वम्। बाहुलकात् थकारस्य धकारो न, तेन 'विथुरः' इत्यपि सिद्धं भवति। **विथुरः** चौरो दुष्टो वा।

उदा०—(1) विधुरः (= पत्नीविहीन, संकटग्रस्त)—व्यथते बिभेति यस्मात् सः। व्यथ्यन्तेऽस्मात् प्राणिनः। व्यथ भयसञ्चलनयोः धातु से उरच्। व्यथ् उरच्—सम्प्रसारण—व् इ अथ् उर—यकार के स्थान पर सम्प्रसारण, वकार के स्थान पर प्राप्त सम्प्रसारण का 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' से निषेध—व् इथ् उर—'सम्प्रसारणाच्च' से

पूर्वरूप एकादेश—विथ् उर—ध् अन्तादेश—विध् उर सु—'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त लघूपध गुण का 'क्ङिति च' से निषेध।

(2) विथुरः (= चौर, दुष्ट)—बाहुलकात् धत्व का अभाव होकर 'विथुर' शब्द भी निष्पन्न होता है।

विशेष—पञ्चपादी में धकार अन्तादेश तथा अभाव—दोनों निर्देश प्राप्त होते हैं। अन्तादेश पक्ष में 'विधुर' तथा अभाव पक्ष में 'विथुर' शब्द निष्पन्न होते हैं।

पेरिसूरि व्यध् धातु से उरच् मानते हैं। इस दशा में धकार अन्तादेश की आवश्यकता नहीं है। सम्प्रसारण के लिए प्रत्यय को कित् करना अनिवार्य है। द्रष्टव्य—व्यधस्सम्प्रसारणं किच्च।

प्रौढमनोरमाकार आचार्य भट्टोजि दीक्षित धकार अन्तादेश को अयुक्त मानते हैं। द्रष्टव्य—प्रौ०म०—"दशापाद्यां तु 'धः किच्च' इति पठित्वा धकारमन्तादेशं विधाय विधुरोऽनग्निक इत्युदाहृतम्, माधवेनाऽपि तदेवाऽनुसृतम्, न त्वेतद् युक्तम्। ....इत्यादिमन्त्रेषु थकारपाठस्य निर्विवादत्वात्। यदपि माधवेनोक्तम् 'विदिभिदि' इत्यत्र 'व्यथेः सम्प्रसारणं च' इति वचनात् कुरचि थान्तं रूपमिति। ....कुरज्विधायके सूत्रे व्यथेरुपसङ्ख्यानस्याऽप्रसिद्धत्वात्। तस्मादिह 'धः किच्च' इति दशपादीपाठं पुरस्कुर्वन्तः प्रसादकारादयोऽप्युपेक्ष्याः। कथं तर्हि विधुर इति प्रयोगस्य निर्वाह इति चेत् धुरो विगत इति प्रादिसमासेनेत्यवधेहि। 'समासान्तः' (पा० 5.4.68) इति सूत्रे वृत्तिपदमञ्जर्योस्तथैवोक्तत्वात्।

(40) मकुरदर्दुरौ [1.40]

पद०—मकुरदर्दुरौ 1.2।
अनु०—'मन्दि....उरच्' (उ०सू० 1.38) से 'उरच्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—मकुरदर्दुर—इत्येतौ शब्दावुरच्प्रत्ययान्तौ निपात्येते।

व्याख्या—उरच् प्रत्यय का प्रकरण चल रहा है। अतः उरच्-प्रत्ययान्त शब्दों का निपातन किया जा रहा है। अर्थ—मकुर और दर्दुर—इन उरच्-प्रत्ययान्त शब्दों का निपातन किया जाता है।

स्वा०द०वृ०—मकुरदर्दुरावुरच्प्रत्ययान्तौ निपात्येते। मङ्कतेऽलङ्करोति येन स **मकुरः** दर्पणो वा। 'मकि'धातोर्नलोपः। बाहुलकाद्धातोरकारस्योकारे कृते दर्पणार्थ एव **मुकुर** इत्यपि सिद्धम्। दृणाति विदारयत्युष्णमिति **दर्दुरः** मेघो मण्डूको वाद्यभेदः पर्वतभेदो वा। उरचि 'दृ'धातोर्द्विर्वचनमभ्यासस्य रुगागमो धातोष्टिलोपश्च निपात्यते।

उदा०—(1) मकुरः (= दर्पण, मौलश्री का वृक्ष, कुम्हार के चक्र का डण्डा) मङ्क्तेऽलङ्करोति येन सः। मकि मण्डने धातु से उरच्। मन् क् उर—'इदितो नुम् धातोः' (पा० 7.1.58) से नुम् आगम, निपातन से न् का लोप—मकुर सु।

(2) मुकुरः—बाहुलकात् धातु के अकार को उकार आदेश होकर इसी अर्थ में 'मुकुर' शब्द निष्पन्न होता है।

(3) दर्दुरः (= मेंढक, बादल)—दृणाति विदारयत्युष्णम्। दृ भये धातु से उरच्। दृ उर—निपातन से धातु को द्वित्व—दृ दृ उर—पूर्वोऽभ्यासः, उरत्, उरण् रपरः, हलादिः शेषः—दर् दृ उर—द दृ उर—निपातन से अभ्यास को रुक् आगम, आद्यन्तौ टकितौ—द रुक् दृ उर—अनुबन्धलोप—दर् दृ उर—निपातन से धातु की टि का लोप—दर्द् उर सु। दृ उरच् इस स्थिति में कुछ विद्वान् धातु को दुक् आगम तथा गुण आदेश का निपातन मानते हैं। दृ दुक् उर—दर् द् उर—'उरण् रपरः' से रपरत्व, सु।

(4) शर्कुरः (= तरुण)। बहुल वचन से अन्य धातुओं से भी उरच् प्रत्यय दृष्टिगोचर होता है। यथा—शृणातीति। शॄ हिंसायाम् धातु से उरच्—कुक् आगम और गुणादेश का निपातन—शर् कुक् उरच्—शर् क् उर सु।

(5) कुक्कुरः (= कुत्ता)—कौति। कु शब्दे धातु से उरच्। धातु को द्वित्व, कुक् आगम और धातु के उकार का लोप। कु कु उर—कु कुक् कु उर—कु क् कु उर—कु क् उर सु।

(41) मद्गुरादयश्च [1.41]

पद०—मद्गुरादयः 1.3, च—अव्य०।

अनु०—'मन्दिवाशि····उरच्' (उ०सू० 1.38) से 'उरच्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—मद्गुरादिगणे पठिताः शब्दा उरच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—मद्गुरादि एक गण है। अर्थ—मद्गुर आदि शब्द उरच् प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—मद्गुरप्रभृतयः शब्दा उरजन्ता निपात्यन्ते। माद्यति हृष्यतीति **मद्गुरः** मत्स्यभेदो वा। धातोर्गुगागमः। कबते वर्णविशेषो भवतीति स **कर्बुरः** श्वेतो दुष्टो वा। धातोरुमागमः। वध्नाति मार्दवेन स **बन्धुरः** नम्रः सुन्दरो वा। **खर्जूरादित्वाद्** ऊरप्रत्यये **बन्धूरो**ऽपि उक्तार्थ एव। चिन्वन्त्येकीकुर्वन्ति याँस्ते **चिकुराः**। अत्र धातोः कुगागमः। कोकत आदत्ते परपदार्थमिति **कुक्कुरः**; **कुकुरः** श्वा [वा], एकार्थौ। पक्षान्तरे कुगागमो निपात्यते।

[**बाहुलकाद्**—] अतति निरन्तरं गच्छतीति **आतुरः** अशान्तः [वा]। धातोरादौ दीर्घः। वान्ति मृगान् प्राप्नुवन्ति यया सा **वागुरा** मृगबन्धनी=मृगबन्धनार्थं जालम्। अत्र धातोर्गुगागमो निपात्यते। शक्नोति तरितुमिति **शकुलः** मत्स्यः [वा]। वङ्कते कुटिलो भवतीति **वकुलः** वृक्षभेदो वा। अत्रोभयत्र प्रत्ययरेफस्य लत्वम्, वङ्केर्नलोपश्च।

उदा०—(1) मद्गुरः (= एक मछली)—माद्यति हृष्यति। मद् उरच्—च् की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा—मद् उर-निपातन से धातु को गुक् आगम। मद् ग् उर—अनुबन्धलोप, सु।

(2) कर्बुरः (= श्वेत, दुष्ट, पाप, पिशाच, धतूरे का पौधा)—कबते वर्णविशेषो भवति। कब् उरच्—निपातन से रुम् आगम—मिदचोऽन्त्यात् परः—करुम् ब् उर—अनुबन्धलोप—कर् बुर सु।

(3) बन्धुरः (= विनम्र, सुन्दर, हंस , योनि, सारस)—बध्नाति मार्दवेन सः। निपातन से नुम् आगम, मित् होने से अन्त्य अच् से परे—ब नुम् ध् उर—अनुबन्ध-लोप—बन्ध् उर सु। खर्जूरादि में पाठ होने से 'ऊर' प्रत्यय होकर 'बन्धूर' भी बनता है।

(4) कुक्कुरः (= कुत्ता)—कोकत आदत्ते परपदार्थम्। कुक् उरच्—धातु को कुक् आगम, 'आद्यन्तौ टकितौ' से अन्ताऽवयव—कुक् कुक् उर—अनुबन्धलोप—कुक् क् उर सु। कुकुरः—निपातन अभाव पक्ष में।

(5) चिकुरः (= बाल, पर्वत, साँप)—चिन्वन्त्येकीकुर्वन्ति याँस्ते। चि उरच्—चि उर—निपातन से कुक् आगम, 'आद्यन्तौ टकितौ' से अन्ताऽवयव। चिकुक् उर—अनुबन्धलोप, सु।

(6) आतुरः (= रोगी, अशान्त)—अतति निरन्तरं गच्छति। अत् उरच्—अत् उर—धातु को दीर्घ आदेश निपातन से—आत् उर सु।

(7) वागुरा (= जाल)—वान्ति मृगान् प्राप्नुवन्ति यया सा। वा उरच्—निपातन से गुक् आगम, 'आद्यन्तो टकितौ' से अन्ताऽवयव—वा गुक् उर—अनुबन्धलोप—वाग् उर—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप् (पा० 4.1.4)—वागुर टाप्—सवर्णदीर्घ, सु।

(8) शकुलः (= मछली)—शक्नोति तरितुम्। शक् उरच्—शक् उर—प्रत्यय के रेफ को लकार आदेश निपातन से—शक् उल—प्रातिपदिक सञ्ज्ञा—शकुल सु।

(9) वकुलः (= मौलश्री का पौधा)—वङ्कते कुटिलो भवति। वङ्क् उरच्—वङ्क् उर—प्रत्यय के रेफ को निपातन से लकार आदेश—वङ्क् उल—निपातन से धातु के अनुनासिक का लोप—वक् उल सु।

(42) असेरुरन् [1.42]

पद॰—असेः 5.1, उरन् 1.1 ।

सं॰—अस् इत्येतस्माद् धातोर् उरन् प्रत्ययः स्यात् । 'शावशेराप्तौ' (उ॰सू॰ 1.44) इति यावद् 'उरन्' इत्यधिक्रियते ।

व्याख्या—असेः यह पञ्चम्यन्त पद है । उरन् यह प्रत्ययान्तर स्वरभेद के लिए किया गया है । उरन् के नित् होने से उरन् प्रत्ययान्त शब्द 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा॰ 6.1.193) से आद्युदात्त होता है । अर्थ—अस् धातु से उरन् प्रत्यय होता है ।

स्वा॰द॰वृ॰—अस्यति प्रक्षिपति धर्मं शुभगुणांश्च सः **असुरः** मेघो दुर्जनादिवो । नित्करणमाद्युदात्तस्वरार्थम् ।

उदा॰—(1) असुरः (= राक्षस, मेघ, प्रेत, सूर्य, हाथी, राहु)—अस्यति प्रक्षिपति धर्मं शुभगुणांश्च सः । अस् उरन् सु ।

(43) मसेश्च [1.43]

पद॰—मसेः 5.1, च—अव्य॰ ।

अनु॰—'असेरुरन्' (उ॰सू॰ 1.42) से 'उरन्' का अनुवर्त्तन है ।

सं॰—'मस्' धातोर् उरन् प्रत्ययो भवति ।

व्याख्या—मस् धातु से उरन् प्रत्यय होता है ।

स्वा॰द॰वृ॰—मस्यन्ति सुष्ठुतया परिणमन्ते ते **मसुराः** द्विदलविशेषाः । अत्रैव पञ्चमपादे 'मस'धातोरूरन्प्रत्यये मसूर इत्यपि सिद्धम् । एकार्थाविमौ । द्विदलान्नेषु 'मसूर' इति प्रसिद्धम् ।

उदा॰—(1) मसुरः (= एक दाल का नाम)—मस्यन्ति सुष्ठुतया परिणमन्ते ते मसुराः । मसी परिणामे धातु से उरन् । मस् उर—प्रातिपदिक सञ्ज्ञा, जस् ।

(44) शावशेराप्तौ [1.44]

पद॰—शौ 7.1, अशेः 5.1, आप्तौ 7.1 ।

अनु॰—'असेरुरन्' (उ॰सू॰ 1.41) से 'उरन्' का अनुवर्त्तन है ।

सं॰—आप्तौ गम्यमानायां 'शु' इत्युपपदे च 'अश्'धातोर् उरन् प्रत्ययः स्यात् ।

व्याख्या—शौ सप्तम्यन्त पद है । 'शु' उपपदसञ्ज्ञक है । अशेः यह पञ्चम्यन्त पद है । 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है । अर्थ—'आप्ति' अर्थ गम्यमान हो तो 'शु' शब्द के उपपद रहते अश् धातु से परे उरन् प्रत्यय होता है ।

स्वा०द०वृ०—शु इति शीघ्रार्थवाचिन्युपपद आप्तौ गम्यमानायां 'अशूङ्' धातोरुरन्। शु शीघ्रमश्नुत आप्नोति जामाता यं स **श्वशुरः** दम्पत्योः पिता ॥44॥

उदा०—(1) श्वशुरः (= पति का अथवा पत्नी का पिता)—शु शीघ्रम् अश्नुत आप्नोति जामाता यं सः। अशूङ् व्याप्तौ धातु से उरन्—शु अश् उरन्—'इको यणचि' से यण् आदेश—श्वशुर सु। माणिक्यदेववृत्तौ—श्वश्यन्ते तस्मिन् विविधाः कामा इति श्वशुरः।

(45) अविमह्योष्टिषच् [1.45]

पद०—अविमह्योः 6.2, टिषच् 1.1।

सं०—अव्-मह् इत्येताभ्यां धातुभ्यां टिषच् प्रत्ययः स्यात्। 'किलेर्बुक् च' (उ०सू० 1.50) इति यावत् 'टिषच्' इत्यधिक्रियते।

व्याख्या—अविमह्योः षष्ठ्यन्त पद है। इसे विभक्तिविपरिणाम से पञ्चम्यन्त (यथा—अविमहिभ्याम्) बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा प्रवृत्त होती है। अर्थ—अव् तथा मह् धातुओं से परे टिषच् प्रत्यय होता है। टिषच् के च् की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा होती है। प्रत्यय का चित्करण अन्तोदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—चितः (पा० 6.1.163)। 'चुटू' से टकार की इत्सञ्ज्ञा है। प्रत्यय को टित् करने का प्रयोजन 'टिड्ढाऽणञ्०' (पा० 4.1.15) से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय करना है।

स्वा०द०वृ०—अवन्ति नद्यो गच्छन्ति यस्मिन् स **अविषः** समुद्रः [वा]; अवति प्रीणाति प्राणिन इति **अविषी** नदी वा। महति पूजयति स्वपुरुषार्थेन इति **महिषः** महान् राजा वा; तद्योगात् **'महिषी'** राज्ञी पशुविशेषो वा।

उदा०—(1) अविषः (= समुद्र, राजा)—अवन्ति नद्यो गच्छन्ति यस्मिन् सः। अव रक्षणादौ धातु से टिषच्। अव् टिषच्—चुटू, हलन्त्यम्—अव् इष सु। अवतीति रक्षतीति राजा।

(2) अविषी (= नदी)—अविष ङीप्—स्त्रियाम्, टिड्ढाऽणञ्०, लशक्व-तद्धिते, हलन्त्यम्—अविष ई—अनुबन्धलोप, 'यस्येति च' से अकारलोप—अविष् ई सु—'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से अपृक्त सकार का लोप।

(3) महिषः (= महान् राजा, एक पशु)—महति पूजयति स्वपुरुषार्थेन। मह्यते पूज्यतेऽसौ। मह पूजायाम् से टिषच्। मह् इष सु। (4) महिषी—महिष ङीप्—पूर्ववत्।

(46) अमेर्दीर्घश्च [1.46]

पद०—अमेः 5.1, दीर्घः 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'अविमह्योष्टिषच्' (उ०सू० 1.45) से 'टिषच्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—अम् इत्येतस्माद् धातोः टिषच् प्रत्ययो भवति, धातोः स्थाने दीर्घादेशश्च भवति ।

व्याख्या—अमेः यह पञ्चम्यन्त पद है । धातु को दीर्घ आदेश कहा है । अतः 'अचश्च' पद उपलब्ध होता है । अम् धातु के अच् (अकार) के स्थान पर दीर्घ आदेश (आकार) होता है । अर्थ—अम् धातु से टिषच् प्रत्यय होता है और धातु के अच् को दीर्घ आदेश होता है ।

स्वा०द०वृ०—टिषच् [धातोर्दीर्घश्च] । अमन्ति गच्छन्ति येन तत् **आमिषं** मांसं वा । अथवाऽमन्ति रोगिणो भवन्ति येन भक्षितेन तदामिषम्, इत्येकार्थः ।

उदा०—(1) आमिषम् (= मांस)—अमन्ति गच्छन्ति येन तत् । अमन्ति रोगिणो भवन्ति येन भक्षितेन तत् । अम गत्यादिषु धातु से टिषच्, अनुबन्धलोप—अम् इष—दीर्घ आदेश—आम् इष सु—अतोऽम्, अमि पूर्वः ।

(47) रुहेर्वृद्धिश्च [1.47]

पद०—रुहेः 5.1, वृद्धिः 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'अविमह्योष्टिषच्' (उ०सू० 1.45) से 'टिषच्' की अनुवृत्ति है ।

सं०—रुह्धातोः टिषच् प्रत्ययो भवति धातोश्च वृद्धिर् भवति ।

व्याख्या—रुहेः पञ्चम्यन्त पद है । वृद्धि आदेश का विधान है । 'इको गुणवृद्धी' इस परिभाषा सूत्र से इकः पद उपस्थित होता है । रुह् धातु में रेफस्थ उकार इक् है । इसके स्थान पर 'वृद्धिरादैच्' तथा 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'औ' वृद्धि आदेश होता है । अर्थ—रुह् धातु से टिषच् प्रत्यय होता है तथा धातु के (इक् वर्ण के) स्थान पर वृद्धि आदेश होता है ।

स्वा०द०वृ०—टिषच् [धातोर्वृद्धिश्च] । रुहन्त्युत्पद्यन्ते यानि तानि **रौहिषाणि** तृणानि; **रौहिषो** मृगभेदो वा ।

उदा०—(1) रौहिषः (= एक मृग, एक तृण)—रुहन्ति उत्पद्यन्ते यानि तानि । रोहत्यत्यर्थम् । रुह बीजजन्मनि धातु से टिषच् । रुह् इष—अनुबन्धलोप, वृद्धि—रौहिष सु ।

(2) रौहिषी (= दूर्वा)—स्त्रियाम् के अधिकार में 'टिड्ढाऽणञ्०' से ङीप्, सु ।

(48) तवेर्णिद्वा [1.48]

पद॰—तवे: 5.1, णित् 1.1, वा—अव्य॰।

अनु॰—'अविमह्योष्टिषच्' (उ॰सू॰ 1.45) से 'टिषच्' की अनुवृत्ति है।

सं॰—तव् इत्येतस्माद् धातो: टिषच् प्रत्यय: स्यात्, स च णिद्वद् वा।

व्याख्या—टिषच् प्रत्यय को विकल्प से णिद्वत् कहा है। विकल्प से अभिप्राय है—एक पक्ष में कार्य होता है तथा दूसरे पक्ष में कार्य नहीं होता है। यह भी एक अतिदेश सूत्र है। णित् करने के निम्न प्रयोजन होते हैं। यथा—(i) 'अचो ञ्णिति' से अजन्त अङ्ग को वृद्धि आदेश होता है तथा (ii) 'अत उपधाया:' से उपधाभूत ह्रस्व अकार के स्थान पर वृद्धि आदेश। अर्थ—तव् धातु से परे टिषच् प्रत्यय होता है और वह (प्रत्यय) विकल्प से णित् होता है।

स्वा॰द॰वृ॰—'तव' इति सौत्रो धातुरतस्माट्टिषच् णिद्विकल्पेन भवति। तवतीति [**ताविष:, तविष:** बलं सूर्यो वा। षित्त्वात् स्त्रियां ङीषि] **ताविषी, तविषी** नदी बलं सेना भूमिर्वा।

उदा॰—(1) ताविषी (= नदी, बल, सेना, भूमि)—तवतीति। तव बलार्थो धातु: सौत्र:। तव् टिषच्—अनुबन्धलोप, णिद्वत्—तव् इष—'अत उपधाया:' से उपधा अत् को वृद्धि आदेश—ताव् इष—स्त्रियाम्, 'टिड्ढाऽणञ्॰' से ङीप्—ताविष ङीप्—अनुबन्धलोप, 'यस्येति च' से अकारलोप, सु।

(2) तविषी—णित् अभाव पक्ष में रूप बनता है।

विशेष—प्राय: सभी व्याख्याकार वृद्धि आदेश के विकल्प के लिए प्रकृत में पाक्षिक णित्त्व स्वीकार करते हैं। आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक जी लिखते हैं कि पूर्व शास्त्र से 'वृद्धि:' पदका अनुवर्त्तन करके 'तवेर्वा' इतना सूत्र पाठ पर्याप्त था। अत: प्रकृत में वृद्धिविकल्प के लिए 'णिद् वा' पाठ उचित प्रतीत नहीं होता है। मीमांसकजी के मत में 'तवेर्निद्वा' वास्तविक सूत्रपाठ था, जो लिपिकार के प्रमाद से 'तवेर्णिद्वा' हो गया। नित्करण का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर करना है।

(49) नञि व्यथे: [1.49]

पद॰—नञि 7.1, व्यथे: 5.1

अनु॰—'अविमह्योष्टिषच्' (उ॰सू॰ 1.45) से 'टिषच्' की अनुवृत्ति है।

सं॰—नञि उपपदे व्यथ्धातो: टिषच् स्यात्।

व्याख्या—नञ् उपपद है। अर्थ—नञ् शब्द के उपपद रहते व्यथ् धातु से टिषच् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—न व्यथत इति **अव्यथिषः** समुद्रः सूर्यो वा। **अव्यथिषी** पृथिवी रात्रिर्वा।

उदा०—(1) अव्यथिष: (= समुद्र, सूर्य)—न व्यथत इति। व्यथ भय-सञ्चलनयो: धातु से टिषच्—नञ् व्यथ् टिषच्—'हलन्त्यम्' से च् की इत्सञ्ज्ञा—न व्यथ् टिष—'चुटू' से ट् की इत्सञ्ज्ञा, 'नलोपो नञः' से न् का लोप— अव्यथ् इष सु।

(2) अव्यथिषी (= पृथिवी, रात)—'स्त्रियाम्' के अधिकार में ङीप्।

(50) किलेर्वुक् च [1.50]

पद०—किले: 5.1, वुक् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'अविमह्योष्टिषच्' (उ०सू० 1.45) से 'टिषच्' की अनुवृत्ति है।

सं०—किल्धातो: टिषच् प्रत्ययो वुक् चाऽऽगमो भवत:।

व्याख्या—किले: यह पञ्चम्यन्त पद है। किल् से परे टिषच् प्रत्यय होता है। किले: को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बना लिया जाता है। किल् को वुक् आगम होता है। क् की इत्सञ्ज्ञा है। वकारस्थ उकार उच्चारणार्थ है। यह कित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से धातु का अन्ताऽवयव बनता है। अर्थ—किल् धातु से टिषच् प्रत्यय और धातु को वुक् आगम होता है।

स्वा०द०वृ०—किलति क्रीडति विचारशून्यतया कार्येषु प्रवर्त्तते येन तत् **किल्विषं** पापम्।

उदा०—(1) किल्विषम् (= पाप, त्रुटि, अपराध, रोग)—किलति क्रीडति विचारशून्यतया कार्येषु प्रवर्त्तते येन तत्। किल् टिषच्—अनुबन्धलोप—किल् वुक् इष—अनुबन्धलोप, सु।

(51) इषिमदिमुदिखिदिच्छिदिभिदिमन्दिचन्दितिमिमिहिमुहि-मुचिरुचिरुधिबन्धिशुषिभ्य: किरच् [1.51]

पद०—इषिमदिमुदिखिदिच्छिदिभिदिमन्दिचन्दितिमिमिहिमुहिमुचिरुचिरुधि-बन्धिशुषिभ्य: 5.3, किरच् 1.1

सं०—इष् मद् मुद् खिद् छिद् भिद् मन्द् चन्द् तिम् मिह् मुह् मुच् रुच् रुध् बन्ध् शुष् इत्येतेभ्यो धातुभ्य: किरच् प्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—'इषि⋯शुषिभ्य:' पञ्चम्यन्त पद है। इष, मद्, मुद्, खिद्, छिद्, भिद्, मन्द्, चन्द्, तिम्, मिह्, मुह्, मुच्, रुच्, रुध्, बन्ध् और शुष्—इन धातुओं से किरच् प्रत्यय होता है। च् की 'हलन्त्यम्' से तथा क् की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा

होती है। शेष 'इर' रहता है। चित् करने का प्रयोजन अन्तोदात्त स्वर है तथा कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध है।

स्वा०द०वृ०—इष्यादि[भ्यः]षोडशधातुभ्यः किरच्। इच्छन्तीष्टं साध्नुवन्त्यनेनेति **इषिरः** अग्निः वा। माद्यति मत्तो भवति यया सा **मदिरा** सुरा मद्यम् [वा]। मोदतेऽसौ **मुदिरः** कामुको वा। मोदन्तेऽनेनेति **मुदिरो** मेघः [वा]। खिद्यति येन सः **खिदिरः** चन्द्रमा वा। छिनत्ति येन स **छिदिरः** असिः कुठारो वा। भिनत्ति येनेति **भिदिरं** वज्रम् [वा]। मन्दन्ते स्तुवन्ति स्वपन्ति वा यस्मिंस्तद् **मन्दिरं** गृहं नगरं वा। चन्दन्त्याह्लादयन्ति येन स **चन्दिरः** चन्द्रमा हस्ती वा। तेमत्यार्द्रीभवत्यस्मिन् तत् **तिमिरम्** नेत्ररोगो वा। यो मेहयति सेचयति पृथिवीं मेघजलेन स **मिहिरः** सूर्य्यो वा। मुह्यति यस्मै यो वा मुह्यति स **मुहिरः** काम्यः पदार्थोऽसभ्यो जनो वा। यो मुञ्चति स्वपदार्थमन्येभ्यो ददाति स **मुचिरः** दानशीलो वा। यद्रोचते प्रीतिकरं भवति तद् **रुचिरं** शोभनम्। [वाच्यलिङ्गत्वाद्] रुचिरं वस्त्रम्, रुचिरः पुत्रः, रुचिरा कन्या वा। रुध्यते चर्म्मणा यत्तत् **रुधिरं** शोणितम् [वा]। बध्यते शब्दश्रवणान्निरुध्यते स **बधिरः** श्रोत्रविकलः [वा]। किलच्प्रत्ययस्य कित्त्वात् **अनिदिताम्०** [6.4.24] इति नलोपः। शुष्यन्ति पदार्था येन तत् **शुषिरं** छिद्रमाकाशो वा।

उदा०—(1) इषिरः (= अग्नि, आहार)—इच्छन्तीष्टं साध्नुवन्त्यनेन। इष्णाति इष्यते वा। इषु इच्छायाम् अथवा इष आभीक्ष्ण्ये अथवा इष गतौ से किरच्। इष् किरच्—अनुबन्धलोप—इष् इर—'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त गुण का निषेध।

(2) मदिरा (= सुरा, खञ्जन पक्षी, दुर्गा का नाम)—माद्यति मत्तो भवति यया सा। माद्यन्ते जना अनया। मदयति या सा। मदी हर्षे अथवा मदि ण्यन्त से किरच्। मद् इर—'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप्, अनुबन्धलोप—मदिर आ—सवर्णदीर्घ, सु।

(3) मुदिरः (= मेघ, कामुक, प्रेमी, मेंढक)—मोदतेऽसौ। मोदन्तेऽनेन। मुद हर्षे धातु से किरच्। लघूपध गुण का निषेध। मुद् किरच्—मुद् इर सु। 'स्त्रियाम्' के अधिकार में टाप् होकर—मुदिरा।

(4) खिदिरः (= चन्द्रमा, दरिद्र, संन्यासी)—खिद्यति येन। खिद दैन्ये धातु से किरच् प्रत्यय। खिद् किरच्—अनुबन्धलोप। 'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त लघूपध गुण का 'क्ङिति च' से निषेध। खिदिर सु।

(5) छिदिरः (= तलवार, शब्द, रस्सी, अग्नि)—छिनति येन। छिनत्तीति। छिदिर् द्वैधीकरणे धातु से किरच्। छिद् इर—लघूपध गुण का निषेध।

(6) भिदिरम् (= वज्र)—भिनत्ति येन। भिनत्तीति। भिदिर् विदारणे धातु से किरच्। भिद् इर—लघूपध गुण का निषेध, सु।

(7) मन्दिरम् (= देवालय, नगर, गृह)—मन्दन्ते स्तुवन्ति स्वपन्ति यस्मिन् तत्। मदि स्तुत्यादौ धातु से किरच्। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम् आगम। म न् द् इ र—सु, अतोऽम्।

(8) चन्दिरम् (= हाथी, चन्द्रमा)—चन्दन्त्या ह्लादयन्ति येन। चदि आह्लादने धातु से किरच्। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम्—च न् द् किरच्—चन्दिर सु। लघूपध के अप्राप्त रहने से गुण की प्राप्ति न हुई।

(9) तिमिरम् (= अन्धकार, जंग-मोर्चा)--तेमत्यार्द्रीभवति यस्मिन् तत्। तिम्यति तेमयति वा। तिम क्लेदने धातु से किरच् लघूपध गुण का निषेध।

(10) मिहिरः (= सूर्य, चन्द्रमा, पवन, वृद्ध, पयोद)—मेहयति सेचयति पृथिवीं जलेन। मिह सेचने धातु से किरच्। मिह् किरच्—लघूपध गुण का निषेध, सु।

(11) मुहिरः (= कामदेव, असभ्य, मूर्ख)—मुह्यति यस्मै यः। मुह्यतीति। मुह्यतेऽनेन। मोहयतीति। मुह वैचित्त्ये धातु से किरच्। मुह् किरच्—प्राप्त लघूपध गुण का निषेध—मुहिर सु।

(12) मुचिरः (= देवता, दानशील, वायु)—मुञ्चति ददाति स्वपदार्थान्। मुच्यते जनो दुःखेभ्योऽनेन। मुच्लृ मोक्षणे धातु से किरच्। लघूपध गुण का निषेध।

(13) रुचिरम् (सुन्दर, स्वादिष्ट)—रोचते प्रीतिकरं भवति। रुच दीप्तौ से किरच्। रुच् किरच्—अनुबन्धलोप, लघूपध गुण का 'क्ङिति च' से निषेध, सु।

(14) रुधिरम् (= रक्त, जाफरान)—रुध्यते चर्मणा यत् तत्। रुधिर् आवरणे धातु से किरच्। रुध् इर–लघूपध गुण का निषेध, सु। अतोऽम्, अमि पूर्वः।

(15) बधिरः (= बहरा)—बध्यते शब्दश्रवणान् निरुध्यते। बद्धमस्य श्रवणेन्द्रियम्। बन्ध बन्धने। बन्ध् किरच्—अनुबन्धलोप, 'अनिदितां हल उपधाया०' से अनुनासिकलोप। बध् इर सु।

(16) शुषिरम्—(= छिद्र, आकाश, एक वाद्य)—शुष्यन्ति पदार्था येन। शोषयतीति। शुष शोषणे धातु से किरच्। लघूपध गुण का निषेध, सु।

विशेष—(क) नारायण भट्ट के अनुसार प्रकृत में 'महि' इतना पाठ अधिक है। द्रष्टव्य—तिमिमहिमुहिमिहिमुचि····किरच्। (1) महिरः—मह् किरच्—पूर्ववत्।

(ख) स्वामी दयानन्द के अनुसार 'रुधिशुषिबन्धिभ्यः किरच्'—इस प्रकार पाठ है।

(52) अशेर्नित् [1.52]

पद०—अशे: 5.1, नित् 1.1।
अनु०—'इषि····किरच्' (उ०सू० 1.51) से 'किरच्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—अश्धातो: किरच् प्रत्यय: स्यात्, स च नित्सञ्ज्ञ:।

व्याख्या—अश् धातु से परे किरच् प्रत्यय होता है और वह नित् होता है। यह अतिदेश सूत्र है। प्रत्यय को नित् करने का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर है। **द्रष्टव्य**—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)।

स्वा०द०वृ०—अश्नाति य: पदार्थान् स: **अशिर:** अग्नि: [वा]; धृष्टतयाऽश्नाति वा **अशिर:** दुर्जन: [वा]।

उदा०—(1) अशिर: (= अग्नि, दुष्ट, सूर्य)—अश्नाति सर्वान् पदार्थान् य: स:। (धृष्टतया) अश्नातीति। अश् धातु से किरच् प्रत्यय। अश् किरच्—अनुबन्ध-लोप। अश् इर—सु

विशेष—पेरिसूरि 'अशेर्णिच्च' पाठ मानते हैं। तब 'आशिर' शब्द जो वेद में उपलब्ध होता है, उपपन्न होता है। अश् किरच्—आश् इर—णित् होने से 'अत उपधाया:' से उपधा वृद्धि। वेद में मध्योदात्त स्वर प्राप्त होता है। जिसकी साधुता बहुलवचन ग्रहण से की जा सकती है।

(53) अजिरशिशिरशिथिलस्थिरस्फिरस्थविरखदिरा: [1.53]

पद०—अजिरशिशिरशिथिलस्थिरस्फिरस्थविरखदिरा: 1.3
अनु०—'इषि····किरच्' (उ०सू० 1.51) से 'किरच्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—अजिरादय: सूत्रोक्ता: सप्त शब्दा: किरच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—प्रकृत से निपातन किया जा रहा है। किरच् प्रत्यय का प्रकरण चल रहा है। अत: अजिर आदि शब्दों में किरच् प्रत्यय का निपातन जानना चाहिए। **अर्थ**—अजिर, शिशिर, शिथिल, स्थिर, स्फिर, स्थविर और खदिर—ये सात शब्द किरच् प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—अजिरादय: सप्त किरच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। अजन्ति गच्छन्ति यत्र तत् **अजिरम्** अङ्गनं गृहाग्रभाग: 'आंगन' इति प्रसिद्धम् [वा] [निपातनादजेर्वीभावाभाव:।] शशति दिनाल्पत्वाच्छीघ्रं गच्छति तत् **शिशिरम्** ऋतुर्हिमं शीतलं वस्तु वा। [धातोरुपधाया इत्त्वं निपात्यते।] श्रथति विमुञ्चति पुरुषार्थमिति **शिथिल:** पुरुष:, शिथिला कन्या, **शिथिलानि** तृणानि मृदूनीत्यर्थ:। धातोरुपधाया इत्त्वं

रेफस्य लोप: प्रत्ययस्थस्य रेफस्य लत्वं च निपात्यते। गमनागमननिवृत्त्या तिष्ठतीति **स्थिरं** निश्चलम्। धातोराकारलोप:। स्फायते प्रवर्द्धते [य:] स स्फिर: प्रभूतं वा। आय्भागस्य लोपो[ऽत्र] निपातनम्। गमनेऽसमर्थत्वात् तिष्ठतीति **स्थविर:** वृद्धो भिक्षुको वा। धातोर्वुक् ह्रस्वत्वञ्च। खदति हिनस्तीति **खदिर:** वृक्षभेदो वा।

बाहुलकात्—य: शेते स शिविर:; शेरते यस्मिन् तत् **शिविरं** स्थानं वा। 'शीङ्' धातोर्वुक् ह्रस्वत्वञ्च।

उदा०—(1) अजिरम् (= आँगन, शरीर, पवन, मेंढक)—अजन्ति गच्छन्ति यत्र तत्। अज गतिक्षेपणयो: से किरच्। अज् किरच्—'अजेर्व्यघञपो:' (पा० 2.4.55) से अज् के स्थान पर 'वी' आदेश प्राप्त, निपातन से निषेध, सु। दशपाद्युणादिवृत्ति में नञ्पूर्वक जॄ धातु से 'अजिर' शब्द सिद्ध किया है। नञ् जॄ किरच्—अनुबन्धलोप—न जॄ इर—'नलोपो नञ:' से न् का लोप, ॠकार का निपातन से लोप—अ ज् इ र सु। जॄ वयोहानौ। न जीर्यते इति अजिरा: (देवा:)।

(2) शिशिरम् (= एक ऋतु)—शशति दिनस्याऽल्पत्वात् शीघ्रं गच्छति तत्। शश् किरच्—शश् इर—धातु की उपधा को निपातनात् इत्त्व। किश् इर सु। दशपाद्युणादि वृत्ति में—शॄ (हिंसायाम्) किरच्। शीर्यन्तेऽस्मिन् तृणगुल्मवनस्पतीनां तेजांसि। निपातन से धातु को द्वित्व। शॄ शॄ इर—निपातन से सन्वद्भाव, उरत्, उरण् रपर:, हलादि: शेष:, सन्यत:। शर् शॄ इर—श शॄ इर—शि शॄ इर—ॠलोप निपातन से। शिश् इर सु।

(3) शिथिल: (= परित्यक्त, ढीला)—श्रथति विमुञ्चति पुरुषार्थम्। श्रथि शैथिल्ये से किरच्। श्रथ् इर धातु के रेफ का लोप, अनुस्वार, लोप, उपधा को इत्त्व निपातन से–शिथ् इर—प्रत्ययस्थ रेफ को लत्व, सु।

महर्षि दयानन्द ने श्रथ विमोचने धातु से 'शिथिल' शब्द की निष्पत्ति मानी है, परन्तु हमारे मत में श्रथि शैथिल्ये से यह शब्द निष्पन्न होता है। दशपाद्युणादिकार का भी यही मत है।

(4) स्थिर: (= निश्चल)—(गमनाऽगमननिवृत्त्या) तिष्ठतीति। ष्ठा गतिनिवृत्तौ से किरच्। धात्वादे: ष: स, निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपाय:—स्था इर—निपातन से आकारलोप—स्थ् इर सु।

(5) स्फिर: (= अत्यधिक,बढ़ा हुआ)—स्फायते प्रवर्द्धते य: स:। स्फायी वृद्धौ से किरच्। स्फाय् इर—आय् भाग का निपातन से लोप—स्फ् इर सु।

(6) स्थविर: (= वृद्ध, भिक्षुक)—तिष्ठतीति। ष्ठा से किरच्। निपातन से ह्रस्व

आदेश—स्था किरच्—स्था इर—स्थ इर—निपातन से वुक् आगम, 'आद्यन्तौ टकितौ' से अन्ताऽवयव—स्थव् इर सु ।

(7) खदिरः (= खैर का वृक्ष)—खदति हिनस्ति । 'खद स्थैर्ये हिंसायां च' से किरच् । खद् इर सु । महर्षि दयानन्द ने खद धातु से खदिर शब्द सिद्ध किया है, परन्तु इस दशा में कोई निपातन कार्य दृष्टिगोचर नहीं होता है । दशपाद्युणादि वृत्तिकार ने खादृ भक्षणे धातु से इस शब्द की निष्पत्ति दर्शाई है । यथा—खादन्ति यं कुष्ठव्याधिशान्त्यर्थं सः । खाद् किरच्—निपातन से धातु की उपधा को ह्रस्व आदेश—खद् इर् सु ।

(8) शिविरम् (= स्थान, कैम्प)—बहुलवचनात् सूत्रोक्त से अतिरिक्त शब्दों का भी निपातन प्राप्त होता है । शेरतेऽस्मिन् बलानि । शीङ् स्वप्ने से किरच् । शी किरच्—धातु को ह्रस्व आदेश निपातन से—शि इर—वुक् आगम निपातन से—शिव् इर सु ।

(9) पिठिरम् (= साधनभाण्ड)—पिठ् किरच्—पिठ् इर सु—अतोऽम् ।

पिठरम्—किरच् प्रत्यय के आदि अच् (इकार) को बाहुलकात् अत् आदेश होकर 'पिठर' शब्द निष्पन्न होता है ।

विशेष—श्वेतवनवासी प्रकृत में 'शिविर' का अधिक पाठ स्वीकार करते हैं । द्रष्टव्य—शिथिलशिविरस्थिर० । नारायण भट्ट 'शिथिल' के स्थान पर 'शिथिर' पाठ मानते हैं ।

(54) सलिकल्यनिमहिभडिभण्डिशण्डिपिण्डितुण्डिकुकि-भूभ्य इलच् [1.54]

पद०—सलिकल्यनिमहिभडिभण्डिशण्डिपिण्डितुण्डिकुकिभूभ्यः 5.3, इलच् 1.1

सं०—सल् कल् अन् मह् भड् भण्ड् शण्ड् पिण्ड् तुण्ड् कुक् भू—इत्येतेभ्यो धातुभ्य इलच् प्रत्ययः स्यात् ।

व्याख्या—'सलि⋯भूभ्यः' यह पञ्चम्यन्त पद है । सल्, कल्, अन्, मह्, भड्, भण्ड्, शण्ड्, पिंण्ड्, तुण्ड्, कुक् और भू—इन धातुओं से परे इलच् प्रत्यय होता है । च् अनुबन्ध 'चितः' (पा० 6.1.159) से अन्तोदात्त स्वर के लिए है ।

स्वा०द०वृ०—सल्यादिभ्य इलच् । सलति गच्छतीति **सलिलं** जलं वा । कलति सङ्ख्याति तत् **कलिलं** मिश्रं दुःखेन साध्यं गहनमिति वा । अनिति जीवति जीवयति वा स **अनिलः** वायुर्वा । यो महयति यं महयन्ति येन वा मह्यते पूज्यते स **महिलः** पुमान्, महिलं स्थानम्, **महिला** स्त्री वा । बाहुलकाद् इलच इकारस्यैकारे सति **महेला** स्त्री इत्यपि सिद्धं भवति । 'भड' इति सौत्रो धातुः । भडति हिनस्तीति **भडिलः** शूरो वा । भडति परिचरति स्वामिनमिति **भडिलः** सेवकः । भण्डयति परिहसति येन स

भण्डिलः कल्याणं वा। शण्डति रोगयुक्तो भवतीति **शण्डिलः** ऋषिविशेषो वा, यस्य गोत्रापत्यं 'शाण्डिल्यः' इति प्रसिद्धम्। पिण्डति सङ्घातं करोति स **पिण्डिलः** गणको वा। तुण्डति तोडति पृथक् करोति स **तुण्डिलः** उच्चनाभिर्जनो वा। कोकत आदत्तेऽसौ **कोकिलः** पक्षिविशेषो वा। यो भवति स **भविलः** भवितुं योग्यो वा।

बाहुलकात्—कुटति कौटिल्यं करोति स **कुटिलः** क्रूरकर्मा वा।

उदा०—(1) सलिलम् (= जल)—सलति गच्छति। षल गतौ से इलच्। 'धात्वादेः षः सः' से षकार को सकार—सल् इलच्—सल् इल सु।

(2) कलिलम् (= गहन, महान् राशि)—कलति सङ्ख्याति तत्। कल सङ्ख्याने से इलच्। कल् इलच्—कल् इल सु।

(3) अनिलः (= वायु, वायुरोग)—अनिति जीवति येन सः। जीवयति यः सः। अन जीवने से इलच्। अन् इलच् सु।

(4) महिलः (= पुरुष)—महयति यः। महयति यम्। महयति येन। मह्यते पूज्यते। मह पूजायाम्। मह् इलच् सु। महिल सु—महिलम् (= स्थान)। 'स्त्रियां' के अधिकार में टाप् होकर—महिला (= स्त्री)।

(5) महेला (= स्त्री) बहुल वचन के ग्रहण से एलच् होकर यह शब्द बनता है।

(6) भडिलः (= शूर, सेवक)—भडति हिनस्ति। भड हिंसायाम् इति सौत्रो धातुः। भडति परिचरति स्वामिनम्। भड् इलच्—भडिल सु।

(7) भण्डिलः (= कल्याण)—भण्डयति परिहसति येन सः। भडि परिभाषणे से इलच्। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण—भण्ड् इलच्—सु।

(8) शण्डिलः (= एक ऋषि)—शण्डति। रोगयुक्तो भवति। शडि रुजायां सङ्घाते च। नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण—शण्ड् इलच् सु।

(9) पिण्डिलः (= गणक, पुल)—पिण्डति सङ्घातं करोति। पिडि सङ्घाते से इलच्। पि नुम् ड् इलच्—पिण्ड् इल—सु।

(10) तुण्डिलः (= पेटू)—तुण्डति पृथक् करोति। तुडि तोडने।

(11) कोकिलः (= कोयल)—कोकते आदत्तेऽसौ। कुक आदाने से इलच्। कुक् इल—'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण। कोक् इल—सु।

(12) भविलः (= प्रेमी, कामी)—यो भवति। भू सत्तायाम् से इलच्। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, अदेङ् गुणः—भो इल—एचोऽयवायावः, सु।

(13) कुटिलः (= क्रूर, कपटी)—बहुलवचनात् कुट् इलच् सु। कुटति कौटिल्यं करोति। कुट् इलच् सु।

विशेष—नारायणभट्ट 'मडि' के स्थान पर 'मटि' पाठ मानते हैं तथा 'चण्डि' का पाठ अधिक स्वीकार करते हैं। द्रष्टव्य—'निमहिमटिमण्डिचण्डिशण्डिपिण्डि०।

(55) कमेः पश्च [1.55]

पद०—कमे: 5.1, प: 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'सलि.....इलच्' (उ०सू० 1.54) से 'इलच्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—कम्धातोर् इलच् प्रत्ययः स्यात्, धातोः स्थाने 'प्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—कमेः यह पञ्चम्यन्त पद है। कम् से परे प्रत्यय होता है। 'पः' यहाँ पकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। कमेः इसे विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका सम्बन्ध 'पः' पद के साथ है। कम् धातु को प् आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से यह प् आदेश कम् के अन्त्य अल् (म्) के स्थान पर होता है। अर्थ—कम् धातु से इलच् प्रत्यय होता है और धातु को 'प्' अन्तादेश होता है।

स्वा०द०वृ०—कमेरिलच् मस्य पः। कामयतेऽसौ **कपिलः** वर्णभेदो मुनिविशेषो वा।

उदा०—(1) कपिलः (= एक मुनि, एक रंग)—कामयतेऽसौ। कमु कान्तौ से इलच्। कम् इल—'प्' अन्तादेश—कप् इल सु।

विशेष—श्वेतवनवासी कब् धातु से इलच् प्रत्यय और धातु को 'प्' अन्तादेश स्वीकार करते हैं। द्रष्टव्य—कबेः पश्च। कबृ धातु 'वर्ण' अर्थ में पठित है। नारायण भट्ट अन्तादेश न करके 'कपि चलने' धातु से इलच् प्रत्यय मानते हैं। द्रष्टव्य कपेश्च।

(56) गुपादिभ्यः कित् [1.56]

पद०—गुपादिभ्य: 5.1, कित् 1.1
अनु०—'सलि.....इलच्' (उ०सू० 1.54) से 'इलच्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—गुपादिभ्यो धातुभ्य इलच् स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—गुपादि एक गण है। गुपादि के द्वारा गुप्, तिज् तथा गुह्—इन तीन धातुओं का संग्रह होता है। यह अतिदेशसूत्र है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध है। अर्थ—गुप् आदि धातुओं से परे इलच् प्रत्यय होता है और वह कित् होता है।

स्वा०द०वृ०—इलचः कित्त्वं गुणनिषेधार्थम्। गोपायति रक्षति प्रजा इति **गुपिलः** राजा वा। तेजते तीक्ष्णीकरोति तिज्यते सह्यते वा सर्वैः **तिजिलः** चन्द्रमा वा। गूहते वृक्षैराच्छादितो भवतीति **गुहिलं** वनं वा।

अन्येऽपि—पूजितुमादर्त्तुं योग्यः **पूजिलः** विद्वान्। शोषयति सर्वमिति **शुषिलः** वायुः। देवते प्रकाशयति धर्ममिति **देविलः** धार्मिको वा।

उदा०—(1) गुपिलः (= राजा)—गोपायति रक्षति प्रजाः। गुपू रक्षणे से इलच्। गुप् इल—'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण प्राप्त, 'क्ङिति च' निषेध, सु।

(2) तिजिलः (= चन्द्रमा)—तेजते तीक्ष्णीकरोति। तिज्यते सह्यते सर्वैः। तिज निशाने से इलच्। पूर्ववत् लघूपध गुण का निषेध, सु।

(3) गुहिलम् (= वन)—गूहते वृक्षैराच्छादितो भवति। गुहू संवरणे धातु से। गुह् इलच्—गुह् इल—सु।

(57) मिथिलादयश्च [1.57]

पद०—मिथिलादयः 1.3, च—अव्य०।

अनु०—पूर्ववत् 'इलच्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—मिथिलादयः शब्दा इलच् प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—निपातन किया जा रहा है। मिथिला आदि शब्द इलच्-प्रत्ययान्त निपातित हैं। मिथिलादि एक गण है।

स्वा०द०वृ०—मिथिलादय इलच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। मथ्यते या सा **मिथिला**, मथ्यन्ते शत्रवो यत्र सा **मिथिला** विदेहानां राज्ञां नगरी वा। [धातोर्] अकारस्येत्त्वं निपात्यते। गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति यां सा **गतिला** वेत्रलता वा। गमेस्तकारान्तादेशः। या तङ्कति कृच्छ्रेण जीवति सा **तकिला** ओषधिर्वा। [धातोर्] नलोपः। चमति भक्षयतीति **चण्डिला** काचिन्नदी वा। धातोर्डुगागमः। यः पथति निरन्तरं गच्छति स **पथिलः** पथिको वा, इत्यादि।

उदा०—(1) मिथिला (= एक नगरी)—मथ्यते या सा। मथ्यन्ते शत्रवो यस्यां सा। 'मथि हिंसासङ्क्लेशनयोः' से इलच्। धातु की उपधा (अकार) के स्थान पर निपातन से इकार—मिथ् इल्—'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप्। मिथिल टाप्—हलन्त्यम्, चुटू, अकः सवर्णे दीर्घः, सु, लोप।

(2) गतिला (= बेंत की लता)—गच्छंन्ति प्राप्नुवन्ति यां सा। गम्लृ गतौ से इलच्। गम् इल—धातु को 'त्' अन्तादेश निपातन से। गत् इल—पूर्ववत् टाप्।

(3) तकिला (= एक ओषधि)—या तङ्कति कृच्छ्रेण जीवति। 'तकि कृच्छ्रजीवने' से इलच्। धातु के अनुनासिक का निपातन से लोप—तङ्क् इल—तक् इल टाप्। सु लोप।

(4) चण्डिला (= एक नदी)—चमति भक्षयति। 'चमु छमु जमु अदने' से

इलच्। चम् इल—धातु को निपातन से डुक् आगम क् की इत्सञ्ज्ञा, उकार उच्चारणार्थ, कित् होने से धातु का अन्ताऽवयव, आद्यन्तौ टकितौ—चम् ड् इल—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार—चंड् इल—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः, 'स्थानेऽन्तरतमः' से पर-सवर्ण—चण्ड् इल सु।

(5) पथिलः (= पथिक)—यः पथति निरन्तरं गच्छति। पथे गतौ धातु से इलच्। पथ् इल—सु।

(58) पतिकठिकुठिगडिगुडिदंशिभ्य एरक् [1.58]

पद०—पतिकठिकुठिगडिगुडिदंशिभ्यः 5.3, एरक् 1.1

सं०—पत् कठ् कुठ् गड् गुड् दंश्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य एरक् प्रत्ययो भवति।

व्यख्या—पतिकठिकुठिगडिगुडिदंशिभ्यः यह पञ्चम्यन्त पद है। पत् आदि धातुओं से परे प्रत्यय होता है। एरक् का क् इत् है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध करना है। अर्थ—पत्, कठ्, कुठ्, गड्, गुड् और दंश्—इन धातुओं से परे एरक् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—पतति गच्छतीति **पतेरः** गन्ता पक्षी वा। कठति कृच्छ्रेण जीवतीति **कठेरः** कारागारिको वा। **कुठेरः** कृच्छ्रजीवी पर्णाशो वा 'कटहर' इति प्रसिद्धम्। गडति सिञ्चतीति **गडेरः** मेघो वा। गुडति रक्षति स **गुडेरः** रक्षकः। दशति दंष्ट्राभ्यामिति **दशेरः** हिंसको जीवो वा। [कित्त्वाद्] अनुनासिकलोपः।

उदा०—(1) पतेरः (= पक्षी, छिद्र)—पतति। पत्लृ गतौ से एरक्—पत् एर सु।

(2) कठेरः (= कारागारिक)—कठति कृच्छ्रेण जीवति। कठ कृच्छ्रजीवने से एरक्—कठ् एर सु।

(3) कुठेरः (= कटहल)—कुठतीति। कुठ् एरक्—लघूपध गुण का निषेध। कुठि धातु इदित् है। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम् प्राप्त, बाहुलकात् नुम् का निषेध।

(4) गडेरः (= बादल)—गडति सिञ्चति। गड सेचने से एरक्—गड् एर सु।

(5) गुडेरः (= रक्षक, पिण्ड, ग्रास)—गुडति रक्षति। गुड रक्षणे से एरक्। लघूपध गुण का निषेध।

(6) दशेरः (= सिंह)—दशतीति। दंश दशने से एरक्—दंश् एर—'अनिदितां हल उपधाया०' से अनुनासिक लोप, सु।

नारायणभट्ट 'पथिकथि' पाठ अधिक मानते हैं। अतः (7) पथेरः, (8) कथेरः शब्द निष्पन्न होते हैं।

(59) कुम्बेर्नलोपश्च [1.59]

पद०—कुम्बे: 5.1, नलोप: 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'पतिकठि·····एरक्' (उ०सू० 1.58) से 'एरक्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—कुम्ब्धातोर् एरक् प्रत्यय: स्यात्, धातोश्च नकारलोपो भवति ।

व्याख्या—कुम्बे: यह पञ्चम्यन्त पद है । कुम्बि यह इक् प्रत्ययपूर्वक निर्देश है । कुबि धातु इदित् है । इसे नुम् आगम, अनुस्वार और परसवर्ण होकर 'कुम्ब्' ऐसा रूप बनता है । अर्थ—कुम्ब् धातु से परे एरक् प्रत्यय होता है तथा धातु के नकार का लोप होता है । कुम्ब् में मकार ही नुम् का नकार है । अत: म् का लोप होता है ।

स्वा०द०वृ०—कुम्बत्यन्यानाच्छादयतीति **कुबेर:** धनाध्यक्षो विद्वान् वा। इदित्त्वादप्राप्तो नलोप एरकि विधीयते ।

उदा०—(1) कुबेर: (= विद्वान्, धन का स्वामी)—कुम्बति अन्यान् आच्छादयति । कुबि आच्छादने से एरक्—कु नुम् ब्—'इदितो नुम् धातो:' से नुम्, अनुबन्धलोप—कुंब्—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार—कुम्ब् एरक्—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण:' से परसवर्ण, 'हलन्त्यम्' से क् की इत्सञ्ज्ञा । चूँकि कुबि धातु इदित् है अत: 'अनिदितां हल उपधाया०' की प्राप्ति नहीं होती है । प्रकृत सूत्र से न् का लोप—कुब् एर सु ।

(60) शदेस्तश्च [1.60]

पद०—शदे: 5.1, त: 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'पतिकठि·····एरक्' (उ०सू० 1.58) से 'एरक्' की अनुवृत्ति है ।

सं०—शद् इत्येतस्माद् धातोर् एरक् प्रत्यय: स्यात्, धातोश्च तकारोऽन्तादेशो भवति ।

व्याख्या—शदि यह इक् प्रत्यय युक्त निर्देश है। शदे: पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है । तकार आदेश धातु को होता है । 'अलोऽन्त्यस्य' से धातु के अन्त्य अल् (दकार) के स्थान पर तकार आदेश होता है । तकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। अर्थ—शद् धातु से परे एरक् आदेश होता है और धातु को 'त्' अन्तादेश होता है ।

स्वा०द०वृ०—शीयते शातयति दु:खाकरोतीति **शतेर:** शत्रुर्वा। धातोर्दकारस्य तकारादेश: ।

उदा०—(1) शतेर: (= शत्रु, विनाश करने वाला)—शीयते शातयति दु:खाकरोति । शद्लृ शातने धातु से एरक्—शद् एरक्—'त्' अन्तादेश । शत् एर सु ।

(61) मूलेरादयः [1.61]

पद०—मूलेरादयः 1.3
अनु०—पूर्ववत् 'एरक्' इत्यनुवर्त्तते।
सं०—मूलेरादयः शब्दा एरक्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—मूलेर आदि एरक् प्रत्ययान्त शब्दों का निपातन किया जाता है।

स्वा०द०वृ०—मूलेरादंय एरक्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। यो मूलति सर्वोपरि तिष्ठति स **मूलेरः** भूपतिर्वा। गुधति सर्वतो वेष्टयतीति **गुधेरः** रक्षको वा। गूहते येन स **गुहेरः** लोहघातनो वा। मुह्यति विक्षिप्त इव भवतीति **मुहेरः** मूर्खः [वा]; मुह्यत्यनेन वृषभादिरिति वा **मुहेरः** कणमर्दनादौ वृषभमुखबन्धनम्। 'मुहेर' इत्येव भाषायां प्रसिद्धम्।

उदा०—(1) मूलेरः (= राजा, जटामांसी)—मूलति सर्वोपरि तिष्ठति। मूल प्रतिष्ठायाम् धातु से एरक्—मूल् एरक्—सु।
(2) गुधेरः (= रक्षक)—गुधति सर्वतो वेष्टयति। गुध परिवेष्टने से एरक्—गुध् एरक्।
(3) गुहेरः (= लोहघातन)—गूहते येन सः। गुह संवरणे से एरक्—गुह् एर—लघूपध गुणनिषेध।
(4) मुहेरः (= मूर्ख)—मुह्यतीति। मुह वैचित्ये से एरक्।

(62) कबेरोतच् पश्च [1.62]

पद०—कबेः 5.1, ओतच् 1.1, पः 1.1, च—अव्य०।
सं०—कब्धातोर् आतच् प्रत्ययः स्यात्, धातोश्च 'प्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—कबि यह इक्सहित निर्देश है। कबेः पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य परिभाषा प्रवृत्त होती है। कबेः को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर प् आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से प् आदेश कब् धातु के अन्त्य अल् (ब्) के स्थान पर होता है। पकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। अर्थ—कब् धातु से ओतच् प्रत्यय होता है तथा धातु को प् अन्तादेश होता है।

स्वा०द०वृ०—ओतच्प्रत्ययो बकारस्य पकारश्च। कबते विचित्रवर्णो भवतीति **कपोतः**, पक्षिभेदो वा।

उदा०—(1) कपोतः (कबूतर)—कबते विचित्रवर्णो भवति। कबृ वर्णे से ओतच्—कब् ओतच्—कप् ओत—प् अन्तादेश, सु। 'चितः' से अन्तोदात्त स्वर।

विशेष—वैदिक वाङ्मय में 'कपोत' शब्द मध्योदात्त प्राप्त होता है। इसकी साधुता आचार्य सायण (ऋग्भाष्य 1.30.4) 'व्यत्ययो बहुलम्' के द्वारा प्रदर्शित करते हैं। अत: ओतच् के स्थान पर 'ओत' प्रत्यय मान लेना अधिक उचित प्रतीत होता है। आचार्य भोज कम्प् धातु से ओत प्रत्यय करके इस शब्द को निष्पन्न करते हैं। द्रष्टव्य—कम्पेरोतो नलोपश्च।

(63) भातेर्डवतुप् [1.63]

पद०—भाते: 5.1, डवतुप् 1.1

सं०—भा इत्येतस्माद् धातोर् डवतुप् प्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—भा धातु से डवतुप् प्रत्यय होता है। प् तथा ड्, इनकी इत्सञ्ज्ञा है। डित्करण का प्रयोजन टिलोप है। पित्करण का प्रयोजन 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' से अनुदात्त स्वर करना है। तकारस्थ उकार उच्चारणार्थ है। शेष अवत् बचता है।

स्वा०द०वृ०—भाति दीप्तो भवति दीपयति वा स **भवान्**। सर्वनामवाचक: सर्वनामसंज्ञकश्चायं शब्द:।

उदा०—(1) भवान् (= आप)—भाति दीप्तो भवति। भा दीप्तौ से डवतुप्। भा डवतुप्—भा अवत्—अनुबन्धलोप—भ् अवत्—भसञ्ज्ञा न होने पर भी डित् करने के सामर्थ्य से भकारोत्तरवर्त्ती आकार का 'टे:' (पा० 6.4.143) से टिलोप, अचोऽन्त्यादि टि—भवत् सु—'अत्वसन्तस्य चाऽधातो:' (पा० 6.4.14) से उपधादीर्घ—भवात् स्—'उगिदचां सर्वनामस्थाने०' (पा० 7.1.70) से नुम्—भवा नुम् त् स्—अनुबन्धलोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (पा० 6.1.67) से अपृक्त सकार का लोप—भवान्त् स—भवान्त्—'संयोगान्तस्य लोप:' (पा० 8.2.23) से संयोगान्त का लोप।

विशेष—प्रत्यय को पित् करने का प्रयोजन 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा० 3.1.3) से अनुदात्त स्वर होता है। प्रकृत में डवतुप् प्रत्यय पित् है। यहाँ डित्करण सामर्थ्य से टि का लोप होता है। तब अनुदात्त होने पर भी टिलोप हो जाने पर 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोप:' (पा० 6.1.158) से आद्युदात्त स्वर प्राप्त होता है। अत: डवतुप् को पित् करना व्यर्थ प्रतीत होता है। पेरिसूरि आदि ने पित् रहित 'डवतु' प्रत्यय स्वीकार किया है।

(64) कठिचकिभ्यामोरन् [1.64]

पद०—कठिचकिभ्याम् 5.2, ओरन् 1.1

सं०—कठ् चक् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् ओरन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कठ् और चक् धातुओं से परे ओरन् प्रत्यय होता है। न् की इत्सञ्ज्ञा है। न् अनुबन्ध 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—कठति कच्छ्रेण जीवति येन स **कठोरः**, कठिनः पूर्णो वा। चकते तृप्यति स **चकोरः**, पक्षिविशेषो वा।

उदा०—(1) कठोरः (= कठोर, क्रूर)—कठति कृच्छ्रेण जीवति येन। कठ कृच्छ्रजीवने से ओरन्—कठ् ओरन्—कठोर सु।

(2) चकोरः (= चातक पक्षी)—'चक तृप्तौ प्रतिघाते च' से ओरन्। चकते तृप्यति यः सः। चक् ओरन्—चक् ओर सु।

विशेष—प्रकृत में 'ओरच्' और 'ओरन्' दोनों प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है। नित् आद्युदात्त तथा चित् अन्तोदात्त स्वर के लिए होता है। परन्तु यहाँ दोनों स्वर इष्ट नहीं है। आचार्य भोज ने अनुबन्ध रहित 'ओर' प्रत्यय माना है। मध्योदात्त स्वर की साधुता अव्युत्पत्तिपक्ष में 'लघावन्ते.....' (फि०सू० 42) से प्रदर्शित की जा सकती है।

(65) किशोरादयश्च [1.65]

पद०—किशोरादयः 1.3, च—अव्य०।

अनु०—'कठिचकिभ्यामोरन्' (उ०सू० 1.64) से 'ओरन्' की अनुवत्ति है।

सं०—किशोरादिगणपठिताः शब्दा ओरन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—किशोर आदि ओरन् प्रत्ययान्त शब्द निपातित किये जा रहे हैं। किशोरादि एक गण है।

स्वा०द०वृ०—किशोरादय ओरन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। किं शृणाति हिनस्तीति **किशोरः**, अश्वशावको वा। किमो मलोपः 'शॄ'धातोष्टिलोपश्च निपातनम्। सोढुं शीलः **सहोरः**, साधुर्वा। गायति शब्दं करोतीति **गौरः**। अरुणे श्वेते पीते निर्मले च वाच्यलिङ्गः—गौरः कुमारः, गौरी कन्या, गौरं कुलम्, गौरं कमलम्, गौरः सर्षपः इत्यादि। 'गै'धातोराकारादेशे कृत ओकारेण सह वृद्ध्येकादेशः। आयादेशस्त्वात्वाप्राप्तौ भवति, इत्यादि।

उदा०—(1) किशोरः (= अश्ववत्स, बच्चा, सूर्य, तरुण)—किं शृणाति हिनस्ति। किम् शब्द के उपपद रहते शॄ हिंसायाम् धातु से ओरन्—किम् शॄ ओरन्—निपातन से टिलोप—किम् श् ओरन्—निपातन से किम् का अन्त्यलोप। किश् ओर सु।

(2) सहोर: (= साधु)—सोढुं शील:। षह मर्षणे से ओरन्। षह—सह्—'धात्वादे: ष: स:'—सह् ओरन् सु।

(3) गौर: (= अरुण, श्वेत, पाण्डु, निर्मल)—गायति शब्दं करोति। गै शब्दे धातु से ओरन्। 'एकाच उपदेशेऽशिति' से आकार आदेश—ग् आ ओर—'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश—गौर सु। 'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से ङीष् हुआ—गौरी। नपुंसकलिंग में सु को 'अतोऽम्' से अम् आदेश—गौरम्।

(66) कपिगडिगण्डिकटिपटिभ्य ओलच् [1.66]

पद०—कपिगडिगण्डिकटिपटिभ्य: 5.3, ओलच् 1.1

सं०—कप् गड् गण्ड् कट् पट्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य ओलच् स्यात्।

व्याख्या—कपिगडिगण्डिकटिपटिभ्य: यह पञ्चम्यन्त पद है। इन धातुओं से परे ओलच् होता है। च् की इत्सञ्ज्ञा है। च् अनुबन्ध का प्रयोजन 'चित:' से अन्तोदात्त स्वर करना है। अर्थ—कप्, गड्, गण्ड्, कट् और पट्—इन धातुओं से परे ओलच् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—कम्पते चलति स **कपोल:**, वदनैकदेशो वा। सूत्रे निर्देशादेव नलोप:। गडति सिञ्चति स **गडोल:**। गण्डति स **गण्डोल:**, वदनैकदेशो वा। गडोलगण्डोलौ गुडकपर्यायौ वा। कटति वर्षत्यावृणोति वा स **कटोल:**, कटुश्चाण्डालो वा। पटति गच्छति स **पटोल:**, फलविशेषो वस्त्रविशेषो वा।

बाहुलकात्—कण्डति माद्यतीति **कण्डोल:**, चाण्डालो वा।

उदा०—(1) कपोल: (= गाल)—कम्पते चलति। कपि सञ्चलने से ओलच्। इकार इत् है। 'इदितो नुम् धातो:' से नुम् आगम—क न् प्—सूत्र में 'कपि' ऐसा अनुनासिकरहित निर्देश से ज्ञापित होता है कि 'कन् प्' इस दशा में 'न्' का लोप हो जाता है—कप् ओलच् सु।

(2) गडोल: (= गुडक, मुख का एक भाग)—गडति सिञ्चति। गड सेचने—गड् ओलच् सु।

(3) गण्डोल: (= मुख का एक भाग)—गण्डतीति। गडि वदनैकदेशे धातु से ओलच्। 'इदितो नुम् धातो:' से नुम्—गनुम् ड्—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार—गंड्—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण:' से परसवर्ण—गण्ड् ओलच् सु।

(4) कटोल: (= कटु, चाण्डाल)—कटति वर्षति आवृणोति। कट वर्षाऽऽ-वरणयो: धातु से ओलच्—कट् ओलच् सु।

(5) पटोलः (= परवल, वस्त्र का प्रकार)—पटति गच्छति। पट गतौ से ओलच्।

विशेष—श्वेतवनवासी तथा नारायण भट्ट के अनुसार 'ओलक्' प्रत्यय होता है। कित्करण गुण-वृद्धि के निषेध के लिए होता है, परन्तु प्रकृत में गुणवृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं है। अतः कित्करण व्यर्थ है। प्रत्यय को चित्करण भी युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता है, कारण कि 'लघावन्ते द्वयोश्च०' (फि०सू० 42) से मध्योदात्त स्वर सिद्ध ही है। अतः 'ओल' प्रत्यय ही उचित है।

(67) मीनातेरूरन् [1.67]

पद०—(1) मीनातेः 5.1, ऊरन् 1.1
सं०—'मी' इत्येतस्माद् धातोर् ऊरन् प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—मी धातु से 'ऊरन्' प्रत्यय होता है। प्रत्यय का 'न्' इत् है। 'न्' अनुबन्ध का प्रयोजन 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—मीनाति हन्तीति **मयूरः**, पक्षिविशेषो वा।

बहुलवचनात्—मीनातेरात्वनिषेधः धातोर्गुणादेशः।

उदा०—(1) मयूरः (= मोर, एक पुष्प)—मीनाति हन्ति (सर्पादिकम्)। मीञ् हिंसायाम् से ऊरन्। 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि०' (पा० 6.1.49) से आत्व प्राप्त, बहुलवचन से आत्व का निषेध—मी ऊर—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से इगन्त अङ्ग को गुण—मे ऊर—'एचोऽयवायावः' से अय्, सु।

विशेष—दशपादी (8.28) से 'ऊर' प्रत्यय का निर्देश है। कुछ ग्रन्थों में 'ऊरच्' प्रत्यय का निर्देश है, परन्तु न् अथवा च् अनुबन्धों का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है।

(68) स्यन्देः सम्प्रसारणं च [1.68]

पद०—स्यन्देः 5.1, सम्प्रसारणम् 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'मीनातेरूरन्' (उ०सू० 1.67) से 'ऊरन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—स्यन्द्धातोर् ऊरन् प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च सम्प्रसारणं स्यात्।

व्याख्या—स्यन्देः यह पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। स्यन्देः को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'सम्प्रसारणम्' के साथ सम्बन्ध किया जाता है। अर्थ—स्यन्द् धातु से परे ऊरन् प्रत्यय होता है तथा धातु को सम्प्रसारण होता है। 'इग्यणः' से यण् (य्) के स्थान पर इक् (इ) होता है।

स्वा०द०वृ०—स्यन्दते प्रस्रवति तत् **सिन्दूरम्,** रक्तचूर्णं वृक्षभेदो वा। ऊरन्प्रत्यये यकारस्य सम्प्रसारणम्।

उदा०—(1) सिन्दूरम् (= सिन्दूर)—स्यन्दते प्रस्रवति तत्। स्यन्दू प्रस्रवणे से ऊरन्। स्यन्द् ऊरन्–सम्प्रसारण—स् इ अ न् द् ऊर—'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप—सिन्दूर सु।

(69) सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन् [1.69]

पद०—सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यः 5.3, तुन् 1.1

सं०—सि तन् गम् मस् सच् अव् धा क्रुश्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तुन् स्यात्।

व्याख्या—'सित····शिभ्यः' यह पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा प्रवृत्त होती है। अर्थ—सि, तन्, गम्, मस्, सच्, अव्, धा और क्रुश् धातुओं से परे तुन् प्रत्यय होता है। प्रत्यय के न् की इत् सञ्ज्ञा है। न् अनुबन्ध का प्रयोजन 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—सिनोति बध्नातीति **सेतुः,** समुद्रो वा। तितुत्रतथ० [7.2.9] इतीट् निषेधः। तनोति विस्तृणोतीति **तन्तुः,** सूत्रं वा। वरामुत्तमां विद्यां तनोति स **वरतन्तुः** मुनिः। वरतन्तुना प्रोक्तो 'वारतन्तवीयो' ग्रन्थः। गच्छतीति **गन्तुः,** पथिको वा। समन्ताद् गच्छति भ्रमतीति **आगन्तुः,** अभ्यागतो वा। मस्यति परिणमतीति **मस्तुः,** दधनि निस्सृतमुदकं वा। सच्यन्ते समवेताः क्रियन्ते ते **सक्तवः,** पक्वयवादिचूर्णं वा। अवति रक्षणादिकं करोति स **ओतुः,** विडालो वा। [बाहुलकादङ्कित्यपि] 'अव'धातोः **ज्वरत्वर०** [6.4.20] इति सूत्रेणोपधावकारयोरूठ्। दधाति धरति पोषति वा स **धातुः,** अश्मनो विकारः सुवर्णादिः शरीस्थवातादिर्वा। क्रोशत्याह्वयति रोदिति वा स **क्रोष्टुः,** क्रोष्टा शृगालो वा।

उदा०—(1) सेतुः (= पुल, सीमा)—सिनोति बध्नाति। षिञ् बन्धने से तुन्। 'धात्वादेः षः सः' से षकार को सकार—सि तुन्—हलन्त्यम्, 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से इट् आगम। 'तितुत्रतथ०' (पा० 7.2.9) से निषेध, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण—से तु सु।

(2) तन्तुः (= सूत्र, सन्तान, मकर, परमात्मा, मकड़ी)—तनोति विस्तृणोति। तनु विस्तारे से तुन्—तन् तुन्—अनुबन्धलोप, सु।

(3) गन्तुः (= पथिक)—(समन्तात्) गच्छति भ्रमति। गम्लृ गतौ से तुन्। गम् तु—अनुबन्धलोप, 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से परसवर्ण (न्)—गंतु—गन्तु सु। (4) आगन्तुः (= अतिथि)—आ गम् तुन्।

(5) मस्तुः (= मट्ठा)—मस्यति परिणमति। मसी परिणामे से तुन्—मस् तु सु। यह शब्द नपुँसकलिंग भी होता है।

(6) सक्तुः (= सत्तू)—सच्यन्ते समवेताः क्रियन्ते ते सक्तवः। षच समवाये से तुन्। धात्वादेः षः सः—स च् तु—'चोः कुः' से कुत्व—सक्तु सु।

(7) ओतुः (= बिलाव)—अवति रक्षणं करोति। अव गतिरक्षणादिषु से तुन्—अव् तुन्—'ज्वरत्वरस्रिव्य०' (पा० 6.4.20) से उपधा और वकार के स्थान पर ऊठ् आदेश—ऊ तु—'सार्वधातुकार्धधाकतुयोः' से गुण—ओ तु सु।

(8) धातुः (= स्वर्ण आदि धातु, शरीर के धातु)—दधाति धरति पोषति। डुधाञ् धारणपोषणयोः से तुन्—धा तु सु।

(9) क्रोष्टुः (= शृगाल)—क्रोशत्याह्वयति रोदिति। क्रुश आह्वाने से तुन्—क्रुश् तु—'व्रश्चभ्रस्जसृज०' (पा० 8.2.36) से शकार के स्थान पर ष्—क्रुष् तु—'पुगन्त-लघूपधस्य च' से लघूपध गुण—क्रोष् तु—'ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार, सु।

(70) वसेरगारे णिच्च [1.70]

पद०—वसेः 5.1, अगारे 7.1, णित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सितनि·····स्तुन्' (उ०सू० 1.69) से 'तुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वस् इत्येतस्माद् धातोस्तुन् प्रत्ययः स्यात्, स च णित्सञ्ज्ञः अगारे गम्यमाने।

व्याख्या—अगारे यह सप्तम्यन्त पद है। इसका आशय है—'अगार' अर्थ वाच्य हो तो। तुन् प्रत्यय को णित् किया गया है। यह अतिदेश सूत्र है। णित्करण का प्रयोजन वृद्धिकार्य है। अर्थ—यदि 'अगार' अर्थ वाच्य हो तो वस् धातु से तुन् प्रत्यय होता है और वह णित् होता है। 'अगार' अर्थ वाच्य न हो तो तुन् प्रत्यय अवश्य होता है, परन्तु वह णित् नहीं होता है।

स्वा०द०वृ०—वसन्ति प्राणिनो यत्र तद् **वास्तु**, गृहं वा। अगारादन्यत्र णित्त्वाभावः। वसन्ति येन तद् **वस्तु**, द्रव्यं वा।

उदा०—(1) वास्तु (= गृह, भवनभूखण्ड)—वसन्ति प्राणिनो यस्मिन् तत्। वस निवासे से तुन्। वस् तुन्—अनुबन्धलोप—वास् तु—'अत उपधायाः' से उपधाभूत अत् को वृद्धि आदेश (आकार) हुआ, सु।

(2) वस्तु (= द्रव्य)—'अगार' अर्थ वाच्य नहीं है। प्रत्यय के णिद्वत् न होने से 'अत उपधायाः' से वृद्धि प्राप्त न हुई।

विशेष—दशपादी वृत्तिकार, श्वेतवनवासी आदि सभी ने प्रकृत सूत्र का योग-

5 उ०को०

विभाग (यथा—वसेस्तुन्, अगारे णिच्च) करके 'आप्नोतेर्ह्रस्वश्च' (उ०सू० 1.75) के अनन्तर पाठ किया है। निरुक्त टीकाकार स्कन्द स्वामी ने 'वसेरगारे णिच्च' ऐसा पाठ उद्धृत किया है। इससे सिद्ध होता है कि यह पाठ ही प्रामाणिक है।

(71). पः किच्च [1.71]

पद०—पः 5.1, कित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सितनि·····स्तुन्' (उ०सू० 1.65) से 'तुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—पाधातोस्तुन् प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—यह अतिदेश सूत्र है। तुन् प्रत्यय को कित् किया ज़ा रहा है। कित्करण का प्रयोजन 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' से आकार को 'ई' आदेश करना है। अर्थ—पा धातु से परे तुन् प्रत्यय होता है और वह कित् होता है।

स्वा०द०वृ०—पिबत्युदकादिकं पाति प्राणिनो रक्षति वा स **पीतुः**, अग्निः सूर्यो वा। कित्त्वादीत्वम्।

उदा०—(1) पीतुः (= अग्नि, सूर्य, यूथपति)—पिबत्युदकादिकम्। पाति रक्षति प्राणिनः। पा पाने अथवा पा रक्षणे धातु से तुन्। पा तु—'घुमास्थागापाजहाति०' (पा० 6.4.66) से धातु के आकार को ईत्व—पीतु सु। ईत्वकरण सामर्थ्य से आर्धधातुकलक्षण गुण न हुआ।

(72) अर्त्तेश्च तुः [1.72]

पद०—अर्त्तेः 5.1, च—अव्य०, तुः 1.1

अनु०—'पः किच्च' (उ०सू० 1.71) से 'कित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—ऋधातोस्तुप्रत्ययः स्यात्, स च कित्।

व्याख्या—'ऋ' धातु से परे 'तु' प्रत्यय होता है और वह कित् होता है। यह भी अतिदेश सूत्र है। तु और तुन् में स्वर का अन्तर है। कित् करने का प्रयोजन आर्धधातुकलक्षण गुण का निषेध करना है।

स्वा०द०वृ०—चकारात्तुः किद्भवति। पुनः पुनर्ऋच्छति गच्छत्यागच्छतीति **ऋतुः**, वसन्तादिः स्त्रीणां रजःपतनकालो वा।

उदा०—(1) ऋतुः (= ऋतु, युगारम्भ, स्त्रियों का रजोदर्शन)—(पुनः पुनर्) ऋच्छति गच्छत्यागच्छति। ऋ तु—गुणनिषेध, सु।

विशेष—नारायणभट्ट 'अर्त्तेस्तुः' पाठ स्वीकार करते हैं।

(73) कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च [1.73]

पद०—कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यः 5.3, च—अव्य०।

अनु०—'अर्त्तेश्च तुः' से 'तु' की अनुवृत्ति है।

सं०—कम् मन् जन् गै भा या हि—इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तुप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कमि·····हिभ्यश्च यह पञ्चम्यन्त पद है। अर्थ—कम्, मन्, जन्, गै, भा, या और हि—इन धातुओं से परे 'तु' प्रत्यय होता है। 'तु' की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा है। इसके परे रहते आर्धधातुकलक्षण गुण होता है।

स्वा०द०वृ०—कामयते येन स **कन्तुः**, कामश्चित्तं वा। मन्यते जानाति वा येन स **मन्तुः**, अपराधो वा। जन्यते शरीरादिधारणेन प्रादुर्भवति स **जन्तुः** जीवः। गायति षड्जादिस्वरान् आलापयति स **गातुः** गाथकः; गाते गच्छतीति **गातुः**, पथिको वा भृङ्गगन्धर्वौ वा। भाति प्रकाशयतीति **भातुः**, सूर्यो वा। याति प्रापयतीति **यातुः**, अध्वगः कालो वा। हिनोति येन यो वा कार्यरूपेण वर्धतेऽसौ **हेतुः** कारणम्।

उदा०—(1) कन्तुः (= काम, चित्त, धान्य)—कामयते येन। कमु कान्तौ से 'तु' हुआ। कम् तु—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार—कं तु—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से परसवर्ण—क न् तु सु। आचार्य उज्ज्वलदत्त के अनुसार 'अर्जिदृशि-कम्यमिपशि०' (उ०सू० 1.27) से कु प्रत्यय तथा तुक् आगम होकर 'कन्तु' शब्द सिद्ध ही है। प्रकृत में इसका ग्रहण प्रपञ्चार्थ है।

(2) मन्तुः (= अपराध, मनुष्य, बुद्धि)—मन्यते जानाति येन। मन् तु—'मनु अवबोधने' धातु से 'तु' प्रत्यय, सु।

(3) जन्तुः (= जीव, पशु)—जन्यते प्रादुर्भवति शरीरादिधारणेन। जनी प्रादुर्भावे से 'तु'—जन् तु सु।

(4) गातुः (= गायक, गीत), कोयल, भौंरा)—गायति आलापयति। गै शब्दे से 'तु'—गै तु—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व—गा तु सु।

(5) भातुः (= सूर्य)—भाति प्रकाशयति। भा दीप्तौ—भा तु सु।

(6) यातुः (= काल, वायु, पथिक)—याति प्रापयति। या प्रापणे—या तु सु।

(7) हेतुः (= कारण, प्रयोजन, तर्क)—हिनोति येन। हि गतौ वृद्धौ च—हि तु—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण—हे तु सु।

(74) चायः की [1.74]

पद०—चायः 5.1, की 1.1।

अनु०—'अर्त्तेश्च तुः' (उ०सू० 1.72) से 'तुः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—चाय्धातोस्तुप्रत्ययः स्याद्, धातोः स्थाने 'की' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—चायः पञ्चम्यन्त पद है। चाय् से परे 'तु' प्रत्यय होता है। 'चायः' इसे विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बना कर इसका सम्बन्ध 'की' के साथ होता है। 'की' अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से यह (की) आदेश सम्पूर्ण स्थानी (चाय्) के स्थान पर होता है। अर्थ—चाय् धातु से परे 'तु' प्रत्यय होता है और चाय् के स्थान पर 'की' सर्वादेश होता है।

स्वा०द०वृ०—चायते पूजयति निशामयति श्रावयति वा स **केतुः**, ग्रहः पताका वा। **धूमकेतुः** उत्पातः।

उदा०—(1) केतुः (= एक ग्रह, पताका, चिह्न, किरण)—चायते पूजयति विनाशयति श्रावयति। चायृ पूजानिशामनयोः धातु से 'तु' प्रत्यय—चाय् तु—की तु—सर्वादेश—के तु—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण—के तु सु।

श्वेतवनवासी लिखते हैं कि कुछ विद्वान् ह्रस्वान्त (यथा—कि) आदेश मानते हैं।

(75) आप्नोतेर्ह्रस्वश्च [1.75]

पद०—आप्नोतेः 5.1, ह्रस्व 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'अर्त्तेश्च तुः' (उ०सू० 1.72) से 'तुः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—आप्धातोस्तुप्रत्ययः स्यात्, धातोर्योऽच्, तस्य स्थाने ह्रस्वादेशो भवति।

व्याख्या—आप्नोतेः पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'आप्नोतेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय होता है। द्वितीय 'आप्नोतेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को ह्रस्व आदेश होता है। ह्रस्वादि सञ्ज्ञाएँ अच् वर्ण की ही होती है। अतः यहाँ 'अचश्च' पद उपलब्ध होता है। अर्थ—आप् धातु से परे 'तु' प्रत्यय होता है और धातु का जो अच्, उसके स्थान पर ह्रस्व आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—आप्नोति व्याप्नोति सर्वान् पदार्थानिति **अप्तुः**, शरीरं वा। तुप्रत्यये 'आप्लृ'धातोर्ह्रस्वत्वम्।

उदा०—(1) अप्तुः (= शरीर)—आप्नोति व्याप्नोति सर्वान् पदार्थान्। आप्लृ व्याप्तौ से 'तु' प्रत्यय। आप् तु—अप् तु—'आ' के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से ह्रस्वादेश (अ) हुआ, सु।

(76) कृञः कतुः [1.76]

पद०—कृञः 5.1, कतुः 1.1

सं०—कृधातोः कतुप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कृञः पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा प्रवृत्त होती है। अर्थ—कृ धातु से उत्तर कतु प्रत्यय होता है। प्रत्यय के 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.6) से इत् सञ्ज्ञा है। 'तस्य लोपः' (पा० 1.3.9) से 'क्' का लोप होता है। 'अतु' शेष रहता है। कतु को कित् करने का प्रयोजन है कि आर्धधातुक लक्षण गुण का निषेध हो जाय।

स्वा०द०वृ०—'कृञ्' धातोः कतुः प्रत्ययो भवति। यः क्रियते यया करोति वेति **क्रतुः**, प्रज्ञा यज्ञो वा। कित्त्वाद् गुणाभावे यणादेशः।

उदा०—(1) क्रतुः (= यज्ञ, बुद्धि)—यः क्रियते। यया करोति। डुकृञ् करणे से 'कतु' प्रत्यय—कृ कतु—कृ अतु—गुणनिषेध, 'इको यणचि' से यण्—क् र् अतु सु।

(77) एधिवह्योश्चतुः [1.77]

पद०—एधिवह्योः 6.2, चतुः 1.1
सं०—एध् वह्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां चतुप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—एधिवह्योः यह षष्ठ्यन्त पद है। इसे विभक्तिविपरिणाम के द्वारा पञ्चम्यन्त बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा प्रवृत्त होती है। अर्थ—एध् तथा वह् धातु से चतु प्रत्यय होता है। प्रत्यय का 'च्' इत्सञ्ज्ञक है। 'च्' अनुबन्ध का प्रयोजन 'चितः' (पा० 6.1.163) के द्वारा अन्तोदात्त स्वर करना है। 'अतु' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—एधते वर्द्धतेऽसौ **एधतुः**, पुरुषो वा। वहति भारमिति **वहतुः**, अनड्वान् वा। चित्करणमन्तोदात्तार्थम्।

उदा०—(1) एधतुः (= पुरुष, अग्नि)—एधते वर्धतेऽसौ। एध वृद्धौ से 'चतु'—एध् अतु सु।

(2) वहतुः (= बैल)—वहति भारम्। वह प्रापणे से 'चतु'—वह् अतु सु।

(78) जीवेरातुः [1.78]

पद०—जीवेः 5.1, आतुः 1.1
सं०—जीव्धातोर् आतुप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—जीव् धातु से 'आतु' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—जीव्यते येन यो वा जीवति स **जीवातुः**, जीवनम् औषधं वा।

उदा०—(1) जीवातुः (= जीवन, भोजन)—जीव्यते येन। जीव प्राणधारणे धातु से 'आतु'—जीव् आतु सु।

(79) आतृकन् वृद्धिश्च [1.79]

पद०—आतृकन् 1.1, वृद्धिः 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'जीवेरातुः' (उ०सू० 1.78) से 'जीवेः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—जीव्धातोर् आतृकन् प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च वृद्धिः स्यात्।

व्याख्या—अनुवृत्त 'जीवेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'जीवेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा से जीव् से परे प्रत्यय होता है। द्वितीय 'जीवेः' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर जीव् धातु के स्थान पर वृद्धि आदेश होता है। 'इको गुणवृद्धी' से जीव् धातु के इक् वर्ण (ई) के स्थान पर यह वृद्धि आदेश प्राप्त होकर 'स्थानेऽन्तरतमः' और 'वृद्धिरादैच्' के द्वारा 'ऐ' के रूप में होता है। अर्थ—जीव् धातु से परे आतृकन् प्रत्यय होता है और धातु (का जो इक् वर्ण उस) के स्थान पर वृद्धि आदेश होता है। आतृकन् प्रत्यय के 'न्' की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा होती है। न् अनुबन्ध का प्रयोजन 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196) से आद्युदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—'जीव'धातोरातृकन् प्रत्ययस्तस्मिन् सति वृद्धिश्च भवति। यो जीवति पूर्णावस्थापर्यन्तं स **जैवातृकः** आयुष्मान्, निशाकरो वा।

उदा०—(1) जैवातृकः (= आयुष्मान्, चन्द्रमा, कपूर, बेटा)—यो जीवति। जीव् आतृकन्—जीवातृक—वृद्धि—जैवातृक सु।

(80) कृषिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्य ऊः स्त्रियाम् [1.80]

पद०—कृषिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्यः 5.3, ऊः 1.1, स्त्रियाम् 7.1
सं०—कृष् चम् तन् धन् सर्ज् खर्ज्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य ऊः स्यात् स्त्रीलिङ्गे वाच्ये।

व्याख्या—स्त्रियाम् अर्थात् स्त्रीलिङ्ग वाच्य हो तो। 'कृषिचमि·····भ्यः' पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—कृष्, चम्, तन्, धन्, सर्ज्, खर्ज्—इन धातुओं से परे 'ऊ' प्रत्यय होता है, यदि स्त्रीलिङ्ग वाच्य हो। भाव यह है कि सूत्रोक्त कृष् आदि धातुओं से 'ऊ' प्रत्यय करने पर निष्पन्न शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

स्वा०द०वृ०—कृष्यादिभ्य ऊः प्रत्ययः। कर्षत्याकर्षति पदार्थानिति **कर्षूः**, शुष्कगोमयः अग्निर्नदी वा। चमति भक्षयतीति **चमूः**, शत्रुभक्षिणी सेना वा। तनोति कार्याणि येन [यया वा] सा **तनूः**, शरीरं वा। दधाति धनमर्जयति [येन] स **धनूः**, शस्त्रं वा। सर्जति उपार्जति कार्याणीति **सर्जूः**, वैश्यो वा। खर्जति पीडयतीति **खर्जूः**, कण्डूर्वा।

उदा०—(1) कर्षूः (= सूखा गोबर, अग्नि, नदी)—कर्षति पदार्थान्। कृष विलेखने से प्रत्यय। कृष् ऊ—'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण। कर्ष् ऊ सु।

(2) चमूः (= सेना)—चमति शत्रून् भक्षयति। चमु अदने। चम् ऊ—प्रातिपदिक सञ्ज्ञा, सु—चमूः—विभक्तिकार्य।

(3) तनूः (= शरीर)—तनोति कार्याणि यया सा। तनु विस्तारे इस धातु से प्रत्यय हुआ—तन् ऊ—प्रातिपदिक सञ्ज्ञा, सु, विभक्तिकार्य।

(4) धनूः (= शस्त्र)—दधाति धनम् अर्जयति (यया) सा। धन धान्ये धातु से प्रत्यय—धन् ऊ सु।

(5) सर्जूः (= वैश्य)—सर्जति उपार्जति कार्याणि। सृज विसर्गे। सृज् ऊ—आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण, उरण् रपरः—सर्जू सु।

(6) खर्जूः (= खान)—खर्जति पीडयति। खर्ज पूजायाम्। खर्ज् ऊ सु।

(81) मृजेर्गुणश्च [1.81]

पद०—मृजेः 5.1, गुणः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कृषिचमि····स्त्रियाम्' (उ०सू० 1.80) से 'ऊः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—मृज्धातोर् ऊप्रत्ययः स्याद् धातोश्च गुणादेशो भवति।

व्याख्या—'मृजेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम मृजेः पद का अनुवृत्त 'ऊः' पद के साथ अन्वय होता है। द्वितीय मृजेः पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर इसका अन्वय 'गुणः' पद के साथ किया जाता है। अर्थ—मृज् धातु से परे 'ऊ' प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर गुण आदेश होता है। 'मृजेर्वृद्धिः' (पा० 7.2.114) से यहाँ वृद्धि आदेश प्राप्त था। इसके बाध के लिए प्रकृत में 'गुणः' का पाठ है।

स्वा०द०वृ०—मार्ष्टि शोधयतीति **मर्जूः**, शुद्धिर्वा। ऊप्रत्ययस्याकित्त्वान्नित्यापि प्राप्ता वृद्धिर्गुणेन बाध्यते।

उदा०—(1) मर्जूः (= शुद्धि, रजक)—मार्ष्टि शोधयति। मृजूष् शुद्धौ धातु से 'ऊ'—मृज् ऊ—प्राप्त वृद्धि को बाधकर गुण, उरण् रपरः—मर्ज् ऊ सु।

(82) खडेर्डुट् वा [1.82]

पद०—खडेः 5.1, डुट् 1.1, वा—अव्य०।

अनु०—'कषि·····स्त्रियाम्' (उ०सू० 1.80) से 'ऊः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—खड्धातोर् ऊप्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य 'डुट्' इत्यागमो विकल्पेन भवति। टित्त्वाद् आद्यवयवः।

व्याख्या—खड् धातु से परे ऊ प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को डुट् आगम विकल्प से होता है। डुट् के टकार की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। डकारस्थ उकार उच्चारणार्थ है। ड् शेष रहता है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—खडति भिनत्तीति **खड्डूः**, **खडूः**, बाहुजङ्घयोराभूषणं मृतशय्या वा।

उदा०—(1) खड्डूः (= मृतशय्या, एक आभूषण)—खडति भिनत्ति। खड भेदने धातु से प्रत्यय। खड् ऊ—डुट् आगम—खड् डुट् ऊ—अनुबन्धलोप—खड्डू सु।

(2) खडूः—डुट् आगम के अभाव पक्ष में।

(83) वहेर्धश्च [1.83]

पद०—वहेः 5.1, धः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कृषि·····स्त्रियाम्' (उ०सू० 1.80) से 'ऊः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वह्धातोर् ऊप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च धकार अन्तादेशो भवति।

व्याख्या—वहेः पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'वहेः' को पञ्चम्यन्त मानकर वह् से परे प्रत्यय होता है। द्वितीय 'वहेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को 'ध' आदेश किया जाता है। धकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'हो ढः' से प्राप्त ढकार के बाध के लिए प्रकृत में धकार आदेश का विधान है। यह आदेश 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से धातु के अन्त्य अल् (ह्) के स्थान पर होता है। अर्थ—वह् धातु से परे 'ऊ' आदेश होता है तथा धातु को 'ध्' अन्तादेश होता है।

स्वा०द०वृ०—वहति सुखानि प्रापयतीति **वधूः**, नवोढा स्त्री वा।

उदा०—(1) वधूः (= बहू, पुत्रवधू)—वहति सुखानि प्रापयति। वह प्रापणे से प्रत्यय। वह् ऊ—अन्तादेश—वधू सु।

(84) कषेश्छश्च [1.84]

पद०—कषे: 5.1, छ: 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'कृषि····स्त्रियाम्' (उ०सू० 1.80) से 'ऊः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—कष्धातोर् ऊप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च छकाराऽन्तादेशो भवति।

व्याख्या—'कषेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'कषेः' को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय होता है। द्वितीय 'कषेः' को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अलोऽन्त्य परिभाषा से छकार अन्त्य अल् (ष्) के स्थान पर होता है। छकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। अर्थ—कष् धातु से परे ऊ प्रत्यय होता है तथा धातु को 'छ्' अन्तादेश होता है।

स्वा०द०वृ०—कषति हिनस्ति दुःखयतीति **कच्छूः**, पामा वा। 'खाज' इति प्रसिद्धा। षकारस्य छकारः।

उदा०—(1) कच्छूः (= खुजली)—कषति हिनस्ति दुःखयति क्लिश्नाति। कष हिंसायाम्। कष् ऊ—अन्तादेश 'छ्'—क छ् ऊ्—'छे च' (पा० 6.1.73) से तुक् आगम—क तुक् छ् ऊ—अनुबन्धलोप। कच्छू सु।

(85) णित्कशिपद्यर्तेः [1.85]

पद०—णित् 1.1, कशिपद्यर्तेः 5.1
अनु०—'कृषि····स्त्रियाम्' (उ०सू० 1.80) से 'ऊः' की अनुवृत्ति है।
सं०—कश् पद् ऋ—इत्येतेभ्यो धातुभ्य ऊप्रत्ययः स्यात्, स च णित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—अर्थ—कश्, पद् और ऋ—इन धातुओं से परे 'ऊ' प्रत्यय होता है तथा वह (प्रत्यय) णित् होता है। यह अतिदेश सूत्र है। णित्करण गुण-वृद्धि कार्य के लिए है।

स्वा०द०वृ०—कश्यादिभ्य ऊ णिद्भवति। कष्टे गच्छति शास्ति वेति **काशूः**, विकलधातुर्जनः शक्तिर्वा। पद्यन्ते गच्छन्ति यया सा **पादूः**, उपानहौ वा। ऋच्छति प्राप्नोति स **आरूः**, पिङ्गलो वा।

उदा०—(1) काशूः (= रोगी, प्रभा)—कष्टे गच्छति शास्ति। कश गति-शासनयोः से 'ऊ' प्रत्यय। कश् ऊ—णित् होने से 'अत उपधायाः' से उपधाभूत अत् के स्थान पर वृद्धि आदेश—काशू सु।

(2) पादूः (= जूता)—पद्यन्ते गच्छन्ति या सा। पद गतौ धातु से प्रत्यय। पद् ऊ—पूर्ववत् उपधा वृद्धि—पादू सु।

(3) आरूः (= पिंगल)—ऋच्छति प्राप्नोति सः । ऋ गतिप्रापणयोः से प्रत्यय । ऋ ऊ—'अचो ञ्णिति' से वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—आर् ऊ सु ।

(86) अणो डश्च [1.86]

पद०—अणः 5.1, डः—1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'कृषि······स्त्रियाम्' (उ०सू० 1.80) से 'ऊः' की अनुवृत्ति है। 'णित्कशिपद्यर्त्तेः' (उ०सू० 1.85) से 'णित्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—अण्धातोर् ऊप्रत्ययः स्यात्, धातोश्च 'ड्' इत्यन्तादेशो भवति । प्रत्ययश्च णिद्वद् भवति ।

व्याख्या—'अणः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'अणः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से 'ऊ' प्रत्यय होता है। द्वितीय 'अणः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। डकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। अलोऽन्त्य परिभाषा से ड् आदेश धातु के अन्त्य अल् (ण्) के स्थान पर होता है। अर्थ—अण् धातु से परे 'ऊ' प्रत्यय होता है, धातु को 'ड्' अन्तादेश होता है तथा 'ऊ' प्रत्यय णिद्वत् होता है ।

स्वा०द०वृ०—अणति शब्दयतीति **आडूः**, जलगामिद्रव्यं वा । णस्य डः ।

उदा०—(1) आडूः (= नौका)—अणति शब्दायति । अण शब्दे धातु । अण् ऊ—'ड्' अन्तादेश । अड् ऊ—प्रत्यय के णिद्वत् होने से 'अत उपधायाः' से उपधा (अत्) को वृद्धि आदेश—आडू सु ।

(87) [नञि] लम्बेर्नलोपश्च [1.87]

पद०—नञि 7.1, लम्बेः 5.1, नलोपः 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'कृषि······स्त्रियाम्' (उ०सू० 1.80) से 'ऊः' का तथा 'णित्कशिपद्यर्त्तेः' (उ०सू० 1.85) से 'णित्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—नञि उपपदे लम्ब्धातोर् ऊप्रत्ययः स्याद् धातोर्यो नकारस् तस्य लोपो भवति, प्रत्ययश्च णिद्वद् भवति ।

व्याख्या—नञि अर्थात् नञ् के उपपद रहते । 'लम्बेः' पद की पूर्ववत् आवृत्ति की जाती है। अर्थ—'नञ्' शब्द के उपपद रहते लम्ब् धातु से परे ऊ प्रत्यय होता है, ऊ प्रत्यय णित् होता है तथा धातु का जो नकार, उसका लोप होता है। लबि धातु का इकार इत् है। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम् आगम होता है। ल न् ब्—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से न् को 'अनुस्वार तथा अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से परसवर्ण होकर लम् ब् यह स्थिति बनती है। प्रकृत सूत्र में उक्त 'नलोप' के द्वारा इसी मकार का लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—ऊप्रत्यये लम्बधातोर्नलोपो भवति। न लम्बतेऽधो न स्रवति गच्छति सा **अलाबूः**, तुम्बी वा।

उदा०—(1) अलाबूः (= तूम्बी)—न लम्बतेऽधो न स्रवति गच्छति। नञ् उपपदपूर्वक लबि शब्दे धातु से ऊ हुआ—नञ् लम्ब् ऊ—हलन्त्यम्, तस्य लोपः से 'ञ्' का लोप, नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण। न लम्ब् ऊ—'नलोपो नञः' से न् का लोप—अ लम्ब् ऊ—धातु के नकार का लोप—अ लब् ऊ—प्रत्यय के णिद्वत् होने से 'अत उपधायाः' से उपधा के स्थान पर वृद्धि आदेश—अलाब् ऊ सु।

(88) के श्र एरङ् चाऽस्य [1.88]

पद०—के 7.1, श्रः 5.1, एरङ् 1.1, च—अव्य०, अस्य—6.1
अनु०—'कृषि····स्त्रियाम्' (उ०सू० 1.80) से 'ऊः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—शृ इत्येतस्माद् धातोर् ऊप्रत्ययः स्यात्, धातोः स्थाने एरङ् आदेशो भवति, 'क' इत्युपपदे सति।

व्याख्या—'श्रः' पद की पूर्ववत् आवृत्ति की जाती है। अर्थ—यदि 'क' शब्द उपपद हो तो शृ धातु से परे ऊ प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर एरङ् आदेश होता है। एरङ् का ङ् इत् है। प्रथम 'अलोऽन्त्यस्य' के द्वारा धातु के अन्त्य अल् के स्थान पर एरङ् प्राप्त हुआ। इसे बाधकर 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' (पा० 1.1.54) से समग्र स्थानी के स्थान पर आदेश प्राप्त हुआ। इसे बाधकर 'ङिच्च' (पा० 1.1.53) के द्वारा धातु के अन्त्य अल् (ॠ) के स्थान पर होता है। रेफस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—ककारोपपदात् 'शृ'धातोरूप्रत्ययस्तस्मिन् प्रकृतेररङादेशः। कं शास्ति स **कशेरूः**, तृणकन्दं वा; बहुलवचनादूप्रत्ययस्य ह्रस्वे कृते **कशेरुः** इति ह्रस्वान्तोऽपि दृश्यते।

उदा०—(1) कशेरूः (= रीढ की हड्डी, तृणकन्द)—कं शास्ति। कं शृणाति। शृ हिंसायाम्। क शृ ऊ—क श् एर् ऊ—कशेरू सु। बहुलवचनात् ह्रस्वान्त 'कशेरु' शब्द भी प्राप्त होता है।

(89) त्रो दुट् च [1.89]

पद०—त्रः 5.1, दुट् 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'कृषि····स्त्रियाम्' (उ०सू० 1.80) से 'ऊः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—तृधातोर् ऊप्रत्ययो भवति, प्रत्ययस्य दुट् आगमो भवति।

व्याख्या—त्रः यह पञ्चम्यन्त पद है। दुट् आगम प्रत्यय को होता है। ट्

इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। शेष द् बचता है। टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' (पा० 1.1.45) से प्रत्यय का आदि अवयव बनता है। अर्थ—तॄ धातु से परे 'ऊ' प्रत्यय होता है तथा प्रत्ययं को दुट् आगम होता है।

स्वा०द०वृ०—तरति येन यया वा सा **तर्दूः**, दारुहस्तः पुरुषो यष्टिर्वा। प्रत्ययस्य दुडागमः।

उदा०—(1) तर्दूः (= हाथ में दण्ड लिये हुए पुरुष, लाठी)—तरति येन (यया वा)। तॄ प्लवनसन्तरणयोः धातु से प्रत्यय। तॄ ऊ—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व। तर् ऊ—दुट् आगम। तर् दुट् ऊ—अनुबन्धलोप, सु। दशपादी में 'द्रुट्' प्रत्यय कहा है। इसके अनुसार 'तॄ द्रुट् ऊ' इस दशा में गुण आदेश, अनुबन्धलोप होकर—तर् द्र् ऊ = तर्द्रू शब्द निष्पन्न होता है। कुछ ग्रन्थकार डुट् आगम मानते हैं। उनके अनुसार 'तर्डू' शब्द बनता है। कुछ विद्वान् धातु को दुक् आगम करते हैं। तॄ दुक् ऊ इस स्थिति में आगम धातु का अवयव बनता है। तृद् ऊ—यहाँ उपधा में लघुसञ्ज्ञक वर्ण के प्राप्त न रहने से लघूपध गुण प्राप्त नहीं होता है, अतः दुक् आगम करना अनुचित है।

(90) दरिद्रातेर्यालोपश्च [1.90]

पद०—दरिद्रातेः 5.1, यालोपः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कृषि····स्त्रियाम्' (उ०सू० 1.80) से 'ऊः' की अनुवृत्ति है।

सं०—दरिद्राधातोर् ऊ प्रत्ययः स्यात् धातोश्च 'या' इत्यस्य लोपो भवति। इश्च आश्च इति या।

व्याख्या—पूर्ववत् दरिद्रातेः पद की आवृत्ति की जाती है। इ + आ इस स्थिति में यण् आदेश होकर 'या' बनता है। अर्थ—दरिद्रा धातु से परे ऊ प्रत्यय होता है तथा धातु के इकार व आकार का लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—'दरिद्रा'धातोरूप्रत्यये 'इ' 'आ' इत्येतयोर्वर्णयोर्लोपः। दरिद्राति दुर्गतिं करोतीति दर्द्रूः, कुष्ठभेदो वा। **मृगय्वादित्वात्** (उ० 1.37) 'रि' 'आ' इत्यनयोर्लोपे **दद्रुः** इत्यपि सिद्धम्। अत्र सूत्रेऽपि 'रि' 'आ' इत्येतयोर्लोपे **दद्रूरि**ति भवति।

उदा०—(1) दर्द्रूः (= एक कोढ का प्रकार, खुजली)—दरिद्राति दुर्गतिं करोति। दरिद्रा दुर्गतौ धातु से 'ऊ' प्रत्यय। दरिद्रा ऊ—इकार तथा आकार का लोप—द र् द् र् ऊ—दर्द्रू सु।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'दरिद्रातेर्यालोपश्च' का दो प्रकार से विच्छेद सम्भव है। यथा—दरिद्रातेर् यालोपश्च तथा दरिद्रातेर् र्यालोपश्च। द्वितीय विच्छेद की दशा में 'रो रि' से प्रथम रेफ का लोप हो जाता है। अब रिश्च आश्च र्या—इस व्याख्या के अनुसार 'द **रि** द्र् **आ**—धातु के 'रि' तथा 'आ' का लोप होकर 'दद्रू' शब्द बनता है। रश्च इश्च आश्च—इस व्याख्या के अनुसार 'अन्त्यबाधेऽन्त्यसदेशस्य' के द्वारा द्वितीय रेफ का लोप (यथा—दर् **इ** द् **र्** **आ**) होकर 'दर्दूः' शब्द बनता है।

(91) नृतिशृध्योः कूः [1.91]

पद०—नृतिशृध्योः 6.2, कूः 1.1

सं०—नृत् शृध्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां कूप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—नृतिशृध्योः यह षष्ठ्यन्त पद है। विभक्तिविपरिणाम से इसे पञ्चम्यन्त (यथा—नृतिशृधिभ्याम्) बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—नृत् तथा शृध् धातुओं से परे कू प्रत्यय होता है। 'कू' के 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा होती है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध है।

स्वा०द०वृ०—नृत्यतीति **नृतूः**, नर्त्तकः [वा]। शर्धते कुत्सितं शब्दयतीति **शृधूः**, अपानवायुर्वा। प्रत्ययस्य कित्त्वाद् गुणनिषेधः।

उदा० (1) नृतूः (= नर्त्तक)—नृत्यतीति। नृती गात्रविक्षेपे धातु से 'कू'। नृत् कू—नृत् ऊ—'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण प्राप्त, प्रत्यय के कित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध—नृतू सु।

(2) शृधूः (= अपान वायु, गुदा, बुद्धि)—शर्धते कुत्सितं शब्दायति। शृधु शब्दकुत्सायाम् धातु। शृध् कू—'क्' का लोप—शृध् ऊ—पूर्ववत् गुणनिषेध, सु।

(92) ऋतेरम् च [1.92]

पद०—ऋतेः 5.1, अम् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'नृतिशृध्योः कूः' (उ०सू० 1.91) से 'कूः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—ऋत् इत्येतस्माद् धातोः कूप्रत्ययः स्याद्, धातोश्चाऽम् आगमो भवति।

व्याख्या—ऋत एक सौत्र धातु है। अर्थ—ऋत् धातु से परे कू प्रत्यय होता है तथा धातु को अम् आगम होता है। अम् के 'म्' की इत् सञ्ज्ञा होती है। अम् के मित् होने से 'मिदचोऽन्त्यात् परः' (पा० 1.1.46) से अन्त्य अच् (ऋकार) से परे आगम होता है।

स्वा०द०वृ०—'ऋत' इति सौत्रो धातुः। ऋतीयते घृणां करोतीति **रतूः**, सत्यं दिव्यनदी वा। धातोरमागमः।

उदा०—(1) रतूः (= सत्य, दिव्य नदी)—ऋतीयते घृणां करोति। ऋत घृणायाम्। ऋत् कू—ऋत् ऊ—प्राप्त लघूपध गुण का निषेध—ऋ अम् त् ऊ—आगम, 'इको यणचि' से यण् आदेश—र् अत् ऊ सु।

विशेष—'ऋति' सौत्र धातु है। 'ऋतेरीयङ्' (पा० 3.1.29) से धातु से स्वार्थ में ईयङ् प्रत्यय होता है। 'आयादय आर्धधातुके वा' (पा० 3.1.31) से आर्धधातुक के विषय में ईयङ् प्रत्यय विकल्प से होता है। श्वेतवनवासी के अनुसार ईयङ् अभाव पक्ष में 'कू' प्रत्यय और अम् आगम होते हैं।

(93) अन्दूदृम्फूजम्बूकम्बूकफेलूकर्कन्धूदिधिषूः [1.93]

पद०—अन्दूदृम्फूजम्बूकम्बूकफेलूकर्कन्धूदिधिषूः 1.1

अनु०—'नृतिशृध्योः कूः' (उ०सू० 1.91) से 'कूः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अन्दू दृम्फू जम्बू कम्बू कफेलू कर्कन्धू दिधिषू—इत्येते शब्दाः कूप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—प्रकृत में निपातन किया जा रहा है। अर्थ—अन्दू, दृम्फू, जम्बू, कम्बू, कफेलू, कर्कन्धू और दिधिषू—इन कूप्रत्ययान्त शब्दों का निपातन किया जाता है।

स्वा०द०वृ०—अन्दूप्रभृतयः शब्दाः कूप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। अन्दति बध्नाति येन यया वा सा **अन्दूः**, हस्तिबन्धनी शृङ्खला वा। 'जंजीर' इति प्रसिद्धा। दृम्फत्युत्कृष्टं क्लेशं ददातीति **दृम्फूः**, सर्पजातिर्वा। [निपातनादनुनासिकलोपाभावः] जमन्ति भक्षयन्ति यां सा **जम्बूः**, वृक्षविशेषजातिर्वा। धातोर्बुगागमः। बाहुलकादूप्रत्ययस्य ह्रस्वे कृते **जम्बुः** इत्यपि दृश्यते। कामयते स **कम्बूः**, परद्रव्यापहारी वा। धातोर्बुक्। कफं श्लेष्माणं लात्याददातीति **कफेलूः**, ओषधिविशेषो वा। एकारान्तत्वं कफशब्दस्य निपातनम्। कर्क कण्टकं दधाति धरतीति **कर्कन्धूः**, बदरीफलं वा। कित्त्वादाकारलोपः उपपदस्य नुगागमो निपातनम्। दिधिं धैर्यमिन्द्रियदौर्बल्यात् स्यति त्यजतीति **दिधिषूः**, पुनर्भूर्वा। निपातनात् षत्वम्।

उदा०—(1) अन्दूः (= जंजीर, बुद्धि)—अन्दति बध्नाति येन (यया वा)। दशपादीवृत्तिकार अम गत्यादिषु धातु से दुक् आगम स्वीकार करते हैं। अम् दुक् कू—लशक्वतद्धिते—अम् दुक् ऊ—हलन्त्यम्, नश्चाऽपदान्तस्य०—अंदू—अनुस्वारस्य ययि०, सु।

(2) दृम्फूः (= एक सर्प)—दृम्फत्युत्कटं क्लेशं ददाति। दृभी ग्रन्थे धातु। दृ

नुम् फ्—निपातन से नुम्, भकार के स्थान पर फकार—दृ न् फ् कू—अनुस्वार, परसवर्ण—दृम् फू सु।

(3) जम्बूः (= जामुन का वृक्ष)—जमन्ति भक्षयन्ति याम्। जनी प्रादुर्भावे अथवा जम भक्षणे। जम् बुक् कू—निपातन से बुक् आगम। शेष पूर्ववत्।

(4) कम्बूः (= चौर)—कामयते सः। कमु कान्तौ। कम् कू—कम् ऊ—निपातन से बुक् आगम—कम् बुक् ऊ—आद्यन्तौ टकितौ, अनुस्वार, परसवर्ण, कम् ब् ऊ सु।

(5) कफेलूः (= ओषधि-विशेष)—कफं श्लेष्माणं लात्याददाति। ला आदाने। 'कफ' शब्द उपपद रहते 'ला' धातु से 'कू' प्रत्यय। कफ ला कू—कफ शब्द को निपातन से एकार आदेश—कफे ला ऊ—धातु के आकार का लोप, सु।

(6) कर्कन्धूः (= बेर)—कर्कं कण्टकं दधाति। डुधाञ् धारणपोषणयोः। कर्क धा कू—धातु के आकार का लोप—आतो लोप इटि च, निपातन से 'कर्क' शब्द को नुमागम—कर्क न् ध् ऊ—अनुस्वार, परसवर्ण, सु।

(7) दिधिषूः (= पुनर्भू स्त्री, जिसकी बड़ी बहन अविवाहित हो)—दिधिं धैर्यं स्यति त्यजति। 'दिधि' उपपदपूर्वक षो अवखण्डने धातु से 'कू'। 'धात्वादेः षः सः' से सकार आदेश—दिधि स कू—दिधि स् ऊ—आकारलोप, निपातन से षकार, सु।

(94) मृग्रोरुतिः [1.94]

पद०—मृग्रोः 6.2, उतिः 1.1

सं०—मृ गृ—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् उतिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—मृग्रोः यह षष्ठ्यन्त पद है। विभक्तिविपरिणाम से इसे पञ्चम्यन्त बना लिया जाता है (यथा—मृगृभ्याम्)। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—मृ और गृ धातुओं से परे 'उति' प्रत्यय होता है। 'उति' के इकार की इत्सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—म्रियते मारयति वा स **मरुत्**, मनुष्यजातिः पवनो वा। गिरति निगलतीति **गरुत्**, पक्षी वा।

उदा०—(1) मरुत् (= वायु, एक क्षुप)—म्रियते मारयति वा। मृङ् प्राणत्यागे से 'उति' प्रत्यय—मृ उत्—'आर्धधातुकं शेषः', 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—मरुत् सु—'हल्ङ्याब्भ्यो०' से लोप।

(2) गरुत् (= गरुड़ पक्षी, पक्षी का पंख)—गिरति निगलति। गॄ निगरणे से उति—गृ उत्—पूर्ववत्। गृणाति। गॄ शब्दे धातु से प्रत्यय।

(95) ग्रो मुट् च [1.95]

पद०—ग्रः 5.1, मुट् 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'मृग्रोरुतिः' (उ०सू० 1.94) से 'उतिः' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—गृधातोर् उतिप्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च 'मुट्' इत्यागमो भवति ।

व्याख्या—गृ धातु से परे 'उति' प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को मुट् आगम होता है । मुट् के टकार की इत्सञ्ज्ञा है । मकारस्थ उकार उच्चारणार्थ है । 'म्' शेष रहता है । आगम के टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' से प्रत्यय का आदि अवयव बनता है ।

स्वा०द०वृ०—गिरति येन तत् **गर्मुत्**, सुवर्णं तृणजातिभेदो वा ।

उदा०—(1) गर्मुत् (= सोना, तृण, एक बाँस)—गिरति येन तत् । गृ उति—गृ उत्—मुट् आगम—गृ म् उत्—'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' परिभाषा से 'मुत्' यह प्रत्यय हुआ । आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—गर्मुत् सु—लोप ।

(96) हृषेरुलच् [1.96]

पद०—हृषेः 5.1, उलच् 1.1

सं०—हृष्धातोर् उलच् प्रत्ययः स्यात् ।

व्याख्या—हृष् धातु से परे उलच् प्रत्यय होता है । उलच् के 'च्' की इत् सञ्ज्ञा है । चित् करने का प्रयोजन 'चितः' (पा० 6.1.162) से अन्तोदात्त स्वर करना है ।

स्वा०द०वृ०—हृष्यति तुष्टो भवतीति **हर्षुलः**, मृगः कामी वा ।

बाहुलकात्—चटति वर्षत्यावृणोति वा स **चटुलः**, शोभनो वा ।

उदा०—(1) हर्षुलः (= मृग, काम)—हृष्यति तुष्टो भवति । हृष तुष्टौ धातु से उलच् । हृष् उल—'आर्धधातुकं शेषः' (पा० 3.4.114) से उलच् की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से लघूपध गुण प्राप्त, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—हरष् उल सु ।

(2) चटुलः (= शोभन)—चटति वर्षत्यावृणोति । बाहुलकात् चट् धातु से उलच् ।

(3) शङ्कुला—शङ्कतेऽस्याम् । शकि शङ्कायाम् । इदितो नुम् धातोः—श नुम् क् उलच्—अनुस्वार, परसवर्ण—शङ्कुल टाप् सु—बाहुलकात् प्रत्यय हुआ है ।

(97) हृसृरुहियुषिभ्य इतिः [1.97]

पद०—हृसृरुहियुषिभ्यः 5.3, इतिः 1.1

सं०—हृ सृ रुह् युष्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य 'इति' प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—हृ, सृ, रुह् और युष्—इन धातुओं से परे इति प्रत्यय होता है। इति के तकार से उत्तरवर्त्ती इकार की इत्सञ्ज्ञा है। 'इत्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—आहरति गृह्णाति द्रव्यमिति **हरित्,** दिक् वर्णस्तृणमश्वविशेषो वा। सरति गच्छतीति **सरित्,** नदी वा। रोहति प्रादुर्भवतीति **रोहित्,** लताविशिष्टा हरिणी वा। 'युष' इति सौत्रो धातुः, अथवा 'जुष' इत्यस्य वर्णविकारेण पाठः। [युष्यते] जुष्यते सेव्यते प्रीणयति वा सा **योषित्,** स्त्री वा।

उदा०—(1) हरित् (= दिशा वर्ण, एक अश्व, सिंह, वायु, सूर्य, विष्णु)—जिह्वर्त्ति, आहरति गृह्णाति द्रव्यम्। हृ प्रसह्यकरणे। हृञ् हरणे धातु। हृ इति—अनुबन्धलोप, आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (पा० 7.3.84) से इगन्त अङ्ग को गुण प्राप्त, 'उरण् रपरः' से रपरत्व, हर् इत् सु—'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (पा० 6.1.66) से अपृक्त सकार का लोप।

(2) सरित् (= नदी, सूत्र)—सरति गच्छति। सृ गतौ धातु। सृ इति—पूर्ववत् गुण।

(3) रोहित् (= लताविशेष, हरिणी)—रोहति प्रादुर्भवति। रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च धातु। रुह् इति—रुह् इत्—'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से लघूपध गुण, 'स्थानेऽन्तरतमः' से ओकार—रोहित् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(4) योषित् (= महिला)—युष्यते (अथवा जुष्यते) सेव्यते। प्रीणयति। युष इति सौत्रो धातुः। युष् इति—पूर्ववत् लघूपध गुण, सु।

(98) ताडेर्णिलुक् च [1.98]

पद०—ताडेः 5.1, णिलुक् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'हृ सृ····इतिः' (उ०सू० 1.98) से 'इतिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—णिच्प्रत्ययान्तात् 'ताडि' इत्येतस्मात् इतिप्रत्ययः स्याद्, णिच्प्रत्ययस्य च लुक् स्यात्।

व्याख्या—ताडि यह णिच् प्रत्यय सहित तड् धातु का निर्देश है। 'णि' के द्वारा 'णिच्' का ग्रहण होता है। लुक्कथन से प्रत्ययलक्षण नहीं होता है। 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (पा० 1.1.60) से लुक् सञ्ज्ञा। 'न लुमताऽङ्गस्य' (पा० 1.1.62) से

प्रत्ययलक्षण का निषेध। 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (पा० 1.1.61) से प्रत्ययलक्षण हुआ करता है। अर्थ—ताडि (= तड् णिच्) इससे परे 'इति' प्रत्यय होता है तथा णिच् प्रत्यय का लुक् होता है। णिच् का लुक् हो जाने पर तल्लक्षण कार्य ('अत उपधायाः' से प्राप्त वृद्धि आदेश) की निवृत्ति हो जाती है।

स्वा०द०वृ०—ताडयति पीडयतीति **तडित्,** विद्युद्वा। प्रत्ययलक्षणेन णिलोपेऽपि वृद्धिः स्यादिति लुग्विधीयते।

उदा०—(1) तडित् (= आकाश की बिजली)—ताडयति पीडयति (जनान्)। तड आघाते धातु से णिच् प्रत्यय, अनुबन्ध लोप—तड् इ—चुटू, हलन्त्यम्, तस्य लोपः से अनुबन्धलोप। 'अत उपधायाः' (पा० 7.2.116) से उपधाभूत अत् के स्थान पर वृद्धि आदेश—'ताडि' से इति प्रत्यय—ताड् इ (< णिच्) इत्—णिच् का लुक्—तड् इत्—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' से उपधावृद्धि की निवृत्ति—तडित् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(99) शमेर्ढः [1.99]

पद०—शमेः 5.1, ढः 1.1
सं०—शम्धातोर् ढप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'शमेः' यह पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' (पा० 1.1.67) से 'शम्' से उत्तर प्रत्यय होता है। शम् धातु से परे 'ढ' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—शाम्यति शान्तो भवतीति **शण्ढः**, स्वतन्त्रो वृषभः 'साँड' इति प्रसिद्धः, नपुंसकं वा।

उदा०—(1) शण्ढः (= साँड, नपुंसक, प्रमत्त)—शाम्यति शान्तो भवति। शमु उपशमे धातु। शम् ढ—'नश्चाऽपदान्त०' (पा० 8.3.24) से अनुस्वार—शं ढ—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (पा० 8.4.57) से परसवर्ण (ण्)—शण् ढ सु।

(100) कमेरठः [1.100]

पद०—कमेः 5.1, अठः 1.1
सं०—कम्धातोर् अठप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कम् धातु से 'अठ्' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—कामयतेऽसौ **कमठः**, कच्छपो वा; **कमठमिति** भाण्डभेदो वा।

बाहुलकात्—जीर्यत्यवस्थाहीनो भवतीति **जरठः**, पाण्डुरङ्गो वा। [शाम्यतीति] **शमठः**, शान्तो वा।

उदा०—(1) कमठः (= कछुआ, पात्र)—कामयतेऽसौ। कमु कान्तौ धातु। कम् अठ सु।

(2) जरठः (= पाण्डु, वृद्ध)—जीर्यत्यवस्थाहीनो भवति। बाहुलकात् जॄ वयोहानौ धातु से अठ। जॄ अठ—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (पा० 7.3.84) से गुण, 'उरण् रपरः' (पा० 1.1.50) से रपरत्व, सु।

(3) शमठः (= शान्त)—शाम्यतीति बाहुलकात् शमु उपशमे धातु से प्रत्यय—शम् अठ सु।

(101) रमेर्वृद्धिश्च [1.101]

पद०—रमेः 5.1, वृद्धिः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कमेरठः' (उ०सू० 1.100) से 'अठः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—रम् इत्येतस्माद् धातोर् अठ प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च वृद्धिरादेशो भवति।

व्याख्या—'रमेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'रमेः' को पञ्चम्यन्त मानकर 'तस्मादित्युत्तरस्य' से रम् से परे प्रत्यय होता है। द्वितीय 'रमेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर रम् धातु को वृद्धि आदेश किया जाता है। अर्थ—रम् धातु से परे अठ प्रत्यय होता है तथा धातु को वृद्धि आदेश होता है। 'इको गुणवृद्धी' से इक् के स्थान पर ही गुण-वृद्धि हुआ करते हैं, परन्तु धातु में इक् नहीं है। तब वृद्धि आदेश रम् धातु के अच् (अकार) को होता है।

स्वा०द०वृ०—रमतेऽस्मिन्निति **रामठं**, हिङ्गुर्वा। अठप्रत्यये 'रम'धातोर्वृद्धिः।

उदा०—(1) रामठम् (= हींग)—रमतेऽस्मिन्। रम् अठ—राम् अठ—वृद्धि, सु, अतोऽम्।

(102) शमेः खः [1.102]

पद०—शमेः 5.1, खः 1.1

सं०—शम्धातोः खप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—शम् धातु से 'ख' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—शाम्यतीति **शङ्खः**, निधिभेदः जलजं ललाटास्थि वा। बहुलवचनात् खकारस्येत्संज्ञा [ईनादेशश्च] न भवति।

उदा०—(1) शङ्खः (= शंख, एक निधि)—शाम्यतीति। शम् ख—'लशक्वतद्धिते' से 'ख' की इत्सञ्ज्ञा प्राप्त, बाहुलकात् इत्सञ्ज्ञा का निषेध—शम् ख्—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (पा० 8.3.24) से अनुस्वार—शंख—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (पा० 8.4.57) से परसवर्ण—श ङ् ख सु।

(103) कणेष्ठः [1.103]

पद०—कणेः 5.1, ठः 1.1

सं०—कण्धातोर् ठप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कण् धातु से ठ प्रत्यय होता है। 'चुटू' से ठ् की इत्सञ्ज्ञा प्राप्त। बहुलवचन से इत्सञ्ज्ञा का निषेध।

स्वा०द०वृ०—कणति येन शब्दं करोतीति **कण्ठः** गलो, ध्वनिर्वा।

उदा०—(1) कण्ठः (= गला)—कणति येन शब्दं करोति। कण शब्दे धातु। कण् ठ सु।

(104) कलस्तृपश्च [1.104]

पद०—कलः 1.1, तृपः 5.1, च—अव्य०।

सं०—'तृप्' इत्येतस्माद् धातोः कलप्रत्ययः स्यात्। चकारात् 'तृम्फ' इत्येतस्य धातोर् ग्रहणं भवति।

व्याख्या—सूत्र में 'च' के ग्रहण से तृप के साहचर्यवशात् तृम्फ धातु का ग्रहण किया जाता है। सूत्र में प्रत्यय का पूर्व निर्देश है। अर्थ—तृप् धातु से 'कल' प्रत्यय होता है तथा तृम्फ धातु से भी 'कल' होता है। 'लशक्वतद्धिते' से कल प्रत्यय के 'क्' की इत् सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—'तृप'धातोः कलप्रत्ययः। तृप्यति यया सा **तृपला**, लता वा। अत्र सूत्रे चकारग्रहणात् 'तृफ'धातोरपि कलप्रत्ययः, तेन **तृफला** इत्यपि सिद्धम्। तृफला, त्रिफला इत्योषधिविशेषपर्यायौ।

बाहुलकात्—काम्यतेऽसौ **कमलः**; **कमलं** पद्मं वा, उदकं ताम्रमौषधं च। मृगभेदः **कमलः**, **कमला** श्रीः पतिप्रिया वा। मण्डति भूषयति प्रतिपादयति वा स **मण्डलः**; **मण्डलं** चक्राकारं देशभेदो बिम्बं कदम्बः कुष्ठं यज्ञभेदः श्वा च। कुण्डति दहतीति **कुण्डलम्**, वलयं पाशं कर्णभूषणं वा। पटति गच्छतीति **पटलः** अक्षिरोगः, तिलकं वा। छ्यति छिनत्ति पराभिप्रायमिति **छलम्** [व्याजो वा] इत्यादि।

उदा०—(1) तृपला (= बेल)—तृप्यति यया सा। तृप प्रीणने धातु से कल। तृप् कल—तृप् अल—'स्त्रियाम्' (पा० 4.1.3) के अधिकार में 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० 4.1.4) से टाप्, अनुबन्धलोप—तृपल आ 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ—तृपला सु—'हल्ङ्याब्भ्यो०' (पा० 6.1.66) से अपृक्त सकार का लोप।

(2) तृफला (= ओषधिविशेष)—तृफ् कल—तृफल टाप्—पूर्ववत्।

(3) कमलम् (= कमल, एक मृग)—काम्यतेऽसौ। बहुलवचनात् कम् धातु से कल—कम् अल सु। स्त्रीलिङ्ग में 'कमला' (= लक्ष्मी)।

(4) मण्डलः, मण्डलम् (= चक्राकार, कदम्ब, कुत्ता)—मण्डति भूषयति। मण्ड् कल—सु।

(5) कुण्डलम् (= कुण्डल)—कुण्डति दहति। कुण्ड् कल—बाहुलकात् प्रत्यय हुआ।

(6) पटलः (= अक्षिरोग, तिलक)—पटति गच्छति। पट् कल—बाहुलकात् प्रत्यय, सु।

(7) छलम् (= छल)—छ्यति छिनत्ति पराभिप्रायम्। बहुलवचनात् छो धातु से कल। छो कल—छो अल।

(105) शपेर्बश्च [1.105]

पद०—शपेः 5.1, बः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कलस्तृपश्च' (उ०सू० 1.104) से 'कलः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—शप् इत्येतस्माद् धातोः कलप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च 'ब्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—शपेः पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम शपेः को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय शपेः को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—शप् धातु से परे कल प्रत्यय होता है तथा धातु को 'ब्' अन्तादेश होता है। बकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'अलोऽन्त्यस्य' से ब् आदेश धातु के अन्त्य अल् (प्) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—शपत्याक्रोशति स **शबलः**, वर्णभेदो वा।

उदा०—(1) शबलः (= एक रंग)—शपत्याक्रोशति। शप आक्रोशे धातु से कल—शप् कल—'क्' अनुबन्ध का लोप—शप् अल—ब् अन्तादेश—शब् अल सु।

(106) वृषादिभ्यश्चित् [1.106]

पद०—वृषादिभ्य: 5.3, चित् 1.1

अनु०—'कलस्तृपश्च' (उ०सू० 1.104) से 'कल:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वृषादिभ्यो धातुभ्य: कलप्रत्यय: स्यात्, स च चित्सञ्ज्ञ:।

व्याख्या—वृषादि एक गण है। अर्थ—वृषादि धातुओं से परे कल प्रत्यय होता है तथा वह चित् होता है। प्रत्यय को चित् करने का प्रयोजन 'चित:' (पा० 6.1.162) से अन्तोदात्त स्वर करना है।।

स्वा०द०वृ०—वृषादिधातुभ्य: कलप्रत्ययश्चिद् भवति। वर्षति सिञ्चतीति **वृषल:**, शूद्रो वा; तस्य स्त्री **वृषली**। कोशति श्लिष्यति व्यवहर्तुं जानातीति वा **कुशल:** निपुण:; **कुशलं** क्षेममिति वा। बाहुलकाद् गुणे **कोशल:** इति, देशभेदो वा। पलति गच्छति येन तत् **पललम्**, तिलचूर्णं पङ्कं मांसं वा। दीव्यत्यधर्मिणो विजिगीषतीति **देवल:** धार्मिक:। सरति सर्वत्र गच्छतीति **सरल:** अकुटिल:, उदारो वा। धावति गच्छति शुद्धो भवति वा स **धवल:** श्वेत:, शुद्धो वा। 'धावु'धातोर्बाहुलकाद्ध्रस्वत्वम्। मुस्यति खण्डयति मोषयति चोरयति वा स **मुसल:, मुषलो** वा। **मुशलं, मुसल**मिति लोहाग्रभागिकुट्टनसाधनम्। **मुषल**श्चौरो वा। **वृषादेराकृतिगणत्वात्—केवल-कबल-तरल-अनल-जम्भल-पेशल-मर्दला**दयोऽपि शब्दा द्रष्टव्या:।

उदा०—(1) वृषल: (= शूद्र, घोड़ा, लशुन, दुष्ट)—वर्षति सिञ्चति। वृषु सेचने धातु से प्रत्यय। वृष कल प्रत्यय के कित् होने से प्राप्त लघूपध गुण का निषेध—वृष् अल सु।

(2) कुशल: (= निपुण)—कोशति श्लिष्यति व्यवहर्त्तुं जानाति। कुश सौत्र धातु से कल—कुश् अल—लघूपध गुण, सु।

(3) पललम् (= पका मांस, तिलचूर्ण)—पलति गच्छति येन। पल गतौ। पल् कल—अनुबन्धलोप। पल् अल सु।

(4) देवल: (= धार्मिक व्यक्ति)—दीव्यतीति। दिवु क्रीडादौ, देवृ देवने। देवते इति। दिव् कल—लघूपध गुण का निषेध। अत: देवृ धातु से प्रत्यय होता है।

(5) सरल: (= जो कुटिल न हो)—सरति गच्छति सर्वत्र। सृ गतौ। 'सार्वधातुकार्धधातुकयो:' से गुण, उरण् रपर:, सु।

(6) धवल: (= श्वेत, वृषभ, श्रेष्ठ)—धावति गच्छति। शुद्धो भवति। धावु क्रीडायाम् धातु से कल, बाहुलकात् धातु को ह्रस्व आदेश—धाव्—धव् अल सु।

(7) मुसल: (= मूसल)—मुस्यति खण्डयति, मोषयति चोरयति। मुस् कल—

वृषादेर् आकृतिगणत्वात्, सु—मुष् कल सु—मुषलः (= चौर)। मुश् कल—मुशल सु।

(8) केवलः (= सम्पूर्ण)—केव्यत इति। केवृ सेचने। केव् कल—**अनुबन्ध**-लोप, सु।

(9) कबलः—कबते। कबृ वर्णे धातु से कल प्रत्यय।

(10) तरलः (= चंचल)—तरति चञ्चलो भवति। तॄ प्लवनतरणयोः धातु से प्रत्यय।

(11) अनलः (=अग्नि)—अनिति। अन प्राणने धातु से कल प्रत्यय।

(12) जम्भलः—जम्भति, जम्भयति। चौरादिक जभि नाशने धातु से कल। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण।

(13) मेशलः—मेशति। मिश शब्दे रोषकृते च। मिश् कल—लघूपध गुण—मेश् अल सु।

(14) मर्दलः—मृद्नाति। मृद क्षोदे धातु से कल।

(107) कमेर्बुक् च [1.107]

पद०—कमेः 5.1, बुक् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कलस्तृपश्च' (पा० 1.104) से 'कलः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—कम्धातोः कलप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च 'बुक्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—कम् धातु से कल प्रत्यय होता है और धातु को बुक् आगम होता है। बुक् के ककार की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'ब्' शेष रहता है। आगम कित् है। अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' से धातु का अन्त अवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—काम्यतेऽभीप्स्यते यः स **कम्बलः** ऊर्णाविकारः, उदकं वा। 'कम'धातोः कल्पप्रत्यये बुक् [आगमः]।

उदा०—(1) कम्बलः (= कम्बल)—काम्यतेऽभीप्स्यते यः सः। कम् बुक् कल—अनुबन्धलोप—कम् ब् अल सु।

(108) लङ्गेर्वृद्धिश्च [1.108]

पद०—लङ्गेः 5.1, वृद्धिः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कलस्तृपश्च' (उ०सू० 1.104) से 'कलः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—लङ्ग्धातोः कलप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च वृद्धिः स्यात्।

व्याख्या—'लङ्गेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'लङ्गेः' पद को पञ्चम्यन्त

मानकर धातु से परे प्रत्यय होता है। द्वितीय 'लङ्गेः' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर धातु को वृद्धि आदेश होता है। अर्थ—लङ्ग् धातु से परे कल प्रत्यय होता है तथा धातु को वृद्धि आदेश होता है। चूँकि धातु में इक् वर्ण नहीं है अतः 'इको गुणवृद्धी' परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है। यह आदेश अच् वर्ण (अकार) के स्थान पर आकार के रूप में होता है।

स्वा०द०वृ०—लङ्गन्ति प्राप्नुवन्त्यन्नादिकं येन तत् **लाङ्गलम्**, हलं वा।

बहुलवचनात्—कन्दत्याह्वयति सा **कदली** वृक्षभेदः, 'केला' इति प्रसिद्धा वा। बाहुलकाद्धातोर्नलोपः।

उदा०—(1) लाङ्गलम् (= हल, ताड़ का वृक्ष, शिश्न)—लङ्गन्ति प्राप्नुवन्त्यन्नादिकं येन तत्। लगि गतौ धातु। धातु के इकार की इत् सञ्ज्ञा है। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम् आगम—ल नुम् ग्—अनुस्वार, परसवर्ण—लङ्ग् कल—लशक्वतद्धिते—लङग् अल—वृद्धि आदेश—लाङ्गल सु।

(2) कदली (= केला)—कन्दति इति। बहुलवचनात् कदि वैकल्ये धातु से प्रत्यय हुआ—कन्द् अल—बहुलवचनात् अनुनासिक लोप। धातु के इदित् होने से 'अनिदितां हल उपधाया०' (पा० 6.4.24) की प्रवृत्ति नहीं होती है—कदल—'स्त्रियाम्' के अधिकार में ङीप् प्रत्यय हुआ—कदल ई—अनुबन्धों (प्, ङ्) का लोप होकर 'यस्येति च' (पा० 6.4.148) से अकारलोप—कदल् ई सु—'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से अपृक्त सकार का लोप।

(109) कुटिकशिकौतिभ्यो मुट् च [1.109]

पद०—कुटिकशिकौतिभ्यः 5.3, मुट् 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'कलस्तृपश्च' (उ०सू० 1.104) से 'कलः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—कुट् कश् कु—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कलप्रत्ययः स्याद्, प्रत्ययस्य च 'मुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—'कुटि' में इक् का निर्देश है। 'कशि' में भी इक् का निर्देश है। 'कौति' में श्तिप् का निर्देश है। कु श्तिप्—इस दशा में प्, श् का लोप। कु ति—तिङ्शित् सार्वधातुकम्, कर्त्तरि शप्, अदिप्रभृतिभ्यः शपः। धातु को वृद्धि आदेश होकर 'कौति' बनता है। अर्थ—कुट्, कश् और कु—इन धातुओं से परे कल प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को मुट् आगम होता है। ट् की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'म्' शेष रहता है। मुट् टित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' (पा० 1.1.45) से कल प्रत्यय का आदि अवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—कुटादिभ्यो विहितस्य कलप्रत्ययस्य मुट्। कुटतीति **कुट्मलः**; बाहुलकात् कुण्डति दहतीति **कुड्मलः**, किञ्चिद्विकसितपुष्पनाम्नी वा। कष्टे गच्छति शास्ति वा स **कश्मलः कश्मलं**, कल्मषं पापं वा। कौति शब्दयतीति **कोमलः, कोमलं**, मृदु जलं वा।

बाहुलकात्—पिङ्क्ते वर्णयतीति **पिङ्गलः**, वर्णभेदो वा।

उदा०—(1) कुट्मलम् (= कलिका)—कुटति कुटिलं भवति। कुट् मुट् कल—अनुबन्धों का लोप, सु। कुट कौटिल्ये धातु है।

(2) कुड्मलः—बाहुलकात् कुण्ड्धातोः कलप्रत्ययो मुट् च।

(3) कश्मलम् (= पाप)—कष्टे गच्छति शास्ति। कश गतिशासनयोः। कश् मुट् कल—सु—को म् अल सु।

(110) मृजेष्टिलोपश्च [1.110]

पद०—मृजेः 5.1, टिलोपः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कलस्तृपश्च' (उ०सू० 1.104) से 'कलः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—मृज्धातोः कलप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च टिलोपो भवति।

व्याख्या—'मृजेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'मृजेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय होता है। द्वितीय 'मृजेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त पद मानकर धातु की टि का लोप किया जाता है। अर्थ—मृज् धातु से परे कल प्रत्यय होता है तथा धातु की टि का लोप होता है। 'अचोऽन्त्यादि टि' से मृज् के 'ऋज्' अंश की टिसञ्ज्ञा है। अर्थ—मृज् धातु से परे कल प्रत्यय होता है तथा धातु की टि का लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—यन्मृज्यते शोध्यते तत् **मलम्**, पुरीषं पापं कृपणः पुरुषो वा। 'मृज'धातोष्टिलोपः।

उदा०—(1) मलम् (= मैल, पुरीष, पाप, गोबर, कपूर)—यन्मृज्यते शोध्यते तत्। मृजूष् शुद्धौ धातु। मृज् कल—मृज् अल—टिलोप—म् अल सु—अतोऽम्, अमि पूर्वः।

(111) चुपेरच्चोपधायाः [1.111]

पद०—चुपेः 5.1, अत् 1.1, च—अव्य०, उपधायाः 6.1

अनु०—'कलस्तृपश्च' (उ०सू० 1.104) से 'कलः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—चुप् इत्येतस्माद् धातोः कलप्रत्ययः स्यात्, धातोश्च या उपधा तस्याः स्थाने अत् इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'चुपेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'चुपेः' को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'चुपेः' पद को षष्ठ्यन्त मानकर धातु की उपधा को आदेश किया जाता है। अर्थ—चुप् धातु से परे कल प्रत्यय होता है तथा धातु की जो उपधा, उसके स्थान पर अत् आदेश होता है। 'अत्' में तकार उच्चारणार्थ है। अत् का अर्थ है—ह्रस्व अकार। 'उपधायाः' में स्थानेयोगा षष्ठी है। 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' (पा० 1.1.64) से उपधा सञ्ज्ञा कही है। चुप् धातु का अन्त्य अल् **प्** है। इसके पूर्व चकारस्थ उकार है। उकार उपधासञ्ज्ञक हुआ। उकार के स्थान पर ह्रस्व अकार आदेश होकर 'चुप्' ऐसा स्वरूप बन जाता है।

स्वा०द०वृ०—चोपति मन्दं मन्दं गच्छति स **चपलः**, क्षणिकं शीघ्रं वा; **चपला**, पिप्पली विद्युद्वा। धातोरुकारस्याकारादेशः।

उदा०—(1) चपलम् (= चंचल, क्षीणक, शीघ्र)—चोपति मन्दं मन्दं गच्छति। चुप मन्दायां गतौ धातु। चुप् कल—चुप् अल—लशक्वतद्धिते। च् अप् अल—उपधा को अत् आदेश, सु।

(112) शकिशम्योर्नित् [1.112]

पद०—शकिशम्योः 6.2, नित् 1.1

अनु०—'कलस्तृपश्च' (उ०सू० 1.104) से 'कलः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—शक् शम् इत्येताभ्यां धातुभ्यां कलप्रत्ययः स्यात्, स च नित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—शकिशम्योः यह षष्ठ्यन्त पद है। विभक्तिविपरिणाम से इसे पञ्चम्यन्त (यथा—शकिशमिभ्याम्) बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युतरस्य' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—शक् और शम् धातुओं से परे कल प्रत्यय होता है और वह नित्-सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को नित् करने का प्रयोजन 'चितः' (पा० 6.1.162) से अन्तोदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—शक्नोतीति **शकलः**, खण्डो मत्स्यभेदो वा। शाम्यतीति **शमलः**, अशुद्धं वा।

उदा०—(1) शकलम् (= खण्ड, एक मछली, वल्कल)—शक्नोतीति। शक्लृ शक्तौ धातु। शक् कल—शक् अल सु।

(2) शमलम् (= अशुद्ध, विष्ठा, पाप)—शाम्यतीति।

(113) छो गुग्ध्रस्वश्च [1.113]

पद०—छः 5.1, गुक् 1.1, ह्रस्वः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कलस्तृपश्च' (उ०सू० 1.104) से 'कलः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—छो इत्येतस्माद् धातोः कलप्रत्ययः स्यात्, धातोश्च 'गुक्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'छः' इसकी आवृत्ति की जाती है। प्रथम **छः** पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय होता है। द्वितीय 'छः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को गुक् आगम तथा ह्रस्व आदेश होते हैं। अर्थ—छो धातु से परे कल प्रत्यय होता है, धातु को गुक् आगम होता है तथा धातु को ह्रस्वादेश होता है। गुक् के क् की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। ग् शेष रहता है। गुक् कित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से गुक् आगम धातु का अन्त अवयव होता है। छो धातु को ह्रस्व आदेश कहा है। ह्रस्वादि सञ्ज्ञाएँ अच् वर्णों की हुआ करती है। ह्रस्व आदेश छकारस्थ 'ओ' के स्थान पर प्राप्त हुआ। 'एच इग् ह्रस्वादेशे' (पा० 1.1.47) से एच् (ओ) के स्थान पर इक् वर्ण ('स्थानेऽन्तरतमः' से 'उ') होता है। प्रकृत में 'छो' को 'आदेच उपदेशेऽशिति' से आकार आदेश होता है। तब ह्रस्व आदेश (आकार के स्थान पर अकार) होता है।

स्वा०द०वृ०—छ्यति दिनत्तीति **छगलः**, छागो वर्करो वा। धातोर्गुगागमो ह्रस्वश्च।

उदा०—(1) छगलः (= बकरा)—छ्यति छिन्नति। छो छेदने धातु। छो कल—अनुबन्धलोप—छो अल—गुक् आगम—छाग् अल—ह्रस्व आदेश, सु।

(114) ञमन्ताड्डः [1.114]

पद०—ञमन्तात् 5.1, डः 1.1

सं०—ञम् वर्णः, तदन्तात् धातोर् डप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—ञम् एक प्रत्याहार है। 'आदिरन्त्येन सहेता' (पा० 1.1.70) से आदि वर्ण (ञ्) तथा इत्सञ्ज्ञक अन्त्य वर्ण (म्) के मेल से ञम् बनता है। ञम् के द्वारा ञ् म् ङ् ण् न्—इन पाँच वर्णों का ग्रहण होता है। अर्थ—ञम् वर्ण है अन्त में जिसके, ऐसे धातु से 'ड' प्रत्यय होता है। 'ड' के डकार की 'चुटू' (पा० 1.1.6) से इत्सञ्ज्ञा होती है, परन्तु बाहुलकात् इत्सञ्ज्ञा नहीं होती है।

स्वा०द०वृ०—ञमिति प्रत्याहारग्रहणम्। ञ, म, ङ, ण, न इत्येते वर्णा अन्ते

यस्य तस्माड्डः प्रत्ययो भवति। बहुलवचनादित्संज्ञानिषेधः। दाम्यन्त्युपशाम्यन्त्यनेन स **दण्डः,** यष्टिभेदो वा। रमतेऽसौ **रण्डा,** विधवा नारी वा। खण्डतेऽवदीर्यतेऽसौ **खण्डः विभागो,** मिष्टभेदो वा 'खाण्ड' इति प्रसिद्धः, भिन्नः पदार्थो वा। मन्यते जानातीति **मण्डः। 'मण्डा धात्री समाख्याता, मण्डं पक्वौदनोदकम्'** [इति]। वनति शब्दयति सम्भजति वा स **वण्डः,** छिन्नहस्तको वा। अमन्ति सम्प्रयोगं प्राप्नुवन्ति येन सः **अण्डः,** प्राण्यङ्गावयवो वा। सनोति ददातीति **षण्डः,** नपुंसको वनं गोपः सङ्घातो वा। गच्छतीति **गण्डः** कपोलः, व्याधिविशेषो वा। चणति ददातीति **चण्डः,** हिंसकस्तीव्रो वा; कोपना स्त्री **चण्डी।** 'चडि कोपे' इत्यस्य घञन्तोऽपि **चण्डः** क्रोधी। पणायति व्यवहरति स्तौति वा स **पण्डः** नपुंसकः; **पण्डा** बुद्धिर्वा। फणति गच्छत्यत्रेति **फण्डः** पन्थाः; **फण्डम्** उदरं वा।

उदा०—(1) दण्डः (= लाठी, राजचिह्न, हाथी की सूँड)—दाम्यन्त्युपशाम्यन्त्यनेन सः। दमु उपशमे धातु। दम् ड—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार—दंड—अनुस्वार को परसवर्ण, सु।

(2) रण्डा (= विधवा, मूर्ख स्त्री)—रमतेऽसौ। रमु क्रीडायाम् धातु। रम् ड—पूर्ववत् अनुस्वार, परसवर्ण, सु। रमन्तेऽनया इत्यपि व्युत्पत्त्यन्तरम्। रण्यतेऽसौ इति रण शब्दार्थे इत्यस्मादपि निष्पद्यतेऽयं शब्दः।

(3) खण्डः (= टुकड़ा, खण्ड)—खन्यतेऽवदीर्यतेऽसौ। खनु अवदारणे। खन् धातु से प्रत्यय। खन् ड—अनुस्वार, परसवर्ण, सु।

(4) मण्डः (= ओदन जल, माँड)—मन्यते जानाति। मन ज्ञाने धातु। मन् ड—पूर्ववत् अनुस्वार, परसवर्ण—मण् ड सु। मन्यतेऽसौ जनैः।

(5) वण्डः (= छिन्नकर अर्थात् 'डूंडा' व्यक्ति)—वनति वनुते शब्दयति। वन वण सम्भक्तौ। वन् ड—पूर्ववत् अनुस्वार, परसवर्ण, सु। वनु याचने धातु से भी प्रत्यय।

(6) अण्डः (= अण्डा, शिव, वीर्य)—अमन्ति सम्प्रयोगं प्राप्नुवन्ति येन सः। अम् ड—अनुस्वार, परसवर्ण, पूर्ववत्। अण शब्दार्थः।

(7) षण्डः (= नपुंसक, वन, गोप)—सनोति ददाति। वन षण सम्भक्तौ। 'धात्वादेः षः सः' (पा० 6.1.62) से सकार आदेश बाहुलकात् निषेध, अनुस्वार, परसवर्ण, पूर्ववत्।

(8) गण्डः (= कपोल, ग्रन्थि, मूत्राशय)—गच्छतीति। गम्लृ गतौ धातु। गम् ड—मकार को अनुस्वार, परसवर्ण, सु।

(9) चण्डः (= हिंसक, उग्र, क्रोधी)—चणति ददाति। चण् ड—पूर्ववत्।

(10) पण्डा (= बुद्धि, नपुंसक)—पणायति व्यवहरति स्तौति। पण् ड—पूर्ववत्। 'स्त्रियाम्' के अधिकार में टाप् होकर रूप बनता है।

(11) फण्डः (= मार्ग, उदर)—फणति (नीचैर्) गच्छति। पूर्ववत्।

(115) क्वादिभ्यः कित् [1.115]

पद०—क्वादिभ्यः 5.3, कित् 1.1

अनु०—'ञमन्ताड्डः' (उ०सू० 1.114) से 'डः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—'कु' इति कवर्गः। कवर्गीयो वर्ण आदौ यस्य सः क्वादिः। क्वादिभ्यो धातुभ्यो 'ड' प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—'क्वादि' का अर्थ—कु जिसके आदि में है। कु = कवर्ग अर्थात् क्, ख्, ग्, घ्, ङ् ये पाँच वर्ण। अर्थ—कवर्गीय वर्ण जिसके आदि में है, ऐसे धातु से परे 'ड' प्रत्यय होता है और वह कित् होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन है—गुण-वृद्धि का निषेध।

स्वा०द०वृ०—कवर्गादिधातुभ्यो डः किद् भवति। कुणति शब्दयत्युपकरोति वा स **कुण्डः**, पत्यौ जीवति पुरुषान्तरादुत्पन्नः पुत्रो जलाधारविशेषो वा। **कुण्डा कुण्डिका** वा। गवतेऽव्यक्तशब्दं करोतीति **गुडः**, गोल इक्षुपाको वा। घोणते भ्राम्यतीति **घुण्डः**, भ्रमरो वा।

उदा०—(1) कुण्डम् (= कमण्डलु, पति के जीवित रहते परपुरुष से उत्पन्न पुत्र, हवन के लिए पात्र)—कुणति शब्दयत्युपकरोति। कुण्यते। कुण शब्दोपकरणयोः धातु। कुण् ड—अनुस्वार, परसवर्ण, गुणनिषेध—कुण्ड सु—अतोऽम्, अमि पूर्वः।

(2) काण्डम् (= अवसर,अंश, पर्व, स्कन्ध)—कणयति परान् कण्यते अनेन। कण निमीलने धातु। कण् ड—अनुस्वार, परसवर्ण, सु।

(3) गुडः (= गुड़)—गवतेऽव्यक्तशब्दं करोति। गुङ् अव्यक्ते शब्दे। बाहुलकात् अञमन्त धातु से 'ड' हुआ है।

(4) घुण्डः (= भौंरा)—घोणते, भ्राम्यति। घुण् ड—अनुस्वार, परसवर्ण।

विशेष—श्वेतवनवासी और नारायण भट्ट के अनुसार सूत्र का स्वरूप 'कुणादिभ्यः कित्' ऐसा है।

(116) स्थाचतिमृजेरालज्वालञालीयचः [1.116]

पद०—स्थाचतिमृजेः 5.1, आलज्वालञालीयचः 1.3

सं०—स्था चत् मृज् इत्येतेभ्यो धातुभ्यो यथासङ्ख्यम् आलच् वालञ् आलीयच् इत्येते प्रत्यया भवन्ति।

व्याख्या—स्थाचतिमृजे: पञ्चम्यन्त पद है। समाहार द्वन्द्व समास होने से एकवचन हुआ है। तीन ही प्रकृतियाँ (स्था, चत्, मृज्) हैं तथा तीन ही प्रत्यय हैं (आलच्, वालञ्, आलीयच्) हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेश: समानाम्' (पा० 1.3.10) की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—स्था, चत् और मृज्—इन धातुओं से परे क्रमश: आलच्, वालञ् और आलीयच् प्रत्यय होते हैं। सार यह है कि स्था धातु से आलच्, चत् धातु से वालञ् तथा मृज् धातु से आलीयच् प्रत्यय होता है। आलच् के च् की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। वालञ् के ञ् की पूर्ववत् इत्सञ्ज्ञा है। आलीयच् के च् की इत्सञ्ज्ञा पूर्ववत् होती है। च् अनुबन्ध का प्रयोजन 'चित:' (पा० 6.1.162) से अन्तोदात्त स्वर करना है तथा ञ् अनुबन्ध का प्रयोजन 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196) से आद्युदात्त स्वर करना है। ञ् अनुबन्ध का दूसरा प्रयोजन 'अत उपधाया:' (पा० 7.2.116) से वृद्धि आदेश करना है।

स्वा०द०वृ०—[तिष्ठतेरालच्।] तिष्ठन्त्यस्मिन् तत् **स्थालम्,** पात्रभेदो वा 'थाल' इति प्रसिद्धम्; **स्थाली** सूपादिपचनी। **गौरादित्वात्** [अ० 4.1.41] ङीष्। 'चत्'धातोर्वालञ्। चतते याचतेऽसौ **चात्वाल:, चात्वालं** यज्ञकुण्डं दर्भो वा। 'मृजे'-रालीयच्। मार्ष्टीति **मार्जालीय:,** विडालो वा।

उदा०—(1) स्थालम् (= भोजनपात्र अर्थात् थाल)—तिष्ठन्त्यस्मिन् तत्। ष्ठा गतिनिवृत्तौ धातु। ष्ठा—'धात्वादे: ष: स:' से सकार। स्ठा—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपाय:' अर्थात् निमित्त (षकार) की निवृत्ति हो जाने पर नैमित्तिक (ष्टुत्व) की निवृत्ति स्वत: हो जाती है—स् था—ठकार को थकार—आलच् प्रत्यय, अनुबन्ध लोप—स्थाल सु—अतोऽम्, 'अमि पूर्व:' (पा० 6.1.105) से पूर्वरूप। स्थाल शब्द का गौरादि गण में पाठ है। 'स्त्रियाम्' (पा० 4.1.3) के अधिकार में 'षिद्गौरादिभ्यश्च (पा० 4.1.41) से ङीष्—स्था ङीष्—अनुबन्धलोप, 'यस्येति च' से अकारलोप। स्थाल् ई सु—'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (पा० 6.1.66) से अपृक्त सकार का लोप।

(2) चात्वाल: (= यज्ञकुण्ड, दर्भ)—चतते याचतेऽसौ। चते याचने धातु। चत् वालञ्—अनुबन्धलोप। चत् वाल—'अत उपधाया:' से उपधा में अत् के स्थान पर वृद्धि आदेश—चात् वाल सु।

(3) मार्जालीय: (= बिलाव, शूद्र)—मार्ष्टि। मृजूष् शुद्धौ धातु से आलीयच्। मृज् आलीय—'मृजेर्वृद्धि:' (पा० 7.2.115) से वृद्धि आदेश, 'उरण् रपर:' से रपरत्व—मार् ज् आलीय सु।

विशेष—प्रकृत में 'आलीयच्' को अन्तोदात्त स्वर के लिए चित् किया गया है, परन्तु आलीय प्रत्ययान्त 'मार्जालीय' शब्द में उपोत्तम को उदात्त स्वर उपलब्ध होता है।

उपोत्तम को उदात्त स्वर रित् प्रत्यय में होता है (द्रष्टव्य—'उपोत्तमं रिति' पा० 6.1.215)। अतः आलीयच् के स्थान पर आलीयर् प्रत्यय होना चाहिए था। श्वेतवनवासी, नारायण भट्ट तथा दशपादी वृत्तिकार सभी 'आलीयर्' प्रत्यय स्वीकार करते हैं। आचार्य भोज ने 'मृजेरालीयर्' (स०क० 2.3.13) सूत्र का उपदेश किया है। दशपादी वृत्तिकार वालञ् के स्थान पर वालच् प्रत्यय मानकर बहुलवचन के ग्रहण सामर्थ्य से धातु को दीर्घ आदेश करते हैं, परन्तु साहित्य में चात्वाल शब्द आद्युदात्त उपलब्ध होता है। अतः वालञ्·प्रत्यय ही उचित है। ञित् मान लेने पर स्वर की संगति तथा उपधावृद्धि निर्बाध हो जाते हैं। प्रत्यय को चित् करके बाहुलकात् स्वरसिद्धि और धातु को दीर्घादेश करने में द्रविड़ प्राणायाम से कम प्रयास नहीं है।

(117) पतिचण्डिभ्यामालञ् [1.117]

पद०—पतिचण्डिभ्याम् 5.2, आलञ् 1.1

सं०—पत् चण्ड् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् आलञ् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'पतिचण्डिभ्याम्' यह पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—पत् और चण्ड् धातु से परे आलञ् प्रत्यय होता है। 'पति' में इक् का निर्देश है। 'चण्डि' में नुम् सहित इक् का निर्देश है। आलञ् के 'ञ्' की इत्सञ्ज्ञा है। ञ् अनुबन्ध का प्रयोजन 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196) से आद्युदात्त स्वर करना है। शेष 'आल' बचता है। 'ञ्' का दूसरा फल गुण-वृद्धि कार्य है।

स्वा०द०वृ०—पतन्ति गच्छन्ति यत्र स **पातालः**, देश[विशेष]: [वा]; पादस्य तले वर्तते इति वा **पातालः। पृषोदरादित्वात्** [अ० 6.3.108] सिद्धः। चण्डति कुप्यतीति **चण्डालः**, मातङ्गो वा; चण्डं कुपितमलं भूषणमस्येति समासेऽपि **चण्डालः** सिद्धः।

उदा०—(1) पातालम् (= एक लोक, गर्त्त, छिद्र, समुद्र की आग)—पतन्ति यत्र। पत्लृ गतौ धातु से आलञ्—पत् आल—अनुबन्धलोप, 'अत उपधायाः' (पा० 7.2.116) से उपधावृद्धि—पात् आल सु।

(2) चाण्डालः (= पतित, क्रोधी)—चण्डति कुप्यति। चडि कोपे धातु। डकारस्थ इकार की इत्सञ्ज्ञा। 'इदितो नुम् धातोः' (पा० 7.1.58) से नुम्—च नुम् ड्—मिदचोऽन्त्यात् परः, अनुबन्धलोप—च न् ड्—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (पा० 8.3.24) से अनुस्वार—चं ड्—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (पा० 8.4.57) से परसवर्ण—चण्ड् आलञ्—पृषोदरादित्वात् (द्रष्टव्य—पा० 6.3.108) उपधावृद्धि—

चाण्डाल सु। अथवा 'अण्प्रकरणे कुलालवरुडनिषाद०' (पा० 5.4.36 वा०) से स्वार्थ में अण् होकर तथा आदिवृद्धि होकर 'चाण्डाल' शब्द सिद्ध होता है।

(118) तमिविशिविडिमृणिकुलिकपिपलिपञ्चिभ्यः कालन् [1.118]

पद०—तमिविशिविडिमृणिकुलिकपिपलिपञ्चिभ्यः 5.3, कालन् 1.1

सं०—तम् विश् विड् मृण् कुल् कप् पल् पञ्च्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कालन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'तमि····पञ्चिभ्यः' पद पञ्चम्यन्त है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा प्रवृत्त होती है। अर्थ—तम्, विश्, विड्, मृण्, कुल्, कप्, पल् और पञ्च् धातुओ से कालन् प्रत्यय होता है। कालन् के क् की 'लशक्वतद्धिते' से तथा न् की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। इनका लोप होकर शेष 'आल' बचता है। क् अनुबन्ध गुण-वृद्धि निषेध के लिए है। न् अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर (द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्') के लिए है।

स्वा०द०वृ०—ताम्यन्ति काङ्क्षन्ति यं स **तमालः**, वृक्षभेदो वा। विंशति सर्वत्रेति **विशालः।**

'विशाला मानिनी भार्या विशालः सुन्दरः पुमान्।
विशालोज्जयिनी प्रोक्ता विशालं च बृहद् गृहम्' ॥ [इति ॥]

विडत्याक्रोशतीति **विडालः**, मार्जारो वा; स्त्री **विडाली।** मृणति हिनस्तीति **मृणालः, मृणालं** पद्ममूलं वा। कोलति सङ्घातयतीति **कुलालः**, कुम्भकारो वा। कम्पते येन तत् **कपालम्**, नृशिरो घटखण्डो वा। पल्यते प्राप्यतेऽसौ **पलालः**, निष्फलानि व्रीहितृणानि वा 'पियार' इति प्रसिद्धम्। पञ्चति व्यक्तं करोतीति **पञ्चालः**, देशविशेषो वा।

बहुलवचनात्—'शो'धातोरपि कालन्। श्यन्ति सूक्ष्माणि कार्याणि कुर्वन्त्यत्र सा **शाला**, गृहम् [वा]।

उदा०—(1) तमालः (= एक वृक्ष, तलवार)—ताम्यन्ति काङ्क्षन्ति यं सः। तमु काङ्क्षायाम् तम् कालन्—तम् आल सु।

(2) विशालः (= महान्)—विशति सर्वत्र। विश प्रवेशने। विश् कालन्—विश् आल—'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त लघूपध गुण का निषेध, सु।

(3) विडालः (= बिलाव)—विडत्याक्रोशति। विड आक्रोशे। विड् कालन्—अनुबन्धलोप—विड् आल—लघूपध गुण प्राप्त, उसका निषेध, सु।

(4) मृणालम् (= कमलनाल)—मृणति हिनस्ति। मृण हिंसायाम्। मण् कालन्—पूर्ववत लघूपध गुण का निषेध, सु।

(5) कुलाल: (= कुम्हार, वनमुर्गा)—कोलति संङ्घातयति। कुल संस्त्याने। लघूपध गुण का निषेध।

(6) कपालम् (= नरमुण्ड)—कम्पते येन तत्। कपि सञ्चलने। कप् कालन् सु।

(7) पलालम् (= व्रीहितृण, पुआल)—पल्यते प्राप्यतेऽसौ। पल् कालन् सु। पल गतौ।

(8) पञ्चाला: (= देशविशेष)—पञ्चति व्यक्तं करोति। पचि व्यक्तीकरणे। पचि—नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण—पञ्च् कालन् सु।

(9) शाला (= घर)—श्यन्ति सूक्ष्माणि कार्याणि कुर्वन्ति यत्र। बाहुलकात् शो तनूकरणे धातु से कालन्। शो कालन्—शा आल—अनुबन्धलोप, 'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० 6.1.44) से आत् आदेश—शा आल—अनुबन्धलोप, 'अक: सवर्णे दीर्घ:' (पा० 6.1.99) से सवर्णदीर्घ, शाल टाप्—'स्त्रियाम्' (पा० 4.1.3) के अधिकार में 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० 4.1.6) से टाप्—शाल आ—चुटू, हलन्त्यम्—शाल आ—'अक: सवर्णे दीर्घ:' से सवर्ण दीर्घ एकादेश—शाला सु—'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से अपृक्त सकार का लोप।

विशेष—दशपादी में 'कालन्' के स्थान पर 'कालच्' पाठ है।

(119) पतेरङ्गच् पक्षिणि [1.119]

पद०—पते: 5.1, अङ्गच् 1.1, पक्षिणि 7.1

सं०—पक्षिणि गम्यमाने पत्धातोर् 'अङ्गच्' इति प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—पक्षिणि अर्थात् 'पक्षि' अर्थ वाच्य हो तो। अङ्गच् का 'च्' इत्संज्ञक है। अर्थ—यदि 'पक्षी' अर्थ वाच्य हो तो पत् धातु से परे अङ्गच् प्रत्यय होता है। च् अनुबन्ध का प्रयोजन 'चित:' (पा० 6.1.162) से अन्तोदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—पक्षिण्यभिधेये 'पत'धातोरङ्गच् प्रत्ययो भवति। पतति गच्छतीति **पतङ्गः** पक्षी। पक्षिणीत्युच्यमानेऽपि बाहुलकात्—'**पतङ्गः** सूर्योऽग्निरश्व: शलभ: शालिभेदो वा' इत्यादीनामपि नामानि भवन्ति।

उदा०—(1) पतङ्ग: (= पक्षी, सूर्य, अग्नि, अश्व, शलभ)—पतति गच्छति। पत्लृ गतौ धातु—पत् अङ्गच् सु। बाहुलकात् 'पक्षी' अर्थ से अतिरिक्त अर्थों में भी यह प्रत्यय होता है।

(120) तरत्यादिभ्यश्च [1.120]

पद०—तरत्यादिभ्य: 5.3, च—अव्य०।

अनु०—'पतेरङ्गच् पक्षिणि' (उ०सू० 1.119) से 'अङ्गच्' की अनुवृत्ति है।
सं०—तृ इत्यादिभिर् धातुभ्योऽङ्गच् स्यात्।

व्याख्या—तृ आदि एक आकृतिगण है। अर्थ—तृ आदि धातुओं से परे अङ्गच् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—तरति प्लवत्यनेन स **तरङ्गः,** जलोर्मिर्वस्त्रं भङ्गा वा। लुनात्यनेन स **लवङ्गः,** ओषधिर्वा। तरत्याद्याकृतिगणः।

उदा०—(1) तरङ्गः (= तरंग, वस्त्र)—तरति प्लवति। तृ प्लवनसन्तरणयोः धातु। तृ अङ्गच्—अनुबन्धलोप, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (पा० 7.3.84) से गुण आदेश प्राप्त, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—तर् अङ्ग सु।

(2) लवङ्गः (= लौंग)—लुनात्यनेन लू अङ्गच्—'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से इगन्त अङ्ग को गुण—लो अङ्ग सु।

विशेष—नारायण भट्ट के अनुसार 'त्रादिभ्यश्च' ऐसा पाठ है।

(121) विडादिभ्यः कित् [1.121]

पद०—विडादिभ्यः 5.3, कित् 1.1
अनु०—'पतेरङ्गच् पक्षिणि' (उ०सू० 1.119) से 'अङ्गच्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—विडादिभ्यो धातुभ्योऽङ्गच् प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—विड् आदि धातुओं से अङ्गच् प्रत्यय होता है और वह कित् होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन है—गुण-वृद्धि का निषेध।

स्वा०द०वृ०—विडत्याक्रोशतीति **विडङ्गः,** ओषधिविशेषो वा। मृद्नाति यं स **मृदङ्गः,** वाद्यभेदो वा। किरति विक्षिपतीति **कुरङ्गः,** हरिणो वा; **कुरङ्गी** हरिणी। स्त्रियां **गौरादित्वात्** [अ० 4.1.41] ङीष्। बाहुलकाद् ऋकारस्योत्वं रपरत्वं च।

उदा०—(1) विडङ्गः (= एक ओषधि)—विडत्याक्रोशति। विड् आक्रोशे धातु। विड् अङ्गच् सु।

(2) मृदङ्गः (= ढोल)—मृद्नाति यं सः। मृद क्षोदे। मृद् अङ्गच्—गुणनिषेध, सु।

(3) कुरङ्गः (= हरिण)—किरति विक्षिपति। कृ अङ्गच्—बाहुलकात् धातु को उकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—कुर् अङ्ग सु। 'स्त्रियाम्' (पा० 4.1.3) के अधिकार में कुरङ्ग शब्द का गौरादिगण में पाठ होने से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (पा० 4.1.41) से ङीष् प्रत्यय—कुरङ्ग ङीष्—अनुबन्धलोप, लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम्,

तस्य लोपः—कुरङ्ग ई—'यस्येति च' से भसञ्ज्ञक अङ्ग के अकार का लोप—कुरङ्गी सु—'हल् ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (पा० 6.1.66) से अपृक्त सकार का लोप।

(122) सृवृञोर्वृद्धिश्च [1.122]

पद०—सृवृञोः 6.2, वृद्धिः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'पतेरङ्गच् पक्षिणि' (उ०सू० 1.119) से 'अङ्गच्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सृ-वृञ् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् अङ्गच् प्रत्ययः स्यात्, धातोः स्थाने वृद्धिः स्यात्।

व्याख्या—सृवृञोः यह षष्ठ्यन्त पद है। विभक्तिविपरिणाम से इसे पञ्चम्यन्त (यथा—सृवृञ्भ्याम्) बना लिया जाता है। तब 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—सृ तथा वृ इन धातुओं से परे अङ्गच् प्रत्यय होता है तथा धातु को वृद्धि आदेश होता है। 'इको गुणवृद्धी' (पा० 1.1.3) इस परिभाषासूत्र से गुण तथा वृद्धि इक् वर्ण के स्थान पर होते हैं। यहाँ सृ तथा वृ—इन धातुओं में इक् (अर्थात् ऋ) के स्थान पर यह वृद्धि आदेश होता है। 'उरण् रपरः' से रपरत्व होकर आर् के रूप में वृद्धि आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—सृवृञ्भ्यामङ्गच् धातोर्वृद्धिश्च। सरति सर्वत्र गच्छतीति **सारङ्गः,** पक्षी हरिणो भृङ्गो वा। यो वृणोति गृह्णाति स **वारङ्गः,** खड्गादिमुष्टिर्वा।

बाहुलकात्—नृणाति नयति स **नारङ्गः,** रसः पिप्पलीवृक्षः फलभेदो वा।

उदा०—(1) सारङ्गः (= पक्षी, मृग, भृंग)—सरति सर्वत्र गच्छति। सृ गतौ। सृ अङ्गच्—वृद्धि आदेश—सार् अङ्ग सु।

(2) वारङ्गः (= तलवार आदि की मूँठ)—वृणोति गृह्णाति। वृ अङ्गच्—पूर्ववत्।

(3) नारङ्गः (= एक फल)—नृणाति नयति। नृ अङ्गच्—बाहुलकात् प्रत्यय हुआ।

(123) गन्गम्यद्योः [1.123]

पद०—गन् 1.1, गम्यद्योः 6.2

सं०—गम्-अद् इत्येताभ्यां धातुभ्यां गन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—गम्यद्योः यह षष्ठ्यन्त पद है। विभक्तिविपरिणाम से इसे पञ्चम्यन्त (यथा—गम्यदिभ्याम्) बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—गम् तथा अद् धातुओं से परे गन् प्रत्यय होता है। गन् के न् की इत्सञ्ज्ञा है।

न् अनुबन्ध का प्रयोजन 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196) से आद्युदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—गच्छतीति **गङ्गा,** नदीभेदो वा। अत्ति वाऽद्यते भक्ष्यतेऽसौ **अद्गः**, पुरोडाशो वा।

बाहुलकात्—'अम गत्यादिषु' इत्यस्मादपि गन्। [अमति] गच्छति प्राप्नोति कर्माणि विषयान् वा येन तत् **अङ्गम्,** गात्रमुपायः प्रतीकमप्रधानं देशविशेषो वा।

उदा०—(1) गङ्गा (= एक नदी)—गच्छतीति। गम्लृ गतौ धातु। गम् गन्—हलन्त्यम्—गम् ग—'नश्चाऽपदान्तस्य०' (पा० 8.3.24) से अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (पा० 8.4.57) से परसवर्ण—गं ग—गङ्ग—स्त्रियाम् के अधिकार में 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० 4.1.5) से टाप्—गङ्ग आ—अनुबन्धलोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' (पा० 6.1.99) से सवर्णदीर्घ, सु, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (पा० 6.1.66) से अपृक्त सकार का लोप।

(2) अद्गः (= पुरोडाश) अग्नि, समुद्र)—अत्ति। अद्यते। भक्ष्यतेऽसौ। अद् भक्षणे। अद् ग सु।

(3) अङ्गम् (= अवयव)—अमति गच्छति। अम गत्यादिषु धातु से बाहुलकात् गन्—अम् गन्—अनुस्वार, परसवर्ण, सु।

(124) छापूखडिभ्यः कित् [1.124]

पद०—छापूखडिभ्यः 5.3, कित् 1.1

अनु०—'गन्गम्यद्योः' (उ०सू० 1.23) से 'गन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—छो पू खड्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो गन् स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—'छा' के द्वारा 'छो छेदने' का ग्रहण होता है। अर्थ—छो, पू तथा खड्—इन धातुओं से परे गन् प्रत्यय होता है तथा वह प्रत्यय कित् होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन है—गुण-वृद्धिनिषेध।

स्वा०द०वृ०—छादिभ्यो गन् किद् भवति। छिनत्तीति **छागः**, बर्करो वा। पूयते मुखं येन स **पूगः**, क्रमुकः फलविशेषः 'सुपारी' इति प्रसिद्धः, समूहो वा। खडति भिनत्ति येन स **खड्गः** शस्त्रं, गण्डकः 'गेंडा' इति प्रसिद्धः।

बाहुलकात्—सेटत्यनाद्रियते स **षिड्गः,** चञ्चलमना हारमध्यस्थो मणिर्वा। बहुलवचनादेव सत्वनिषेधः।

उदा०—(1) छागः (= बकरा)—छ्यति छिनत्ति। छो छेदने। छो गन्—धातु को आत्त्व—छाग सु।

(2) पूगः (= सुपारी)—पूयते मुखं येन। पुनाति मुखम्। पूञ् पवने। पू गन् सु।

(3) खड्गः (= तलवार)—खडति भिनत्ति येन। खड भेदने। खड् गन् सु।

(4) षिड्गः (= हार के मध्य की मणि)—सेटत्यनाद्रियते सः। षिट अनादरे धातु। 'धात्वादेः षः सः' से प्राप्त सकार आदेश का बाहुलकात् निषेध—षिट् गन्—प्रत्यय के कित् होने से लघूपध गुण का निषेध, सु।

विशेष—श्वेतवनवासी प्रकृत सूत्र का पाठ पञ्चम पाद (यथा—'छापूङ्खडिभ्यो गक्'–5.69) में, नारायण भट्ट भी पञ्चम पाद (यथा—'छापूखडिभ्यो गक्'–5.74) में तथा दशपादी वृत्तिकार तृतीय पाद में (यथा—'छापूञ्खडिभ्यो गक्'–3.69) मानते हैं। उत्तरसूत्र 'भृञः किन्नुट् च' में पुनः 'कित्' का ग्रहण सिद्ध करता है कि प्रकृत सूत्र का पाठ यहाँ न होकर पञ्चम पाद में ही होना चाहिए था परन्तु यह मत उचित नहीं है। उत्तर सूत्र में 'कित्' का ग्रहण स्पष्टता के लिए किया गया है। यदि यहाँ 'कित्' का ग्रहण न किया जाता तो 'च' पद के द्वारा केवल 'गन्' का ही अनुवर्त्तन होता है।

(125) भृञः किन्नुट् च [1.125]

पद०—भृञः 5.1, कित् 1.1, नुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'गन्गाम्यद्योः' (उ०सू० 1.123) से 'गन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—भृञ्धातोर् गन्प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः, प्रत्ययस्य च 'नुट्' इत्यागमो भवति।

व्यांख्या—भृ धातु से परे गन् प्रत्यय होता है, प्रत्यय कित् होता है तथा इसे नुट् आगम होता है। नुट् के टकार की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'न्' शेष रहता है। आगम के टित् होने से "आद्यन्तौ टकितौ' से यह प्रत्यय का आद्यवयव बनता है। कित्करण गुण-वृद्धिनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—भृञ्धातोर्गन् प्रत्ययः कित् तस्य च नुट्। बिभर्त्ति धरति पुष्यति वा स **भृङ्गः**, भ्रमरो वा।

उदा०—(1) भृङ्गः (= भौंरा, एक पक्षी, कामुक, स्वर्णकलश)—बिभर्त्तीति (धरति, पुष्यति)। भृञ् धारणपोषणयोः धातु। भृ गन्—प्रत्यय के कित् होने से 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (पा० 7.3.84) से प्राप्त गुण का निषेध—भृ न् गन्—नुट् आगम, 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार—भृंग—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से परसवर्ण—भृङ्ग सु।

(126) शृणातेर्ह्रस्वश्च [1.126]

पद०—शृणातेः 5.1, ह्रस्वः 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'गन्गम्यद्योः' (उ०सू० 1.123) से 'गन्' का अनुवर्त्तन है। 'भृञः किन्नुट् च' (उ०सू० 1.125) से 'नुट्' की अनुवृत्ति है।

सं०—शृधातोर् गन् प्रत्ययः स्यात्, धातोश्च ह्रस्वादेशो भवति। प्रत्ययस्य 'नुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—शृ धातु से परे गन् प्रत्यय होता है तथा वह प्रत्यय कित् होता है और प्रत्यय को नुट् आगम होता है। नुट् का न् शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—कित् नुट् चेत्यनुवर्त्तते। शृणाति हिनस्ति येन तत् **शृङ्गम्,** विषाणं पर्वताग्रं मत्स्यभेद ओषधिभेदः सुवर्णभेदो वा।

उदा०—(1) शृङ्गम् (= सींग, चोटी, एक मछली)—शृणाति हिनस्ति। शृ हिंसायाम्। शृ नुट् गन्—गन् प्रत्यय, शीर्यते इति व्युत्पत्त्यन्तरम्, नुट् आगम, अनुबन्धलोप—शृ न् ग्—पूर्ववत् अनुस्वार, परसवर्ण—शृ ङ्ग सु—अतोऽम्, अमि पूर्वः।

(127) गण् शकुनौ [1.127]

पद०—गण् 1.1, शकुनौ 7.1

अनु०—'शृणातेर्ह्रस्वश्च' (उ०सू० 1.126) से 'शृणातेः' का तथा 'भृञः किन्नुट् च' (उ०सू० 1.125) से 'नुट्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—शृधातोर् गण् प्रत्ययो भवति, शकुनावभिधेये।

व्याख्या—शकुनौ अर्थात् 'शकुनि' अर्थ वाच्य रहते। अर्थ—'पक्षी' अर्थ वाच्य हो तो शृ धातु से गण् प्रत्यय तथा नुट् आगम होता है। गण् के 'ण्' की इत्सञ्ज्ञा है। ण् अनुबन्ध का प्रयोजन गुण-वृद्धि कार्य होता है। प्रकृत में 'अचो ञ्णिति' (पा० 7.2.115) से इगन्त अङ्ग को वृद्धि आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—गण्प्रत्ययस्य णित्त्वाद्धातोर्वृद्धिः पूर्ववन्नुट् च। शृणातीति **शार्ङ्गः,** पक्षी [वा]; बाहुलकात् प्रत्ययस्यादावकारागमेन **शारङ्गः** इत्यपि सिद्धं भवति।

उदा०—(1) शार्ङ्गः (= पक्षी)—शृणातीति। शृ हिंसायाम्। शृ नुट् गण्—नुट् आगम प्रत्यय को होता है, 'आद्यन्तौ टकितौ' से प्रत्यय आदि अवयव हुआ—शृ न् ग—अनुबन्धलोप, वृद्धि आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—शार् न् ग—अनुस्वार, परसवर्ण, सु।

(2) शारङ्गः—बाहुलकात् प्रत्यय से पूर्व अकार का आगम होकर यह शब्द सिद्ध होता है।

(128) मुदिग्रोर्गग्गौ [1.128]

पद०—मुदिग्रोः 6.2, गग्गौ 1.2

सं०—मृद् गृ इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्रमेण गक् ग इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः।

व्याख्या—'मुदिग्रोः' यह षष्ठ्यन्त पद है। विभक्तिविपरिणाम से इसे पञ्चम्यन्त (यथा—मुदिगृभ्याम्) बना लिया जाता है। दो प्रकृतियाँ हैं और दो ही प्रत्यय हैं। अतः 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—मुद् तथा गृ इन धातुओं से परे क्रमेण गक् और ग प्रत्यय होते हैं अर्थात् मुद् से गक् और गृ से ग प्रत्यय होता है। गक् के 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'क्' अनुबन्ध लघूपध गुण के बाध के लिए है। बाहुलकात् 'ग्' की इत्सञ्ज्ञा का निषेध होता है। गक् में कित्करण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि पूर्वसूत्र में गकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं है।

स्वा०द०वृ०—'मुद'धातोर्गक्। मोदतेऽसौ **मुद्गः,** अन्नभेदो वा। मुद्गान् लाति गृह्णातीति **'मुद्गलो'** मुनिः, यस्य गोत्रापत्यं **'मौद्गल्यः'** इति प्रसिद्धम्। 'गृ'धातोर्गः प्रत्ययः। गृणात्युपदिशतीति **गर्गः,** ऋषिविशेषो वा।

उदा०—(1) मुद्गः (= मूँग)—मोदतेऽसौ। मुद हर्षे धातु। मुद् गक्—मुद् ग—'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा तथा 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपधगुण प्राप्त, 'क्ङिति च' से गुणनिषेध, सु।

(2) मुद्गलः (= एक ऋषि)—मुद्गान् लाति गृह्णाति—मुद्ग ल सु।

(3) गर्ग = (= एक ऋषि)—गृणाति उपदिशति। गृ ग—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—गर् ग सु।

(129) अण्डन् कृसृभृवृञः [1.129]

पद०—अण्डन् 1.1, कृसृभृवृञः 5.1

सं०—कृ सृ भृ वृ—इत्येतेभ्यो धातुभ्योऽण्डन् प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—कृ, सृ, भृ तथा वृ—इन धातुओं से परे 'अण्डन्' प्रत्यय होता है। न् की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। न् अनुबन्ध का प्रयोजन 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196) से आद्युदात्त स्वर करना है। 'वृञ्' में अनुबन्ध का निर्देश होने से सामान्य धातु का ग्रहण नहीं होता है।

स्वा०द०वृ०—कृञादिभ्योऽण्डन्प्रत्ययः। क्रियतेऽसौ **करण्डः** पुष्पभाण्ड-

भेदः, **करण्डो** वंशविकारपात्रम्, 'पिटारी' इति प्रसिद्धा। सरति गच्छतीति **सरण्डः,** पक्षी वा। बिभर्त्ति पुष्यतीति **भरण्डः** स्वामी। वृणोति स्वीकरोतीति **वरण्डः** मुखरोगः, सन्दोहो वा।

बाहुलकात्—तरति येन स **तरण्डः,** जलतरणसाधनं वा। वनति सम्भजति धर्ममिति **वतण्डः,** ऋषिविशेषो वा। धातोस्तकारान्तादेशः। छमति भक्षयतीति **छमण्डः,** मातापितृशून्यो वा। शेतेऽसौ **शयण्डः,** विषयो वा। इत्यादयः शब्दा बहुलवचनादेव सिद्धा भवन्ति।

उदा०—(1) करण्डः (= तलवार, डलिया, शहद की मक्खियों का घर)—क्रियतेऽसौ। डुकृञ् करणे धातु। कृ अण्डन्—आर्धधातुकं शेषः, सार्वधातुकार्धधातु०, उरण् रपरः, सु। क्रियन्तेऽस्मिन् द्रव्याणि।

(2) भरण्डः (= स्वामी, राजा, बैल, कीट)—बिभर्त्ति पुष्यति। डुभृञ् धारणपोषणयोः धातु। भृ अण्डन्—पूर्ववत्। भ्रियते वा।

(3) सरण्डः (= जार पुरुष, पक्षी, सरीसृप, वायु)—सरति गच्छति। सृ गतौ धातु। सृ अण्डन्—पूर्ववत्।

(4) वरण्डः (= बरामदा, तृणसमूह, मुखरोग)—वृणोति स्वीकरोति। वृञ् वरणे धातु। अण्डन्, पूर्ववत्। प्रकृत में प्रत्यय का प्रकृति से पूर्व निर्देश सिद्ध करता है कि अन्य धातुओं से भी 'अण्डन्' होता है। यथा—

(5) शरण्डः (= वायु)—शृणातीति। शॄ हिंसायाम्। शॄ अण्डन्—गुण, सु।

(6) तरण्डः (= वायु, जहाज)—तरतीति। तॄ प्लवनतरणयोः। पूर्ववत्।

(7) एरण्डः (= वायु, एक वृक्ष)—एतीति। इण् गतौ। इ अण्डन्। 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण—ए अण्ड—रम् आगम (दशपादी में नुम् आगम किया है, जो अनुचित है)—एरण्ड सु।

(8) धरण्डः (= भूलोक)—ध्रियन्तेऽस्मिन् लोकाः। धृञ् धारणे। गुण, सु।

(130) शॄदॄभसोऽदिः [1.130]

पद०—शॄदॄभसः 5.1, अदिः 1.1

सं०—शॄ दॄ भस् इत्येतेभ्यो धातुभ्योऽदिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—शॄ, दॄ और भस्—इन धातुओं से परे अदि प्रत्यय होता है। अदि में इकार उच्चारणार्थ है। अद् शेष रहता है। इसकी आर्धधातुक सञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—शॄदॄभसधातुभ्योऽदिः प्रत्ययः। शृणाति हिनस्त्यस्मिन्निति

शरत्, कालविशेष ऋतुर्वा। दीर्यतेऽसौ **दरत्,** हृदयं कूलं वा। बभस्ति भर्त्सयति प्रकाशते वा स **भसत्,** जघनं वा।

बाहुलकात्—पर्षति स्निह्यति प्रीतिकरं प्रसन्नं भवति चित्तमस्यां सा **पर्षत्,** सभा समाजो वा।

उदा०—(1) शरत् (= एक ऋतु)—शृणाति हिनस्ति यस्मिन्। शृ हिंसायाम् धातु। शृ अदि—शृ अद्—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, रपरत्व—शर् अद् सु—'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप।

(2) दरत् (= हृदय, तट, भय, शिला)—दीर्यतेऽसौ। दॄ विदारणे धातु। पूर्ववत् गुण आदि—दरद् सु—सुलोप, पदसञ्ज्ञा, 'वाऽवसाने' से विकल्प से जश्त्व।

(3) भसत् (= जघन, सूर्य, मांस, योनि)—बभस्ति भर्त्सयति। प्रकाशते। भस भर्त्सनदीप्त्योः धातु से प्रत्यय। शेष पूर्ववत्।

(4) पर्षत् (= सभा)—पर्षति स्निह्यति, चित्तं प्रसन्नं भवत्यस्यां सा। पर्ष धातु से बाहुलकात् प्रत्यय। शेष पूर्ववत्।

(131) दृणातेः षुग् ह्रस्वश्च [1.131]

पद०—दृणातेः 5.1, षुक् 1.1, ह्रस्वः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'शृदृभसोऽदिः' (उ०सू० 1.130) से 'अदिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—दृधातोर् अदिप्रत्ययः स्यात्, धातोश्च ह्रस्वादेशः स्यात् 'षुक्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—'दृणातेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'दृणातेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'दृणातेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को ह्रस्वादेश तथा षुक् आगम होते हैं। अर्थ—दॄ धातु से परे 'अदि' प्रत्यय होता है, धातु के स्थान पर ह्रस्व आदेश होता है तथा धातु को षुक् आगम होता है। षुक् के 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है, उकार उच्चारणार्थ है। 'ष्' शेष रहता है। आगम कित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से यह धातु का अन्ताऽवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—दीर्यतेऽसौ **दृषत्,** पाषाणो वा। अदिप्रत्यये धातोर्ह्रस्वः षुगागमश्च भवति।

उदा०—(1) दृषत् (= पत्थर, शिला)—दीर्यतेऽसौ। दॄ विदारणे धातु से अदि—दॄ अदि—दृष् अद्—धातु को ह्रस्व आदेश, आगम—दृष् अद्—'आर्धधातुकं शेषः' से अद् की आर्धधातुक सञ्ज्ञा। 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण प्राप्त हुआ, सूंत्र के द्वारा धातु को ह्रस्व आदेशविधान के सामर्थ्य से गुण का निषेध। यदि धातु को

गुण आदेश करते हैं तो ह्रस्वविधान व्यर्थ हो जाता है। यह व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि यहाँ लघूपध गुण नहीं होता है। सु, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप।

(132) त्यजितनियजिभ्यो डित् [1.132]

पद०—त्यजितनियजिभ्यः 5.3, डित् 1.1

अनु०—'शृदृभसोऽदिः' (उ०सू० 1.130) से 'अदिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—त्यज् तन् यज्—इत्येतेभ्यो धातुभ्योऽदिप्रत्ययः स्यात्, स च डित्-सञ्ज्ञः।

व्याख्या—त्यज्, तन् तथा यज्—इन धातुओं से परे अदि प्रत्यय होता है और वह डित् होता है। डित् करने का प्रयोजन टि का लोप करना है। 'अचोऽन्त्यादि टि' से टिसञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—त्यजति क्लेशादिहीनो भवतीति **त्यद्**। तनुते विस्तृतो भवतीति तद्। यजति सर्वैः पदार्थैः सङ्गतो भवतीति **यद्**। ब्रह्मणो नामानि त्रयाणि। त्यदादीनां सर्वनामसञ्ज्ञा भवति, तेन सामान्यवाचकास्त्यदादयः।

उदा०—(1) त्यद् (= ब्रह्म)—त्यजति क्लेशादीन्। त्यज हानौ। त्यज् अदि—त्यज् अद्—टिलोप—त्य् अद् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(2) तद् (= ब्रह्म)—तनोति तनुते विस्तृतो भवति। तनु विस्तारे।

(3) यद् (= ब्रह्म)—यजति सर्वैः पदार्थैः सङ्गतो भवति। यज देवपूजासङ्गति-करणदानेषु। यज् अदि।

(133) एतेस्तुट् च [1.133]

पद०—एतेः 5.1, तुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'शृदृभसोऽदिः' (उ०सू० 1.130) से 'अदिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—इण्धातोर् अदिप्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च 'तुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—प्रत्यय को तुट् आगम होता है। ट् की इत्सञ्ज्ञा है। उ उच्चारणार्थ है। 'त्' शेष रहता है। टित् होने से आगम प्रत्यय का आद्यवयव बनता है। अर्थ—इण् धातु से परे अदि प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को तुट् आगम होता है।

स्वा०द०वृ०—'इण्'धातोरदिः प्रत्ययस्तस्य तुडागमश्च। एति प्राप्नोतीति **एतत्**। अस्यापि सर्वनामसञ्ज्ञा।

उदा०—(1) एतत् (= सर्वनामवाचक)—एति प्राप्नोति। इण् गतौ। इ

अदि—इ अद्—'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण—ए अद्—तुट् आगम—ए त् अद् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(134) सर्त्तेरटिः [1.134]

पद०—सर्त्तेः 5.1, अटिः 1.1

सं०—सृधातोर् अटिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—सृ धातु से अटि प्रत्यय होता है। अटि के इकार की इत् सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—सरति गच्छतीति **सरट्,** वायुर्मेघो वा। 'सृ'धातोरटिः प्रत्ययः।

उदा०—(1) सरट् (= वायु, मेघ, साँप, मधुमक्खी)—सरति गच्छति। सृ गतौ। सृ अटि—गुण, रपरत्व। सर् अट् सु—'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से अपृक्त सकार का लोप, प्रत्ययलक्षण से पद सञ्ज्ञा, 'वाऽवसाने' (पा० 8.4.55) से विकल्प से जश्त्व—सरड्। दशपादी में अटि के स्थान पर अडि प्रत्यय का विधान है। परन्तु अट् और अड् में कोई अन्तर नहीं है। 'वाऽवसाने' से वैकल्पिक जश्त्व होकर सरट् और सरड् दो रूप बनते हैं।

(135) लङ्घेर्नलोपश्च [1.135]

पद०—लङ्घेः 5.1, नलोपः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्त्तेरटिः' (उ०सू० 1.134) से 'अटिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—लघिधातोर् अटि प्रत्ययः स्याद्, धातोर् नलोपः स्यात्।

व्याख्या—'लङ्घेः' पद की आवृत्ति होती है। प्रथम 'लङ्घेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय होता है। द्वितीय 'लङ्घेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु के नकार का लोप किया जाता है। लघि धातु का इकार इत्सञ्ज्ञक है। 'इदितो नुम् धातोः' से धातु को नुम् आगम होता है। अनुबन्धलोप होकर 'न्' शेष रहता है। इस नकार का लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—लङ्घति शोषयतीति **लघट्,** वायुर्वा। धातोर्नलोपः।

उदा०—(1) लघट् (= वायु)—लङ्घयति शोषयति। लघि शोषणे। ल नुम् घ् अटि—अनुबन्धलोप, नकारलोप—लघ् अट् सु—'हलङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप, प्रत्ययलक्षण से पदसञ्ज्ञा, वाऽवसाने।

विशेष—दशपादी में 'लङ्घेरटिर्नलोपश्च'(5.1) ऐसा पाठ उपलब्ध होता है। पूर्वसूत्र (उ०सू० 1.124) से 'अटिः' की अनुवृत्ति सुलभ होने पर भी प्रकृत में 'अटिः' का ग्रहण चिन्तनीय है।

(136) पारयतेरजिः [1.136]

पद०—पारयतेः 5.1, अजिः 1.1
सं०—पॄधातोर् अजिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—पॄ धातु से अजि प्रत्यय होता है। अजि का इकार इत् है। 'अज्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—पारयति कर्म समापयतीति **पारक्,** सुवर्णं वा। चौरादिकात् 'पारि'धातोरजिः प्रत्ययः।

उदा०—(1) पारक् (= सोना)—पारयति। पॄ पूरणे। पॄ णिच्—स्वार्थ में णिच्, चुटू, हलन्त्यम्, अनुबन्धलोप—पॄ इ—'अचो ञ्णिति' (पा० 7.2.115) से इगन्त अङ्ग को वृद्धि आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—पारि अजि—'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा—पारे अज्—'सार्वधातुकार्धधातुक' से गुण—पार यज्—'एचोऽयवायावः' से अय् आदेश, सु, अपृक्त सकार का लोप, हल्ङ्याब्भ्यो०, प्रत्ययलक्षण से पद सञ्ज्ञा, 'चोः कुः' (पा० 8.2.30) से कुत्व (जकार के स्थान पर गकार)—पारग्—'वाऽवसाने' से विकल्प से जश्त्व—पारक्।

विशेष—दशपादी में 'पारेरजिः' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है।

(137) प्रथेः कित् सम्प्रसारणं च [1.137]

पद०—प्रथेः 5.1, कित् 1.1, सम्प्रसारणम् 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'पारयतेरजिः' (उ०सू० 1.136) से 'अजिः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—प्रथ्धातोर् अजिप्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः, धातोः सम्प्रसारणं भवति।

व्याख्या—प्रथ् धातु से परे अजि प्रत्यय होता है, प्रत्यय किद्वत् होता है तथा धातु को सम्प्रसारण होता है। 'इग्यणः' सम्प्रसारणम्' (पा० 1.1.44) से यण् वर्ण (रेफ) के स्थान पर इक् वर्ण (ऋकार) होता है। यहाँ 'स्थानेऽन्तरतमः' से सदृशतम आदेश होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुण का निषेध करना है।

स्वा०द०वृ०—प्रथयति सङ्घाताद् विस्तृतो भवतीति **पृथक्,** नानात्वं वा। **स्वरादिपाठाद्** (अ० 1.1.36) अव्ययत्वम्।

उदा०—(1) पृथक् (= नानात्व)—प्रथयति विस्तृतो भवति। प्रथ विस्तारे। प्रथ् अजि—प्रथ् अज्—सम्प्रसारण—प् ऋ अथ् अज्—'सम्प्रसारणाच्च' (पा०

6.1.106) से पूर्वरूप एकादेश—पृथज् सु—विभक्तिकार्य। पृथक् शब्द का स्वरादिगण में पाठ है। 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (पा० 1.1.36) से इसकी अव्यय सञ्ज्ञा होती है।

(138) भियः षुग्ध्रस्वश्च [1.138]

पद०—भिय: 5.1, षुक् 1.1, ह्रस्व: 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'पारयतेरजि:' (उ०सू० 1.136) से 'अजि:' का अनुवर्त्तन होता है।

सं०—भीधातोर् अजिप्रत्यय: स्याद्, धातो: 'षुक्' इत्यागमो भवति, तस्य ह्रस्वादेशो भवति।

व्याख्या—'भिय:' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'भिय:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से अजि प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'भिय:' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को ह्रस्वादेश तथा षुक् आगम किये जाते हैं। 'अलोऽन्त्यस्य' से धातु के अन्त्य अल् (ईकार) के स्थान पर ह्रस्वादेश प्राप्त होता है। दूसरे—ह्रस्वादि सञ्ज्ञाएँ अच् वर्णों की हुआ करती है। अत: ह्रस्व आदेश धातु के अच् (ईकार) के स्थान पर ही प्राप्त होता है। 'स्थानेऽन्तरतम:' से ईकार के स्थान पर इकार ह्रस्वादेश होता है। षुक् के क् की इत्सञ्ज्ञा है, उकार उच्चारणार्थ है। 'ष्' शेष रहता है। षुक् कित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से धातु का अन्ताऽवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—बिभेत्यसौ **भिषक्**, वैद्यो वा। **'सुमङ्गलभेषजाच्च'** (अ० 4.1.30) इति निपातनाद् गुणे कृते **भेषजम्**। भेषजमेव **भैषज्यम्**।

उदा०—(1) भिषक् (= वैद्य, विष्णु का एक नाम)—बिभेत्यसौ। ञिभी भये धातु। भी षुक् अजि—षुक् आगम, धातु को ह्रस्व आदेश—भिष् अज् सु—विभक्ति-कार्य। ह्रस्वादेश विधान सामर्थ्य से गुण का निषेध।

(139) युष्यसिभ्यां मदिक् [1.139]

पद०—युष्यसिभ्याम् 5.2, मदिक् 1.1

सं०—युष् अस् इत्येताभ्यां धातुभ्यां मदिक्प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—युष् और अस् धातुओं से परे मदिक् प्रत्यय होता है। क् की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। इकार उच्चारणार्थ है। मद् शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—योषति सेवतेऽसौ **युष्मद्**। 'युष' सौत्रो धातु:। अस्यति प्रक्षिपत्यन्यमिति **अस्मद्**। सर्वनामवाचकाविमौ।

उदा०—(1) (युष्मद्)—योषति सेवतेऽसौ। युष सेवने। युष् मदिक्—युष् मद्। युष सौत्र धातु है।

(2) अस्मद्—अस्यति प्रक्षिपति अन्यम्। असु प्रक्षेपणे। अस् मदिक्—पूर्ववत्

(140) अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् [1.140]

पद०—अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यः 5.3, मन् 1.1

सं०—ऋ स्तु सु हु सृ धृ क्षि क्षु भा या वा पद् यक्ष् नी—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो मन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—ऋ, स्तु, सु, हु, सृ, धृ, क्षि, क्षु, भा, या, वा, पद्, यक्ष् और नी—इन धातुओं से परे मन् प्रत्यय होता है। मन् के नकार की इत्सञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—ऋच्छति प्राप्नोति स **अर्मः**, चक्षूरोगो वा। स्तौति येन स **स्तोमः**, सङ्घातो वा। सवत्यैश्वर्यहेतुर्भवतीति **सोमः**, कर्पूरश्चन्द्रमा वा। हूयते दीयतेऽसौ **होमः**, यज्ञो वा। स्त्रियते गम्यते स **सर्मः**, गमनम् [वा]। ध्रियते सुखप्राप्तये सेव्यते स **धर्मः**, पक्षपातरहितो न्यायः सत्याचारो वा। क्षयत्यज्ञानं नाशयतीति **क्षेमम्**, कुशलं वा। क्षौति शब्दयतीति **क्षोमम्**, वस्त्रभेदो वा; दुकूलम् अतसीकुसुमं च। भाति प्रकाशतेऽसौ **भामः**, क्रोधः सूर्यो दीप्तिर्वा। यायते प्राप्यते स **यामः**, प्रहरो वा। वाति गच्छति गन्धनं वा गृह्णातीति **वामः**, शोभनः दुष्टः पार्श्वभेदो वा। पद्यते प्राप्नोतीति **पद्मं**, कमलं निधिः शङ्खो वा। यक्षयते पूजयतीति **यक्ष्मः**, राजरोगो वा। नयतीति **नेमः**, प्राकारमूलं वा; अर्द्धवाची तु सर्वनामसञ्ज्ञकः।

उदा०—(1) अर्म्मः (= नेत्ररोग)—ऋच्छति प्राप्नोति सः। ऋ मन्—ऋ म—'आर्धधातुकं शेषः' से प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—अर् म—'अचो रहाभ्यां द्वे' (पा० 8.4.45) से यर् वर्ण (म्) का द्वित्व—अर्म्म सु।

(2) स्तोमः (= स्तोत्र, यज्ञ)—स्तौति येन। ष्टुञ्—'धात्वादेः षः सः' से सकार आदेश—स् टु—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' से ष्टुत्व की निवृत्ति—स्तु मन्—पूर्ववत् गुण, सु।

(3) सोमः (= चन्द्रमा, कपूर, जल, वायु, शिव, यम)—सवति। षु प्रसवैश्वर्ययोः। 'धात्वादेः षः सः'—सु मन्—गुण, सु।

(4) होमः (= हवन)—हूयते दीयतेऽसौ। हु दानाऽऽदानयोः। हु मन्—गुण—होम—सु, विभक्तिकार्य।

(5) सर्मः (= गमन)—स्त्रियते गम्यते। सृ गतौ। सृ मन्—आर्धधातुक लक्षण गुण, रपरत्व, सु।

(6) धर्मः (= न्याय, कर्त्तव्य)—ध्रियते सेव्यते। धृङ् अवस्थाने। धृ मन्—पूर्ववत् गुण, रपरत्व—धर् म सु।

(7) क्षेमम् (= प्रसन्नता, शान्ति, कल्याण)—क्षयति नाशयत्यज्ञानम्। क्षि क्षये। क्षि मन्—गुण, सु।

(8) क्षोमम् (= रेशमी वस्त्र, घर के ऊपर प्रकोष्ठ)—क्षौति शब्दयति। क्षु शब्दे। क्षु मन्—आर्धधातुक लक्षण गुण—क्षोम सु।

(9) भामः (= क्रोध, सूर्य)—भाति प्रकाशते। भा दीप्तौ—भा मन्-सु।

(10) यामः (= प्रहर, धैर्य)—यायते प्राप्यते। या प्रापणे। या मन्—पूर्ववत्।

(11) वामः (= शोभन, दुष्ट, बायाँ, शिव, काम, अहि)—वाति गच्छति। वा गतिगन्धनयोः। वा मन्—पूर्ववत्।

(12) पद्मम् (= कमल, निधि, शंख)—पद्यते प्राप्नोति। पद गतौ। पद् मन्—पद्म सु।

(13) यक्ष्मः (= राजरोग)—यक्षयते पूजयति। यक्ष पूजायाम्। दशपाद्युणादिवृत्तिकार के अनुसार बाहुलकात् अथवा अभिधान लक्षण से मन् के नकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती है। तब नकारान्त 'यक्ष्मन्' शब्द बनता है। सु, विभक्तिकार्य होकर 'यक्ष्मा' रूप बनता है।

(14) नेमः (= अर्धवाची, बिल, काल, छल, सीमा)—नयतीति। णीञ् प्रापणे। णी—नी 'णो नः' से नकार, गुण, सु।

(141) जहातेः सन्वदाकारलोपश्च [1.141]

पद०—जहातेः 5.1, सन्वत्—अव्य०, आकारलोपः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'अर्त्ति·····नीभ्यो मन्' (उ०सू० 1.140) से 'मन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—हाधातोर् मन् प्रत्ययः स्यात्, स च सन्वत्। धातोश्च आकारादेशो भवति।

व्याख्या—'जहातेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'जहातेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'जहातेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आकारलोप किया जाता है। अर्थ—हा धातु से परे मन् प्रत्यय होता है, प्रत्यय सन्वत् होता है तथा धातु को आकारलोप होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से आकारलोप अन्त्य अल् (हकारस्थ आकार) को होता है। सन्वत् का अर्थ है—सन् प्रत्यय की तरह। भाव यह है कि मन् परे रहते वे सभी कार्य होंगे, जो कार्य सन् के परे रहते होते हैं। सन् प्रत्यय 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकाद्०' (पा० 3.1.7) से होता है। सन् प्रत्यय के परे रहते द्वित्व होता है। द्रष्टव्य—'सन्यङोः' (पा०

6.1.9)। द्वित्व करने के पश्चात् अभ्यासकार्य होते हैं। यथा—पूर्वोऽभ्यास:, हलादि: शेष:, कुहोश्चु:, अभ्यासे चर्च, उरत् आदि।

स्वा०द०वृ०—मनित्यनुवर्तते। जहाति त्यजतीति **जिह्म:**, कुटिलो मन्दो वा।

उदा०—(1) जिह्म (= कुटिल)—जहाति त्यजति। ओहाक् त्यागे। हा मन्—'सन्यङो:' से द्वित्व—हा हा म—'पूर्वोऽभ्यास:' (पा० 6.1.4) से पूर्व खण्ड की अभ्यास सञ्ज्ञा। 'ह्रस्व:' (पा० 7.4.59) से अभ्यास को ह्रस्व आदेश—ह हा म—'कुहोश्चु:' (पा० 7.4.62) से चुत्व, 'स्थानेऽन्तरतम:' से हकार को झकार—झ हा म—'अभ्यासे चर्च' (पा० 8.4.53) से झकार को जश्त्व (जकार)। ज हा म—धातु के आकार का लोप। ज ह् म—सन्वद्भाव होने से 'सन्यत:' (पा० 7.4.79) से अत् के स्थान पर इकार आदेश—जिह्म सु।

(142) अवतेष्टिलोपश्च [1.142]

पद०—अवते: 5.1, टिलोप: 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'अर्त्ति····नीभ्यो मन्' (उ०सू० 1.140) से 'मन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अव्धातोर् मन् प्रत्यय: स्यात्, प्रत्ययस्य च टिलोप: स्यात्।

व्याख्या—'अवते:' पद पञ्चम्यन्त है। अर्थ—अव् धातु से परे मन् प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय की टिभाग का लोप होता है। 'अचोऽन्त्यादि टि' से टिसञ्ज्ञा होती है। मन् के 'अन्' अंश की टिसञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—मन्प्रत्ययस्य टिलोपो धातोरुपधावकारयोरूठ्। अवति रक्षादिकं करोतीति **ओम्**, प्रणव आरम्भोऽनुमतिर्वा। **चादिषु** (अ० 1.4.57) पाठादस्याव्ययत्वम्।

उदा०—(1) ओम् (= प्रणव)—अवति रक्षति। अव रक्षणादिषु धातु। अव् मन्—'ज्वरत्वर०' (पा० 6.4.20) से ऊठ् आदेश—ओ मन्—प्रत्यय की टि का लोप, सु। चादि में पाठ होने से अव्यय सञ्ज्ञा होती है।

विशेष—दशपादी में दो स्थानियों के स्थान पर दो ऊठ् आदेश किया है। अव् मन्—ऊ ऊ मन्—'अक: सवर्णे दीर्घ:' से सवर्णदीर्घ—ऊ मन्—गुण, सु।

ओम् शब्द का चादि में पाठ होने से यह निपात है। निपात सञ्ज्ञा होने से इसकी अव्यय सञ्ज्ञा होती है परन्तु भट्टोजि दीक्षित लिखते हैं कि यह अनुचित है। वास्तव में स्वरादिगण में पाठ होने से इसकी अव्यय सञ्ज्ञा होती है।

(143) ग्रसेरा च [1.143]

पद०—ग्रसेः 5.1, आ—1.1, च—अव्य० ।
अनु०—'अर्त्ति·····नीभ्यो मन्' (उ०सू० 1.140) से 'मन्' की अनुवृत्ति है ।
सं०—ग्रस्धातोर् मन् प्रत्ययः स्यात्, धातोश्च आकारादेशो भवति ।

व्याख्या—'ग्रसेः' पद की पूर्ववत् आवृत्ति की जाती है । अर्थ—ग्रस् धातु से परे मन् प्रत्यय होता है तथा धातु को आकार आदेश होता है । 'अलोऽन्त्यस्य' से आकार आदेश धातु के अन्त्य अल् (स्) के स्थान पर होता है ।

स्वा०द०वृ०—मन् । ग्रसतेऽत्ति यो वा ग्रस्यते स **ग्रामः**, शालासमुदायः प्राणिनिवासो वा; **सङ्ग्रामो** युद्धं वा । शालीनां ग्रामः समूहः **'शालिग्रामः'**, एवं **शब्दग्रामः** । **ग्रामो** गानविद्यायां स्वरभेदश्च ।

उदा०—(1) ग्रामः (= गाँव)—ग्रसतेऽत्ति । ग्रस्यते । ग्रसु अदने । ग्रस् मन्—आकार अन्तादेश—ग्र आ म—अकः सवर्णे दीर्घः—ग्रा म सु ।

(144) अविसिविसिशुषिभ्यः कित् [1.144]

पद०—अविसिविसिशुषिभ्यः 5.3, कित् 1.1
अनु०—'अर्त्ति·····नीभ्यो मन्' (उ०सू० 1.140) से 'मन्' का अनुवर्त्तन है ।
सं०—अव् सिव् सि शुष्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो मन् प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः ।

व्याख्या—अव्, सिव्, सि, शुष—इन धातुओं से परे मन् प्रत्यय होता है तथा वह प्रत्यय कित्सञ्ज्ञक होता है । कित्करण का प्रयोजन गुणनिषेध है ।

स्वा०द०वृ०—मन् कित् । अवति रक्षणादिकं भवति यत्र तत् **ऊमम्,** नगरं वा; टापि कृते बाहुलकाद्ध्रस्वे च **'उमा'**, [अतसी] विशिष्टा स्त्री वा । सीव्यति तन्तून् सन्तनोतीति **स्यूमः,** रश्मिर्वा । सिनोति बध्नातीति **सिमः**, सर्वनामसंज्ञः सर्वपर्य्यायः । शुष्यति निस्सारं करोतीति **शुष्मम्,** अग्निर्वायुर्वा ।

उदा०—(1) ऊमम् (= नगर)—अवति । अव रक्षणादिषु । अव् मन्—ऊठ् आदेश—ऊ म सु—अतोऽम् ।
(2) स्यूमः (= किरण)—सीव्यति तन्तून् । सन्तनोति । षिवु तन्तुसन्ताने । 'धात्वादेः षः सः' से सकार—सिव् मन्—ऊठ् आदेश । स् इ ऊ म—'इको यणचि' से यणादेश—स्यूम सु ।

8 उ०को०

(3) सिमः (= सर्व)—सिनोति बध्नाति। षिञ् बन्धने। धात्वादेः षः सः—सि मन् सु।

(4) शुष्मम् (= अग्नि, वायु)—शुष्यतीति। शोषयतीति। शुष शोषणे। शुष् मन् सु।

(145) इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक् [1.145]

पद०—इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यः 5.3, मक् 1.1

सं०—इष् युध् इन्ध् दस् श्यै धू सू इत्येतेभ्यो धातुभ्यो मक्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—इष्, युध्, इन्ध्, दस्, श्यै, धू तथा सू—इन धातुओं से परे मक् प्रत्यय होता है। मक् के 'क्' की इत्सञ्ज्ञा 'हलन्त्यम्' से होती है। 'तस्य लोपः' से उसका लोप हो जाता है। 'म' शेष रहता है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—य इच्छति य इष्यते [वा] स **इष्मः,** कामो वसन्त ऋतुर्वा। युध्यते यो येन वा स **युध्मः**, बाणो वा। य इन्धे दीप्यते वा येनेन्धे स **इध्मः,** समिधः [वा]। दस्यत्युपक्षयति दुःखयति वा स **दस्मः,** यजमानो वा। श्यायति गच्छति प्राप्नोति वा स **श्यामः**, हरितः कृष्णो वा; अप्रसूता स्त्री **'श्यामा'** लतौषधी वा इत्यादि। धूनोति कम्पयतीति **धूमः,** अग्निसम्भवो वा। सूते जनयति प्राणिगर्भं विमुञ्चतीति **सूमः,** अन्तरिक्षं वा।

बाहुलकात्—ईर्त्ते गच्छति कम्पते वा तत् **ईर्मम्,** व्रणं वा। क्षौति शब्दयतीति सा **क्षुमा,** अतसी वा। जजन्ति जायते तत् **जन्म,** उत्पत्तिर्वा [इत्यादि]।

उदा०—(1) इष्मः (= कामदेव, वसन्त ऋतु)—य इच्छति। य इष्यते। इषु इच्छायाम्। इष् मक् सु। 'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त गुण का निषेध।

(2) युध्मः (= बाण)—युध्यते यो येन वा। युधि सम्प्रहारे। युध् मक्—लघूपधगुणनिषेध।

(3) इध्मः (= समिधा)—य इन्धे दीप्यते। इन्धी दीप्तौ। इन्ध् मक्—'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति०' से अनुनासिक लोप—इध् म सु।

(4) दस्मः (= यजमान)—दस्यत्युपक्षयति। दुःखयति। दसु उपक्षये। दस् मक् सु।

(5) श्यामः (= कृष्ण, हरित)—श्यायति गच्छति प्राप्नोति। श्यैङ् गतौ। श्यै—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आकार आदेश—श्या मक् सु।

(6) धूमः (= धूआ)—धुनोति कम्पयति। धूञ् कम्पने। धू मक् सु।

(7) सूमः (= अन्तरिक्ष, जल, दूध)—सूते जनयति। षूङ् प्राणिगर्भविमोचने। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—सू मक्—आर्धधातुक लक्षण गुण का निषेध, सु।

(8) ईर्मम् (= घाव)—ईर्त्ते गच्छति कम्पते। ईर् मक् सु। बाहुलकात् प्रत्यय।

(9) क्षुमा (= अतसी)—क्षौति शब्दयति। बाहुलकात् प्रत्यय। क्षु मक् सु।

(10) जन्म (= उत्पत्ति)—जजन्ति जायते तत्। बाहुलकात् प्रत्यय। जन् मक् सु।

(146) युजिरुचितिजां कुश्च [1.146]

पद०—युजिरुचितिजाम् 6.3, कुः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'इषि⋯मक्' (उ०सू० 1.145) से 'मक्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—युज् रुच् तिज् इत्येतेभ्यो धातुभ्यो मक्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च कुत्वं भवति।

व्याख्या—'युजिरुचितिजाम्' को विभक्तिविपरिणाम से पञ्चम्यन्त बना लिया जाता है। तब 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होकर युजादि धातुओं से प्रत्यय किया जाता है। अर्थ—युज्, रुच् तथा तिज्—इन धातुओं से परे मक् प्रत्यय होता है तथा इन धातुओं को कुत्व अर्थात् कवर्गीय आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से कुत्व आदेश धातु के अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। मक् के कित् होने से प्राप्त लघूपध गुण का निषेध होता है।

स्वा०द०वृ०—मक्। युज्यते तत् **युग्मम्,** द्वयोरेककर्मणि सम्बन्धः। रोचते प्रदीप्तवर्णो भवति स **रुक्मः,** वर्णभेदो वा; तद्वर्णयोगाद् रुक्मं सुवर्णम्; रुक्मो वर्णोऽस्यास्तीति 'रुक्मिणी' स्त्री। तेजते छिनत्तीति **तिग्मम्,** तीक्ष्णम् [वा]। विशेष्यलिङ्गोऽयं शब्दः—**तिग्मा** धीः; **तिग्मः** तीव्रो वा।

उदा०—(1) युग्मम् (= युगल)—युज्यते तत्। युज समाधौ। युज् मक्—जकार के स्थान पर कवर्गीय आदेश प्राप्त हुआ। 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ग्' हुआ—युग् म सु—अतोऽम्।

(2) रुक्मम् (= सोना)—रोचते। रुच् मक्—रुक् म सु—चकार को ककार।

(3) तिग्मम् (= तीक्ष्ण)—तेजते छिनत्ति। तिज् मन्—कुत्व, सु।

(4) रुक्मिणी—रुक्मो वर्णोऽस्याऽस्तीति। 'अत इनिठनौ' (पा० 5.2.115) से मत्वर्थ में 'इनि' हुआ—रुक्मिन्—'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (पा० 4.1.5) से ङीप्—रुक्मिणी—णत्व, सु, अपृक्त सकार का लोप।

(147) हन्तेर्हि च [1.147]

पद०—हन्तेः 5.1, हि 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'इषि····मक्' (उ०सू० 1.145) से 'मक्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—हन्धातोर् मक् प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च 'हि' इत्यादेशो भवति ।

व्याख्या—'हन्तेः' पद की आवृत्ति की जाती है । प्रथम 'हन्तेः' पद को पञ्चम्यन्त मान कर धातु से प्रत्यय किया जाता है । द्वितीय 'हन्तेः' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मान कर धातु को आदेश किया जाता है । अर्थ—हन् धातु से परे मक् प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर 'हि' आदेश होता है । 'हि' आदेश अनेकाल् है । 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' के द्वारा सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् हन्) के स्थान पर यह आदेश होता है ।

स्वा०द०वृ०—मक् । हन्त्युष्णं दुर्गंधिं वा तत् **हिमम्,** हेमन्त ऋतुस्तुषारश्चन्दनं वा; महत् हिमं **'हिमानी'** । ङीष् आनुक् [च] ।

उदा०—(1) हिमम् (= बर्फ)—हन्त्युष्णं दुर्गन्धिं वा । हन हिंसागत्योः । हन्—हि मक् सु—अतोऽम् ।

विशेष—'इन्द्रवरुणभवशर्व०' (पा० 4.1.49) से तथा महत्त्व अर्थ में 'हिमाऽरण्ययोर्महत्त्वे' (वा०) से ङीप् और आनुक् आगम होकर 'हिमानी' शब्द बनता है ।

दशपादी में 'हेम' शब्द दर्शाया है । यथा—बाहुलकाद् गुणः—हि मक्—हे म सु—अतोऽम् ।

(148) भियः षुग्वा [1.148]

पद०—भियः 5.1, षुक् 1.1, वा—अव्य० ।

अनु०—'इषि····मक्' (उ०सू० 1.145) से 'मक्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—भीधातोर् मक् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'षुक्' इत्यागमो विकल्पेन भवति ।

व्याख्या—भी धातु से परे मक् प्रत्यय होता है तथा धातु को विकल्प से षुक् आगम विकल्प से होता है । षुक् के 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है । उकार उच्चारणार्थ है । ष् शेष रहता है । 'आद्यन्तौ टकितौ' से धातु का अन्ताऽवयव बनता है ।

स्वा०द०वृ०—बिभेति बिभ्यति या यस्मात् यस्या वा स **भीमः, भीमा** वा; **भीष्मः, भीष्मा** वा । **भीमो** भयानकः, पाण्डुपुत्रो वा । भीमा भयानका सेना यस्य स **'भीमसेनः'**, एवं **'भीष्मसेनः'** वा ।

उदा०—(1) भीष्मः (= भयानक)—बिभेत्यस्मात्। ञिभी भये। भी षुक् मक्—अनुबन्धलोप, सु।

(2) भीमः (= भयानक, विशाल)—पक्ष में षुक् न हुआ—भी मक्—सु।

(149) घर्मग्रीष्मौ [1.149]

पद०—घर्मग्रीष्मौ 1.2

सं०—'घर्म ग्रीष्म' इत्येतौ शब्दौ मक्प्रत्ययान्तौ निपात्येते।

व्याख्या—घर्म और ग्रीष्म—ये दो शब्द मक्प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध हैं।

स्वा०द०वृ०—मक्प्रत्ययान्तो निपात्येते। जिघर्त्ति क्षरति नश्यति दीप्यते वा प्राणिनो जगद्वा येन स **घर्मः**, यज्ञ आतपो ग्रीष्म ऋतुः स्वेदो वा। ग्रसते शीतं रसादिकं वा स **ग्रीष्मः**, अत्युष्णकालो वा। 'ग्रस'धातोर्ग्रीभावः षुगागमश्च निपातनात्।

उदा०—(1) घर्मः (= धूप, यज्ञ, पसीना, कटाह)—जिघर्त्ति क्षरति नश्यति. दीप्यते। घृ मक्—निपातन से गुण, रपरत्व—घर्म सु। घृ क्षरणदीप्त्योः धातु।

(2) ग्रीष्मः (= उष्णकाल)—ग्रसते शीतम्। ग्रस् मक्—ग्रसु अदने धातु से निपातन से मक् प्रत्यय। धातु को निपातन से 'ग्री' आदेश तथा षुक् आगम—ग्री षुक् मक्—अनुबन्धलोप, सु।

(150) प्रथेः षिवन्षवन्ष्वनः सम्प्रसारणं च [1.150]

पद०—प्रथेः 5.1, षिवन्षवन्ष्वनः 1.3, सम्प्रसारणम् 1.1, च—अव्य०।

सं०—प्रथ्धातोः षिवन् षवन् ष्वन् इत्येते प्रत्ययाः पर्यायेण स्युः, धातोश्च सम्प्रसारणं स्यात्।

व्याख्या—'प्रथेः' की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'प्रथेः' पद को पञ्चम्यन्त मान कर धातु से परे प्रत्यय होते हैं। द्वितीय 'प्रथेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को सम्प्रसारण किया जाता है। अर्थ—प्रथ् धातु से परे षिवन्, षवन् और ष्वन् प्रत्यय पर्यायेण होते हैं तथा धातु को सम्प्रसारण होता है।

'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से धातु के यण् वर्ण (रेफ) के स्थान पर इक् वर्ण (ऋ) होता है। 'स्थानेऽन्तरतमः' से रेफ का सदृशतम 'ऋ' होता है। षिवन् के न् (हलन्त्यम् से) तथा ष् ('षः प्रत्ययस्य' से) की इत्सञ्ज्ञा है। 'इव' शेष रहता है। षवन् के न् तथा ष् की इत्सञ्ज्ञा होती है। 'अव' शेष रहता है। ष्वन् के न् तथा ष् की पूर्ववत् इत्सञ्ज्ञा है। 'व' शेष रहता है। न् अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादि-

र्नित्यम्' (पा० 6.1.196)। ष् अनुबन्ध 'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (पा० 4.1.41) से ङीष् प्रत्यय के लिए है।

स्वा०द०वृ०—प्रथते विस्तीर्णा भवतीति **पृथिवी, पृथवी, पृथ्वी,** भूमिरन्तरिक्षं वा। इत्येकार्थास्त्रयः।

उदा०—(1) पृथिवी (= भूमि)—प्रथते विस्तीर्णा भवति। प्रथ विस्तारे। प्रथ् षिवन्—प्रथ् इव—सम्प्रसारण—प् ऋ अथ् इव—'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप—पृथिव ङीष्—षिद्गौरादिभ्यश्च, अनुबन्धलोप, हलन्त्यम्, लशक्वतद्धिते—पृथिव ई—भसञ्ज्ञा, 'यस्येति च' से आकारलोप—पृथिव् ई सु—'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से अपृक्त सकार का लोप।

(2) पृथवी—प्रथ् षवन्—पृथ् अव—सम्प्रसारण—पृथव ई—ङीष्, सु।

(3) पृथ्वी—प्रथ् ष्वन्—सम्प्रसारण, ङीष्—पृथ्वी सु—अपृक्त सकार का लोप।

विशेष—पृथिवी शब्द का गौरादिगण में पाठ है। प्रकृत सूत्र के द्वारा षित्करण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि षिल्लक्षण विधि अनित्य होती है।

(151) अशुप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन् [1.151]

पद०—अशुप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः 5.3, क्वन् 1.1

सं०—अश् प्रुष् लट् कण् खट् विश्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्वन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—अश्, प्रुष्, लट्, कण्, खट् और विश् धातुओं से क्वन् प्रत्यय होता है। क्वन् के न् की 'हलन्त्यम्' से तथा क् की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा होती है। 'व' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—अश्नुते व्याप्नोतीति **अश्वः,** तुरङ्गो वह्निर्वा; **अजादि**पाठात् (द्रष्टव्य—अ० 4.1.4) स्त्रियाम् **अश्वा**। यः प्रुष्णाति स्निह्यति सिञ्चति पूरयति वा स **प्रुष्वः,** ऋतुः सूर्य्यो वा। लटति बाल इव भवति सा **लट्वा,** नियतस्त्रीलिङ्गः, करञ्जभेदः फलं वाद्यं पक्षिभेदो वा। कणति निमीलति चेष्टतेऽसौ **कण्वः, कण्वं** पापं, **कण्वो** मुनिर्वा, येनादावध्यापिता **काण्वी** शाखेति प्रसिद्धा वा। खट्यते काङ्क्ष्यते या सा **खट्वा**, शय्याभेदो वा। विशति सर्वत्र स **विश्वः, विश्वं** जगत्, **विश्वा** अतिविषा वा। सर्वादिपाठात् सर्वनामसंज्ञश्च।

उदा०—(1) अश्वः (= घोड़ा, अग्नि)—अश्नुते व्याप्नोति। अशूङ् व्याप्तौ।

अश् क्वन्—अश्व सु। अजादिगण में पाठ होने से 'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० 4.1.4) से टाप् होकर 'अश्वा' बनता है।

(2) प्रुष्वः (= ऋतु, सूर्य, जलबिन्दु)—यः प्रुष्णाति स्निह्यति। सिञ्चति पूरयति। प्रुष प्रीतौ। प्रुष् क्वन् सु।

(3) लट्वः (= करञ्ज का प्रकार)—लटति बाल इव भवति। लट बाल्ये। लट् क्वन् सु।

(4) कण्वः (= पाप, एक मुनि)—कणति निमीलति। चेष्टतेऽसौ। कण गतौ। कण् क्वन सु।

(5) खट्वा (= शय्या)—खट्यते काङ्क्ष्यते या सा। खट काङ्क्षायाम्। खट् क्वन्—टाप्, सु।

(6) विश्वः (= समग्र)—विशति सर्वत्र। विश प्रवेशने। विश् क्वन्—सु। सर्वादिगण में इसका पाठ होने से सर्वनाम सञ्ज्ञा।

(152) इण्शीभ्यां वन् [1.152]

पद०—इण्शीभ्याम् 5.2, वन् 1.1

सं०—इण् शी इत्येताभ्यां धातुभ्यां वन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—इण् तथा शी धातुओं से परे वन् प्रत्यय होता है। वन् के न् की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा होती है। वन् को नित् आद्युदात्त स्वर के लिए किया है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'। (पा० 6.1.196)

स्वा०द०वृ०—एति प्राप्नोतीति **एवः**; बाहुलकात् **एव** इत्यवधारणेऽव्ययम्। शेतेऽसौ **शेवः**, सुखं मेढ्रं वा।

उदा०—(1) एव (= अवधारण अर्थ में एक अव्यय)—एति प्राप्नोति। इण् गतौ। इ वन्—इ व—'आर्धधातुकं शेषः' से वन् की आर्धधातुक सञ्ज्ञा—ए व—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, सु, अव्यय सञ्ज्ञा होने से विभक्ति का लोप।

(2) शेवः (= सुख, शिश्न,सर्प, निधि)—शेतेऽसौ। शीङ् स्वप्ने। शी वन्—पूर्ववत् गुण, सु।

(153) सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिवपट्वप्रह्वेष्वा अतन्त्रे [1.153]

पद०—सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिवपद्वप्रह्वेष्वाः 1.3, अतन्त्रे 7.1

सं०—सर्व निघृष्व रिष्व लष्व शिव पट्व प्रह्व ईष्व इत्येते वन्प्रत्ययान्ताः शब्दा निपात्यन्ते, न तु तन्त्रेऽभिधेये।

व्याख्या—यदि 'तन्त्र' अर्थ वाच्य न हो तो सर्व, निघृष्व, रिष्व, लष्व, शिव, पट्व, प्रह्व और ईष्व—ये शब्द वन् प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध हैं। निपातन में उपलब्ध कार्यों के अनुसार प्रकृति और प्रत्ययों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

स्वा०द०वृ०—सर्वादयो वन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। सरतीति **सर्व:**, सम्पूर्णवाची सर्वनामसंज्ञी विशेषणम्। नितरां घर्षति पिनष्टीति **निघृष्व:,** खुरं वा। गुणाभाव:। रेषति हिनस्तीति **रिष्व:** हिंसक:। लषति कामयतेऽसौ **लष्व:,** नर्त्तको वा। शेतेऽसौ **शिव:, शिव** ईश्वर:; **शिवं** भद्रं सुखमुदकं च; **'शिवा'** हरीतकी। धातोर्ह्रस्वत्वम्। पट्यन्ते गच्छन्त्यत्रेति **पट्व:,** भूलोको वा। प्रजहाति त्यजति स प्रह्व:, नम्रो वा। अकारलोपे निपातनम्। ईषते हिनस्त्यज्ञानमिति **ईष्व:,** आचार्यो वा। 'अतन्त्र' इति किम्? सर्त्ता सारक इत्यादि। सूत्रेषु पठिता: सर्वादिशब्दा यौगिका मा भूवन्।

बाहुलकात्—ह्रसति शब्दयतीति **ह्रस्व:**, वामन एकमात्रो वर्णो वा।

उदा०—(1) सर्व: (= सब, विष्णु, शिव)—सरतीति। सृ गतौ। सृ वन्—गुण, सु।

(2) निघृष्व: (= खुर, वायु)—नितरां घर्षति पिनष्टि। निपूर्वकाद् घृषु सङ्घर्षे धातुर् वन् से प्राप्त लघूपधगुण का निषेध, सु।

(3) रिष्व: (= हिंसक)—रेषति हिनस्ति। रिष हिंसायाम्। रिष् वन्—निपातनात् गुणाभाव:।

(4) लष्व: (= कामुक, नर्त्तक)—लषति कामयते। लष कान्तौ। लष् वन् सु।

(5) शिव: (= शंकर, सुख, जल, लिङ्ग)—शेतेऽसौ। शीङ् स्वप्ने। शी वन्—निपातनाद् गुणाऽभाव:।

(6) पट्व: (= भूलोक, रथ, मार्ग)—पद्यन्ते गच्छन्त्यत्र। पद गतौ। पट्वन् सु।

(7) प्रह्व: (= नम्र, दीन)—प्रजहाति त्यजति। प्रपूर्वका ओहाक् त्यागे धातु से वन्, निपातनाद् आकारलोप:—प्र ह् व सु।

(8) ईष्व: (= आचार्य, कामदेव, वसन्त ऋतु)—ईषते हिनस्ति अज्ञानम्। ईष गतिहिंसादर्शनेषु। ईष् वन् सु।

(9) ह्रस्व: (= वामन)—ह्रसति शब्दयति। ह्रस् वन् सु—बाहुलकात् प्रत्यय।

श्वेतवनवासी आदि वृत्तिकार 'ईष्व' के स्थान पर ह्रस्व इकारवान् 'इष्व' शब्द स्वीकार करते हैं। दोनों अवस्थाओं में संहिता तुल्य दृष्टिगोचर होती है।

(154) शेवायह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवा: [1.154]

पद०—शेवायह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवा: 1.3

सं०—शेवा यह्व जिह्वा ग्रीवा अप्वा मीव—इत्येते शब्दा वन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—शेवा, यह्व, जिह्वा, ग्रीवा, अप्वा तथा मीव—ये शब्द वन् प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध हैं।

स्वा०द०वृ०—शेवादयो वन्नन्ता निपात्यन्ते। शेतेऽसौ **शेवा,** लिङ्गाकृतिर्वा। यजतीति **यह्वः**, यजमानो वा। जकारस्य हकारः। जयति यया सा **जिह्वा,** इन्द्रियं वा। धातोर्हुक्। निगलति यया सा **ग्रीवा,** शरीराङ्गं वा। धातोर्ग्रीभावः। आप्नोति यया सा **अप्वा,** कण्ठस्थानं वा। [धातोर्ह्रस्वत्वम्।] मीनाति हिनस्तीति **मीवः,** उदरकृमिर्वा [गुणाभावो निपात्यते]।

उदा०—(1) शेवा (= लिंग, आकृति)—शेतेऽसौ। शीङ् स्वप्ने। शी वन्—गुण, स्त्रियाम्, टाप्, सु। शेवः = अजगर।

(2) यह्वः (= यज्ञ, यजमान)—यजतीति। यज देवपूजनसङ्गतिकरणदानेषु। यज् वन्—निपातन से जकार को हकार, सु, दशपादी में हुक् आगम।

(3) जिह्वा (= इन्द्रिय-विशेष)—जयति यया सा। जि जये। धातु को हुक् आगम—जि हुक् वन्—अनुबन्धलोप—जिह्व टाप्—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्, सु, लोप।

(4) ग्रीवा (= गरदन)—निगलति यया। गॄ निगरणे। गॄ वन्—निपातन से धातु को 'ग्री' आदेश—ग्री व टाप् सु—पूर्ववत्।

(5) अप्वा (= कण्ठस्थान)—आप्नोति यया सा। आप्लृ व्याप्तौ। आप् वन्—निपातन से धातु ह्रस्व, टाप्, सु—पूर्ववत्। कुछ वृत्तिकार 'आप्वा' रूप मानते हैं।

(6) मीवः (उदरकृमि)—मीनाति हिनस्ति। मीञ् हिंसायाम्। मी वन्—निपातन से गुणनिषेध, सु। श्वेतवनवासी आदि वृत्तिकार 'अमीवा' शब्द स्वीकार करते हैं यथा—नञ् मीञ् हिंसायाम् व प्रत्यय।

(155) कॄगॄशॄदॄभ्यो वः [1.155]

पद०—कॄगॄशॄदॄभ्यः 5.3, वः 1.1

सं०—कॄ गॄ शॄ दॄ—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो वप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कॄ, गॄ, शॄ और दॄ—इन धातुओं से परे 'व' प्रत्यय होता है। 'व' की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा होती है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण तथा 'उरण् रपरः' से रपरत्व होता है।

स्वा०द०वृ०—किरति विक्षिपति चित्तमिति **कर्वः**, कामो वा। गिरतीति **गर्वः**, अहङ्कारो वा। शृणाति दुःखमिति **शर्वः** परमेश्वरः, सुखं वा। दृणाति विदारयति प्राणिन इति **दर्व,** हिंसको जनो वा।

उदा०—(1) कर्वः (= काम, चूहा)—किरति विक्षिपति। कृ विक्षेपे। कृ व—कर् व सु—गुण।

(2) गर्वः (= अहङ्कार)—गिरतीति। गृ निगरणे। गृ व—गर् व सु—पूर्ववत्।

(3) शर्वः (= परमेश्वर, सुख)—शृणाति दुःखं हिनस्ति। शृ हिंसायाम्। शृ व—शर्व सु।

(4) दर्वः (= हिंसक व्यक्ति)—दृणाति विदारयति प्राणिनः। दृ विदारणे। दृव—दर् व सु।

(156) कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः [1.156]

पद०—कनिन् 1.1, युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः 5.1

सं०—यु वृष् तक्ष् राज् धन्व् द्यु प्रतिदिव्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कनिन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—यु, वृष्, तक्ष्, राज्, धन्व्, द्यु और प्रतिपूर्वक दिव्—इन धातुओं से परे कनिन् प्रत्यय होता है। न् की 'हलन्त्यम्' से तथा क् की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा होती है। नकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है। 'अन्' शेष रहता है। क् अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है। न् अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)।

स्वा०द०वृ०—यौति मिश्रयत्यमिश्रयति वा स **युवा**, मध्यावस्थस्तरुणो जनो वा। वर्षतीति **वृषा**, सूर्यो वा। तक्षति तनूकरोति स **तक्षा**, वर्धकिर्वा। राजते प्राप्तो भवतीति **राजा**, भूपतिश्चन्द्रमा वा। धन्वति गच्छतीति **धन्वा**, बाणक्षेपणं वा। द्यौत्यभिगच्छतीति **द्युवा**, सूर्यो वा। प्रतिदीव्यन्ति यस्मिन् स **प्रतिदिवा**, दिवसो वा; बहुलवचनात् केवलादपि 'दिव'धातोः कनिन्। तेन **दिवा, दिवानौ** इत्याद्यपि सिद्धम्।

उदा०—(1) युवा (= तरुण)—यौति मिश्रयत्यमिश्रयति। यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः। यु कनिन्—अनुबन्धलोप—यु अन्—'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' (पा० 6.4.77) से उवङ् आदेश—युवङ् अन्—युवन् सु—'हल्ङ्याब्भ्यो०' (पा० 6.1.66) से अपृक्त सकार का लोप—युवन्—'सर्वनामस्थाने चाऽस०' (पा० 6.4.8) से उपधावृद्धि। 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नलोप।

(2) वृषा (= इन्द्र, अश्व, बलीवर्द)—वर्षतीति। वृषु सेचने। वृष् कनिन्—वृष् अन्—'क्' का लोप, सु।

(3) तक्षा (= कारीगर)—तक्षति तनूकरोति। तक्ष तनूकरणे। तक्ष् कनिन्—तक्षन् सु—पूर्ववत्।

(4) राजा (= नृप)—राजते। राजृ दीप्तौ। राज् कनिन्—राजन् सु—विभक्ति-कार्य।

(5) धन्वा (= बाणक्षेपण)—धन्वति गच्छति। धवि गतौ। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम्—धन्व् कनिन्—धन्वन् सु—विभक्तिकार्य।

(6) द्युवा (= सूर्य)—द्यौत्यभिगच्छति। द्यु अभिगमने। द्यु कनिन्—उवङ्—द्युवन् सु।

(7) प्रतिदिवा (= दिन)—प्रति दीव्यन्ति यस्मिन्। प्रतिदिव् कनिन्—सु, पूर्ववत्।

(8) दिवा—बाहुलकात् केवल दिव् धातु से प्रत्यय।

(9) अक्षा—अक्षू व्याप्तौ। अक्ष्णोतीति।

(10) ईशा—ईश ऐश्वर्ये। ईष्टेऽसौ।

(11) लुवा (= दात्र)—लूञ् छेदने। लुनातीति।

(157) सप्यशूभ्यां तुट् च [1.157]

पद०—सप्यशूभ्याम् 5.2, तुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कनिन्.....दिवः' (उ०सू० 1.156) से 'कनिन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सप् अश् इत्येताभ्यां धातुभ्यां कनिन् प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च 'तुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—सप् तथा अश्—इन धातुओं से परे कनिन् प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को तुट् आगम होता है। ट् की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'त्' शेष रहता है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से तुट् आगम प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—सपति समवैतीति **सप्तन्,** संख्याभेदो वा। अश्नुते व्याप्नोतीति **अष्टन्,** संख्या वा।

बाहुलकात्—पञ्चति व्यक्तीकरोतीति **पञ्चन्,** संख्यावाचको वा। दशतीति **दशन्,** संख्याविशेषो वा। नौतीति **नवन्,** संख्या वा। बाहुलकाद् गुणः।

उदा०—(1) सप्त (= सात)—सपति समवैतिं। षप समवाये। 'धात्वादेः षः

सः' से सकार आदेश—सप् तुट् कनिन्—अनुबन्धलोप—सप्तन् सु—सुलोप, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (पा० 8.2.7) से नलोप।

(2) अष्ट (= आठ)—अश्नुते व्याप्नोति। अशूङ् व्याप्तौ। अश् तुट् कनिन्—अनुबन्धलोप—अश् त् अन्—श् को ष् हुआ—अष् त् अन्—'ष्टुना ष्टुः' से टकार—अष्टन् सु—विभक्तिकार्य।

(3) पञ्च (= पाँच)—पञ्चति व्यक्तीकरोति। पञ्च् कनिन् सु—पूर्ववत्। बाहुलकात् प्रत्यय।

(4) दश (= दश)—दशतीति। दश् अन् सु—बाहुलकात् प्रत्यय।

(5) नव (= नौ)—नौतीति। नु कनिन्—बाहुलकात् गुण—नो अन्—अव् आदेश, सु।

(158) नञि जहातेः [1.158]

पद०—नञि 7.1, जहातेः 5.1

अनु०—'कनिन्.....प्रतिदिवः' (1.156) से 'कनिन्' का अनुवर्त्तन है।

स०—नञि उपपदे हाधातोः कनिन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'नञि' = 'नञ्' शब्द के उपपद रहते। अर्थ—नञ् उपपद हो तो हा धातु से कनिन् प्रत्यय हाता है।

स्वा०द०वृ०—जहाति त्यजति पृथक्करोत्यन्धकारमिति **अहः** दिनम्।

उदा०—(1) अहः (= दिन)—जहाति त्यजति (अन्धकारम्)। ओहाक् त्यागे। नञ् कनिन्—अनुबन्धलोप—न हा अन्—'नलोपो नञः' (पा० 6.3.73) से न् का लोप—अ हा अन्—'आतो लोप इटि च' (पा० 6.4.64) से आकारलोप—अहन् सु।

(159) श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्क्लेदन्स्नेहन्मूर्धन्मज्जन्नर्यमन्विश्वप्सन्-परिज्वन्मातरिश्वन्मघवन्निति [1.159]

पद०—श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्क्लेदन्स्नेहन्मूर्धन्मज्जन्नर्यमन्विश्वप्सन्परिज्वन्-मातरिश्वन्मघवन् 1.1, इति—अव्य०।

सं०—श्वन् उक्षन् पूषन् प्लीहन् क्लेदन् स्नेहन् मूर्धन् मज्जन् अर्यमन् विश्वप्सन् परिज्वन् मातरिश्वन् मघवन् इत्येते शब्दाः कनिन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—श्वन्, उक्षन्, पूषन्, प्लीहन्, क्लेदन्, स्नेहन्, मूर्धन्, मज्जन्, अर्यमन्, विश्वप्सन्, परिज्वन्, मातरिश्वन् तथा मघवन्—ये शब्द कनिन्प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध हैं। दशपादी में 'इति' शब्द का पाठ नहीं है।

स्वा०द०वृ०—श्वनादयस्त्रयोदश शब्दाः कनिनन्ता निपात्यन्ते। श्वयति गच्छति वर्द्धतेऽसौ **श्वा,** कुक्कुरो वा; स्त्रियां ङीष् **'शुनी'**। उक्षति सिञ्चतीति **उक्षा,** बलीवर्दो वा। पूषति वर्धतेऽसौ **पूषा,** सूर्यो वायुर्वा। प्लिह्यते प्राप्यतेऽन्तरिति **प्लीहा,** कुक्षिव्याधिर्वा। धातोरुपधादीर्घत्वम्। क्लिद्यत्यार्द्रीभवतीति **क्लेदा,** चन्द्रमा वा। धातोर्गुणः। स्निह्यति प्रीतिं करोतीति **स्नेहा,** व्याधिर्वा। धातोर्गुणः। मूर्वति बध्नाति स **मूर्द्धा,** शिरो वा। उकारस्य दीर्घो वकारस्य धकारश्च। मज्जति शुन्धतीति **मज्जा,** अस्थिसारो वा। अर्यं स्वामिनं मिमीते मन्यते जानातीति **अर्यमा,** आदित्यो वा। विश्वं प्साति भक्षयतीति **विश्वप्सा,** अग्निर्वा। परितो जवति वेगवान् भवतीति **परिज्वा** चन्द्रमाः। 'जु' इति सौत्रो धातुस्तस्य यणादेशः। मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छति वर्द्धते वा, अथवा मातरि श्वसिति जीवयति शेते वा स **मातरिश्वा,** वायुर्वा। मह्यते पूज्यतेऽसौ **मघवा,** सूर्यो वा। 'मह'-धातोर्हकारस्य घत्वं अवुगागमश्च। मघवदीति तकारान्तोऽप्ययं शब्दो दृश्यते। तव मघं धनमस्यास्तीति **मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः** इति मतुबन्तः। कनिनन्तस्तु—मघवा, मघवानौ, मघवानः; मघवन्, मघवानम्, मघवानौ, मघोनः।

अस्मिन् सूत्र 'इति' शब्दः प्रकारार्थे। एवंविधा अन्येऽपि कनिनन्ता शब्दा यथाप्रयोगं साध्याः। पादसमाप्त्यर्थो वेति शब्दः॥

उदा०—(1) श्वा (= कुत्ता)—श्वयति गच्छति वर्धते। टुओश्वि गतिवृद्ध्योः। श्वि कनिन्—निपातन से धातु का अन्त्यलोप—श्व् अन् सु—श्वन्—श्वान्—श्वा।

(2) उक्षा (= वृषभ)—उक्षति सिञ्चति। उक्ष सेचने। उक्ष् कनिन्—उक्षन् सु—'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकारलोप।

(3) पूषा (= सूर्य, वायु)—पूषति वर्धतेऽसौ। पूष वृद्धौ अथवा पुष पुष्टौ। पूष् कनिन्—प्राप्त लघूपध गुण का निपातन से निषेध—पूषन् सु—इन्हन्पूषार्य०, सौ च (पा० 6.4.12-13)।

(4) प्लीहा (= एक रोग)—प्लिह्यते प्राप्यतेऽन्तर् इति। प्लीह गतौ। प्लीह् कनिन्—धातु की उपधा को दीर्घ आदेश निपातन से—प्लीहन् सु—प्लीहन्—प्लीहान्—प्लीहा।

(5) क्लेदा (= चन्द्रमा)—क्लिद्यत्यार्द्रीभवति। क्लिद आर्द्रीभवने। निपातन से लघूपध गुण—क्लेद कनिन्—सु

(6) स्नेहा (= चन्द्रमा, व्याधि)—स्निह्यति प्रीतिं करोति। ष्णिह प्रीतौ। ष्णिह्—'धात्वादेः षः सः' से सकार आदेश—स्णिह्—'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः'—स्निह् कनिन्—निपातन से गुण—स्नेहन् सु।

---

1. 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' इत्यस्य शास्त्रस्याऽनित्यत्वान्नुट् न। (लेखकः)

(7) मूर्धा (= शिर)—मूर्वति बध्नाति। मूर्व् कनिन्—उकार को दीर्घ आदेश, वकार के स्थान पर निपातन से धकार—मूर्ध् अन् सु।

(8) मज्जा (= अस्थिसार)—मज्जति शुन्धति। मस्ज् कनिन्—मज्ज् अन् सु।

(9) अर्यमा (= सूर्य, पितृप्रधान)—अर्यं स्वामिनं मिमीते। अर्य माङ् कनिन्—'आतो लोप इटि च' से आकारलोप—अर्यम् अन् सु—'इन्हन्पूषाऽर्य०' (पा० 6.4.12), 'सौ च' (पा० 6.4.13)

(10) विश्वप्सा (= अग्नि)—विश्वं प्साति भक्षयति। विश्व प्सा कनिन्—विश्व प्सा अन्—आकारलोप—विश्वप्सन् सु—विभक्तिकार्य।

(11) परिज्वा (= चन्द्रमा)—परितो जवति वेगवान् भवति। परि-जु सौत्र धातु। परि जु कनिन्—यण्—परिज्वन् सु—विभक्तिकार्य।

(12) मातरिश्वा (= वायु, अन्तरिक्ष)—मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छति। मातरि श्वि कनिन्—धातु के इकार का लोप—मातरिश्वन् सु—विभक्तिकार्य।

(13) मघवा (= सूर्य, मेघ, इन्द्र, उल्लू)—मह्यते पूज्यतेऽसौ। मह् कनिन्—निपातन से हकार को घकार। मघ् अवुक् कनिन्—अवुक् आगम—मघवन् सु—विभक्तिकार्य।

विशेष—सूत्र में 'इति' शब्द प्रकार अर्थ में प्रयुक्त है। अतः अन्य शब्द कनिन् प्रत्ययान्त निपातित हैं।

॥ इति 'पीयूष'संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याद्वयोपेतोणादिकोषे प्रथमः पादः ॥



द्वितीयः पादः

(160) कृहृभ्यामेणुः [2.1]

पद०—कृहृभ्याम् 5.2, एणुः 1.1

सं०—कृ हृ इत्येताभ्यां धातुभ्याम् एणु प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कृ और हृ धातुओं से एणु प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—करोतीति **करेणुः,** हस्ती हस्तिनी वा। हरति स **हरेणुः,** गन्धद्रव्यम्, कलायो वा 'मटर' इति प्रसिद्धः।

उदा०—(1) करेणुः (= हथिनी)—करोति, कृ एणु—'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, सु। डुकृञ् करणे। कृणोति—कृञ् हिंसायां च।

(2) हरेणुः (= मटर)—हृ एणु—पूर्ववत्। हरतीति। हृ प्रसह्यकरणे—जिहर्त्ति।

(3) गमेणुः (= मार्ग) बाहुलकात्।

(4) पचेणुः (= पाचक)—बाहुलकात्।

(5) यजेणुः (= याजक)—बाहुलकात्।

(161) हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् [2.2]

पद०—हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः 5.3, क्थन् 1.1

सं०—हन् कुष् नी रम् काश्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्थन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—हन्, कुष्, नी, रम् और काश्—इन धातुओं से परे क्थन् प्रत्यय होता है। क्थन् के न् की 'हलन्त्यम्' से तथा क् की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा होती है। थ शेष रहता है। न् अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर (द्रष्टव्य—ञ्नित्यादिर्नित्यम्) के लिए है तथा क् अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है। पेरिसूरि 'क्थन्' के स्थान पर 'थक्' प्रत्यय मानते हैं।

स्वा०द०वृ०—यो हन्यते येन वा स **हथः,** दुःखितः शस्त्रविशेषो वा। कुष्णाति निरन्तरं कर्षतीति **कुष्ठम्,** व्याधिभेदः 'कूट' इत्याख्यौषधिर्वा। नीयते स **नीथः,** नयनं वा। शोभनो नीथोऽस्यास्तीति **'सुनीथः' धर्मशीलः।** रंमते यस्मिन् येन वा स **रथः,** यानं शरीरं पादो वेतसो वा। काशते दीप्यते तत् **काष्ठम्,** इन्धनं स्थानं कालमानं वा; **'काष्ठा'** दिक् दारुहरिद्रा वा।

उदा०—(1) हथः (= एक शस्त्र)—हन्यते यो येन वा। हन हिंसागत्योः। हन् क्थन्—'अनिदितां हल उपधाया०' (पा० 6.4.24) से अनुनासिकलोप—ह थ सु।

(2) कुष्ठः (= एक रोग)—कुष्णातीति। कुष निष्कर्षणे। कुष् थ—'ष्टुना ष्टुः' (पा० 8.4.40) से थकार को ठकार, सु।

(3) नीथः (= नयन)—नीयते सः। णीञ् प्रापणे। णी—नी 'णो नः' से नकार—नी क्थन्—प्राप्त गुण का निषेध, सु। शोभनो नीथोऽस्याऽस्तीति—सुनीथः।

(4) रथः (= यान)—रमते यस्मिन् येन वा। रमु क्रीडायाम्। रम् क्थन्—रम् थ—'अनिदितां हल उपधाया०' (पा० 6.4.24) से अनुनासिकलोप—रथ सु।

(5) काष्ठम् (= इन्धन)—काशते दीप्यते तत्। काशृ दीप्तौ। काश् क्थन्—'व्रश्चभ्रस्जसृज०' (पा० 8.2.36) से शकार को षकार। काष् थ—'ष्टुना ष्टुः' से ठकार।

(162) अवे भृञः [2.3]

पद०—अवेः 7.1, भृञः 5.1

अनु०—'हनि·····क्थन्' (उ०सू० 2.3) से 'क्थन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अवपूर्वकाद् भृधातोः क्थन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'अव' शब्द के उपपद रहते भृ धातु से परे क्थन् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—क्थन् अवबिभर्त्तीति **अवभृथः**, पक्षिभेदो यज्ञान्तस्नानं वा।

उदा०—(1) अवभृथः (= यज्ञान्तर स्नान, एक पक्षी)—अवबिभर्त्ति तस्मात्। अव डुभृञ् धारणपोषणयोः। अवभृ क्थन्—गुणनिषेध, सु।

(163) उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन् [2.4]

पद०—उषिकुषिगार्तिभ्यः 5.3, थन् 1.1

सं०—उष् कुष् गै ऋ—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः थन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—उष्, कुष्, गै और ऋ—इन धातुओं से परे थन् प्रत्यय होता है। न् अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—ञ्नित्यादिर्नित्यम् (पा० 6.1.196)।

स्वा०द०वृ०—ओषति यो दहति येन वा स **ओष्ठः**, मुखावयवो वा। कुष्णाति निरन्तरं कर्षति स **कोष्ठः**, **कोष्ठं** कुक्षिः कुशूलमन्तर्गृहं वा। गीयते या सा **गाथा**, वाग्भेदः श्लोको वा। अर्यते प्राप्यतेऽसौ **अर्थः**, शब्दानां वाच्यो धनं कारणं वस्तु प्रयोजनं निवृत्तिर्विषयो वा।

बाहुलकात्—श्यति तनूकरोतीति **शोथः**, रोगविशेषो वा। 'शो तनूकरणे' इत्यात्त्वनिषेधः।

उदा०—(1) ओष्ठः (= होंठ)—ओषति दहति। उष दाहे। उष् थन्—आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण—ओष् थ—'ष्टुना ष्टुः' से थकार को ठकार। उष्यतेऽसौ कदुष्णैर्व्यञ्जनैरिति दशपाद्याम्।

(2) कोष्ठः (= कोंख, अन्न आदि का कोठा)—कुष्यति। कुष निष्कोषणे। कुष् थन्—लघूपध गुण, ष्टुत्व, सु।

(3) गाथा (= कथा)—गीयते या सा। गै शब्दे। गै → गा 'आदेच उपदेशेऽशिति' से आकार—गा थन्—गा थ टाप्—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्, अकः सवर्णे दीर्घः सु, हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०।

(4) अर्थः (= धन)—अर्यते प्राप्यते। ऋ गतौ। ऋ थन्—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व, सु।

(5) शोथः (= सूजन)—श्यति तनूकरोति। शो तनूकरणे—शो थन् सु।

(164) सर्त्तेर्णित् [2.5]

पद०—सर्त्तेः 5.1, णित् 1.1

अनु०—'उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन्' (उ०सू० 2.4) से 'थन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सृधातोः थन् प्रत्ययः स्यात् स च णित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—सृ धातु से थन् प्रत्यय होता है और वह णित् होता है। णित् करने का प्रयोजन 'अचो ञ्णिति' (पा० 7.2.115) से वृद्धि आदेश करना है।

स्वा०द०वृ०—सरति गच्छति स **सार्थः**, समूहो वा। थन्प्रत्ययस्य णित्त्वाद् वृद्धिः।

उदा०—(1) सार्थः (= समूह)—सरति गच्छति। सृ गतौ। सृ थन्—'उरण् रपरः' से रपरत्व—सार् थ सु—विभक्तिकार्य।

(165) जॄवृभ्यामूथन् [2.6]

पद०—जॄवृभ्याम् 5.2, ऊथन् 1.1

सं०—जॄ वृ इत्येताभ्यां धातुभ्यामूथन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—जॄ तथा वृ धातुओं से परे ऊथन् प्रत्यय होता है। न् अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)।

स्वा०द०वृ०—जीर्यति वयोहीनो भवति स **जरूथः**, मांसं वा। वृणोति येन स्वीकरोति स **वरूथः**, लोहेन रथावरणं वा।

उदा०—(1) जरूथम् (= मांस)—जीर्यति। जॄ वयोहानौ। जॄ ऊथन्—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—जरूथ सु।

(2) वरूथः (= कोयल, कवच)—वृणोति येन। वृञ् वरणे। वृ ऊथन्—गुण, रपरत्व, सु।

(166) पातॄतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक् [2.7]

पद०—पातॄतुदिवचिरिचिसिचिभ्यः 5.3, थक् 1.1

सं०—पा तॄ तुद् वच् रिच् सिच् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः थक् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—पा, तॄ, तुद्, वच्, रिच् और सिच्—इन धातुओं से परे थक् प्रत्यय होता है। थक् के 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। क् अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—यः पिबति यं वा स **पीथः,** सूर्य्यो घृतं वा। तरन्ति येन यत्र वा तत् **तीर्थम्,** गुरुर्यज्ञः पुरुषार्थो मन्त्री जलाशयो वा। यो येन वा तुदति व्यथां प्राप्नोति स **तुत्थः,** अग्निः अञ्जनम् [वा]। **तुत्था** नीली ओषधिर्गौर्वडवा वा, सूक्ष्मैला वा 'छोटी इलायची' इति प्रसिद्धा। उच्यते परितो भाष्यते यत्तत् **उक्थम्,** सामवेदो वा; य उक्थमधीते वेत्ति वा स **'औक्थिकः'।** रिणक्ति पृथक्करोतीति यत्तद् **रिक्थम्,** दायादधनं सुवर्णं वा। बाहुलकात्—'ऋच स्तुतौ' इत्यस्मादपि थक्। ऋचति यदर्थं स्तौतीति [तद्] **ऋक्थम्,** धनं वा। सिञ्चति प्रसादयति तत् **सिक्थम्** मधूच्छिष्टम्, 'मोम' इति प्रसिद्धम्, ओदनान्निःसृतं मण्डं वा।

उदा०—(1) पीथः (= सूर्य, अग्नि, घी)—पिबति यो यं वा। पा पाने। पा थक्—'घुमास्थागापा०' (पा० 6.4.66) से ईकार आदेश—प् ई थ सु।

(2) तीर्थम् (= तीर्थ)—तरन्ति येन यत्र वा। तॄ प्लवनसन्तरणयोः। तॄ थक्—'ॠत इद्धातोः' (पा० 7.1.100) से इकार आदेश, रपरत्व—तिर्थ—'हलि च' (पा० 8.2.77) से दीर्घ आदेश—तीर्थ सु।

(3) तुत्थः (= प्रस्तर)—तुदति यो येन वा। तुद व्यथने। तुद् थक्—प्राप्त लघूपध गुण का निषेध, 'खरि च' से चर्त्व, सु।

(4) उक्थम् (= सामवेद)—उच्यते परितो भाष्यते। वच परिभाषणे। वच् थक्—'वचिस्वपियजादीनां किति' (पा० 6.1.15) से सम्प्रसारण, 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से धातु के यण् वर्ण (व्) के स्थान पर इक् वर्ण (उ) हुआ—उच् थ—'चोः कुः' (पा० 8.2.30) से कुत्व (ककार)—उक्थ सु।

(5) रिक्थम् (= दायादधन, सोना)—रिणक्ति पृथक् करोति। रिचिर् विरेचने। रिच् थक्—लघूपध गुण का निषेध, 'चोः कुः' से कुत्व—रिक् थ सु।

(6) सिक्थम् (= मोम)—सिञ्चति प्रसादयति। षिच क्षरणे। षिच्—'धात्वादेः षः सः' से सकार आदेश—सिच् थक्—लघूपध गुण का निषेध, कुत्व, सु।

(7) ऋक्थम् (= धन)—बाहुलकात् प्रत्यय। ऋचति स्तौति।

(167) अर्त्तेर्निरि [2.8]

पद०—अर्त्तेः 5.1, निरि 7.1

अनु०—'पातृ.....स्थक्' (उ०सू० 2.7) से 'थक्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—निर् उपपदे ऋधातोः थक् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—निर् शब्द के उपपद रहते ऋ धातु से परे थक् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—निरन्तरमृच्छन्ति गच्छन्ति यस्मिन्नसौ **निर्ऋथः**, सामवेदो वा।

उदा०—(1) निर्ऋथः (= सामवेद)—निरन्तरम् ऋच्छन्ति गच्छन्ति यस्मिन्। ऋ गतौ—निर् ऋ थक्—गुणनिषेध, सु।

(168) निशीथगोपीथाऽवगथाः [2.9]

पद०—निशीथगोपीथाऽवगथाः 1.3

सं०—निशीथ गोपीथ अवगथ—इत्येते थक्प्रत्ययान्ताः शब्दा निपात्यन्ते।

व्याख्या—निशीथ, गोपीथ और अवगथ—ये शब्द थक् प्रत्ययान्त निपातित किये जाते हैं।

स्वा०द०वृ०—नितरां शेतेऽस्मिन् स **निशीथः** अर्द्धरात्रः, सर्वरात्रो वा। गां वाणीं पृथिवीं वा पातीति **गोपीथः** पण्डितो, राजा वा; गावः पिबन्त्युदकमस्मिन् स जलाशयो वा। अवगातेऽवगच्छति जानीतेऽसौ **अवगथः**, प्रातःस्नानं वा। [धातोर्ह्रस्वत्वम्]।

उदा०—(1) निशीथः (= अर्धरात्रि)—नितरां शेतेऽस्मिन्। शीङ् स्वप्ने। निशी थक्—सु।

(2) गोपीथः (= राजा)—गां वाणीं (पृथिवीं वा) पाति। गो पा रक्षणे। गो प् ई थक्—'घुमास्थागापाजहाति०' (पा० 6.4.66) से ईकार, सु।

(3) अवगथः (= प्रातः, स्नान)—अवगातेऽवगच्छति। अव गाङ् गतौ। अवगा थक्—निपातन से धातु को ह्रस्व आदेश, सु।

(169) गश्चोदि [2.10]

पद०—गः 5.1, च—अव्य०, उदि 7.1

अनु०—'पातृ·····स्थक्' (उ०सू० 2.7) से 'थक्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—'उद्' इत्युपपदे गैधातोः थक् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'उद्' शब्द के उपपद रहते गै धातु से थक् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—उदुपपदाद् गाधातोस्थक्। य उद्गीयत उच्चैः शब्द्यते स **उद्गीथः** सामध्वनिः, प्रणवो वा।

उदा०—(1) उद्गीथः (= प्रणव)—य उद्गीयते। उच्चैः शब्दयते। उद् गै शब्दे थक्—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व—उद् गा थ—'घुमास्थागापा०' से ईकार, सु।

(170) समीणः [2.11]

पद०—समि 7.1, इणः 5.1
अनु०—'पातृ····स्थक्' (उ०सू० 2.7) से 'थक्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—सम् इति उपपदे 'इ' धातोः थक् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'सम्' शब्द के उपपद रहते 'इ' धातु से थक् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—समेति सम्यक् प्राप्नोति पदार्थानिति **समिथः,** अग्निर्वा।

उदा०—(1) समिथः (= अग्नि, संग्राम)—सम् एति सम्यक् प्राप्नोति। सम् इण् गतौ थक्—गुणनिषेध, सु।

(171) तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः [2.12]

पद०—तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः 1.3
सं०—तिथ पृष्ठ गूथ यूथ प्रोथ—इत्येते शब्दाः थक्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—तिथ, पृष्ठ, गूथ, यूथ और प्रोथ—ये शब्द थक् प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध हैं। नारायण भट्ट 'कुथ' का अधिक पाठ स्वीकार करते हैं।

स्वा०द०वृ०—तिथादयस्थक्प्रत्ययान्ता निपाताः। तेजते सह्यतेऽसौ **तिथः** अग्निः, कामो वा। [धातोरन्त्यलोपः।] पर्षति सिञ्चति यो येन वा तत् **पृष्ठम्,** शरीरस्य पश्चाद्भागः स्तोत्रं वा। यो येन वा गवतेऽव्यक्तशब्दं करोति तद् **गूथम्,** अपानमार्गः पुरीषं वा। यौति मिश्रयत्यमिश्रयति वा स **यूथः,** समुदायो वा। [उभयत्र धातोर्दीर्घत्वम्।] यः प्रवते गच्छति येन वा स **प्रोथः,** तुरङ्गनासिका प्रस्थितः पुरुषो वृक्षभेदः प्रियम् उदकम् अन्नं स्त्रीगर्भश्च **प्रोथ** उच्यते [धातोर्गुणो निपात्यते]।

उदा०—(1) तिथः (= अग्नि)—तेजते सह्यतेऽसौ। तिज निशाने। तिज् थक्—लघूपध गुण का निषेध। निपातन से अन्त्य लोप—तिथ सु।

(2) पृष्ठम् (= पीठ)—पर्षति सिञ्चति यो (येन वा)। पृषु सेचने। पृष् थक्—'ष्टुना ष्टुः' से थकार को ठकार, सु। दशपादी में स्पृश संस्पर्शने धातु से 'पृष्ठ' शब्द इस प्रकार निष्पन्न किया है—स्पृशति स्पृश्यते वा। धातु के आदि सकार का निपातन से लोप—पृश् थ—पृष् थ—पृष्ठ सु।

(3) गूथम् (= पुरीष)—यो (येन वा) गवते। गुङ् अव्यक्ते शब्दे। गु थक्—निपातन से दीर्घ आदेश।

(4) यूथः (= समूह)—यौति मिश्रयत्यमिश्रयति वा। यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः। यु थक्—धातु को दीर्घ आदेश का निपातन। युवन्ति यस्मिन्निति दशपाद्याम्।

(5) प्रोथः (= अश्वनासिका, एक वृक्ष)—यः प्रवते गच्छति (येन वा)। प्रुङ् गतौ। प्रु थक्—गुण का निपातन।

(6) कुथः—कु थक्—गुणनिषेध।

(172) स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपिक्षुदिसृपितृपिदृपिवन्द्युन्दिश्विति-वृत्यजिनीपदिमदिमुदिखिदिछिदिभिदिमन्दिचन्दिदहिदसि-दम्भिवसिवाशिशीङ्हसिसिधिशुभिभ्यो रक् [2.13]

पद०—स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपिक्षुदिसृपितृपिदृपिवन्द्युन्दिश्वितिवृत्यजिनीपदि-मदिमुदिखिदिछिदिभिदिमन्दिचन्दिदहिदसिदम्भिवसिवाशिशीङ्हसिसिधिशुभिभ्यः 5.3, रक् 1.1

सं०—स्फाय् तञ्च् वञ्च् शक् क्षिप् क्षुद् सृप् तृप् दृप् वन्द् उन्द् श्वित् वृत् अज् नी पद् मद् मुद् खिद् छिद् भिद् मन्द् चन्द् दह् दस् दम्भ् वस् वाश् शी हस् सिध् शुभ्-इत्येतेभ्यो धातुभ्यो रक् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—स्फाय्, तञ्च्, वञ्च्, शक्, क्षिप्, क्षुद्, सृप्, तृप्, दृप्, वन्द्, उन्द्, श्वित्, वृत्, अज्, नी, पद्, मद्, मुद्, खिद्, छिद्, भिद्, मन्द्, चन्द्, दह, दस्, दम्भ्, वस्, वाश्, शी, हस्, सिध् तथा शुभ्—इन धातुओं से परे रक् प्रत्यय होता है। रक् के 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। क् अनुबन्ध गुणप्रतिषेधार्थ है।

स्वा०द०वृ०—यः स्फायते वर्द्धतेऽसौ **स्फारः**, सुवर्णादिर्विकारो, बुद्बुदो वा। वलि रेफे यलोपः। तनक्ति सङ्कोचतीति **तक्रम्**, मथितं दधि वा। वञ्चति प्रलम्भते स **वक्रः**, कुटिलः क्रूरो वा। शक्नोति यः स **शक्रः**, समर्थः कुटजो वृक्षविशेषो वा। क्षिप्यते प्रेर्यते तत् **क्षिप्रम्**, शीघ्रं वा। क्षुनत्ति सम्पिनष्टि यः स **क्षुद्रः**, अधमः क्रूरः कृपणो वा। **क्षुद्रा** वेश्या कण्टकारिका (भटकटाई इति प्रसिद्धा) मधुमक्षिका च। अल्पे वाच्यलिङ्गः। सर्पति गच्छतीति **सृप्रः**, चन्द्रमा वा। यस्तृप्यति येन वा स **तृप्रः**,

पुरोडाशो वा। दृप्यति हृष्यति मुह्यति वा स **दृप्रः,** बलवान् वा। वन्दतेऽभिवदति स्तौति वा स **वन्द्रः**, सत्कर्त्ता वा। उनत्ति क्लिद्यति स **उद्रः**, जलचरो वा। सम्यगुनत्तीति **समुद्रः। अनिदिताम्०** [6.4.24] इति नलोपः। श्वेतते वर्णविशिष्टो भवतीति **श्वित्रम्,** कुष्ठभेदो वा। वर्त्तते सदैवाऽसौ **वृत्रः**, मेघः शत्रुस्तमः पर्वतश्चक्रं वा। अजति गच्छति शत्रून् वा प्रक्षिपति स **वीरः**, सुभटः श्रेष्ठश्चतुष्पथं वा; **वीरा** क्षीरकाकोली, पतिपुत्रवती स्त्री मदिरा मधुपर्णिकौषधिर्वा। नयति शरीरमिति **नीरम्,** जलं वा। पद्यते गच्छन्त्यस्मिन् वा स **पद्रः**, ग्रामः संवेशः स्थानं वा। माद्यतीति **मद्रः**, हर्षो देशभेदो वा। मोदन्ते हृष्यन्ति यया सा **मुद्रा**, यन्त्रिता सुवर्णादिधातुमया वा। यः खिद्यते येन वा दीनो भवतीति **स खिद्रः**, दरिद्रो रोगो वा। छिद्यते तत्तत् **छिद्रम्,** विवरं वा। भिनत्ति येन तद् **भिद्रम्,** वज्रो वा। मन्दते स्तौतीति **मन्द्रः**, गम्भीरध्वनिर्वा। चन्दति हर्षयति दीपयति वा स **चन्द्रः**, कर्पूरश्चन्द्रमा वा। दहति भस्मीकरोतीति **दह्रः**, दावाग्निर्वा। दस्यति रोगानुपक्षयतीति **दस्रः**, वैद्यश्चौरो वा। यो दभ्नोति दम्भं करोति स **दभ्रः**, क्षुद्रो जनः समुद्रो वा। वसतीति **उस्रः**, रश्मिर्वा, **उस्रा** गौः। वाश्यते शब्दयतीति **वाश्रम्,** पुरीषं दिवसो मन्दिरं चतुष्पथं वा। शेतेऽसौ **शीरः**, महासर्पो वा। हसतीति **हस्रः**, मूर्खो वा। सेधति गच्छति सिध्यति वा स **सिध्रः**, साधुर्वृक्षजातिर्वा। कुत्सिताः सिध्रा वृक्षाः **सिध्रकाः**, तासां वनं **'सिध्रकावणम्', वनं पुरगामिश्रकासिध्रका०** [8.4.4] इति सूत्रेण णत्वम्। शोभते दीप्यते तत् **शुभ्रम्,** रुचिरं शुक्लं पाण्डुरं वा।

बाहुलकात्—मेशति शब्दतीति **मिश्रः**, संयोगो वा। पुण्डयति खण्डयतीति **पुण्ड्रः**, दुष्टो वा। सिनोति बध्नाति मांसरुधिरादिकमिति **सिरा**, नाडी वा। मुस्यति खण्डयतीति **मुस्रम्,** नेत्रोदकं वा। अस्यतीति **अस्रम्,** रुधिरं वा; अस्रं पिबतीति **अस्रपो** दंशः।

उदा०—(1) स्फारम् (= सोने का मैल)—यः स्फायते वर्द्धतेऽसौ। स्फायी वृद्धौ। स्फाय् रक्—'लोपो व्योर्वलि' (पा० 6.1.64) से य् का लोप—स्फा र—सु।

(2) तक्रम् (= छाछ)—तनक्ति सङ्कोचयति। तञ्चू सङ्कोचने। तञ्च् रक्—'अनिदितां हल उपधाया०' (पा० 6.4.24) से अनुनासिकलोप—तच् र—'चोः कुः' से कुत्व—तक् र सु। न्यङ्क्वादित्वादपि कुत्वम्।

(3) वक्रः (= कुटिल)—वञ्चति प्रलम्भते। वञ्चु प्रलम्भने। वञ्च् रक्–'अनिदितां हल उपधाया०' से अनुनासिकलोप—वच् र—'चोः कुः' से कुत्व (क्)—वक्र सु।

(4) शक्रः (= इन्द्र)—शक्नोति यः सः। शक्लृ शक्तौ। शक् रक्—सु।

(5) क्षिप्रम् (= शीघ्र)—क्षिप्यते प्रेर्यते तत्। क्षिप प्रेरणे। क्षिप् रक्—सु, विभक्तिकार्य।

(6) क्षुद्रः (= अधम)—क्षुणत्ति सम्पिनष्टि। क्षुदिर् सम्पेषणे—क्षुद् रक् सु। क्षुद्रा = वेश्या। स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्।

(7) सृप्रः (= चन्द्रमा)—सर्पति गच्छति। सृप्लृ गतौ। सृप् रक् सु।

(8) तृप्रः (= पुरोडाश)—तृप्यति यो (येन वा)। तृप प्रीणने। तृप् रक्—सु।

(9) दृप्रः (= गर्वीला)—दृप्यति हृष्यति मुह्यति। दृप हर्षमोहनयोः। दृप् रक्—सु, विभक्तिकार्य।

(10) वन्द्रः (= समृद्धि)—वन्दते स्तौति। वदि अभिवादनस्तुत्योः। व नुम् द्—'इदितो नुम् धातोः' से नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण—वन्द् रक् सु।

(11) उद्रः (= जलचर, सागर)—उनत्ति क्लिद्यति। उन्दी क्लेदने। उन्द् रक्—'अनिदितां हल उपधाया०' से अनुनासिकलोप। सम्यग् उनत्तीति—समुद्रः।

(12) श्वित्रम् (= कोढ)—श्वेतते वर्णविशेषो भवति। श्विता वर्णे। श्वित् रक्—सु, विभक्तिकार्य।

(13) वृत्रः (= मेघ, रिपु)—वर्त्तते। वृतु वर्त्तने। वृत् रक् सु।

(14) वीरः (= वीर)—अजति गच्छति शत्रून् प्रक्षिपति। अज गतिक्षेपणयोः। अज् रक् 'अजेर्व्यघञपोः' (पा० 2.4.55) से 'वी' आदेश, सु।

(15) नीरम् (= जल)—नयति शरीरम्। णीञ् प्रापणे 'णो नः' से नकार। नी रक् सु—विभक्तिकार्य।

(16) पद्रः (= गाँव)—पद्यते गच्छत्यस्मिन्। पद गतौ। पद् रक् सु।

(17) मद्रः (= हर्ष)—माद्यतीति। मदी हर्षे। मद् रक् सु।

(18) मुद्रा (= रुपया आदि)—मोदन्ते यया सा। मुद हर्षे। मुद् रक्—टाप्, अजाद्यतष्टाप्, सु, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप।

(19) खिद्रः (= रोग, रंक)—खिद्यते येन। खिद दैन्ये। खिद् रक्—पुगन्तलघूपधस्य च, क्ङिति च, सु।

(20) छिद्रम् (= छेद)—छिद्यते तत्। छिदिर् द्वैधीकरणे। छिद् रक्—प्राप्त लघूपध गुण का निषेध, सु।

(21) भिद्रम् (= वज्र)—भिनत्ति येन। भिदिर् विदारणे। भिद् रक्—लघूपध गुण का निषेध, सु।

(22) मन्द्रः (= गहरी ध्वनि)—मन्दते स्तौति। मदि स्तुत्यादिषु। मन् द्—'इदितो नुम् धातोः' से नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण, रक्, सु।

(23) चन्द्रः (= चन्द्रमा)—चन्दति हर्षयति। चदि आह्लादने दीप्तौ च। नुम् पूर्ववत्। चन्द्र सु—विभक्तिकार्य।

(24) दह्रः (= अग्नि, जंगल की आग)—दहतीति । दह भस्मीकरणे । दह् रक् सु ।

(25) दस्रः (= गधा, चौर, वैद्य)—दस्यति रोगान् उपक्षयति । दसु उपक्षये । दस् रक्—सु, विभक्तिकार्य ।

(26) दभ्रः (= सागर, पापी पुरुष)—यो दभ्नोति । दम्भं करोति । दम्भु दम्भने । दम्भ् रक्—'अनिदितां हल उपधा०' से अनुनासिकलोप, सु ।

(27) उस्रः (= किरण, बैल, देव)—वसतीति । वस निवासे । वस् रक्—सु ।

(28) उह्रः (= अनड्वान्)—दशपादी में 'वह्' धातु का भी पाठ है । वहतीति उह्रः ।

(29) वाश्रः (= पुरीष, दिन)—वाश्यते शब्दयति । वाशृ शब्दे । वाश् रक्—सु ।

(30) शीरः (= अजगर)—शेतेऽसौ ।

(31) हस्रः (= मूर्ख)—हसतीति । हसे हसने । हस् रक् सु ।

(32) सिध्रः (= सज्जन, एक वृक्ष)—सेधति गच्छति । सिध्यति । षिध गत्याम् । 'धात्वादेः षः सः' से सकार ।

(33) शुभ्रम् (= सुन्दर)—शोभते दीप्यते । शुभ दीप्तौ । शुभ् रक् सु ।

(34) मिश्रः (= संयोग)—बाहुलकात् प्रत्यय । मेशति शब्दति । मिश् रक्—सु ।

(35) पुण्ड्रः (= दुष्ट)—पुण्डति खण्डयति । पुण्ड् रक् ।

(36) सिरा (= नाड़ी)—सिनोति बध्नाति मांसरुधिरादिकम् ।

(37) मुस्रम् (= आँसू)—मुस्यति खण्डयति । मुस् रक् ।

(38) अस्रम् (= रक्त) अस्यतीति । अस् रक् ।

(39) अस्रपः (= मच्छर)—अस्रं पिबति । अस्र पा क—लशक्वतद्धिते, आतो लोप इटि च, सु ।

(173) चकिरम्योरुच्चोपधायाः [2.14]

पद०—चकिरम्योः 6.2, उत् 1.1, च—अव्य०, उपधायाः 6.2.1

अनु०—'स्फायि····रक्' (उ०सू० 2.13) से 'रक्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—चक् रम् इत्येताभ्यां धातुभ्यां रक्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्चोपधायाः स्थाने 'उत्' इत्यादेशो भवति ।

व्याख्या—'चकिरम्योः' षष्ठ्यन्त पद है । इसका 'उपधायाः' के साथ अन्वय

किया जाता है। 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' से उपधासञ्ज्ञा कही है। उत् = ह्रस्व उकार। 'चकिरम्योः' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा पञ्चम्यन्त (यथा—चकिरमिभ्याम्) बना लिया जाता है। तब धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। अर्थ—चक् और रम् धातुओं से परे रक् प्रत्यय होता है और धातु की उपधा में स्थित वर्ण के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश होता है। नारायणभट्ट उपधा के स्थान पर ह्रस्व अकार आदेश स्वीकार करते हैं। द्रष्टव्य—चकिरम्योरच्चोपधायाः। परन्तु यह पाठ युक्त नहीं कहा जा सकता। यदि आचार्य को इन धातुओं की उपधा के स्थान ह्रस्व अकार आदेश इष्ट होता तो वे इन धातुओं का पाठ 'स्फायि' आदि धातुओं के साथ कर देते।

स्वा०द०वृ०—चकते तृप्यति प्रतिहन्यते वा स **चुक्रः**, अम्लम् अम्लवेत-समित्यादि। रमन्तेऽस्मिन् स **रुम्रः**, अरुणः शोभनो वा।

उदा०—(1) चुक्रम् (= अम्ल)—चकते तृप्यति प्रतिहन्यते। चक तृप्तौ प्रतिघाते च। चक् रक्—उकार आदेश—चुक् र सु।

(2) रुम्रः (= अरुण)—रमन्तेऽस्मिन्। रमु क्रीडायाम्। रम् → र् उम् रक् सु।

(174) वौ कसेः [2.15]

पद०—वौ 7.1, कसेः 5.1

अनु०—'स्फायि····रक्' (उ०सू० 2.13) से 'रक्' का तथा 'चकिरम्योरुच्चोपधायाः' (उ०सू० 2.14) से 'उत्, उपधायाः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—'वि'शब्दे उपपदे कस्धातो रक् प्रत्ययः स्याद् धातोश्चोपधायाः स्थाने 'उत्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'वि' शब्द के उपपद रहते कस् धातु से परे रक् प्रत्यय होता है तथा धातु की उपधा (में स्थित अल्) के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—विकसति विशेषतया गच्छतीति **विकुस्रः**, चन्द्रमा वा। [उच्चोपधाया इत्यनुवर्तमाने] 'कस' धातोरुपधाया उत्त्वम्।

उदा०—(1) विकुस्रः (= चन्द्रमा)—विकसति। वि कस गतौ रक्—विकुस् र सु।

(175) अमितम्योर्दीर्घश्च [2.16]

पद०—अमितम्योः 6.2, दीर्घः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'स्फायि····रक्' (उ०सू० 2.13) से 'रक्' का अनुवर्त्तन होता है।

सं०—अम् तम् इत्येताभ्यां धातुभ्यां रक्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च दीर्घादेशो भवति।

व्याख्या—'अमितम्योः' षष्ठ्यन्त पद है। इसका अन्वय 'दीर्घः' पद के साथ होता है। विभक्तिविपरिणाम से इसे पञ्चम्यन्त बना लिया जाता है (यथा—अमितमिभ्याम्)। तब धातु से परे प्रत्यय होता है। अर्थ—अम् और तम्—इन धातुओं से परे रक् प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है। ह्रस्व दीर्घ आदि सञ्ज्ञाएँ अच् वर्णों की हुआ करती है। अत; यह दीर्घ आदेश धातु में स्थित अच् वर्ण (अकार) को होता है। 'स्थानेऽन्तरतमः' से अकार के स्थान पर आकार दीर्घ आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—अम्यते सम्भज्यते सेव्यते तत् **आम्रम्**, चूतो वा। ताम्यति काङ्क्षतीति **ताम्रम्**, धातुभेदो रक्तवर्णो वा।

उदा०—(1) आम्रम् (= आम)—अम्यते सम्भज्यते। अम गत्यादिषु। अम् रक्—दीर्घ आदेश—आम् र सु—अतोऽम्।

(2) ताम्रम् (= ताम्बा)—ताम्यति काङ्क्षति। तमु काङ्क्षायाम्। तम् → ताम् रक् सु।

(176) निन्देर्नलोपश्च [2.17]

पद०—निन्देः 5.1, नलोपः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'स्फायि·····रक्' (उ०सू० 2.13) से 'रक्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—निन्द्धातो रक् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च नकारलोपो भवति।

व्याख्या—'निन्देः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'निन्देः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'निन्देः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका अन्वय 'नलोपः' पद के साथ किया जाता है। अर्थ—निन्द् धातु से परे रक् प्रत्यय होता है तथा धातु के नकार का लोप होता है। धातुपाठ में णिदि धातु णादि तथा इदित् है। 'णो नः' (पा० 6.1.64) से णकार को नकार होता है। निदि—'इदितो नुम् धातोः' (पा० 7.1.58) से नुम् आगम होकर 'निन्द्' ऐसी स्थिति में नुम् लक्षण नकार का लोप हुआ करता है।

स्वा०द०वृ०—या निन्दति यया वा सा **निद्रा**, शयनं वा।

उदा०—(1) निद्रा (= नींद)—निन्दति या (यया वा)। णिदि कुत्सायाम्। निन्द् रक्—नकारलोप। निद्र टाप्—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्, अकः सवर्णे दीर्घः। निद्रा सु—'हल्ङ्याब्भ्यो० से अपृक्त सकार का लोप।

(177) अर्देर्दीर्घश्च [2.18]

पद०—अर्देः 51, दीर्घः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'स्फायि···रक्' (उ०सू० 2.13) से 'रक्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अर्द्धातो रक्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च योऽच् तस्य स्थाने दीर्घादेशो भवति।

व्याख्या—'अर्देः' पद की पूर्ववत् आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—अर्द् धातु से परे रक् प्रत्यय होता है तथा धातु का जो अच् वर्ण, उसके स्थान पर दीर्घ आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—अर्दति गच्छति याचते वा तत् **आर्द्रम्,** सरसद्रव्यम्, **आर्द्रा** नक्षत्रं वा।

उदा०—(1) आर्द्रम् (= गीला)—अर्दति गच्छति याचते। अर्द गतौ याचने च। आर्द्र सु—अतोऽम्।

(178) शुचेर्दश्च [2.19]

पद०—शुचेः 5.1, दः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'स्फायि····रक्' (उ०सू० 2.13) से 'रक्' का तथा 'अर्देर्दीर्घश्च' (उ०सू० 2.18) से 'दीर्घः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—शुच् इत्येतस्माद् धातो रक्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च योऽच् तस्य स्थाने दीर्घादेशः स्याद्, धातोश्च 'द' इत्यन्तादेशः स्यात्।

व्याख्या—'शुचेः' पद की पूर्ववत् आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—शुच् धातु से परे रक् प्रत्यय होता है, धातु में स्थित अच् वर्ण के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है तथा धातु के अन्त्य अल् के स्थान पर दकार आदेश होता है। दकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'अलोऽन्त्यस्य' से धातु के अन्त्य अल् (चकार) के स्थान पर दकार आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—दीर्घश्चानुवर्त्तते। शोचतीति **शूद्रः,** सेवको वा; पुंयोगे शूद्रस्य स्त्री **'शूद्री', 'शूद्रा'** तज्जातिर्वा।

उदा०—(1) शूद्रः (= शूद्र)—शोचतीति। शुच् → शुद् अन्तादेश—शूद् रक्—दीर्घ आदेश—शूद्र सु।

(179) दुरीणो लोपश्च [2.20]

पद०—दुरि 7.1, इणः 5.1, लोपः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'स्फायि···रक्' (उ०सू० 2.13) से 'रक्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—दुर् इत्युपपद 'इ' इत्येतस्माद् धातो रक्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च लोपः स्यात्।

व्याख्या—'इणः' पद का पूर्ववत् आवर्त्तन करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—दुर् शब्द के उपपद रहते इण् धातु से पर रक् प्रत्यय होता है तथा धातु का लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—दुरुपपदात् 'इण्'धातो रक् धातोश्च लोपः। दुःखेनेयते प्राप्यते तद् **दूरम्**, विप्रकृष्टं वा।

उदा०—(1) दूरम् (= दूर)—दुःखेनेयते प्राप्यते। दुर् इण् गतौ। दुर् इ रक्—धातु का लोप—दु र् र—'रो रि' से प्रथम रेफ का लोप—दुर—'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से दीर्घ आदेश—दूर सु—अतोऽम्।

(180) कृतेश्छः क्रू च [2.21]

पद०—कृतेः 5.1, छः 1.1, क्रू 1.1, च—अव्यं०।

अनु०—'स्फायि····रक्' (उ०सू० 2.13) से 'रक्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—'कृत्'धातो रक्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च छकारोऽन्तादेशो भवति। पक्षे 'क्रू' इति सर्वादेशः।

व्याख्या—कृत् धातु से परे रक् प्रत्यय होता है तथा धातु को छकार अन्तादेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से धातु के अन्त्य अल् (तकार) के स्थान पर छकार आदेश होता है। छकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। धातु से रक् प्रत्यय और धातु को 'क्रू' आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—'कृत'धातोरन्त्यस्य छः, सर्वस्य च क्रू इत्येतावादेशौ रक् च। कृन्तति छिनत्तीति **कृच्छ्रः, क्रूरः** च, कठिनं दुःखं खलो वा।

उदा०—(1) कृच्छ्रम् (= कठिन)—कृन्तति छिनत्ति। कृती छेदने। कृत् रक्—अन्तादेश—कृछ् र—'छे च' से तुक् आगम—कृ त् छ् र—'स्तोः श्चुना श्चुः' से चकार आदेश—कृच्छ्र सु—अतोऽम्।

(2) क्रूरः (= कठिन)—कृत् रक्—धातु के स्थान पर 'क्रू' आदेश। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण स्थानी (कृत्) के स्थान पर आदेश होता है—क्रूर सु।

विशेष—दशपाद्युणादि वृत्तिकार 'छ' अन्तादेश के स्थान पर धातु को 'छक्' आगम करते हैं। द्रष्टव्य—'कृतेश्छक् क्रू च' (द०वृ० 8.38)—कृतेर् धातो रक्प्रत्ययो भवति छक् क्रू चाऽऽगमाऽऽदेशौ भवतः। दशपादी के अनुसार कृत् धातु से छक् आगम होता है। तब तुक् आगम की आवश्यकता भी न पड़ेगी। कृत् छ रक्—'आद्यन्तौ

टकितौ' से धातु का अन्ताऽवयव बनता है। श्चुत्व होकर 'कृच्छ्र' बनता है। पक्ष में धातु को 'क्रू' सर्वादेश होकर 'क्रूर' शब्द बनता है।

(181) रोदेर्णिलुक् च [2.22]

पद०—रोदेः 5.1, णिलुक् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'स्फायि.....रक्' (उ०सू० 2.13) से 'रक्' का अनुवर्त्तन होता है।

सं०—'रोदि' इत्येतस्माद् णिच्प्रत्ययान्ताद् रुद्धातो रक्प्रत्ययः स्यात्, णिच् प्रत्ययस्य च लुक् स्यात्।

व्याख्या—'रोदेः' पद की आवृत्ति की जाती है। अर्थ—णिच् प्रत्ययान्त रोदि धातु से परे रक् प्रत्यय होता है तथा णिच् प्रत्यय का लुक् होता है।

स्वा०द०वृ०—पापिनो रोदयतीति **रुद्रः**, ईश्वरः। **रुद्राः** प्राणादयो दश जीवश्च।

उदा०—(1) रुद्रः (= शिव)—पापिनो रोदयति। रुदिर् अश्रुविमोचने। रुद् णिच्—'हेतुमति च' (पा० 3.1.26) से णिच् हुआ, अनुबन्धलोप—रुद् इ—रक् प्रत्यय। रुद् र—णिच् का लुक्। 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' से प्रत्यय की लुक् सञ्ज्ञा। 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से णिच् प्रत्यय को मानकर 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण प्राप्त हुआ। 'न लुमताऽङ्गस्य' से प्रत्ययलक्षण गुण का निषेध, सु।

(182) बहुलमन्यत्राऽपि सञ्ज्ञाछन्दसोः [2.23]

पद०—बहुलम् 2.1, अन्यत्र—अव्य०, अपि—अव्य०, सञ्ज्ञाछन्दसोः 7.2

अनु०—'स्फायि.....रक्' (उ०सू० 2.13) से 'रक्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सञ्ज्ञायां छन्दोविषये च (पूर्वोक्तेभ्यः) अन्येभ्योऽपि धातुभ्यो रक्प्रत्ययो बहुलतया स्यात्।

व्याख्या—सञ्ज्ञा में तथा वेद के विषय में पूर्वोक्त धातुओं के अतिरिक्त अन्य धातुओं से भी रक् प्रत्यय बहुलता से होता है।

स्वा०द०वृ०—बहुलम् अन्यत्रापि धात्वन्तरे संज्ञाछन्दसोः सामान्यप्रत्ययादौ च णेर्लुक्। पाशं बन्धनं धारयतीति **पाशधरः, शूलधरः, चक्रधरः, वज्रधरः, शक्तिधरः** वा कुमारः। **उदकधरः** मेघः,**दण्डधरः** राजा। अत्र सर्वत्राचि प्रत्यये 'धृ'धातोः परस्य णेर्लुक्। [छन्दसि—**वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे** (ऋ. 7.99.7)—'वर्धयन्तु' इति प्राप्ते। **'अग्ने शर्ध महते सौभगाय'** (ऋ० 5.28.3)—'शर्धय' इति प्राप्ते। बहुलवचनादसंज्ञाछन्दसोरपि णेर्लुग् भवति।] पर्णानि शोषयति मोचयति रोहयति वा स

पर्णशुट्, पर्णमुक्, पर्णरुट् इति ण्यन्तात् 'शुष'धातोः क्विप् णेर्लुक्। [एवं मुचरुहधातुभ्यामपि] जश्त्वकुत्वादि कार्यम्।

वान्ति पर्णशुषो वाता वान्ति पर्णमुचोऽपरे।
ततः पर्णरुहा वान्ति ततो देवः प्रवर्षति॥

उदा०—(1) पाशधर: (= शिकारी)—पाशं बन्धनं धारयति। पाश धृ णिच् रक्—णिच् का लुक्। पांश धर् रक्—रेफलोप, सु। अण् को दीर्घ आदेश का अभाव।

(2) उदकधर: (= बादल)—पूर्ववत्। (3) दण्डधर: (= राजा)।

(4) पर्णशुट् (= पत्तों को सुखा डालने वाला) पर्णानि शोषयति—पर्ण शुष् णिच् क्विप्—बाहुलकात् णिच् का लुक्। पर्णशुष्—क्विप् का सर्वापहार लोप (द्रष्टव्य—हलन्त्यम्, उपदेशेऽजनुनासिक इत्, लशक्वत०, वेरपृक्तस्य, अपृक्त एकाल् प्रत्यय:)—पर्णशुष् सु—अपृक्त सकार का लोप, प्रत्ययलक्षण से पदसञ्ज्ञा, 'झलां जशोऽन्ते' से षकार को डकार। 'वाऽवसाने' से वैकल्पिक चर्त्व।

(5) पर्णमुक्—पर्णमुच् णिच् क्विप्—पूर्ववत्। 'चो: कु:' से कुत्व हुआ।

(6) पर्णरुट्—पर्णरुह् णिच् क्विप्—पूर्ववत्—पर्णरुह्—सु, अपृक्त सकार का लोप, हो ढ:—पर्णरुढ्—वाऽवसाने।

(7) द्यौ: (= स्वर्ण, अन्तरिक्ष) देवयतीति। दिवु क्रीडादिषु। दिव् णिच् क्विप्—णिलोप, क्विप् का सर्वापहार लोप—दिव् सु—औं अन्तादेश—यण्।

(8) पुण्यकृत्—पुण्यं कारयति। क्विप्।

(183) जोरी च [2.24]

पद०—जो: 5.1, ई 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'स्फायि····रक्' (उ०सू० 2.13) से 'रक्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—जुधातो रक्प्रत्यय: स्याद् धातोश्च 'ई' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'जु' एक सौत्र धातु है। अर्थ—जु धातु से परे रक् प्रत्यय होता है तथा धातु को ईकार अन्तादेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से ईकार अन्तादेश धातु के अन्त्य अल् (उकार) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—'जु'धातो रकि प्रत्यय ईकारादेश: [च]। जवति सूक्ष्मो भवतीति **जीर:**, अणु: खड्गो वणिग्द्रव्यं वा। महाभाष्यकारसम्मत्या **'रकि ज्य: सम्प्रसारणम्'** (महा० 1.1.4) इति 'ज्या वयोहानौ' इत्यस्य रकि प्रत्यये सम्प्रसारणम्। जिनात्यवस्थां जहातीति **जीर:**। तथा महाभाष्यकारसम्मत्या 'जीव'-

धातोरदानुक्। जीवति प्राणान् धारयतीति **जीरदानुः**। वैदिकं रूपमेतत्। अत्र च 'जीव'-धातोर्वलि वलोपः ऊठ्निषेधश्च बाहुलकादेव, इत्यादि।

उदा०—(1) जीरः (= जीरा, तलवार)—जवति सूक्ष्मो भवति। जु → ज् ई रक् सु।

(184) सुसूधागृधिभ्यः क्रन् [2.25]

पद०—सुसूधागृधिभ्यः 5.3, क्रन् 1.1

सं०—सु सू धा गृध् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्रन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—सु, सू, धा तथा गृध्—इन धातुओं से परे क्रन् प्रत्यय होता है। न् की 'हलन्त्यम्' से तथा क् की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा होती है। न् अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)। क् अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है। शेष 'र' रहता है।

स्वा०द०वृ०—सुनोति सवति उत्पादयत्यैश्वर्यवान् वा भवतीति **सुरः**, देवसंज्ञो विद्वान्; स्त्रियां **सुरा** मद्यं वा। सूयते वा सुवति प्राणिनः समर्थयतीति **सूरः**, सूर्यो वा। दधाति सर्वान् पोषयति वा स **धीरः**, पण्डितो वा। गृध्यत्यभिकाङ्क्षतीति **गृध्रः**, पक्षिविशेषो वा।

उदा०—(1) सुरः (= देवता)—सुनोति सवति। षुञ् अभिषवे। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—सु क्रन्—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से प्राप्त गुण का निषेध, सु।

(2) सूरः (= सूर्य)—सूयते। सुवति। षूञ् प्राणिप्रसवे। सू क्रन्—पूर्ववत्।

(3) धीरः (= धीर)—दधाति पोषयति प्राणिनः। डुधाञ् धारणपोषणयोः। धा क्रन्—'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (पा० 6.4.66) से आकार के स्थान पर ईकार—ध् ई र सु।

(4) गृध्रः (= गीध)—गृध्यत्यभिकाङ्क्षति। गृधु अभिकाङ्क्षायाम्। गृध् क्रन्—लघूपध गुण का निषेध, सु।

(185) शुसिचिमीनां दीर्घश्च [2.26]

पद०—शुसिचिमीनाम् 6.3, दीर्घः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सुसूधागृधिभ्यः क्रन्' (उ०सू० 2.25) से 'क्रन्' का अनुवर्तन है।

सं०—शु सि चि मी—इत्येतेषां दीर्घादेशो भवति, एतेभ्यो धातुभ्यः क्रन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'शुसिचिमीनाम्' यह षष्ठ्यन्त पद है। इसका 'दीर्घः' के साथ अन्वय

है। 'शुसिचिमीनाम्' इसे विभक्तिविपरिणाम से पञ्चम्यन्त बना लिया जाता है। तब इन धातुओं से परे क्रन् प्रत्यय होता है। अर्थ—शु, सि, चि तथा मि—इन धातुओं से परे क्रन् प्रत्यय होता है तथा धातुओं में स्थित अच् वर्ण को दीर्घ आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—'शु' इति सौत्रो धातुः। शवति गच्छतीति **शूरः**, विक्रमणशीलः पुरुषो वा। सिनोति बध्नातीति **सीरः**, हलं वा। चिनोतीति **चीरम्**, वल्कलं वा। मिनोति प्रक्षिपतीति **मीरः**, समुद्रो वा।

उदा०—(1) शूरः (= वीर)—शवति गच्छति। शु सौत्र धातु से क्रन्। शु → शू र सु। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'शूर' शब्द को 'शॄ हिंसायाम्' धातु से बाहुलकात् डूरन् प्रत्यय करके निष्पन्न किया है। द्रष्टव्य—ऋग्वेद-भाष्य (1.29.4)

(2) सीरः (= हल, सूर्य)—सिनोति बध्नाति। षिञ् बन्धने। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—सि क्रन्—दीर्घ आदेश—सीर सु।

(3) चीरम् (= वस्त्र)—चिनोति। चिञ् चयने। चि क्रन्—ची र सु—अतोऽम्।

(4) मीरः (= सागर)—मिनाति। डुमिञ् प्रक्षेपणे। मि क्रन्—मी र सु।

(186) वाविन्धेः [2.27]

पद०—वौ 7.1, इन्धेः 5.1

अनु०—'सुसूधागृधिभ्यः क्रन्' (उ०सू० 2.25) से 'क्रन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—'वि' इत्युपपदे इन्ध्धातोः क्रन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'वि' शब्द के उपपद रहते इन्ध् धातु से परे क्रन् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—विशेषेणेन्धते प्रदीप्यते तद् **वीध्रम्**, स्वभावशुद्धः।

उदा०—(1) वीध्रम् (= गगन, वायु, अग्नि)—विशेषेणेन्धते प्रदीप्यते। वि इन्धी दीप्तौ। वि इन्ध्, क्रन्—'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ—वीन्ध् र—'अनिदितां हल उपधाया०' से अनुनासिकलोप—वीध्र सु—अतोऽम्।

(187) वृधिवपिभ्यां रन् [2.28]

पद०—वृधिवपिभ्याम् 5.2, रन् 1.1

सं०—वृध् वप् इत्येताभ्यां धातुभ्यां रन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वृध् तथा वप्—इन धातुओं से परे रन् प्रत्यय होता है। रन् के न् की इत्सञ्ज्ञा है। न् अनुबन्ध का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)।

स्वा०द०वृ०—वर्द्धते तत् **वर्ध्रम्**, चर्म वा। वपति बीजं छिनत्ति वा स **वप्रः**, पिता केदारः प्राकारो रोधो वा।

उदा०—(1) वर्ध्रम् (= चर्मपट्टी)—वर्द्धते तत्। वृधु वृद्धौ। वृध् रन्—'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—वर् ध् र सु—अतोऽम्।

(2) वप्रः (= पिता, केदार, शिखर)—वपति बीजम्। छिनत्ति।

(3) अज्रः—बाहुलकात् अज् धातु से रन् प्रत्यय तथा धातु को 'वी' आदेश का निषेध—अज् रन् सु।

(188) ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्रकुब्रचुब्रक्षुरखुरभद्रोग्रभेर-भेलशुक्रशुक्लगौरवन्रेरामालाः [2.29]

पद०—ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्रकुब्रचुब्रक्षुरखुरभद्रोग्रभेरभेलशुक्रशुक्लगौरवन्रेरामालाः 1.3

सं०—ऋज्र इन्द्र अग्र वज्र विप्र कुब्र चुब्र क्षुर खुर भद्र उग्र भेर भेल शुक्र शुक्ल गौर वन्र इरा गाला—इत्येते शब्दा रन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—ऋज्र, इन्द्र, अग्र, वज्र, विप्र, कुब्र, चुब्र, क्षुर, खुर, भद्र, उग्र, भेर, भेल, शुक्र, शुक्ल, गौर, वन्र, इरा और माला—ये शब्द रन्प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—ऋज्राद्येकोनविंशतिः शब्दा निपात्यन्ते। अर्जति गच्छति तिष्ठति वा स **ऋज्रः**, नायको वा। गुणाभावः। इन्दति परमैश्वर्यवान् भवतीति **इन्द्रः**, समर्थोऽन्तरात्माऽऽदित्यो योगी वा। अङ्गति गच्छतीति **अग्रम्**, प्रधानमुपरिभागो वा। [धातोर्नलोपः।] वजति प्राप्नोति प्राप्यते वा स **वज्रः**, हीरकं शस्त्रं वा। वपति धर्म्ममिति **विप्रः**, मेधावी वा। [धातोरुपधाया इत्त्वम्।] कुम्बत्याच्छादयतीति **कुब्रम्**, अरण्यं वा। चुम्बति यो येन वा तत् **चुब्रम्**, मुखं वा। अत्रोभयत्र इदितोऽपि नलोपः [निपातनात्]। यः क्षुरति विलिखति येन वा छिनत्तीति स **क्षुरः**, छेदनद्रव्यं कोकिलाक्षं गोक्षुरो लोमच्छेदकं नापितशस्त्रं वा। खुरति छिनत्ति यो येन वा स **खुरः**, शफं वा। अत्रोभयत्र रनि रेफलोपो गुणाऽभावश्च। भन्दते कल्याणं करोतीति **भद्रम्**, कल्याण-[प्रद]म्। नकारलोपः। उच्यति समवैतीति **उग्रः**, महेश्वर उत्कटः क्षत्रं वा। [चकारस्य गकारः।] बिभेत्यस्मात् स **भेरः**, **भेरी** दुन्दुभिर्वा। गौरादित्वान् ङीष्; पक्षे भेरशब्दस्य लत्वम्=**भेलो**, जलतरणद्रव्यं वृद्धकायः कातरो त्रा। शुच्यते पवित्रीभवतीति **शुक्रम्**, ब्रह्माग्निराषाढः प्राणिबीजं नेत्ररोगो वा; अस्यैव व्यवस्थितविभाषया पक्षे लत्वम्=**शुक्लः**, श्वेतं रजतं वा। [उभयत्र चकारस्य कुत्वम्।] गवतेऽव्यक्तं शब्दयतीति **गौरः**, श्वेतो रक्तवर्णो वा; **'गौरी'** स्त्री। [धातोर्वृद्धिः।] ङीष्। वनति सम्भजतीति **वन्रः** विभागी।

एति गच्छति यया सा **इरा**, उदकं मद्यं वा। [गुणाभावः।] **'इरावान्'** समुद्रः, **'ऐरावती'** नदी। इरया मद्येन माद्यतीति **'इरम्मदः'**। माति मानहेतुर्भवतीति **माला** पुष्पादिस्रक्; **मालं** क्षेत्रम्; **मालो** जनः। [प्रत्ययरेफस्य लत्वम्।]

बाहुलकात्—तितिक्षते येन तत् **तीव्रम्**, तीक्ष्णं वा। जस्य वो दीर्घत्वं च धातोः।

उदा०—(1) ऋज्रः (= नायक)—अर्जति गच्छति। ऋज अर्जने। ऋज् रन्—निपातन से लघूपध गुण का अभाव, सु।

(2) इन्द्रः (= इन्द्र, सूर्य)—इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति। इदि परमैश्वर्ये। इदि—'इदितो नुम् धातोः' से नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण—इन् द् रन्—सु।

(3) अग्रम् (= आगे)—अङ्गति गच्छति। अगि गतौ। अ नुम् ग्—नुम् आगम, रन्, निपातन से अनुनासिक लोप—अग् र सु।

(4) वज्र (= वज्र)—वजति प्राप्नोति। वज गतौ। वज् रन्—सु।

(5) विप्रः (= ब्राह्मण, पीपल)—वपति धर्मम्। डुवप् बीजसन्ताने छेदने च। वप् रन्—निपातन से धातु की उपधा को इकार आदेश—विप् र सु।

(6) कुब्रम् (= वन)—कुम्बत्याच्छादयति। कुबि आच्छादने। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम्—कु न् ब् रन्—अनुनासिक लोप, सु। 'कुप्रम्' इत्यपि क्वचित्।

(7) चुब्रम् (= मुख)—चुम्बति यो (येन वा)। चुबि वक्त्रसंयोगे। चु न् ब् रन्—नुम्, निपातन से अनुनासिक लोप, सु। चुप्रेति पाठान्तरम्।

(8) क्षुरः (= छुरा, खुरा)—यः क्षुरति विलिखति (येन वा)। क्षुर विलेखने। क्षुर् रन्—प्राप्त लघूपध गुण का निपातन से निषेध, सु।

(9) खुरः (= खुर)—खुरति छिनत्ति। खुर छेदने। खुर् रन्—'रो रि' से पूर्व रेफ का लोप—खुर—'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से प्राप्त दीर्घादेश का अभाव, गुणाऽभाव, सु।

(10) भद्रम् (= कल्याण)—भन्दते कल्याणं करोति। भदि कल्याणे सुखे च। नुम्—भ न् द् रन्—निपातन से नकारलोप—भद्र सु—अतोऽम्।

(11) उग्रः (= भयानक, महेश्वर)—उच्यति समवैति। उच समवाये। उच् रन्—निपातन से चकार को गकार—उग् र—सु।

(12) भेरः (= दुन्दुभि)—बिभेत्यस्मात्। ञिभी भये। भी रन्—गुण, सु। 'स्त्रियाम्' के अधिकार में गौर्यादिलक्षण ङीष्। भेर ङीष्—यस्येति च, सु, लोप—भेरी।

(13) भेलः (= मूर्ख, वृद्ध शरीर)—भेर—'रलयोरभेदः' नियम से रेफ को लकार आदेश।

(14) शुक्रम् (= वीर्य, नेत्ररोग)—शुच्यते पवित्रीभवति। शुच शोके। कुत्व—शुक् र सु।

(15) शुक्लम् (= श्वेत, चाँदी)—व्यवस्थित विभाषा से रेफ को लत्व। रलयोरभेदः।

(16) गौरः (= गौर वर्ण)—गवतेऽव्यक्तं शब्दयति। गु अव्यक्ते शब्दे। गु रन्—निपातन से वृद्धि—गौ र सु। इसी प्रकार गौरी—षिद्गौरादिभ्यश्च।

(17) वन्नः (= विभजक)—वनति सम्भजति। वन सम्भक्तौ। वन् रन्—सु।

(18) इरा (= जल, शराब, सरस्वती)—एति गच्छति। इण् गतौ। इ रन्—प्राप्त गुण का निपातन से निषेध। स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्—इर आ—सवर्णदीर्घ, सु, लोप।

(19) माला (= माला)—माति मानहेतुर्भवति। मा माने। मा रन्-रेफ को लकार आदेश, टाप्। इसी प्रकार (20) इरावान्—इरा मतुप्। (21) इरम्मदः—इरया मद्येन माद्यति। 'उग्रम्पश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च' (पा० 3.2.37)।

(189) समि कस उकन् [2.30]

पद०—समि 7.1, कसः 5.1, उकन् 1.1

सं०—सम्युपपदे कस्धातोर् उकन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'सम्' शब्द के उपपद रहते कस् धातु से परे उकन् प्रत्यय होता है। उकन् के 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। न् अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)।

स्वा०द०वृ०—सम्यक् कसति गच्छतीति **सङ्कसुकः**, संशयमापन्नश्चञ्चलो दुर्जनो वा।

उदा०—(1) सङ्कसुकः (= चंचल, दुष्ट)—सम्यक् कसति। गच्छति। सम् कस गतौ। सम् कस् उकन्—अनुस्वार (मोऽनुस्वारः)—संकसुक—अनुस्वार को परसवर्ण, सु।

(190) पचिनशोर्णुकन् कनुमौ च [2.31]

पद०—पचिनशोः 6.2, णुकन् 1.1, कनुमौ 1.2, च—अव्य०।

सं०—पच् नश् इत्येताभ्यां धातुभ्यां णुकन् प्रत्ययः स्याद्, धात्वोः क्रमेण ककारादेशनुमागमौ स्याताम्।

व्याख्या—'पचिनशोः' षष्ठ्यन्त पद है। इसे विभक्तिविपरिणाम से पञ्चम्यन्त

(यथा—पचिनशिभ्याम्) बनाकर इन धातुओं से परे प्रत्यय किया जाता है। दो प्रकृतियाँ (पच्, नश्) हैं तथा दो ही कार्य (ककारादेश तथा नुम् आगम) हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' की प्रवृत्ति होकर ये कार्य क्रमेण होते हैं अर्थात् पच् धातु को ककार आदेश और नश् धातु को नुम् आगम होता है। अर्थ—पच् और नश् धातुओं से परे णुकन् प्रत्यय होता है तथा पच् धातु को ककार अन्तादेश व नश् धातु को नुम् आगम होता है। णुकन् के न् की 'हलन्त्यम्' से तथा ण् की 'चुटू' से इत्सञ्ज्ञा होती है। शेष 'उक' रहता है। ण् अनुबन्ध गुणवृद्धि के लिए है तथा न् अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—पच-नशधातुभ्यां णुकन्प्रत्ययः। पचधातोश्चस्य कः, नशधातोर्नुम् च। पचतीति **पाकुकः**, सूपकारो वा। नश्यतीति **नंशुकः**, अणुवाचको वा।

उदा०—(1) पाकुकः (= रसोइया)—पचतीति। डुपचष् पाके। पच् णुकन्—पाच् उक—'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि—पाक् उक—ककार अन्तादेश, सु।

(2) नंशुकः (= अणुवाचक)—नश्यतीति। णश अदर्शने। णश्—'णो नः' से नकार—नश् णुकन्—नुम् आगम, अनुबन्धलोप, मिदचोऽन्त्यात् परः—न न् श् उक—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार, सु।

(191) **भियः क्रुकन्** [2.32]

पद०—भियः 5.1, क्रुकन् 1.1

सं०—भीधातोः क्रुकन् प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—भी धातु से क्रुकन् प्रत्यय होता है। न् की 'हलन्त्यम्' से तथा आदि ककार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा होती है। शेष 'रुक' बचता है। क् अनुबन्ध गुण-वृद्धि के निषेध के लिए है। **न** अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—यो बिभेति स **भीरुकः**, कातरो वा।

उदा०—(1) भीरुकः (= कायर, रीछ, घूक)—यो बिभेति। ञिभी भये। भी क्रुकन्—गुणनिषेध, सु।

(192) **क्वुन् शिल्पिसञ्ज्ञयोरपूर्वस्याऽपि** [2.33]

पद०—क्वुन् 1.1, शिल्पिसञ्ज्ञयोः 7.2, अपूर्वस्य 6.1, अपि–अव्य०।

सं०—शिल्पिनि वाच्ये सञ्ज्ञायां च गम्यमाने उपपदपूर्वकात् उपपदरहिताच्च धातोर् उभयथा क्वुन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'अपि' पद के द्वारा 'अपूर्वस्य' के साहचर्यवशात् 'पूर्वस्य' पद का अध्याहार किया जाता है। अर्थ—उपपदपूर्वक तथा उपपद के पूर्व में न रहने पर–दोनों अवस्थाओं में धातु से क्वुन् प्रत्यय होता है—यदि शिल्पी अर्थ वाच्य हो या सञ्ज्ञा गम्यमान हो।

स्वा०द०वृ०—शिल्पिनि संज्ञायां च गम्यमानायां सोपपदाद् अनुपपदाद्वा सामान्याद्धातोः क्वुन् भवति। [शिल्पिनि–] रजतीति **रजकः**, वस्त्रशोधको वा। इक्षून् कुट्टयतीति **इक्षुकट्टकः**, गौडिकस्येयं संज्ञा। तक्षति तनूकरोतीति **तक्षकः** वर्धकिः, शिल्पी [वा। धुनोति कम्पयतीति] **धुवकः** गर्भमोचको जनः, संज्ञा वा। अभ्रति गच्छति येन तत् **अभ्रकम्**, औषधं संज्ञा वा। चरतीति **चरकः**, वैद्यकशास्त्रं गन्ता वा। चषति भक्षयत्यस्मिन्निति **चषकं** पानपात्रं, शालं वा। भञ्जतीति **भञ्जकः**, मत्स्यभेदः प्राकारो वा। शालान् भञ्जन्ति यस्यां सा **शालभञ्जिका**, क्रीडा। काष्ठं पुत्रीयति यस्यां सा **काष्ठपुत्रिका**, क्रीडा वा। पुष्पैः प्रचायन्ते पूजयन्ति यस्यां सा **पुष्पप्रचायिका**, क्रीडा वा। शुनति गच्छतीति **शुनकः** श्वा [वा]। भषति भर्त्सयतीति **भषकः**, श्वा वा।

बाहुलकाद्—आमलते समन्ताद्धारयतीति **आमलकः**, वृक्षभेदः [वा]; गौरादित्त्वान् ङीष्=**आमलकी**। कलामंशं पाति रक्षतीति **कलापकः**, चन्द्रमा वा। मल्लते गन्धं धरतीति **मल्लिका**, पुष्पजातिर्वा। कन्यते दीप्यते काम्यतेऽभीप्स्यते वा तत् **कनकं**, सुवर्णं वा। कटत्यावृणोत्यङ्गमिति **कटकम्**, आभूषणं वा 'कड़ा' इति प्रसिद्धं, शिखरं राजधानी नितम्बं वा। लटति बाल इव भवतीति **लटकः**, दुर्जनो वा। इत्यादिषु शिल्पिसंज्ञयोः क्वुन् बोध्यः।

उदा०—(1) रजकः (= वस्त्रशोधक)—रजतीति। रञ्ज् क्वुन्—हलन्त्यम्, लशक्वतद्धिते—रञ्ज् वु—'रजकरजनरजस्सूपसङ्ख्यानम्' (पा० 6.4.24. वा०) से अनुनासिक लोप—रज् वु—'युवोरनाकौ' (पा० 7.1.1) से अक आदेश, सु।

(2) इक्षुकुट्टकः (= गौडिक की सञ्ज्ञा)—इक्षून् कुट्टयति। इक्षु कुट्ट् क्वुन्—लघूपध गुण का निषेध, सु।

(3) तक्षकः (= शिल्पी, एक सर्प)—तक्षति तनूकरोति। तक्ष् क्वुन्—सु।

(4) धुवकः (= गर्भमोचक व्यक्ति की सञ्ज्ञा)—धुनोति कम्पयति। धू क्वुन्—उवङ् आदेश—धुव् अक सु।

(5) अभ्रकम् (= एक औषधि)—अभ्रति गच्छति येन तत्। अभ्र् क्वुन्—सु।

(6) चरकः (= एक वैद्य)—चरतीति। चर् क्वुन्—सु।

(7) चषकम् (= प्याला)—चषतीति। चष् क्वुन्—सु।

(8) भञ्जकः (= एक मछली)—भञ्जतीति। भञ्ज् क्वुन्—पूर्ववत्। नकार-लोपाऽभावोऽत्र चिन्तनीयः।

(9) काष्ठपुत्रिका (= एक क्रीडा)—काष्ठं पुत्रीयति यस्यां सा। काष्ठपुत्र क्वुन्—काष्ठपुत्रक टाप्—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्, प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्य०—काष्ठपुत्रिका सु—हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०।

(10) पुष्पप्रचायिका (= एक क्रीडा)—पुष्पैः प्रचायन्ते पूजयन्ति यस्यां सा। पूर्ववत्।

(11) शुनकः (= कुत्ता)—शुनति गच्छति। शुन् क्वुन् सु।

(12) भषकः (= कुत्ता)—भषति। भष् क्वुन्—सु।

इसी प्रकार (13) आमलकः, (14) कलापकः, (15) मल्लिका, (16) कनकम्, (17) कटकम्, (18) खनकः, (19) जनकः, (20) क्षिपकः।

(193) रमे रश्च लो वा [2.34]

पद०—रमेः 5.1, रः 6.1, च—अव्य०, लः 1.1, वा—अव्य०।

अनु०—'क्वुन् शिल्पिसञ्ज्ञ०' (उ०सू० 2.33) से 'क्वुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—रम्धातोः क्वुन् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च यो रेफस्तस्य स्थाने लकारो विकल्पेन भवति।

व्याख्या—'रमेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'रमेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'रमेः' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त बनाकर इसका 'रः' के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—रम् धातु परे क्वुन् प्रत्यय होता है तथा धातु का जो रेफ, उसके स्थान पर लकार आदेश विकल्प से होता है। लकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—रमतेऽसौ **रमकः**, रमणशीलो वा; **लमकः** अपि स एव।

उदा०—(1) लमकः (= रमणशील)—रमतेऽसौ। रमु क्रीडायाम्। रम् क्वुन्—रम् अक—लकार आदेश—लम् अक—सु।

(2) रमकः—लकार आदेश अभाव पक्ष।

(194) जहातेर्द्वे च [2.35]

पद०—जहातेः 5.1, द्वे 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'क्वुन् शिल्पि०' (उ०सू० 2.33) से 'क्वुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—हाधातोः क्वुन् प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च द्वे भवतः।

व्याख्या—'जहातेः' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—हा धातु से परे क्वुन् प्रत्यय है और धातु को द्वित्व होता है।

स्वा०द०वृ०—जहाति त्यजति हानिं करोतीति **जहकः**, त्यागी कालो वा।

उदा०—(1) जहकः (= त्यागी, काल, बालक, केंचुली)—जहाति त्यजति। ओहाक् त्यागे। हा हा क्वुन्—पूर्वोऽभ्यासः, ह्रस्वः—ह हा वु—कुहोश्चुः—झ हा वु—अभ्यासे चर्च—जहा वु—युवोरनाकौ—ज हा अक—आतो लोप इटि च—जह् अक—सु।

(195) ध्मो धम च [2.36]

पद०—ध्मः 5.1, धम 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'क्वुन् शिल्पि०' (उ०सू० 2.33) से 'क्वुन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—ध्माधातोः क्वुन् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'धम' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'ध्मः' पद की आवृत्ति की जाती है। अर्थ—ध्मा धातु से परे क्वुन् प्रत्यय होता है और धातु के स्थान पर 'धम' आदेश होता है। धम यह अनेकाल् है। अतः धम आदेश 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण स्थानी (ध्मा) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—धमति शब्दं करोतीति अग्निं वा संयुनक्ति स **धमकः**, कर्मकारो वा।

उदा०—(1) धमकः (= कारीगर)—धमति शब्दं करोति। ध्मा शब्दाऽग्निसंयोगयोः—धम क्वुन्—धम अक—युवोरनाकौ—धमक सु।

(196) हनो वध च [2.37]

पद०—हनः 5.1, वध 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'क्वुन् शिल्पि०' (उ०सू० 2.33) से 'क्वुन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—हन्धातोः क्वुन् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'वध' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—हनः पद की पूर्ववत् आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—हन् धातु से क्वुन् प्रत्यय होता है तथा धातु को 'वध' आदेश होता है। अनेकाल् होने से 'वध' आदेश सर्वादेश होता है।

स्वा०द०वृ०—हन्तीति **वधकः** हिंसकः।

उदा०—(1) वधकः (= हत्यारा)—हन्तीति। हन हिंसागत्योः। हन् → वध क्वुन्—वधक सु।

(197) बहुलमन्यत्राऽपि [2.38]

पद०—बहुलम् 2.1, अन्यत्र—अव्य०, अपि—अव्य० ।
अनु०—'क्वुन् शिल्पि०' (उ०सू० 2.33) से 'क्वुन्' का अनुवर्त्तन होता है।
सं०—अन्येभ्यो धातुभ्योऽपि बहुलं क्वुन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—पूर्वशास्त्र में कथित धातुओं के अतिरिक्त धातुओं से क्वुन् प्रत्यय बहुलता से होता है। 'बहुलम्' कथन से प्रत्यय की अनेकविध स्थिति होती है।

स्वा०द०वृ०—बहुलवचनादन्यत्रापि क्वुन्। कुहयति विस्मयं कारयतीति **कुहकः**, दाम्भिको नीहारो वा। कृन्तति छिनत्तीति **कृतकं,** मिथ्या वा। भिनत्ति येन स **भिदकः**, खड्गो वा। छिनत्ति येन तत् **छिदकं,** वज्रो वा। रोचतेऽनेन तत् **रुचकम्,** मातुलुङ्गकं वा, 'बिजौरा नींबू' इति प्रसिद्धं वा। लङ्गति गच्छतीति **लङ्गकः**, प्रियो वा। उज्झत्युत्सृजतीति **उज्झकः** योगी मेघो वा।

उदा०—(1) कुहकः (= जादूगर)—कुहयति विस्मयं कारयति। कुह् क्वुन्।
(2) भिदकः (= तलवार)—येन भिनत्तीति। भिद् क्वुन्—लघूपध गुण निषेध।
(3) छिदकः—छिद् क्वुन्—पूर्ववत्।
(4) कृतकम् (= कृत्रिम)। कृन्तति। कृन्त् क्वुन्।
(5) रुचकम् (= सोना)। रोचतेऽनेन। रुच् क्वुन्।
(6) लङ्गकः (= प्रिय)। लङ्गति गच्छति। लङ्ग् क्वुन्।
(7) उज्झकः (= बादल)। उज्झत्युत्सृजति। उज्झ् क्वुन्।
(8) वृत्रवधः (= इन्द्र)। वृत्रं हन्ति। वृत्र हन् > वध अच् (उ०सू० 5.97)।

(198) कृषेर्वृद्धिश्चोदीचाम् [2.39]

पद०—कृषेः 5.1, वृद्धिः 1.1, च—अव्य०, उदीचाम् 6.3
अनु०—'क्वुन् शिल्पि०' (उ०सू० 2.33) से 'क्वुन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—कृष्धातोः क्वुन् प्रत्ययः स्याद् उदीचाम् आचार्याणां मते धातोश्च वृद्धिर् आदेशो भवति।

व्याख्या—कृष् धातु से परे क्वुन् प्रत्यय होता है तथा उदीच्य आचार्यों के मत में धातु को वृद्धि आदेश भी होता है। यह आदेश उदीच्य आचार्यों के मत में होता है तथा आचार्य पाणिनि के मत में नहीं होता है। अतः एक पक्ष में वृद्धि आदेश होता है तथा दूसरे पक्ष में नहीं होता है। वृद्धि पक्ष में 'इको गुणवृद्धी' परिभाषा प्रवृत्त होकर धातु के इक् वर्ण (ऋकार) के स्थान पर यह आदेश प्राप्त होता है। 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'आर्' के रूप में वृद्धि आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—कृषतीति **कार्षकः, कृषकः** वा कृषीवलः।

उदा०—(1) कार्षकः (= किसान)—कृषतीति। कृष विलेखने। कृष् क्वुन्—वृद्धि आदेश—कार्ष् अक सु।

(2) कृषकः—वृद्धि अभाव पक्ष।

(199) उदकञ्च [2.40]

पद०—उदकम् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'क्वुन् शिल्पि०' (उ०सू० 2.33) से 'क्वुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—उदकशब्दः क्वुन्प्रत्ययान्तो निपात्यते।

व्याख्या—क्वुन् प्रत्ययान्त 'उदक' शब्द निपातन से सिद्ध है।

स्वा०द०वृ०—उनत्ति क्लेदयतीति **उदकं** जलं वा।

उदा०—(1) उदकम् (= जल)—उनत्तीति। उन्दी क्लेदने। उन्द् क्वुन्—नकारलोप—उद् अक सु।

(200) व्रश्चिकृषोः किकन् [2.41]

पद०—व्रश्चिकृषोः 6.2, किकन् 1.1

सं०—व्रश्च् कृष् इत्येताभ्यां धातुभ्यां किकन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'व्रश्चिकृषोः' पद षष्ठ्यन्त है। विभक्तिविपरिणाम से इसे पञ्चम्यन्त (यथा—व्रश्चिकृषिभ्याम्) बना लिया जाता है। अर्थ—व्रश्च् और कृष् इन धातुओं से परे किकन् प्रत्यय होता है। 'न्' की 'हलन्त्यम्' से तथा आदि 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा है। 'इक' शेष रहता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए तथा 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—वृश्चति छिनत्तीति **वृश्चिकः** विषी जीवविशेषः, शूककीटो वा, 'केंचुआ' इति प्रसिद्धः। कृषति येन स **कृषिकः**, फालो वा।

उदा०—(1) वृश्चिकः (= बिच्छू, गोबर का कीड़ा)—वृश्चति छिनत्ति। ओव्रश्चू छेदने। व्रश्च् किकन्—व्रश्च् इक—'ग्रहिज्याविययिव्यधिवष्टि०' (पा० 6.1.16) से सम्प्रसारण—वृश्च् इक सु।

(2) कृषिकः (= फाल, किसान)–कृषति येन। कृष विलेखने। कृष् किकन्—गुणनिषेध, सु।

(201) प्राङि पणिकषः [2.42]

पद०—प्राङि 7.1, पणिकषः 5.1

अनु०—'व्रश्चिकृषोः किकन्' (उ०सू० 2.41) से 'किकन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—'प्राङ्' इत्युपपदे पण् कष् इत्येताभ्यां धातुभ्यां किकन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—प्राङ् शब्द के उपपद रहते पण् तथा कष्—इन धातुओं से परे किकन् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—प्रकर्षेण समन्तात् पणायत्यसौ **प्रापणिकः**, पण्यविक्रयी वा। प्राकषति हिनस्तीति **प्राकषिकः**, पारदारिको वा।

उदा०—(1) प्रापणिकः (= व्यापारी)—प्रकर्षेण समान्तात् पणायत्यसौ। प्राङ् पण् किकन्—सु। पण व्यवहारे।

(2) प्राकषिकः (= जार पुरुष)—प्रकर्षेण कषति। कष हिंसायाम्। पूर्ववत्।

(202) मुषेर्दीर्घश्च [2.43]

पद०—मुषेः 5.1, दीर्घः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'व्रश्चिकृषोः किकन्' (उ०सू० 2.1) से 'किकन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—मुष्धातोः किकन् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च दीर्घादेशः स्यात्।

व्याख्या—'मुषेः' पद का आवर्त्तन किया जाता है। प्रथम 'मुषेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'मुषेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को दीर्घ आदेश किया जाता है। अर्थ—मुष् धातु से परे किकन् प्रत्यय होता है तथा धातु को दीर्घ आदेश होता है। ह्रस्व, दीर्घ आदि सञ्ज्ञाएँ अच् वर्णों की हुआ करती हैं। अतः दीर्घ आदेश मुष् धातु में स्थित अच् वर्ण (उकार) के स्थान पर प्राप्त होता है। 'स्थानेऽन्तरतमः' से उकार के स्थान पर ऊकार दीर्घ आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—मुष्णाति पदार्थानिति **मूषिकः** आखुर्वा; स्त्रियां **'मूषिका'**। **अजादित्वात्** [अ० 4.1.4] टाप्।

उदा०—(1) मूषिकः (= चूहा, चौर, एक वृक्ष)—मुष्णाति। मुष स्तेये। मुष् क्किन्—धातु को दीर्घ आदेश—मूष् इक सु। मूषिक शब्द का अजादि गण में पाठ होने से 'स्त्रियाम्' के अधिकार में इससे पर 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० 4.1.4) से अजादिलक्षण टाप् हुआ—मूषिक आ—अनुबन्धलोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ, सु, अपृक्त सकार का लोप।

(203) स्यमेः सम्प्रसारणञ्च [2.44]

पद०—स्यमेः 5.1, सम्प्रसारणम् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'व्रश्चिकृषोः किकन्' (उ०सू० 2.41) से 'किकन्' का तथा 'मुषेर्दीर्घश्च' (उ०सू० 2.43) से 'दीर्घः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—स्यम्धातोः किकन् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च सम्प्रसारणदीर्घाऽऽदेशौ स्याताम्।

व्याख्या—'स्यमेः' पद की पूर्ववत् आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—स्यम् धातु से परे किकन् प्रत्यय होता है तथा धातु को सम्प्रसारण और दीर्घ आदेश—ये दो कार्य होते हैं। 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से यण् वर्ण के स्थान पर इक् वर्ण होता है। स्यम् धातु में यण् वर्ण य् है। इसके स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से इकार इक् वर्ण होता है। इकार को दीर्घ आदेश ईकार होता है।

स्वा०द०वृ०—स्यमति शब्दयतीति **सीमिकः**, वृक्षभेदो वा।

उदा०—(1) सीमिकः (= एक वृक्ष, चींटी, वल्मीक)—स्यमति शब्दयति। स्यमु शब्दे। स्यम् किकन्—सम्प्रसारण—स् इ अम् इक—'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप—सिम् इक—दीर्घ आदेश—सीमिक सु।

(204) क्रिय इकन् [2.45]

पद०—क्रियः 5.1, इकन् 1.1

सं०—क्रीधातोर् इकन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—क्री धातु से परे इकन् प्रत्यय होता है। 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)।

स्वा०द०वृ०—क्रीणाति द्रव्येण पदार्थान्तरं ददाति गृह्णाति वा स **क्रयिकः** क्रेता; **विक्रयिको** विक्रेता।

उदा०—(1) क्रयिकः (= व्यापारी)—क्रीणातीति। डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये। क्री इकन्—प्रत्यय की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण—क्रे इक—'एचोऽयवायावः' से अय् आदेश, सु।

(205) आङि पणिपनिपतिखनिभ्यः [2.46]

पद०—आङि 7.1, पणिपनिपतिखनिभ्यः 5.3

अनु०—'क्रिय इकन्' (उ०सू० 2.45) से 'इकन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—आङ् इत्युपपदे पण् पन् पत् खन् इत्येतेभ्यो धातुभ्य इकन्प्रत्ययः स्यात् ।

व्याख्या—'आङ्' शब्द के उपपद रहते पण्, पन्, पत् तथा खन्—इन धातुओं से परे इकन् प्रत्यय होता है ।

स्वा०द०वृ०— [आ] समन्तात् पणायति व्यवहरति स **आपणिकः**, वैश्यो वा । आपणेन व्यवहरतीति तद्धिते ठकि सिद्धे नित्स्वरार्थं वचनम् । आपनायतीति **आपनिकः**, म्लेच्छजातिर्वा । [आ] समन्तात् पततीति **आपतिकः**, श्येनो वा । [आ] समन्तात् खनतीति **आखनिकः**, मूषिको वराहो वा ।

उदा०—(1) आपणिकः (= वैश्य, व्यापारी)—आ समन्तात् पणायति व्यवहरति । आङ् पण पन व्यवहारे स्तुतौ च—आ पण् इकन् सु । शङ्का—'आपणेन व्यवहरति' इस विग्रह की दशा में 'कठिनान्तप्रस्तार०' (पा० 4.4.72) से तद्धित ठक् प्रत्यय होकर 'आपणिक' शब्द निष्पन्न होता है । तब प्रकृत सूत्र की क्या आवश्यकता है । समा०—ठक् प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त नहीं है । इसे आद्युदात्त स्वर के लिए इकन् प्रत्यय किया है । शङ्का—'आपणम् अस्याऽस्तीति' इस विग्रह की दशा में 'अत इनिठनौ' (पा० 5.2.115) से मत्वर्थीय ठन् प्रत्यय करके इष्ट स्वर की सिद्धि की जा सकती है ।

(2) आपनिकः (= म्लेच्छ जाति)—आपनायति । आङ् पन इकन्—पूर्ववत् ।

(3) आपतिकः (= बाज)—आ समन्तात् पतति । पत्लृ गतौ । आ पत् इकन् ।

(4) आखनिकः (= चूहा, वराह)—आ समन्तात् खनतीति । आङ् खनु अवदारणे । आ खन् इकन्—सु ।

(206) श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् [2.47]

पद०—श्यास्त्याहृञविभ्यः 5.3, इनच् 1.1

सं०—श्यै स्त्यै हृ अव्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य इनच् स्यात् ।

व्याख्या—श्यै, स्त्यै, हृ तथा अव्—इन धातुओं से इनच् प्रत्यय होता है । च् अनुबन्ध चित्-लक्षण स्वर के लिए है । 'चितः' (पा० 6.1.162) ।

स्वा०द०वृ०—श्यायति गच्छतीति **श्येनः**, पक्षिभेदो वा । स्त्यायति शब्दयति सङ्घातयतीति स **स्त्येनः**, चौरो वा । हरतीति **हरिणः** मृगः, पाण्डुवर्णो वा; स्त्रियां **'हरिणी'** सुन्दरी छन्दोभेदो हरितवर्णा वा । अवति रक्षणादिकं करोतीति **अविनः**, अध्वर्युर्वा ।

उदा०—(1) श्येनः (= बाज)—श्यायति गच्छति । श्यैङ् गतौ । श्यै → श्या

'आदेच उपदेशेऽशिति' से आकार आदेश—श्या इनच्—'आद् गुणः' से गुण आदेश, सु।

(2) स्त्येनः (= चौर)—स्त्यायति शब्दयति। स्त्यै शब्दसङ्घातयोः। स्त्यै- पूर्ववत्।

(3) हरिणः (= मृग)—हरतीति। हृञ् हरणे। हृ इनच्—प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व, सु।

(4) अविनः (= अध्वर्यु)—अवति रक्षति। अव रक्षणादिषु। अव् इनच्-सु।

(207) वृजेः किच्च [2.48]

पद॰—वृजेः 5.1, कित् 1.1, च—अव्य॰।

अनु॰—'श्यास्त्याहृञविभ्य इनच्' (उ॰सू॰ 2.47) से 'इनच्' की अनुवृत्ति है।

सं॰—वृज्धातोर् इनच्प्रत्ययः स्यात् स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—वृज् धातु से इनच् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन लघूपध गुण का निषेध करना है।

स्वा॰द॰वृ॰—इनच् कित्। वृक्ते वर्जयतीति **वृजिनः**, केशः पापं वक्रो वा।

उदा॰—(1) वृजिनम् (= पाप, केश, दुःख)—वृक्ते वर्जयति। वृजी वर्जने। वृज् इनच्—गुण का निषेध, सु।

(208) अजेरज च [2.49]

पद॰—अजेः 5.1, अज 1.1, च—अव्य॰।

अनु॰—'श्यास्त्या···इनच्' (उ॰सू॰ 2.47) से 'इनच्' की अनुवृत्ति है।

सं॰—अज्धातोर् इनच् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'अज' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'अजेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'अजेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'अजेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। 'अज' यह लुप्त प्रथमान्त रूप है। अर्थ—अज् धातु से परे इनच् प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर 'अज' आदेश होता है। 'अज' अनेकाल् है। 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' से यह आदेश सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् अज्) के स्थान पर होता है। शङ्का—'अज्' के स्थान पर 'अज' आदेश व्यर्थ है। समा॰—'अजेर्व्यघञपोः' (पा॰ 2.4.53) से अज् के स्थान पर 'वी' आदेश प्राप्त था। उसके बाध के लिए अज् के स्थान पर 'अज' आदेश किया गया है।

स्वा०द०वृ०—अजति गच्छति क्षिपति वा तत् **अजिनम्,** चर्म वा। अजादेशो वीभावनिवृत्त्यर्थः।

उदा०—(1) अजिनम् (= मृगचर्म)—अजति गच्छति। अज गतिक्षेपणयोः। अज् इनच्—सु।

(209) बहुलमन्यत्राऽपि [2.50]

पद०—बहुलम् 2.1, अन्यत्र-अव्य०, अपि—अव्य०।

अनु०—'श्यास्त्याहृञविभ्य इनच्' (उ०सू० 2.47) से 'इनच्' की अनुवृत्ति है।

सं०—पूर्वोक्तेभ्योऽन्येभ्यो धातुभ्यो बहुलम् इनच् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—पूर्व शास्त्र में उक्त धातुओं से अन्य धातुओं से भी इनच् प्रत्यय दृष्टिगोचर होता है।

स्वा०द०वृ०—कठति कृच्छ्रेण जीवतीति **कठिनम्,** कठोरं वा। कुण्डते दहतीति **कुण्डिनः**, ऋषिर्वा, यस्यापत्यं 'कौण्डिन्यः'। बर्हते प्रधानो भवतीति **बर्हिणः**, मयूरो वा। फलति विशीर्णो भवतीति **फलिनः**, फलवान् वृक्षो वा। नलति गन्धयुक्तो भवतीति **नलिनम्,** कमलं वा। मस्यति परिणमतीति **मसिनम्,** सुपिष्टं वा। मलते धरतीति **मलिनः**, मलयुक्तो वा। द्रुह्यति जिघांसतीति **द्रुहिणः**, ब्रह्मा वा। अन्धकारं द्यत्यवखण्डयतीति **दिनम्,** दिवसं वा। इनचः कित्त्वादाकारलोपः।

उदा०—(1) कठिनम् (= कठिन)—कठति कृच्छ्रेण जीवति। कठ् इनच्—अनुबन्धलोप—कठ् इन—सु।

(2) बर्हिणः (= मोर)—बर्हते। बृह् इनच्—लघूपध गुण, रपरत्व—'उरण् रपरः' से बर्ह् इन—णत्व, सु।

(3) कुण्डिलः (= ऋषि)—कुण्डते दहति। कुण्ड् इनच्—सु, विभक्तिकार्य।

(4) फलिनः (= वृक्ष)—फलति विशीर्णो भवति। फल् इनच्—सु।

(5) नलिनम् (= कमल)—नलति गन्धयुक्तो भवति। नल् इनच्—सु।

(6) मसिनम् (= अच्छी पीसी गई कज्जल)—मस्यति परिणमति। मस् इनच्।

(7) मलिनः (= मैला)—मलते धरति। मल् इनच्।

(8) दिनम् (= दिन)—द्यत्यवखण्डयत्यन्धकारम्। दो → दा—प्रत्यय के कित् होने से आकारलोप—द् इनच्—सु। दो अवखण्डने।

(9) द्रुहिणः (= ब्रह्मा)—द्रुह्यति जिघांसति। द्रुह् इनच्—णत्व, सु।

(210) द्रुदक्षिभ्यामिनन् [2.51]

पद०—द्रुदक्षिभ्याम् 5.2, इनन् 1.1

सं०—द्रु दक्ष् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् इनन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—द्रु तथा दक्ष्—इन धातुओं से परे इनन् प्रत्यय होता है। न् अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्र०—ञ्नित्यादिर्नित्यम्।

स्वा०द०वृ०—द्रवति गच्छति द्रुयते प्राप्यते वा तद् **द्रविणम्**, द्रव्यं सुवर्णं पराक्रमो वा। दक्षते वर्धते शीघ्रकारी भवति वा स **दक्षिणः**, सरलो अवामभागः परतन्त्राऽनुवर्त्तनश्च, स्त्रियां **दक्षिणा** दानं, प्रतिष्ठा वा।

उदा०—(1) द्रविणम् (= धन)—द्रवति गच्छति। द्रु गतौ। द्रु इनन्—'आर्धधातुकं शेषः' से इनन् की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण। द्रो इनन्—'एचोऽयवायावः' से अव् आदेश, णत्व, सु।

(2) दक्षिणः (= सरल, कुशल)—दक्षते वर्धते। दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च। दक्ष् इनन्—णत्व, सु।

(3) दक्षिणा (= दान, प्रतिष्ठा, उपहार)—दक्षिण टाप्—सवर्णदीर्घ। दक्षिणा सु—अपृक्त सकार का लोप। दिग्वाची 'दक्षिणा' शब्द 'दक्षिणा च' (फि०सू० 1.9) से अन्तोदात्त होता है। परन्तु इनन् प्रत्ययान्त 'दक्षिणा' शब्द आद्युदात्त है।

(211) अर्त्तेः किदिच्च [2.52]

पद०—अर्त्तेः 5.1, कित् 1.1, इत् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'द्रुदक्षिभ्यामिनन्' (उ०सू० 2.51) से 'इनन्' की अनुवृत्ति है।

सं०—ऋधातोर् इनन् प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञको, धातोश्च 'इत्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'अर्त्तेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'अर्त्तेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'अर्त्तेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु क़ो आदेश किया जाता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध करना है। अर्थ—'ऋ' धातु से परे इनन् प्रात्यय होता है, 'इनन्' कित्-सञ्ज्ञक होता है तथा धातु को 'इत्' आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से इत् आदेश धातु के अन्त्य अल् (व्यपदेशिवद्भाव से ऋकार) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—ऋच्छन्ति गच्छन्ति यत्र यस्माद्वा जनास्तत् **इरिणम्**, शून्यम् ऊषरभूमिर्वा।

उदा०—(1) इरिणम् (= शून्य, बंजरभूमि)—ऋच्छन्ति गच्छन्ति यत्र (यस्माद् वा)। ऋ गतौ। ऋ → इत् आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—इर् इनन्—इरिन—'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व—इरिण सु।

विशेष—नारायण भट्ट प्रत्यय को कित् नहीं मानते हैं। द्र०—अर्त्तेरिच्च।

(212) वेपितुह्योर्ह्रस्वश्च [2.53]

पद०—वेपितुह्योः 6.2, ह्रस्व: 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'द्रुदक्षिभ्यामिनन्' (उ०सू० 2.51) से 'इनन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वेप् तुह्—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् इनन् प्रत्यय: स्याद् धातोश्च ह्रस्वाऽऽदेश: स्यात्।

व्याख्या—'वेपितुह्योः' पद षष्ठ्यन्त है। इसे विभक्तिविपरिणाम से पञ्चम्यन्त (यथा—वेपितुहिभ्याम्) बना लिया जाता है। अर्थ—वेप् तथा तुह् इन धातुओं से परे इनन् प्रत्यय होता है तथा धातु का जो अच् वर्ण, उसके स्थान पर ह्रस्वादेश होता है। ह्रस्वादि सञ्ज्ञाएँ अच् वर्णों की हुआ करती हैं। अत: वेप् में स्थित एकार को तथा तुह् में स्थित उकार को ह्रस्व आदेश प्राप्त होता है। 'एच इग्घ्रस्वादेशे' से एच् वर्ण (एकार) के स्थान पर इक् वर्ण ('स्थानेऽन्तरतम:' से इकार) होता है। शङ्का—उकार की ह्रस्व सञ्ज्ञा सिद्ध है। इसके स्थान पर ह्रस्वादेश विधान व्यर्थ है। समा०—तुह् इनन्—इस दशा में 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण प्राप्त था। इसके बाध के लिए उकार के स्थान पर ह्रस्व आदेश होकर उकार ही होता है। तब ह्रस्वादेश के विधानसामर्थ्य से लघूपध गुण प्राप्त नहीं होता है।

स्वा०द०वृ०—यत् वेपते कम्पते यत्र वा तद् **विपिनम्,** गहनं वा। तोहति गच्छति याचते वा तत् **तुहिनम्,** हिमं वा। गुणे कृते ह्रस्व:।

उदा०—(1) विपिनम् (= वाटिका)—वेपते कम्पते तत्। टुवेपृ कम्पने। वेप्—विप्—ह्रस्वादेश—विप् इन सु—अतोऽम्।

(2) तुहिनम् (= ओस, बर्फ)—तोहति गच्छति (याचते वा)। तुहिर् गतौ। तुह् इनन्—सु।

(213) तलिपुलिभ्यां च [2.54]

पद०—तलिपुलिभ्याम् 5.2, च—अव्य०।

अनु०—'वेपितुह्योर्ह्रस्वश्च' (उ०सू० 2.53) से 'ह्रस्व:' का तथा 'द्रुदक्षिभ्यामिनन्' (उ०सू० 2.51) से 'इनन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—तल् पुल् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् इनन् प्रत्यय: स्याद् धातोश्च ह्रस्वाऽऽदेश: स्यात्।

व्याख्या—'तलिपुलिभ्याम्' पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होकर धातु से परे इनन् होता है। इसे विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त (यथा—

तलिपुल्योः) बनाकर धातु को ह्रस्वादेश होता है। अर्थ—तल् तथा पुल् धातुओं से परे इनन् प्रत्यय होता है तथा धातु को ह्रस्व आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—तालयति प्रतितिष्ठतीति **तलिनम्,** विरलं पृथग्भूतं स्वल्पं स्वच्छं वा। पोलयति महान् भवतीति **पुलिनम्,** जलसामीप्यं वा।

उदा०—(1) तलिनम् (= विरल, सूक्ष्म)—तालयति प्रतितिष्ठति। तल प्रतिष्ठायाम्। तल् इनन्—सु।

(2) पुलिनम् (= तट)—पोलयति महान् भवति। पुल महत्त्वे। पुल् इनन्—पोल् इन—गुण—पुल् इन—ह्रस्व आदेश, सु।

(214) गर्वेरत उच्च [2.55]

पद०—गर्वेः 5.1, अतः 6.1, उत् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'द्रुदक्षिभ्यामिनन्' (उ०सू० 2.51) से 'इनन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—गर्व्धातोर् इनन् प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च यो ह्रस्वोऽकारः तस्य स्थाने 'उत्' इत्यादेशः स्यात्।

व्याख्या—'गर्वेः' पञ्चम्यन्त पद है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' से गर्व् से परे प्रत्यय होता है। विभक्तिविपरिणाम से 'गर्त्तेः' पद को षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'अतः' पद के साथ अन्वय किया जाता है। उत् में तकार उच्चारणार्थ है। आदेश में तपरता व्यर्थ होकर सूचित करता है कि यहाँ 'त्' अनुबन्ध उच्चारणार्थ है। उत् = ह्रस्व उकार। अर्थ—गर्व् धातु से परे इनन् प्रत्यय होता है तथा गर्व् धातु का जो ह्रस्व अकार, उसके स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—गर्वति प्राप्नोति गर्वयति मुञ्चति वा सा **गुर्विणी,** गर्भिणी वा।

उदा०—(1) गुर्विणी (= गर्भिणी स्त्री)—गर्वति प्राप्नोति। गर्वयति मुञ्चति। गर्व् इनन्—गुर्व् इन—उकार आदेश—गुर्विन ई—'स्त्रियाम्' के अधिकार में ङीप् हुआ, अनुबन्धलोप, 'यस्येति च' से भसञ्ज्ञक अङ्ग के अकार का लोप—गुर्विन् ई—'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये० से णत्व, सु, हल्ङ्या०।

(215) रुहेश्च [2.56]

पद०—रुहेः 5.1, च—अव्य०।

अनु०—'द्रुदक्षिभ्यामिनन्' (उ०सू० 2.51) से 'इनन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—रुह्धातोर् इनन् प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—रुह् धातु से परे इनन् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—रोहति वीजेन जायते स **रोहिणः; प्रज्ञादित्वाद्** [अ० 5.4.38 स्वार्थे] अण्=**रौहिणः**, चन्दनवृक्षो वा। जातिवाचकात् स्त्रियां ङीष्—**रोहिणी**, गौर्वा।

उदा०—(1) रोहिणः (= चन्दन का वृक्ष)—रोहतीति। रुह बीजजन्मनि। रुह् इनन्—'आर्धधातुकं शेषः' से इनन् की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण—रोहिन—'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवा०' से णत्व, सु।

(216) महेरिनण् च [2.57]

पद०—महेः 5.1, इनण् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'द्रुदक्षिभ्यामिनन्' (उ०सू० 2.51) से 'इनन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—मह्धातोर् इनण् इनन् प्रत्ययौ पर्यायेण भवतः।

व्याख्या—मह् धातु से इनण् और इनन् प्रत्यय क्रमशः होते हैं। इनण् में 'ण्' अनुबन्ध उपधा वृद्धि के लिए है।

स्वा०द०वृ०—महति मह्यते पूज्यते वा तत् **माहिनम्; महिनम्** राज्यं वा। चादिनजनुवर्त्तते[1]।

उदा०—(1) माहिनम् (= सम्माननीय)—महति मह्यते पूज्यते तत्। मह पूजायाम्। मह् इनण्-'अत उपधायाः' से उपधाभूत अत् को वृद्धि आदेश—माह् इन सु—अतोऽम्।

(2) महिनम्—मह् इनन्—वृद्धि आदेश नहीं होता है।

(217) क्विब्वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च [2.58]

पद०—क्विप् 1.1, वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वाम् 6.3, दीर्घः 1.1, असम्प्रसारणम् 1.1, च—अव्य०।

सं०—वच् प्रच्छ् श्रि स्रु द्रु प्रु जु—इत्येभ्यो धातुभ्यः क्विप् प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च योऽच्, तस्य स्थाने दीर्घाऽऽदेशः स्यात्, प्राप्तस्य सम्प्रसारणस्य निषेधो भवति।

व्याख्या—'वचि····ज्वाम्' यह षष्ठ्यन्त पद है। इसका 'दीर्घः' पद के साथ अन्वय होता है। 'वचि···ज्वाम्' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा पञ्चम्यन्त (यथा—वचि···जुभ्यः) बना लिया जाता है। तब 'तस्मादित्युत्तरस्य' के द्वारा वचि आदि धातुओं से प्रत्यय होता है। अर्थ—वच्, प्रच्छ्, श्रि, स्रु, द्रु, प्रु तथा जु—इन धातुओं से परे क्विप् प्रत्यय होता है, धातु के अच् वर्ण को दीर्घ आदेश होता है तथा धातु को प्राप्त सम्प्रसारण नहीं होता है। क्विप् के 'प्' की 'हलन्त्यम्' से, 'क्' की 'लशक्वतद्धिते'

---

1. 'चादिनजनुवर्त्तते' इत्यस्य स्थाने 'चादिननुवर्त्तत' इति पठनीयम्। (लेखकः)

से तथा 'इ' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्सञ्ज्ञा होती है। 'तस्य लोपः' से इनका लोप होता है। शेष 'व्' बचता है। 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' से 'व्' की अपृक्त सञ्ज्ञा होकर 'वेरपृक्तस्य' से इसका लोप हो जाता है। इस प्रकार क्विप् प्रत्यय का सर्वापहार लोप होकर शेष कुछ नहीं बचता है। प्रत्यय का सर्वापहारी लोप होने पर भी 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' के बल पर वच् आदि धातुओं को 'वचिस्वपियजादीनां किति' (पा० 6.1.15) से सम्प्रसारण प्राप्त होता है, जिसका प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध कर दिया गया है।

स्वा०द०वृ०—वक्ति शब्दानुच्चारयति यया सा **वाक्**। पृच्छतीति प्राट्। शब्दं पृच्छतीति **'शब्दप्राट्'** शिष्यो वा; **शब्दप्राशौ, शब्दप्राशः। छ्वोः शूडनुनासिके च।** [अ० 6.4.19] इति छस्य शः। श्रयति श्रीयते वा सा **श्रीः**, ईश्वररचना शोभा वा। या स्रवति यस्या वा सा **स्रूः**, यज्ञसाधनं वा। द्रूयते प्राप्यते दुःखमनया सा **द्रूः**, हिरण्यं वा। कटेन कटिभागेन प्रवते गच्छतीति **कटप्रूः**, कामुको जनः कीटो वा। जवति शीघ्रं गच्छतीति **जूः**, शशोऽश्वो वृषभ आकाशं विद्या वा।

बाहुलकात्—प्रवर्षन्ति मेघा यस्यां सा **प्रावृट्** ऋतुः। द्वारयति संवृणोति यया सा **द्वाः, द्वारौ**। उदकेन श्वयति वर्धते तत् **उदश्वित्**, तक्रं वा। ऋचन्ति स्तुवन्ति यया सा **ऋक्**।

उदा०—(1) वाक् (= वाणी)—वक्ति यया सा। वच परिभाषणे। वच् क्विप्—सर्वापहार लोप—वच्—धातु को दीर्घ आदेश—वाच् सु—अपृक्त सकार का लोप, प्रत्ययलक्षण से पदसञ्ज्ञा—वाक्—'चोः कुः' से कुत्व, 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व—वाग्—'वाऽवसाने' से पाक्षिक चर्त्व।

(2) प्राट् (= शिष्य)—पृच्छतीति। प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्। प्रच्छ् क्विप्—सर्वापहार लोप, प्रच्छ् धातु को दीर्घ आदेश—प्राच्छ्—'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से षकार—प्राष्—सु, लोप, पदसञ्ज्ञा—प्राड्—झलां जशोऽन्ते—प्राट्, प्राड्—वाऽवसाने।

(3) श्रीः (= लक्ष्मी)—श्रयति (श्रीयते वा)। श्रिञ् सेवायाम्। श्रि क्विप्—सर्वापहार लोप—श्रि—धातु को दीर्घ आदेश, प्रत्यय का सर्वापहार लोप—श्री—सु, विसर्ग।

(4) स्रूः (= यज्ञसाधन)—या स्रवति। स्रु गतौ। स्रु क्विप्—सर्वापहार लोप, धातु को दीर्घ आदेश—स्रू सु—विभक्तिकार्य।

(5) प्रूः (= सोना)—प्रूयते। प्रु गतौ। प्रु क्विप्—प्रत्यय का सर्वापहार लोप, धातु को दीर्घ आदेश—प्रू सु—विभक्तिकार्य।

(6) द्रूः (= सोना)—द्रूयते प्राप्यते दुःखमनया। द्रु गतौ। द्रु क्विप्—प्रत्यय का सर्वापहार लोप, धातु को दीर्घ आदेश—द्रू सु।

(7) जूः (= शशक, घोड़ा, आकाश, वृषभ)—जवति शीघ्रं गच्छति। जु गतौ—सौत्र धातु। जु क्विप्—प्रत्यय का सर्वापहार लोप, धातु को दीर्घ आदेश—जू सु—विभक्तिकार्य।

(8) कटप्रूः—कटिभागेन प्रवते इति (कामुक, कीट)।

(9) शब्दप्राट्—शब्दं पृच्छतीति (शिष्य)।

(10) प्रावृट् (वर्षा ऋतु)—प्रपूर्वक वर्ष् धातु से क्विप् प्रत्यय बाहुलकात् हुआ। प्रवर्षति यस्यां सा।

(11) उदश्वित् (= छाछ)—उदकेन श्वयति वर्द्धते तत्। बाहुलकात् प्रत्यय, क्विप् का सर्वापहार लोप, प्रत्ययलक्षण से 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक् आगम, सु, लोप।

(12) ऋक् (= ऋग्वेद का मन्त्र)—ऋचन्ति स्तुवन्ति यया सा। ऋच् से बाहुलकात् प्रत्यय।

विशेष—पाणिनीय धातुपाठ में द्वृ धातु उपलब्ध नहीं होता है। क्षीरतरंगिणी-धातु-वृत्ति में 'द्वृ' पाठ प्राप्त होता है। तब क्विप् होकर 'द्वाः' शब्द बनता है। द्वारयति संवृणोति यया सा।

(218) आप्नोतेर्ह्रस्वश्च [2.59]

पद०—आप्नोतेः 5.1, ह्रस्वः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'क्विप्....च' (उ०सू० 2.58) से 'क्विप्' का अनुवर्त्तन होता है।

सं०—आप्धातोः क्विप्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च योऽच् तस्य स्थाने ह्रस्वादेशः स्यात्।

व्याख्या—'आप्नोतेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'आप्नोतेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'आप्नोतेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर धातु को ह्रस्व आदेश किया जाता है। अर्थ—आप् धातु से परे क्विप् प्रत्यय होता है तथा धातु का जो अच् वर्ण, उसके स्थान पर ह्रस्व आदेश हाता है।

स्वा०द०वृ०—आप्नुवन्ति शरीरमिति **आपः**। अस्य नित्यं बहुवचनत्वं स्त्रीत्वं च। **अपः, अद्भिः, अद्भ्यः** इत्यादि।

उदा०—(1) आपः (= जल, पाप)—आप्नुवन्ति शरीरम्। आप्लृ व्याप्तौ।

आप् क्विप्—प्रत्यय का सर्वापहार लोप—आप्—धातु के अच् (आकार) के स्थान पर ह्रस्व आदेश (अकार)—अप्—नित्य बहुवचनान्त है—अप् जस्—'अप्तृन्तृच्०' से उपधा को दीर्घ आदेश—आप् जस्—'चुटू' से जकार की इत्सञ्ज्ञा—आपस्—रुत्व, विसर्ग।

विशेष—दशपादी में 'क्विप्' का अधिक पाठ है। पूर्वशास्त्र से 'क्विप्' का अनुवर्त्तन होता है। अतः प्रकृत में 'क्विप्' का पाठ उचित नहीं है।

(219) परौ व्रजेः षश्च पदान्ते [2.60]

पद०—परौ 7.1, व्रजेः 5.1, षः 1.1, च—अव्य०, पदान्ते 7.1

अनु०—'क्विप्....च' (उ०सू० 2.58) से 'क्विप्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—परि इत्युपपदे व्रज्धातोः क्विप् प्रत्ययः स्यात्, पदान्ते च धातोः षकारोऽन्तादेशः स्यात्।

व्याख्या—'परि'शब्द के उपपद रहते व्रज् धातु से परे क्विप् प्रत्यय व दीर्घ आदेश होता है तथा पदान्त में धातु को षकार आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से यह षकार धातु के अन्त्य अल् (ज्) के स्थान पर होता है। षकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—क्विप्। परितः सर्वतो व्रजति स **परिव्राट्**, संन्यासी वा। **परिव्राजौ, परिव्राजः**।

उदा०—(1) परिव्राट् (= संन्यासी)—परितः सर्वतो व्रजति भ्रमति गच्छति। परि व्रज गतौ। परि व्रज् क्विप्—प्रत्यय का सर्वापहार लोप, धातु को दीर्घ आदेश—परिव्राज् सु–अपृक्त सकारलोप, प्रत्ययलक्षण से पद सञ्ज्ञा, 'ष्' अन्तादेश—परिव्राष्—'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व—परिव्राड्—'वाऽवसाने' से पाक्षिक चर्त्व।

(220) हुवः श्लुवच्च [2.61]

पद०—हुवः 5.1, श्लुवत्–अव्य०, च—अव्य०।

अनु०—'क्विप्....च' (उ०सू० 2.58) से 'क्विप्' की तथा 'दीर्घः' की अनुवृत्ति है।

सं०—हुधातोः क्विप् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च दीर्घः **श्लुवत्** कार्यं च भवति।

व्याख्या—हु धातु से परे क्विप् प्रत्यय होता है, धातु को दीर्घ आदेश होता है तथा धातु को श्लुवत् आदेश होता है। श्लुवत् का अर्थ है कि धातु को वे सभी कार्य होते हैं जो प्रत्यय को श्लु करने पर कार्य हुआ करते हैं। यथा—(क) 'श्लौ' (पा० 6.1.10) से धातु को द्वित्व होता है। (ख) द्वित्व कर चुकने के पश्चात् अभ्यासकार्य होते हैं।

स्वा०द०वृ०—जुहोति ददात्यत्ति वा यया सा **जुहूः**, स्रुग्भेदो वा।

उदा०—(1) जुहू: (= एक होमचमस)—जुहोति यया। हु दानाऽऽदनयो:। हु → हू क्विप्—प्रत्यय का सर्वापहार लोप, श्लुवत्, द्वित्व—हू हू—पूर्वोऽभ्यास:, 'ह्रस्व:' से ह्रस्व आदेश—हु हू—'कुहोश्चु:' से चवर्गीय आदेश—झुहू—'अभ्यासे चर्च' से जश्त्व—जुहू सु—विभक्तिकार्य।

(221) स्रुवः कः [2.62]

पद०—स्रुव: 5.1, क: 1.1
सं०—स्रुधातो: कप्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—स्रु धातु से परे क प्रत्यय होता है। 'लशक्वतद्धिते' से क् की इत्सञ्ज्ञा है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध करना है।

स्वा०द०वृ०—स्रवति घृतमस्मात् स **स्रुवः**, यज्ञसाधनं वा।

बहुलवचनात्—ध्रुवति स्थिरं भवतीति **ध्रुवम्**, निश्चलं वा।

उदा०—(1) स्रुव: (= चमस, झरना)—स्रवति घृतं यस्मात्। स्रु गतौ। स्रु क—स्रु अ—'अचि श्नुधातु०' से उवङ् आदेश—स्रुव् अ सु।

(2) ध्रुवम् (= अचल)—ध्रुवति स्थिरं भवति। बाहुलकात् 'क' प्रत्यय—ध्रु क—उवङ्, सु।

(222) चिक् च [2.63]

पद०—चिक् 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'स्रुव: क:' (उ०सू० 2.62) से 'स्रुव:' की अनुवृत्ति है।
सं०—स्रुधातो: चिक्प्रत्ययश्च स्यात्।

व्याख्या—स्रु धातु से चिक् प्रत्यय होता है। 'क्' की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। इकार उच्चारणार्थ है। 'च्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—'**स्रु**'धातोश्चिक्प्रत्ययोऽपि भवति। घृतमस्या: स्रवति सा **स्रुक्**, यज्ञोचितद्रव्यं वा।

उदा०—(1) स्रुक् (= यज्ञचमस)—स्रवति घृतं यस्या: सा। स्रु चिक्—स्रुच्—अनुबन्धलोप—स्रुच् सु—'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से अपृक्त सकार का लोप—स्रुच्—प्रत्ययलक्षण से पदसञ्ज्ञा, 'चो: कु:' से कुत्व—स्रुक्—'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व—स्रुग्—'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व।

(223) तनोतेरनश्च वः [2.64]

पदं०—तनोतेः 5.1, अनः 6.1, च—अव्य०, वः 1.1
अनु०—'चिक् च' (उ०सू० 2.63) से 'चिक्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—तन्धातोश् चिक् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च योऽन् इत्यंशः तस्य स्थाने 'व' इति आदेशः स्यात्।

व्याख्या—'तनोतेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'तनोतेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'तनोतेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'अनः' पद के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—तन् धातु से परे चिक् प्रत्यय होता है तथा धातु का जो 'अन्' अंश, उसके स्थान पर 'व' आदेश हाता है। 'व' आदेश अकार युक्त है, अतः अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् अन्) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—तनोति विस्तृता भवतीति **त्वक्**, शरीरावरणं चर्म्म वल्कलं वा। **त्वचौ, त्वचः**।

उदा०—(1) त्वक् (= चर्म)—तनोति विस्तृता भवति। तनु विस्तारे। तन् चिक्—'अन्' अंश को 'व' आदेश—त् व चिक्—अनुबन्धलोप—त्वच् सु—'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप—त्वच्—प्रत्ययलक्षण से पदसञ्ज्ञा, 'चोः कुः' से कुत्व—त्वक्—झलां जशोऽन्ते—त्वग्—वाऽवसाने—त्वग्, त्वक्।

(224) ग्लानुदिभ्यां डौः [2.65]

पद०—ग्लानुदिभ्याम् 5.2, डौ 1.1
सं०—ग्लै नुद् इत्येताभ्यां धातुभ्यां डौ प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—ग्लै तथा नुद्—इन धातुओं से परे डौ प्रत्यय होता है। ड् की 'चुटू' से इत्सञ्ज्ञा है। डित्करण का प्रायोजन टिलोप है।

स्वा०द०वृ०—ग्लायति हर्षक्षयं करोतीति **ग्लौः**, चन्द्रमा वा। नुदति प्रेरयतीति **नौः**, जलतरणसाधनं वा।

उदा०—(1) ग्लौः (= चन्द्रमा, कपूर)—ग्लायति हर्षक्षयं करोति। ग्लै हर्षक्षये। ग्लै–'आदेच उपदेशेऽशिति' ग्ला–डौ प्रत्यय, अनुबन्धलोप। ग्ल् औ सु—विभक्तिकार्य।

(2) नौः (= नौका)—नुदति प्रेरयति। णुद प्रेरणे। णुद्—'णो नः' से नकार—नुद् डौ—न् औ सु—विभक्तिकार्य।

(225) च्विरव्ययम् [2.66]

पद०—च्विः 1.1, अव्ययम् 1.1

सं०—च्विप्रत्ययान्तः शब्दोऽव्ययसञ्ज्ञः स्यात्।

व्याख्या—'च्वि' एक प्रत्यय है। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' इस परिभाषा से 'च्वि' के द्वारा तदन्त अर्थात् च्विप्रत्ययान्त शब्द का ग्रहण होता है। अर्थ—च्वि प्रत्ययान्त शब्द की अव्यय सञ्ज्ञा होती है। 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विः' (पा० 5.4.50) से च्वि प्रत्यय होता है। इसका अर्थ है—सम्पद्य धातु के कर्त्ता अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में च्वि प्रत्यय विकल्प से होता है, यदि उस प्रातिपदिक का कृ, भू अथवा अस् धातु के साथ योग हो। यहाँ एक वार्तिक है—'अभूततद्भावे इति वक्तव्यम्' अर्थात् प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति अभूततद्भाव अर्थ वाच्य होने पर ही होती है।

स्वा०द०वृ०—अत्रस्थ एजन्तप्रत्ययान्तश्च्व्यन्त एवाव्ययसंज्ञो भवति। एतेन नियमेनोणादीनां व्युत्पन्नपक्षे **कृन्मेजन्तः** [अ० 1.1.38] इत्यनेनाच्व्यन्तानामव्ययसञ्ज्ञा न भवति। अग्लौ ग्लौः सम्पद्यत इति **ग्लौकरोति, ग्लौभवति, ग्लौस्यात्, नौकरोति** इत्यादि। 'ग्लौः नौः' अत्र केवलानामव्ययसंज्ञाऽभावाद्विभक्तिलुङ् न भवति।

उदा० (1) ग्लौकरोति—अग्लौः ग्लौः सम्पद्यते। इसी प्रकार—ग्लौभवति, ग्लौस्यात्, नौकरोति, नौभवति, नौस्यात्।

(226) रातेर्डैः [2.67]

पद०—रातेः 5.1, डैः 1.1

सं०—राधातोर् डैप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—रा धातु से परे डै प्रत्यय होता है। ड् की 'चुटू' से इत्सञ्ज्ञा है। डित्करण सामर्थ्य से टिलोप होता है।

स्वा०द०वृ०—राति ददाति रायते दीयते वा सा **राः**, धनं सुवर्णं वा। **रायौ, रायः**। च्विप्रत्यये 'रैकरोति' इत्यादि।

उदा०—(1) राः (= धन)—राति ददाति। रायते दीयते वा। रा दाने। रा डै—रा ऐ—अनुबन्धलोप—र् ऐ—टिलोप, सु, 'रायो हलि' से आत्व—रा सु।

(227) गमेर्डोः [2.68]

पद०—गमेः 5.1, डोः 1.1

सं०—गम्धातोर् डोप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—गम् धातु से परे डो प्रत्यय होता है। ड् की इत्सञ्ज्ञा है। डित्करण सामर्थ्य से टिलोप होता है।

स्वा०द०वृ०—गच्छति यो यत्र यया वा सा **गौः**, पशुरिन्द्रियं सुखं किरणो वज्रं चन्द्रमा भूमिर्वाणी जलं वा। गौरिवाऽयो गमनं प्राप्तिर्वाऽस्येति **'गवयः'**, गोसदृशो वनपशुविशेषः; स्त्री **'गवयी'**। **गौरादित्वात्** [अ० 4.1.41] ङीष्। च्विप्रत्यये **'गोकरोति'** इत्यादि।

बाहुलकात्—द्योतन्ते लोका अस्यां यया वा द्योतने सा **द्यौः**, अन्तरिक्षं वा। **द्यावौ, द्यावः** इत्यादि।

उदा०—(1) गौः (= गाय, किरण, पृथ्वी)—गच्छति यो यत्र यया वा सा। गम्लृ गतौ। गम् डो—अचोऽन्त्यादि टि, टिलोप—ग् ओ—सु, गोतो णित् से णिद्वद्भाव, अचो ञ्णिति से वृद्धि आदेश।

(2) गौकरोति—च्वि प्रत्यय।

(3) द्यौः (= अन्तरिक्ष)—द्योतते लोका यस्याम्। बाहुलकात् प्रत्यय—द्युत् डो—टिलोप—द्य् ओ सु—'गोतो णित्' से णिद्वत्, 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि—द्यौस्—रुत्व, विसर्ग।

(228) भ्रमेश्च डूः [2.69]

पद०—भ्रमेः 5.1, च—अव्य०, डूः 1.1

अनु०—'गमेर्डोः' (उ०सू० 2.68) से 'गमेः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—भ्रम्धातोर् गम्धातोश्च डूप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—भ्रम् धातु से तथा गम् धातु से परे डू प्रत्यय होता है। ड् की इत् सञ्ज्ञा है। 'ऊ' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—चाद् 'गम्'धातोर्डूः। भ्रमति चलतीति **भ्रूः**, नेत्रयोरुपरि रेखा वा। अग्रे गच्छतीति **अग्रेगूः**, सेवको वा।

उदा०—(1) भ्रूः (= भौंह)—भ्रमति चलति। भ्रमुश्चलने। भ्रम् डू—अनुबन्धलोप—भ्रम् ऊ—टिलोप—भ्र् ऊ सु।

(2) अग्रेगूः (= सेवक)—अग्रे गच्छति। अग्रे गम् डू—अग्रे ग् ऊ सु—'हलदन्तात्सप्तम्या०' (पा० 6.3.8) से सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है।

(229) दमेर्डोसिः [2.70]

पद०—दमे: 5.1, डोसि: 1.1

सं०—दम्धातोर् डोसिप्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—दम् धातु से परे डोसि प्रत्यय होता है। प्रत्यय के ड् की 'चुटू' से इत्सञ्ज्ञा है। सकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है। शेष ओस् बचता है। प्रत्यय को डित् करने का प्रयोजन टिलोप करना है।

स्वा०द०वृ०—दाम्यत्युपशाम्यति यो येन वा स **दोः**, बाहुर्वा। **दोषौ, दोषः**।

उदा०—(1) दो: (= भुजा)—दाम्यत्युपशाम्यति यो (येन वा)। दमु उपशमे। दम् डोसि-अनुबन्धों की निवृत्ति—दम् ओस्—अचोऽन्त्यादि टि, टि का लोप—दोस् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(230) पणेरिज्यादेश्च वः [2.71]

पद०—पणे: 5.1, इजि 1.1, आदे: 6.1, च—अव्य०, व: 1.1

सं०—पण्धातोर् इजिप्रत्यय: स्यात्, धातोश्च य आदिर् वर्ण:, तस्य स्थाने 'व्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'पणे:' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'पणे:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'पणे:' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त पद मानकर इसका 'आदे:' पद के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—पण् धातु से परे इजि प्रत्यय होता है तथा धातु का जो आदि वर्ण, उसके स्थान पर 'व्' आदेश होता है। वकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। प्रत्यय (इजि) का अन्त्य वर्ण (इकार) भी उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—पणायति व्यवहरतीति **वणिक्**, वैश्यो वा। **वणिजौ, वणिजः**। प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् **'वाणिजः'**।

उदा०—(1) वणिक् (= वैश्य)—पणायति व्यवहरति। पण व्यवहारे स्तुतौ च। पण् इजि—पण् इज्—आदि वर्ण (प्) के स्थान पर व् आदेश—वणिज् सु—अपृक्त सकार का लोप—वणिज्—प्रत्ययलक्षण से पदसञ्ज्ञा, 'चो: कु:' से कुत्व—वणिग्—झलां जशोऽन्ते—वणिग्—'वाऽवसाने' से पाक्षिक चर्त्व।

(231) वशः कित् [2.72]

पद०—वश: 5.1, कित् 1.1

अनु०—'पणेरिज्यादेश्च वः' (उ०सू० 2.71) से 'इजि' का अनुवर्त्तन है।
सं०—वश्धातोर् इजि प्रत्ययः स्यात् स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—वश् धातु से परे इजि प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन सम्प्रसारण करना है। द्रष्टव्य—'ग्रहिज्या-वयिव्यधिवष्टि०' (पा० 6.1:16)।

स्वा०द०वृ०—इजिः कित्। वष्टि यं कामयते यः काम्यते वा स **उशिक्**, अग्निर्घृतं वा। **उशिजौ, उशिजः**।

उदा०—(1) उशिक् (= अग्नि, घी)—वष्टि यं कामयते। यः काम्यते। वश कान्तौ। वश् इजि—सम्प्रसारण प्राप्त हुआ, 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से व् के स्थान पर उकार—उ अश् इज्—'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप—वशिज् सु-अपृक्त सकार का लोप, प्रत्ययलक्षण से पद सञ्ज्ञा, 'चोः कुः' से कुत्व—उशिग्—'वाऽवसाने' से चर्त्व।

(232) भृञ उच्च [2.73]

पद०—भृञः 5.1, उत् 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'पणेरिज्यादेश्च वः' (उ०सू० 2.71) से 'इजि' का तथा 'वशः कित्' (उ०सू० 2.72) से 'कित्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—भृधातोर् इजिप्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः, धातोश्च 'उत्' इत्यन्तादेशो भवति।

व्याख्या—'भृञः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'भृञः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है तथा द्वितीय 'भृञः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—भृ धातु से परे इजि प्रत्यय होता है, प्रत्यय कित्सञ्ज्ञक होता है तथा धातु को 'उत्' आदेश होता है। 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' में 'अप्रत्ययः' कथन से आदेश सवर्ण का ग्राहक नहीं होता है। उत् में 'त्' अनुबन्ध उच्चारणार्थ है। उत् = ह्रस्व उकार। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से उकार आदेश धातु के अन्त्य अल् (ऋकार) के स्थान पर होता है। 'उरण् रपरः' से आदेश उर् के रूप में होता है।

स्वा०द०वृ०—भरति सर्वं धरतीति **भुरिक्**, भूमिर्वा। **भुरिजौ। भुरिजः**।

उदा०—(1) भुरिक् (= पृथ्वी)—भरति। डुभृञ् धारणपोषणयोः। भृ इति—भृ इज्—प्रत्यय के कित् होने से प्राप्त गुण (द्रष्टव्य—सार्वधातुकार्धधातु०) का निषेध—भ् उर् इज्—उत् आदेश, सु। शेष पूर्ववत्।

(233) जसिसहोरुरिन् [2.74]

पद०—जसिसहोः 6.2, उरिन् 1.1

सं०—जस् सह् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् उरिन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'जसिसहोः' षष्ठ्यन्त पद है। विभक्तिविपरिणाम से इसे पञ्चम्यन्त (यथा—जसिसहिभ्याम्) बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' से इन धातुओं से प्रत्यय होता है। अर्थ—जस् तथा सह् धातुओं से परे उरिन् प्रत्यय होता है। उरिन् के 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। प्रत्यय को नित् करने का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर करना है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)

स्वा०द०वृ०—जस्यति मुञ्चति जासयति हिनस्ति वेति **जसुरिः**, वज्रं वा। सहते भारमिति **सहुरिः**, सूर्य्यो भूमिर्वा।

उदा०—(1) जसुरिः (= वज्र)—जस्यति मुञ्चति। जसु मोक्षणे। जस् उरिन्—सु।

(2) सहुरिः (= सूर्य, भूमि)—सहते भारम्। षह मर्षणे। षह—सह्—भूवादयो धातवः, धात्वादेः षः सः—सह् उरिन् सु।

(234) सुयुरुवृञो युच् [2.75]

पद०—सुयुरुवृञः 5.1, युच् 1.1

सं०—सु यु रु वृ—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो युच् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—सु, यु, रु और वृ—इन धातुओं से परे युच् प्रत्यय होता है। प्रत्यय के 'च्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'च्' अनुबन्ध चिद्लक्षण स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'चितः' (पा० 6.1.162)। शेष 'यु' बचता है। इसके स्थान पर 'युवोरनाकौ' से 'अन' आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—सवत्युत्पादयति सुनोति निस्सारयति रसान् वा स **सवनः**, चन्द्रमा वा। यौति मिश्रयत्यमिश्रयति वा स **यवनः**, म्लेच्छभेदो वा। रौति शब्दयतीति **रवणः**, कोकिलः पक्षी वा। वृणोति स्वीकरोतीति **वरणः**, उदकं वृक्षभेदो वा ॥75॥

उदा०—(1) सवनः (= यज्ञ, चन्द्रमा)—सवत्युत्पादयति। सुनोति निस्सारयति रसान्। षुञ् अभिषवे। धात्वादेः षः सः—सु युच्—सु अन—'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण—सो अन—'एचोऽयवायावः' से अव् आदेश, सु।

(2) यवनः (= म्लेच्छ)—यौति मिश्रयत्यमिश्रयति। यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः। यु युच्—पूर्ववत् गुण, अव्, सु।

(3) रवणः (= कोयल)—रौति शब्दयति। रु शब्दे। रु युच्—गुण, अव्, 'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व। सु।

(4) वरणः (= जल, एक वृक्ष)—वृणोति। वृञ् वरणे। वृ युच्—गुण, उरण् रपरः, णत्व, सु।

(235) अशेरशच् [2.76]

पद०—अशेः 5.1, अशच् 1.1

अनु०—'सुयुरुवृञो युच्' (उ०सू० 2.75) से 'युच्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अश्धातोर् युच् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च रशच् इत्यादेशः स्यात्।

व्याख्या—'अशेः' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—अश् धातु से युच् प्रत्यय होता है तथा धातु को अशच् आदेश होता है। शकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'च्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'च्' अनुबन्ध चिद्लक्षण (द्रष्टव्य—चितः) स्वर के लिए है। अशच् प्रत्यय 'अलोऽन्त्यस्य' से धातु के अन्त्य अल् (श्) के स्थान पर प्राप्त हुआ, परन्तु इसके अनेकाल् होने से यह 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण स्थानी (अश्) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—युच्धातो रशादेशश्च। अश्नुते व्याप्नोतीति **रशना,** स्त्रियाः कटिभूषणं वा। दन्त्यसकारवास्तु **'रसना'** शब्दो **नन्द्यादित्वाद्** [अ० 3.1.134] ल्युप्रत्ययान्तः। रसयत्यास्वादयति यया सा **रसना** जिह्वा। **कृत्यल्युटो बहुलम्** [अ० 3.3.113] इति करणे ल्युः।

उदा०—(1) रशना (= जिह्वा, रज्जु)—अश्नुते व्याप्नोति। अशूङ् व्याप्तौ। अश् युच्—रशच् आदेश। रश् यु—रश् अन—स्त्रियाम्, 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप्। रशन आ—अनुबन्धलोप, सु, अपृक्त सकारलोप।

(2) रसना (= जिह्वा) दन्त्यसकारघटित रसना शब्द रस् धातु से निष्पन्न होता है। रसयत्यास्वादयति। रस् यु—शेष पूर्ववत्। यहाँ 'कृत्यलुटो बहुलम्' (पा० 3.3.113) से 'ल्यु' प्रत्यय करण अर्थ में है।

(236) उन्देर्नलोपश्च [2.77]

पद०—उन्देः 5.1, नलोपः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सुयुरुवृञो युच्' (उ०सू० 2.75) से 'युच्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—उन्द्धातोर् युच् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च यो नकारस्तस्य लोपो भवति।

व्याख्या—'उन्देः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'उन्देः' पद को पञ्चम्यन्त

मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'उन्देः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'नलोपः' के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—उन्द् धातु से परे युच् प्रत्यय होता है तथा धातु का जो नकार, उसका लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—उनत्त्यार्द्रीभवतीति **ओदनः**, भक्तं वा।

उदा०—(1) ओदनः (= भात)—उनत्त्यार्द्रीभवति। उन्दी क्लेदने। उन्द् युच्—नलोप—उद् यु—अन आदेश—उद् अन—प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण। ओदन सु।

(237) गमेर्गश्च [2.78]

पद०—गमेः 5.1, गः 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'सुयुरुवृञो युच्' (उ०सू० 2.75) से 'युच्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—गम्धातोर् युच् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'ग्' इत्यन्तादेशो भवति।

व्याख्या—गमेः पद का आवर्त्तन करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—गम् धातु से परे युच् प्रत्यय होता है तथा धातु को 'ग्' अन्तादेश होता है। 'ग्' आदेश 'अलोऽन्त्यस्य' से धातु के अन्त्य अल् (म्) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—मस्य गः। गच्छन्त्यस्मिन्निति **गगनम्**, आकाशं वा।

उदा०—(1) गगनम् (= आकाश)—गच्छति यस्मिन् तत्। गम् युच्—अन्तादेश—गग् यु—अन आदेश, सु।

(238) बहुलमन्यत्राऽपि [2.79]

पद०—बहुलम् 2.1 अन्यत्र—अव्य०, अपि—अव्य०।
अनु०—'सुयुरुवृञो युच्' (उ०सू० 2.75) से 'युच्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—अन्येभ्यो धातुभ्योऽपि पूर्वोक्ताऽर्थे युच् प्रत्यय उपलभ्यते।

व्याख्या—पूर्वोक्त से अतिरिक्त धातुओं से भी युच् प्रत्यय बहुलता से दृष्टिगोचर होता है।

स्वा०द०वृ०—अन्यधातुभ्योऽपि बहुलं युच्प्रत्ययो भवति। द्योततेऽसौ **द्योतनः**, प्रदीपो वा। स्यन्दते प्रस्रवति गच्छतीति **स्यन्दनः**, रथो वा। नयते प्राप्नोति रूपं येन तत् **नयनम्**, नेत्रं वा। चन्दत्याह्लादयतीति **चन्दनम्**, सुगन्धिर्वृक्षो वा। रोचतेऽसौ **रोचना**, गोरोचनमौषधं वा। अस्यति प्रक्षिपतीति **असनः**, पीतवर्णः शालवृक्षो वा। राजानमततीति **राजातनः**, पुष्पं वा। शृणोत्यनया सा **श्रवणा**, नक्षत्रं वा [पुंसि **श्रवणः**, कर्णेन्द्रियं वा]। एवमन्येऽपि यथाप्रयोगं युच्प्रत्ययान्ताः शब्दाः साध्याः।

उदा०—(1) द्योतनः (= दीपक)—द्योततेऽसौ। द्युत् युच्—द्युत् यु—अन आदेश, लघूपध गुण—द्योत् अन सु।

(2) स्यन्दनः (= रथ)—स्यन्दते गच्छति। स्यन्द् युच्—स्यन्द् यु—अन आदेश—स्यन्द् अन सु।

(3) नयनम् (= नेत्र)—नयते प्राप्नोति रूपं येन। णीञ् प्रापणे—णो नः—नी युच्—अन, गुण—ने अन—एचोऽयवायावः, सु, अतोऽम्।

(4) चन्दनम् (= चन्दन)—चन्दत्याह्लादयति। चदि—इदितो नुम् धातोः—चन्द् युच्—अन आदेश, सु।

(5) गोरोचनम् (= एक ओषधि)—रोचतेऽसौ रोचना। गो रुच् युच्—लघूपध गुण—गो रोच् अन सु—अतोऽम्।

(6) असनः (= पीत वर्ण, शाल का वृक्ष)—अस्यति प्रक्षिपति। अस् युच्—पूर्ववत्।

(7) राजातनः (= फूल)—राजानम् अतति। राजन् अत् युच्—बहुलता से नकारलोप—राज अत् अन—सवर्ण दीर्घ, सु।

(8) श्रवणम् (= कान, धन, नक्षत्र-विशेष)—शृणोत्यनेन। श्रु युच्—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण—श्रो अन—एचोऽयवायावः—श्रवन—'अट्कुप्वाङ्-नुम्०' से णत्व, सु।

(239) रञ्जेः क्युन् [2.80]

पद०—रञ्जेः 5.1, क्युन् 1.1

सं०—रञ्ज्धातोः क्युन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—रञ्ज् धातु से परे क्युन् प्रत्यय होता है। 'न्' की 'हलन्त्यम्' से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा होती है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)। क् अनुबन्ध अनुनासिक लोप के लिए है। द्रष्टव्य—'अ़निदितां हल उपधाया०' (पा० 6.4.24) सूत्र पर वार्त्तिक—रजकरजनरजस्सूपसङ्ख्यानम्। 'यु' शेष रहता है। इसे 'अन' आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—रजति वस्त्राण्यनेन तत् **रजनम्**, कुसुम्भं वा; स्त्रियां ङीष् **'रजनी'** हरिद्रा। ल्युट्प्रत्यये सति **रञ्जनम्** इत्येव भवति।

बाहुलकात्—कल्पतेऽसौ **कृपणः**, लोभयुक्तो वा।

उदा०—(1) रजनम् (= कुसुम्भ)—रजति वस्त्राण्यनेन तत्। रञ्ज रागे। रञ्ज्

क्युन्—अनुबन्धलोप—रञ्ज् यु—अन आदेश—रञ्ज् अन—अनुनासिक लोप—रज् अन—सु, अतोऽम्।

(2) रजनी (= हल्दी)—रजन ङीष्—स्त्रियाम्, अनुबन्धलोप, 'यस्येति च' से अकारलोप, सु, अपृक्त सकार का लोप।

(3) रञ्जनम्—'कृत्यल्युटोर्बहुलम्' से ल्युट्। रञ्ज् ल्युट्—सु।

(4) कृपणः (= लालची)—कल्पतेऽसौ। कृप् बाहुलकात् क्युन्। कृप् अन—लघूपध गुण का निषेध।

विशेष—दशपादी में 'रजः क्युन्' पाठ है।

(240) भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि [2.81]

पद०—भूसूधूभ्रस्जिभ्यः 5.3, छन्दसि 7.1.

अनु०—'रञ्जेः क्युन्' (उ०सू० 2.80) से 'क्युन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—भू सू धू भ्रस्ज्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्युन् प्रत्ययः स्यात्, वेदविषये।

व्याख्या—वेद के विषय में भू, सू, धू और भ्रस्ज्—इन धातुओं से परे क्युन् प्रत्यय होता है। क्, न् की इत्सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—क्युन्। भवतीति **भुवनम्**, लोको वा। बहुलवचनाद् भाषायामपि प्रयुज्यते। सूते सूयते वा स **सुवनः**, ईश्वरः सूर्यो वा। धूनोति कम्पयतीति **धुवनः**, अग्निर्वा। **निधुवनम्**, रतिक्रीडा वा। यद् यस्मिन् वा भृज्जति परिपक्वं भवतीति **भृज्जनम्**, अन्नभर्जनकपालं वा।

उदा०—(1) भुवनम् (= लोक, स्वर्ग, जल)—भवतीति। भू सत्तायाम्। भू क्युन्—आर्धधातुक लक्षण गुण का निषेध—भु व् अन—अन आदेश, उवङ् आदेश, सु।

(2) सुवनः (= ईश्वर, सूर्य)—सूते सूयते। षूङ् प्राणिगर्भविमोचने। धात्वादेः षः सः—सू यु—अन आदेश, उवङ् आदेश, सु।

(3) धुवनः (= अग्नि)—धूनोति कम्पयति। धूञ् कम्पने। धू क्युन्—पूर्ववत्। इसी प्रकार—

(4) निधुवनम् (= रतिक्रीडा)—पूर्ववत्।

(5) भृज्जनम् (= अन्न पकाने का पात्र)—यद् यस्मिन् वा भृज्जति। भ्रस्ज पाके। भ्रस्ज् क्युन्—अनुबन्धलोप—भ्रस्ज् यु—अन आदेश, 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से रेफ के स्थान पर सम्प्रसारण (ऋकार) होता है—भृस्ज् अन—भृज्जन सु—अतोऽम्।

(241) कृपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः [2.82]

पद०—कृपॄवृजिमन्दिनिधाञः 5.1, क्युः 1.1

सं०—कृ पॄ वृजि मन्द् निपूर्वकधा—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्युप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कृ, पॄ, वृजि, मन्द् और निपूर्वक धा—इन धातुओं से परे क्यु प्रत्यय होता है। 'क्' अनुबन्ध गुण-वृद्धिनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—किरति विक्षिपत्यन्धकारमिति **किरणः** [रश्मिर्वा]। पिपर्त्ति पालयति पूरयति जलैः पूर्णो भवतीति वा स **पुरणः**, समुद्रो वा। वृक्ते वर्जयतीति **वृजनम्**, अन्तरिक्षं बलं वा। यो येन वा मन्दते स्तौति स्वपिति कामयते वा तत् **मन्दनम्**, स्तोत्रं वा। नितरां दधाति यत्तत् **निधनम्** मरणं वा। बाहुलकात्—केवलादपि **धनम्**।

उदा०—(1) किरणः (= किरण)—किरति विक्षिपत्यन्धकारम्। कृ विक्षेपे। कृ क्यु—'ऋृत इद् धातोः' से इकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—क् इर् यु—अन आदेश—किरन—णत्व, सु।

(2) पुरणः (= समुद्र)—पिपर्त्ति पालयति। पॄ पालनपूरणयोः। पॄ क्यु—'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (पा० 7.1.102) से उकार आदेश, रपरत्व—पुर् अन—णत्व, सु।

(3) वृजनम् (= अन्तरिक्ष, बल, पाप, गोचरभूमि)—वृक्ते वर्जयति। वृजी वर्जने। वृज् क्यु—लघूपध गुणनिषेध, सु।

(4) मन्दनम् (= स्तोत्र, प्रशंसा)—मन्दते स्तौति यो (येन वा)। मदि स्तुत्यादिषु—'इदितो नुम् धातोः' से नुम्—मन् द् क्यु—अन, सु।

(5) निधनम् (= नाश, मृत्यु)—नितरां दधाति यत्। निपूर्वकाद् धाञ् इत्यस्माद् धातोर्युच् प्रत्ययः। नि धा अन—'आतो लोप इटि च' से आकारलोप, सु।

(6) धनम् (= धन)—बाहुलकात् उपपद रहित धाञ् धातु से क्यु होकर शब्द बनता है।

(7) भन्दनः—बाहुलकात् भदि धातु से प्रत्यय। द्रष्टव्य—यजु० 8.48—भन्द-नानाम्।

(8) दंसनः—दंस् धातु से प्रत्यय। द्रष्टव्य—यजु० 10.34—दंसनाभिः।

(242) धृषेर्धिषच् सञ्ज्ञायाम् [2.83]

पद०—धृषेः 5.1, धिषच् 1.1, सञ्ज्ञायाम् 7.1

अनु०—'कृपॄजिमन्दि·····क्युः' (उ०सू० 2.82) से 'क्यु' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सञ्ज्ञायां विषये धृष्धातोः क्युप्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'धिषच्' इत्यादेशः स्यात्।

व्याख्या—'धृषे:' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'धृषे:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है तथा द्वितीय 'धृषे:' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—धृष् धातु से परे क्यु प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर धिषच् आदेश होता है। धिषच् के 'च्' की इत्सञ्ज्ञा है। अकार उच्चारणार्थ है। यह अनेकाल् है—अत: 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—धृष्णोति प्रागल्भ्यं ददाति स **धिषणः** गुरुः, **घिषणा** बुद्धिर्वा। अत्र **सञ्ज्ञाग्रहणेन ज्ञायते उणादयः सामान्यार्थे यौगिका भवन्तीति**। सञ्ज्ञायास्तस्मिन्नर्थे रूढत्वात्। यदि च प्रकृतिप्रत्ययविभागेन उणादिभ्यो यौगिकोऽर्थो न निस्सरेत्, तर्हि सर्व उणादिस्था: शब्दा: सञ्ज्ञावाचका एव स्यु:। पुन: सञ्ज्ञाग्रहणमनर्थकं स्यात्।

उदा०—(1) धिषणा (= बुद्धि)—धृष्णोति प्रागल्भ्यं ददाति। धृष प्रागल्भ्ये। धृष् क्यु—'पुगन्तलघूपधस्य' च से लघूपध गुण प्राप्त, प्रत्यय के कित् होने से गुणनिषेध, धातु को सर्वादेश—धिष् अन—'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व—धिषण टाप्—स्त्रियाम्, 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप्, अनुबन्धलोप, 'अक: सवर्णे दीर्घ: से सवर्ण दीर्घ, सु, अपृक्त सकार का लोप।

(243) हन्तेर्घुरच् [2.84]

पद०—हन्ते: 5.1, घुरच् 1.1
अनु०—'कृपॄ······क्यु:' (उ०सू० 2.82) से 'क्यु:' का अनुवर्त्तन है।
सं०—हन्धातो: क्यु प्रत्यय: स्याद् धातोश्च 'घुरच्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'हन्ते:' पद की पूर्ववत् आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—हन् धातु से क्यु प्रत्यय होता है तथा धातु को घुरच् आदेश होता है। 'च्' की इत्सञ्ज्ञा है। अकार उच्चारणार्थ है। आदेश अनेकाल् है, अत: सर्वादेश होता है।

स्वा०द०वृ०—हन्ति हननेन वा प्रादुर्भवति स **घुरणः,** शब्दो वा।

उदा०—(1) घुरण: (= शब्द)—हन्ति। हननेन प्रादुर्भवति। हन हिंसागत्यो:। हन् → घुरच् क्यु—घुर् यु—अन आदेश, णत्व, सु।

(244) वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च [2.85]

पद०—वर्त्तमाने 7.1, पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवत्—अव्य०, च–अव्य०।
सं०—वर्त्तमाने गम्यमाने पृषत् बृहत् महत् जगत् इत्येते शब्दा:। शतृप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—वर्त्तमान काल के अर्थ में पृषत्, बृहत्, महत् और जगत्—ये शब्द शतृ प्रत्ययान्त निपातन सिद्ध है। 'लटः शतृशानचावप्रथमा०' (पा० 3.2.124) से वर्त्तमान के अर्थ में शतृ प्रत्यय होता है। शतृ के ऋकार की तथा शकार (द्रष्टव्य—लशक्वतद्धिते) की इत्सञ्ज्ञा होती है। 'अत्' शेष बचता है। प्रत्यय के शित् होने से 'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' से इसकी सार्वधातुक सञ्ज्ञा होती है। इसके परे रहते 'कर्त्तरि शप्' से शप् विकरण हुआ करता है। शतृवत् आदेश से नुम् आगम तथा स्त्रीत्व में 'उगितश्च' से ङीप् होता है।

स्वा०द०वृ०—पृषदादयो वर्त्तमानार्थवाचका अतिप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते, शतृवच्चैषां कार्यं भवतीति। पर्षति सिञ्चति हिनस्ति वा तत् **पृषत्**, मृगविशेषो बिन्दुर्वा। **पृषती, पृषन्ति**; स्त्रियां **पृषती**। बर्हति वर्धतेऽसौ **बृहत्**। महत्यर्थे त्रिलिङ्गः; स्त्रियां **'बृहती'** छन्दोभेदो वा। महति पूजयति पूज्यते वा तत् **महत्** महान्; महतो भावो **'महिमा'**; स्त्रियां ङीप् 'महती', नारदस्य सप्ततन्त्री वीणा वा। गच्छतीति **जगत्**। धातोर्जगादेशः। संसारे नपुंसकं, वायुर्वा जगत् पुंसि, जङ्गमवाचिनि त्रिलिङ्गः; स्त्रियां **जगती** छन्दोभेदो जनो वा।

उदा०—(1) पृषत् (= बूंद, एक मृग)—पर्षति सिञ्चति हिंनस्ति वा। पृषु सेचने। पृष् शतृ—पृष् शप् शत्—अनुबन्धलोप—पृष् अ अत्—'अतो गुणे' से पररूप। सु, अपृक्त सकार का लोप।

(2) बृहत् (= दृढ)—बर्हति वर्धतेऽसौ। बृह वृद्धौ। बृह् अ अत् सु—पूर्ववत् लघूपधगुणनिषेध।

(3) महत् (= महान्)—महति पूजयति। मह पूजायाम्। मह् अ अत्—सु, पूर्ववत्।

(4) जगत् (= संसार, वायु)—गच्छतीति। गम्लृ गतौ। धातु को 'जग' आदेश बहुलता से—जग अ अत्—पूर्ववत्, सु। अथवा निपातन से धातु को द्वित्व तथा मकारलोप होकर रूप बनता है।

(245) संश्चत्तृपद्वेहत् [2.86]

पद०—संश्चत्तृपद्वेहत् 1.1

सं०—संश्चत् तृपत् वेहत्—इत्येते शब्दा अतिप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—शतृ का प्रकरण चल रहा है। परन्तु अति प्रत्ययान्त शब्दों का निपातन किया जा रहा है। अर्थ—संश्चत्, तृपत्, वेहत्—इन शब्दों का निपातन किया जाता है।

स्वा०द०वृ०—एतेऽप्यतिप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। संश्चीयतेऽसौ **संश्चत्**, कुहको वा। सम्पूर्वस्य सुट्धातोरिकारलोपश्च। संश्चदिवाचरति **संश्चायते** धूमः, भृशादित्वात् क्यङ्। तृप्नोति प्रीणयतीति **तृपत्**, छत्रं वा। विशेषेण हन्तीति **वेहत्**, विहन्ति गर्भमिति गर्भोपघातिनी गौर्वा। वेरुपसर्गस्यैकारादेशो धातोश्च टिलोपः। पूर्वसूत्रात् पृथक्करणं शतृवद्भावनिवृत्त्यर्थम्। तेन—**वेहतौ, वेहतः; संश्चतौ,** [**संश्चतः**] इत्यादि सिद्धम्।

उदा०—(1) संश्चत् (= कुहक)—संश्चीयतेऽसौ। सम् चिञ् चयने। सम् चि अत्—निपातन से अन्त्यलोप—सम् च् अत्—उपसर्ग के अन्त्य वर्ण को 'श्' आदेश। अनुस्वार का आगम—संश् चत्। संश्चद् इवाचरति संश्चायते धूमः। भृशादित्वात् क्यङ् 'भृशादिभ्यो०' (पा० 3.1.12) से। कुछ विद्वान् अनुस्वार रहित (यथा—सश्चत्) पाठ स्वीकार करते हैं।

(2) तृपत् (= छत्र)—तृप्नोति प्रीणयति। तृप प्रीणने। तृप् अत्—सु, लोप।

(3) वेहत् (= गर्भघातिनी गाय)—विशेषेण हन्ति। वि हन् अत्—उपसर्ग के स्थान पर 'ए' आदेश—वेह् अत्—धातु के टि अंश का लोप, सु, लोप।

(246) छन्दस्यसानच् शुजृभ्याम् [2.87]

पद०—छन्दसि 7.1, असानच् 1.1, शुजृभ्याम् 5.2

सं०—छन्दोविषये शु-जृ इत्येताभ्यां धातुभ्याम् असानच् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वेद के विषय में शु तथा जृ धातुओं से असानच् प्रत्यय होता है। 'च्' की इत्सञ्ज्ञा है। प्रत्यय को चित्करण 'चितः' (पा० 6.1.162) से चिद्लक्षण स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—शवन्ति गच्छन्त्यस्मिन् स **शवसानः**, मार्गो वा। जीर्यति वयसा हीनो भवतीति **जरसानः**, वृद्धो जनो वा।

बाहुलकाद्—दृणाति तमो विदारयतीति **दरसानः**, प्रकाशो वा। तरति येन स **तरसानः**, नौका वा। वृणोतीति **वरसानः**, कृतदारो वा।

उदा०—(1) शवसानः (= मार्ग, पथिक)—शवन्ति गच्छन्त्यस्मिन्। शु सौत्रो धातुः। शु असानच्—'आर्धधातुकं शेषः' से प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण—शो असान—'एचोऽयवायावः' से अव् आदेश—शव् असान सु।

(2) जरसानः (= वृद्ध व्यक्ति)—जीर्यति वयसा हीनो भवति। जृ वयोहानौ। जृ असानच्—पूर्ववत् आर्धधातुक लक्षण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—जर् असा न—सु।

(3) दरसानः (= प्रकाश)—दृणाति तमो विदारयति । दॄ विदारणे । बाहुलकात् । दर् असान–सु ।

(4) तरसानः (= नौका)—तरति येन । तॄ तरणे । तर् असान—सु ।

(5) वरसानः (= विवाहित)—वृणोतीति । वृ असान—पूर्ववत् ।

(6) शरसानः—शॄ हिंसायाम् ।

विशेष—कुछ पुस्तकों में 'असानच्' के स्थान पर 'अमानच्' प्रत्यय प्राप्त होता है । तदनु 'शवमान' आदि उदाहरण दिये गये हैं ।

(247) ऋञ्जिवृधिमन्दिसहिभ्यः कित् [2.88]

पद०—ऋञ्जिवृधिमन्दिसहिभ्यः 5.3, कित् 1.1

अनु०—'छन्दस्यसानच् शुजृभ्याम्' (उ०सू० 2.87) से 'असानच्' की अनुवृत्ति है ।

सं०—ऋञ्ज् वृध् मन्द् सह् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः 'असानच्' इति प्रत्ययो भवति स च कित्सञ्ज्ञकः ।

व्याख्या—ऋञ्ज्, वृध्, मन्द् और सह्—इन धातुओं से परे असानच् प्रत्यय होता है और वह कित् होता है ।

स्वा०द०वृ०—ऋञ्जत्योषध्यादिकं पाचयतीति **ऋञ्जसानः**, मेघो वा । वर्धतेऽसौ **वृधसानः**, पुरुषो वा । मन्दते स्तुत्यादिकं करोतीति **मन्दसानः**, जीवोऽग्निर्वा । सहतेऽसौ **सहसानः**, मयूरो यज्ञो वा ।।88।।

उदा०—(1) ऋञ्जसानः (= बादल)—ऋञ्जति पाचयत्योषधादिकम् । ऋजि भर्जने । 'इदितो नुम् धातोः' से नुम्, 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार—ऋ न् ज्—अनुस्वार—ऋंज्—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः से परसवर्ण—ऋञ्ज् असानच्—सु ।

(2) वृधसानः (= पुरुष)—वर्धतेऽसौ । वृधु वर्धने । वृध् असानच्—सु ।

(3) मन्दसानः (= अग्नि, प्राणी, नींद)—मन्दते करोति स्तुत्यादिकम् । मदि स्तुत्यादिषु । पूर्ववत् नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण—मन्द् असानच्—सु ।

(4) सहसानः (= मार, यज्ञ, आहुति)—सहतेऽसौ । षह मर्षणे—'धात्वादेः षः सः' से सकार—सह् असानच्—सु ।

विशेष—ऋजि इदित् सौत्र धातु है । इसे नुमागम होता है । सूत्र में नुम् सहित निर्देश है ।

(248) अर्त्तेर्गुणः शुट् च [2.89]

पद०—अर्त्तेः 5.1, गुणः 1.1, शुट् 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'छन्दस्य····भ्याम्' (उ०सू० 2.87) से 'असानच्' की अनुवृत्ति है।

सं०—ऋधातोर् असानच् प्रत्ययः स्याद् धातोर् गुणादेशः स्यात् प्रत्ययस्य च 'शुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—'अर्त्तेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'अर्त्तेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'अर्त्तेः' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर धातु को गुणादेश किया जाता है। अर्थ—ऋ धातु से परे असानच् प्रत्यय होता है, धातु को गुण आदेश होता है तथा प्रत्यय को शुट् आगम होता है। शुट् के 'ट्' की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'श्' शेष रहता है। आगम टित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से शुट् आगम प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—य ऋच्छति प्राप्नोति सर्वान् स **अर्शसानः,** अग्निर्वा। धातोर्गुणः प्रत्ययस्य शुडागमश्च।

उदा०—(1) अर्शसानः (= अग्नि)—य ऋच्छति प्राप्नोति सर्वान्। ऋ गतौ। ऋ असानच्—धातु को गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व, प्रत्यय को शुट् आगम—अर् शुट् असानच्—अनुबन्धलोप—अर्श् असान—सु।

विशेष—पूर्व सूत्र से 'कित्' का अनुवर्त्तन है। इसके बाध के लिए 'गुणः' पद का निर्देश है।

(249) सम्यानच् स्तुवः [2.90]

पद०—समि 7.1, आनच् 1.1, स्तुवः 5.1

सं०—सम् इत्युपपदे स्तुधातोर् आनच् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'सम्' शब्द के उपपद रहते स्तु धातु से परे आनच् प्रत्यय होता है। 'च्' अनुबन्ध चिद्लक्षण अनुबन्ध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—सम्यक् स्तौतीति **संस्तवानः,** वाग्मी वा।

उदा०—(1) संस्तवानः (= वाग्मी)—सम्यक् स्तौति। सम् ष्टुञ् स्तुतौ। 'धात्वादेः षः सः' से सकार तथा 'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' से टकार को तकार—सम् स्तु आन—'आर्धधातुकं शेषः' से प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण—सम् स्तो आन—'एचोऽयवायावः' से अव् आदेश—सम् स्तव् आन—'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार—संस्तवान सु।

(250) युधिबुधिदृशः किच्च [2.91]

पद०—युधिबुधिदृशः 5.1, कित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सम्यानच् स्तुवः' (उ०सू० 2.90) से 'आनच्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—युध् बुध् दृश् इत्येतेभ्यो धातुभ्य आनच् स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—युध्, बुध् और दृश्—इन धातुओं से परे आनच् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय के परें रहते धातु को लघूपध गुण प्राप्त है। इसके निषेध के लिए प्रत्यय को कित् किया गया है। कुछ संस्करणों में 'युजि' अधिक पाठ प्राप्त होता है।

स्वा०द०वृ०—युध्यतेऽसौ **युधानः**, शत्रुर्वा। बुध्यते स **बुधानः**, आचार्यो वा। पश्यतीति **दृशानः**, लोकपालः सूर्यो वा।

बाहुलकात्—कल्पते समर्थो भवतीति **कृपाणः**, खड्गो वा। पाषयति स्थूलो भवतीति **पाषाणः** [दृषद् वा। बाहुलकाण्णित्त्वम्]। णित्त्वाद् वृद्धिः।

उदा०—(1) युधानः (= शत्रु)—युध्यतेऽसौ। युध सम्प्रहारे। युध् आनच्—प्राप्त गुण का निषेध—युधान सु।

(2) बुधानः (= आचार्य)—बुध्यतेऽसौ। बुध अवगमने—पूर्ववत्।

(3) दृशानः (= लोकपाल, सूर्य)—पश्यतीति। दृशिर् प्रेक्षणे—पूर्ववत्।

(4) कृपाणः (= खड्ग) कल्पते समर्थो भवति। बाहुलकात् प्रत्यय। कृप् आनच्—णत्व, सु।

(5) पाषाणः (= पत्थर)—पाषयति स्थूलो भवति। पाष् आनच्। बाहुलकात् आनच् णित्सञ्ज्ञक। अत उपधायाः।

(251) हुर्च्छेः सनो लुक् छलोपश्च [2.92]

पद०—हुर्च्छेः 5.1, सनः 1.1, लुक् 1:1, छलोपः 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'सम्यानच् स्तुवः' (उ०सू० 2.90) से 'आनच्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—हुर्च्छ्धातोर् आनच्सनौ प्रत्ययौ स्याताम्, सनो लुक् स्याद्, धातोश्च छकारस्य लोपः स्यात्।

व्याख्या—'हुर्च्छेः' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। प्रकृत में सन् प्रत्यय का लुक् कहा है। अतः सन् के विधान का अध्याहार किया जाता है। अर्थ—हुर्च्छ् धातु से परे आनच् और सन् प्रत्यय होते हैं, सन् प्रत्यय का लुक् होता है तथा धातु का जो छकार, उसका लोप होता है। लुक्कथन से सन् की लुक् सञ्ज्ञा होती है। सन्-विधान से धातु को द्वित्वादि कार्य होते हैं।

स्वा०द०वृ०—हूर्च्छति कुटिलो भवतीति **जुहुराणः**, चन्द्रमा वा।

उदा॰ (1) जुहुराणः (= चन्द्रमा)—हूर्च्छति कुटिलो भवति। 'हूर्च्छा कौटिल्ये। हुर्च्छ् आनच् सन्—'सन्यङोः' से प्रथम एकाच् को द्वित्व—हुर्च्छ् हुर्च्छ् आन सन्—पूर्वोऽभ्यासः, हलादिः शेषः—हु हुर्च्छ् आन सन् का लुक्—हु हुर्च्छ् आन—'कुहोश्चुः' से चुत्व—झु हुर्च्छ् आन—'अभ्यासे चर्च' से जश्त्व—जुहुर्च्छ् आन—धातु के छकार (तुक् सहित) का लोप—जुहुरान—'अट्कुप्वाङ्नुम्॰' से णत्व, सु।

(252) श्वितेर्दश्च [2.93]

पद॰—श्वितेः 5.1, दः 1.1, च—अव्य॰।

अनु॰—'हुर्च्छेः सनो लुक् छलोपश्च' (उ॰सू॰ 2.92) से 'सनः एवं लुक्' का तथा 'सम्यानच् स्तुवः' (उ॰सू॰ 2.90) से 'आनच्' का और 'युधिबुधिदृशः किच्च' (उ॰सू॰ 2.91) से 'कित्' का अनुवर्त्तन है।

सं॰—श्वित् इत्येतस्माद् धातोर् आनच्सनौ प्रत्ययौ भवतः, सनो लुग् भवति, धातोश्च दकारादेशो भवति, आनच्प्रत्ययः कित्सञ्ज्ञो भवति।

व्याख्या—'श्वितेः' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—श्वित् धातु से परे आनच् और सन् प्रत्यय होते हैं, सन् का लुक् होता है, धातु को दकार आदेश होता है तथा आनच् प्रत्यय कित्सञ्ज्ञक होता है। दकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। दकार आदेश 'अलोऽन्त्यस्य' से धातु के अन्त्य अल् (तकार) के स्थान पर होता है।

स्वा॰द॰वृ॰—सनो लुक् तकारस्य दकारः। किदित्यनुवृत्तेर्गुणनिषेधः। श्वेततेऽसौ **शिश्विदानः**, पापकर्मा वा।

उदा॰—(1) शिश्विदानः (= पुण्यात्मा)—श्वेततेऽसौ। श्विता वर्णे। श्वित् आनच् सन्—द्वित्व, हलादि शेष, सन् का लुक्—श्वित् श्वित् आनच् सन्—शि श्वित् आन—लघूपधगुण का निषेध, दकार अन्तादेश, सु।

(253) मुचियुधिभ्यां सन्वच्च [2.94]

पद॰—मुचियुधिभ्याम् 5.2, सन्वत्—अव्य॰, च—अव्य॰।

अनु॰—'सम्यानच् स्तुवः' (उ॰सू॰ 2.90) से 'आनच्' की अनुवृत्ति है।

सं॰—मुच् युध् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् आनच् प्रत्ययो भवति, स च सन्वद् भवति।

व्याख्या—मुच् तथा युध्—इन धातुओं से परे आनच् प्रत्यय होता है और वह सन्वत् होता है। प्रत्यय के सन्वत् होने से धातु को द्वित्वादि कार्य होते हैं।

स्वा०द०वृ०—मुञ्चत्यसौ **मुमुचानः,** मोचकः। युध्यतेऽसौ **युयुधानः,** योद्धा।

उदा०—(1) मुमुचानः (= बादल)—मुञ्चत्यसौ। मुच्लृ मोचने। मुच् आनच्—'सन्यङोः' से द्वित्व, हलादि शेष—मु मुच् आन—कित् का अनुवर्त्तन होने से लघूपध गुण का निषेध, सु।

(2) युयुधानः (= योद्धा)—युध्यतेऽसौ। युध सम्प्रहारे। युध् आनच्—पूर्ववत्।

(254) तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः सञ्ज्ञायां चानिटौ [2.95]

पद०—तृन्तृचौ 1.2, शंसिक्षदादिभ्यः 5.3, सञ्ज्ञायाम् 7.1, च—अव्य०, अनिटौ 1.2

सं०—सञ्ज्ञायां गम्यमानायां शस् इत्यस्मात् क्षदादिभ्यश्च धातुभ्यः तृन्तृचौ प्रत्ययावनिटौ भवतः।

व्याख्या—'अनिटौ' पद 'तृन्तृचौ' पद का विशेषण है। अर्थ—सञ्ज्ञा अर्थ वाच्य रहते शंस् आदि धातु तथा क्षदादि धातुओं से परे तृन् व तृच् प्रत्यय होते हैं और वे प्रत्यय अनिट् होते हैं। वलादि आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहते 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (पा० 7.2.35) से प्रत्यय को इट् आगम होता है। यहाँ इस इट् का निषेध किया गया है। शंसादि व क्षदादि दो प्रकृतियाँ हैं तथा तृन् व तृच् दो प्रत्यय हैं। इनके समसंख्यक होने से 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' से प्रत्यय क्रमेण होते हैं। भाव यह है कि शंस् आदि धातुओं से तृन् और क्षदादि धातुओं से तृच् प्रत्यय होता है। तृन् व तृच् में स्वर का भेद है।

स्वा०द०वृ०—शंस्यादिभ्यः क्षदादिभ्यश्च यथाक्रमं तृन्तृचौ, तौ चानिटौ। शंसति स्तौतीति **शंस्ता** स्तोता। 'अप्तृन्तृच्०' [अ० 6.1.11] इति सूत्रे नप्तृप्रभृतेः पृथक् पाठादौणादिकयोस्तृन्तृचोर्ग्रहणं न भवति। तेन **शंस्तरौ, शंस्तरः** इत्यादिषु दीर्घो न भवति। शास्ति शिक्षते धर्मादिकमिति **शास्ता,** पण्डितो वा। **प्रशास्ता** राजा, **प्रशास्तारौ, प्रशास्तारः।** परिगणनाद् दीर्घः। **'क्षद संवृतौ'** इति सौत्रो धातुः। क्षदति संवृणोतीति **क्षत्ता,** सारथिर्द्वारपालो वैश्यायां शूद्राज्जातो वा। क्षुनत्ति सम्पिनष्टि येन स **क्षोत्ता,** मुसलो वा। उन्नयति कार्याणीति **उन्नेता** ऋत्विग्वा।

उदा०—(1) शंस्ता (= स्तोता)—शंसति स्तौति। शंसु स्तुतौ। शंस् तृन्—इट् का निषेध—शंस्तृ सु—'अप्तृन्तृच्०' (पा० 6.4.11) में नप्तृ आदि का पृथक् पाठ होने से यहाँ औणादिक तृन्-तृच् का ग्रहण नहीं होता है। अतः 'शंस्तृ औ = शंस्तरौ' में दीर्घ नहीं होता है।

(2) शास्ता (= पण्डित)—शास्ति। शास् तृन्—पूर्ववत्।

(3) प्रशास्ता (= राजा)—प्रशास् तृन्—पूर्ववत्।

(4) क्षत्ता (= सारथि)—क्षदति संवृणोति। क्षद सौत्र धातु से तृच्। 'खरि च' से चर्त्व।

(5) क्षोत्ता (= मूसल)—क्षुनत्ति सम्पिनष्टि येन। क्षुद् तृच्—इट्निषेध, लघूपध गुण, 'खरि च' से चर्त्व, सु।

(6) उन्नेता (= ऋत्विग्)—उन्नयति कार्याणि। उद् णीञ् प्रापणे से तृच्, पूर्ववत्। णो नः। सार्वधातुकार्धधातुकयोः।

(255) बहुलमन्यत्राऽपि [2.96]

पद०—बहुलम् 2.1, अन्यत्र—अव्य०, अपि—अव्य०।

सं०—अन्येभ्यो धातुभ्योऽपि तृन्तचौ बहुलतया भवतः।

व्याख्या—पूर्वोक्त से अतिरिक्त धातुओं से भी तृन् और तृच् प्रत्यय बहुलता से होते हैं।

स्वा०द०वृ०— [अन्यत्रापि बहुलं तृन्तृचौ भवतः।] मन्यते जानात्यसौ **मन्ता,** विद्वान् [वा]। हन्तीति **हन्ता,** चौरो वा। [दधाति सर्वं जगदिति] **धाता, ईश्वरो वा।** उपदिशतीति **उपदेष्टा** गुरुः [वा] इत्यादि।

उदा०—(1) मन्ता (= विद्वान्)—मन् तृच् सु अनुस्वार, परसवर्ण। मन्यते जानाति।

(2) हन्ता (चौर)—हन् तृच् सु। हन्तीति।

(3) धाता (= ईश्वर, पति)—धा तृच् सु। दधाति जगत्।

(4) उपदेष्टा (= गुरु)—उपदिशतीति। उप दिश् तृच्—लघूपध गुण। 'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से शकार को षकार। 'ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार, सु।

(256) नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृपितृदुहितृ [2.97]

पद०—नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृपितृदुहितृ 1.1

सं०—नप्तृ नेष्टृ त्वष्टृ होतृ पोतृ भ्रातृ जामातृ मातृ पितृ दुहितृ—इत्येते शब्दाः तृन्-तृच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, होतृ, पोतृ, भ्रातृ, जामातृ, मातृ, पितृ और दुहितृ—ये शब्द तृन् व तृच् प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—नप्त्रादयो दश तृन्तृजन्ता निपात्यन्ते। नं पततीति **नप्ता,** पौत्रो दौहित्रो वा। '**नप्तुः पुत्रः प्रनप्ता स्यात्, नप्त्री पौत्री** [**सुतात्मजा**]। नञः प्रकृतिभावः

[धातोश्च टिलोपः] । नयतीति **नेष्टा,** ऋत्विग्वा । नयतेः षुक् । त्विष्यते दीप्यतेऽसौ **त्वष्टा,** सूर्यो वा । इकारस्याकारः । जुहोतीति होता, यजमानो वा । व्यापकत्वेन सर्वं पुनातीति **पोता,** विष्णुरीश्वरः [वा]'। भ्राजते दीप्यतेऽसौ **भ्राता,** सोदर्यो वा । [धातोर्] जकारलोपः । जायां कन्यां माति मिनोति मिमीते मार्जयति वा स **जामाता,** दुहितुः पतिः [वा] । [मिनोतेराकारादेशः,] 'मृज'धातोः [वृद्धौ] सति रेफंजकारलोपः । मानयति सत्करोतीति **माता**, उत्पादिका वा । [धातोरन्त्यलोपः] स्वस्रादित्वात् ङीप् निषेधः । पाति रक्षतीति **पिता,** जनको वा । [धातोराकारस्येत्वम् ।] दोग्धि कार्याणि प्रपूरयतीति **दुहिता,** पुत्री वा । दुहितुरपत्यं **दौहित्रः** ।

उदा०—(1) नप्ता (= पोता)—न पतति । नञ् पत्लृ तृन्—नप्तृ सु—धातु को टिलोप । स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (पा० 4.1.5) से ङीप् होकर 'नप्त्री' बनता है, परन्तु कुछ विद्वान् नप्तृ शब्द का पाठ स्वस्रादि में मानते हैं । उनके मत में 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' (पा० 4.1.10) से प्रत्यय का निषेध होकर 'नप्तृ' शब्द बनता है ।

(2) नेष्टा (= ऋत्विक्)—नयतीति । णीञ् प्रापणे । षुक् आगम, तृन्, णो नः—नी ष् तृ—आर्धधातुकलक्षण गुण—नेष्तृ—ष्टुना ष्टुः, सु ।

(3) त्वष्टा (= सूर्य)—त्विष्यते दीप्यतेऽसौ । त्विष दीप्तौ । त्विष् तृन्—धातु के इकार के स्थान पर अकार आदेश—त्वष् तृ—ष्टुत्व, सु ।

(4) होता (= हवन करने वाला)—जुहोतीति । हु तृन्—आर्धधातुकलक्षण गुण, सु ।

(5) पोता (= ईश्वर)—सर्वं पुनातीति । पूर्ववत् गुण । तृच् ।

(6) भ्राता (= भाई)—भ्राजते दीप्यते । भ्राज् तृच्—धातु के जकार का लोप, सु ।

(7) जामाता (= दामाद)—जायां कन्यां माति मिनाति । जाया मा तृन् । 'या' का लोप, सु ।

(8) माता (= माता)—मानयति सत्करोति । मान् तृन्—नलोप, सु ।

(9) पिता (= पिता)—पातीति । पा रक्षणे तृन् सु—धातु के अच् के स्थान पर इकार ।

(10) दुहिता (= पुत्री)—दोग्धि प्रपूरयति कार्याणि । दुह् तृन्—इट्, लघूपध गुण का निषेध, सु ।

(11) दौहित्रः—दुहितुरपत्यम् । दुहितृ अञ् (पा० 4.1.104) ।

(257) सावसेर्ऋन् [2.98]

पद०—सौ 7.1, असेः 5.1, ऋन् 1.1

सं०—'सु' इत्युपपदे अस्धातोर् ऋन् प्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—सौ—'सु' के उपपद रहते। अर्थ—'सु' शब्द के उपपद रहते अस् धातु से परे ऋन् प्रत्यय होता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)। ऋ प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—सुष्ठ्वस्यतीति **स्वसा,** भगिनी वा।

उदा०—(1) स्वसा (= बहन)—सुष्ठ्वस्यति। सु अस् ऋन्—'इको यणचि' से यण्, सु।

(258) यतेर्वृद्धिश्च [2.99]

पद०—यते: 5.1, वृद्धि: 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सावसेर्ऋन्' (उ०सू० 2.98) से 'ऋन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—यत्धातोर् ऋन् प्रत्यय: स्याद् धातोश्च वृद्धिर्भवति।

व्याख्या—'यते:' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'यते:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'यते:' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर धातु को वृद्धि आदेश किया जाता है। अर्थ—यत् धातु से परे ऋन् प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर वृद्धि आदेश होता है। यह वृद्धि धातु में स्थित अच् वर्ण (अकार) के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतम:' से आकार के रूप में होती है।

स्वा०द०वृ०—यततेऽसौ **याता**। भ्रातृणां भार्या: परस्परं **यातारो** भवन्ति।

उदा०—(1) याता (= देवरानी, जिठानी)—यततेऽसौ। यती प्रयत्ने। यत् ऋन्—वृद्धि—यात् ऋ सु।

(259) नञि च नन्दे: [2.100]

पद०—नञि 7.1, च—अव्य०, नन्दे: 5.1

अनु०—'सावसेर्ऋन्' (उ०सू० 2.98) से 'ऋन्' का तथा 'यतेर्वृद्धिश्च' (उ०सू० 2.99) से 'वृद्धि:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—नञि उपपदे नन्द्धातोर् ऋन् प्रत्ययो भवति, धातोश्च बहुलतया वृद्धिरादेशो भवति।

व्याख्या—'नञ्' शब्द के उपपद रहते नन्द् धातु से परे ऋन् प्रत्यय होता है तथा धातु के (अच् वर्ण के) स्थान पर वृद्धि आदेश बहुलता से होता है। 'बहुलम्' कथन से पक्ष में वृद्धि आदेश नहीं होता है।

स्वा०द०वृ०—न नन्दति तुष्यतीति **ननान्दा**। बाहुलकाद् वृद्ध्यभावे—**ननन्दा,** पत्युर्भगिनी वा।

उदा०—(1) ननान्दा (= ननद)—न नन्दति तुष्यति। नञ् टुनदि समृद्धौ। 'इदितो नुम् धातो:' से नुम्, अनुस्वार, 'परसवर्ण—न न न् द् ऋ—न नन्दृ—धातु को वृद्धि आदेश—ननान्दृ सु।

(2) ननन्दा—वृद्धि अभाव।

(260) दिवेर्ऋः [2.101]

पद०—दिवे: 5.1, ऋ: 1.1

सं०—दिव्धातोर् ऋप्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—दिव् धातु से परे ऋ प्रत्यय होता है। 'आर्धधातुकं शेष:' से ऋ प्रत्यय आर्धधातुकसञ्ज्ञक है। 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण होता है।

स्वा०द०वृ०—दीव्यति क्रीडादिकं करोतीति **देवा,** पत्यु: कनीयान् भ्राता वा।

उदा०—(1) देवा (= देवर)—दीव्यति। दिवु क्रीडादिषु। दिव् ऋ—गुण, सु, विभक्तिकार्य।

(261) नयतेर्डिच्च [2.102]

पद०—नयते: 5.1, डित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'दिवेर्ऋ:' (उ०सू० 2.101) से 'ऋ' का अनुवर्त्तन है।

सं०—नीधातोर् ऋप्रत्यय: स्यात्, स च डित्सञ्ज्ञक:।

व्याख्या—नी धातु से परे ऋ प्रत्यय होता है और वह डित्सञ्ज्ञक है। डित् करण सामर्थ्य से धातु के टिभाग का लोप होता है—अचोऽन्त्यादि टि।

स्वा०द०वृ०—ऋप्रत्ययस्य डित्वाट्टिलोप:। कार्याणि नयतीति **ना, नरौ, नर:**। [स्त्रियां 'नृनरयोर्वृद्धिश्च' इति शार्ङ्गरवादिगणसूत्रात् ङीन्] **नारी,** बद्धकेशा वधूर्वा।

उदा०—(1) ना (= पुरुष)—नयति कार्याणि। णीञ् प्रापणे। णो न:। नी ऋ—टिलोप—नृ सु।

(262) सव्ये स्थश्छन्दसि [2.103]

पद०—सव्ये 7.1, स्थ: 5.1, छन्दसि 7.1

अनु०—'दिवेर्ऋः' (उ०सू० 2.101) से 'ऋ' का तथा 'नयतेर् डिच्च' (उ०सू० 2.102) से 'डित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—छन्दसि विषये 'सव्य' इत्युपपदे स्थाधातोर् ऋप्रत्ययः स्यात् स च डित्-सञ्ज्ञकः।

व्याख्या—वेद के विषय में 'सव्य' शब्द के उपपद रहते स्था धातु से परे ऋ प्रत्यय होता है और वह डित्सञ्ज्ञक है।

स्वा०द०वृ०—डित्त्वादाकारलोपः। सव्ये वामभागे तिष्ठतीति **सव्येष्ठा,** सारथिर्वा। सप्तम्या अलुक्।

उदा०—(1) सव्येष्ठा (= सारथि)—सव्ये वामभागे तिष्ठति। ष्ठा गतिनिवृत्तौ। 'धात्वादेः षः सः' से सकार, 'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' से थकार—सव्य स्था ऋ—टिलोप—सव्ये स्थ् ऋ सु—विभक्ति अलुक्। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (पा० 6.3.13)। 'अम्बाऽम्बगोभूमि०' (पा० 8.3.97) से षत्व हुआ।

(263) अर्त्तिसृधृधम्यम्यश्यवितृभ्योऽनिः [2.104]

पद०—अर्त्तिसृधृधम्यम्यश्यवितृभ्यः 5.3, अनिः 1.1

सं०—ऋ सृ धृ धम् अम् अश् अव् तृ—इत्येतेभ्यो धातुभ्योऽनिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—ऋ, सृ, धृ, धम्, अम्, अश्, अव् और तृ—इन धातुओं से परे अनि प्रत्यय होता है। प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—ऋच्छति प्राप्नोति येन स **अरणिः**, अग्न्युत्पत्तये मथनी द्वे दारुणी वा। सरन्ति गच्छन्त्यस्मिन् स **सरणिः,** मार्गो वा। ण्यन्तात् 'सृ'धातोरनिः **'सारणिः'**; स्त्रियां **सारणी**। बाहुलकात्-शृणाति हिनस्तीति **शरणिः**। धरति सर्वमिति **धरणिः**, पृथिवी वा। 'धमिः' सौत्रो धातुः। धमति प्रापयति रसादिकमिति **धमनिः**, नाडी वा। अमतीति **अमनिः,** गतिर्वा। येनाश्नाति योऽश्नुते व्याप्नोति वा स **अशनिः,** वज्रम् वा। अवति रक्षणादिकं करोतीति **अवनिः,** भूमिर्वा। तरति येन यया वा स सा वा **तरणिः,** सूर्यः कुमारी नौकौषधिभेदो वा।

बाहुलकात्—रजतीति **रजनिः,** रात्रिर्वा। नलोपः। स्त्रियां **'रजनी'** द्राक्षा हरिद्रा वा।

उदा०—(1) अरणिः (= एक काष्ठ)—ऋच्छति प्राप्नोति येन। ऋ गतौ। ऋ अनि—गुण, सार्वधातुकार्ध०—'उरण् रपरः' से रपरत्व—अरनि—'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व, सु।

(2) सरणिः (= मार्ग)—सरन्ति गच्छन्त्यस्मिन्। सृ गतौ। पूर्ववत्।

(3) सारणिः—सृ णिच् अनि—'अचो ञ्णिति' से वृद्धि। सार् अनि—णत्व, सु।

(4) सारणी—स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में 'कृदिकारादक्तिनः' (पा० 4.1.45) इस गणसूत्र से ङीष्।

(5) शरणिः—शृणाति हिनस्ति। बाहुलकात् प्रत्यय। शॄ अनि—गुण, णत्व।

(6) धरणिः (= पृथ्वी)—धरतीति। धृञ् धारणे। पूर्ववत्।

(7) धमनिः (= नाड़ी)—धमतीति। धमि सौत्र धातु है। धम् अनि सु—'पाघ्राध्मास्था०' (पा० 7.3.78) से जो 'धम' आदेश होता है उसका यहाँ ग्रहण नहीं है। क्षीरस्वामी (द्रष्टव्य—क्षी०त० 1.659) के अनुसार धमि को प्रकृत्यन्तर जानना चाहिए।

(8) अमनिः (= गति)—अमतीति। अम गत्यादिषु। अम् अनि सु।

(9) अशनिः (= वज्र)—अश्नाति येन। योऽश्नुते व्याप्नोति। अशूङ् व्याप्तौ। अश् अनि।

(10) अवनिः (= पृथ्वी)—अवति रक्षति। अव रक्षणादिषु। अव् अनि सु।

(11) तरणिः (= सूर्य, नैया)—तरति येन (यया वा)। तॄ प्लवनसन्तरणयोः। तॄ अनिगुण।

(12) रजनिः (= रात)—रजतीति। रञ्ज् अनि—बाहुलकात् प्रत्यय, नकार-लोप, सु।

(264) आङि शुषेः सनश्छन्दसि [2.105]

पद०—आङि 7.1, शुषेः 5.1, सनः 5.1, छन्दसि 7.1

अनु०—'अर्त्ति·····भ्योऽनिः' (उ०सू० 2.104) से 'अनि' का अनुवर्त्तन है।

सं०—आङ् इत्युपपदे सन्प्रत्ययान्तात् शुष्धातोर् अनिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'आङ्' शब्द के उपपद रहते सन् प्रत्ययान्त शुष् धातु से परे अनि प्रत्यय होता है। धातु को द्वित्व आदि कार्य होते हैं।

स्वा०द०वृ०—सन्नन्तादाङ्पूर्वादनिः प्रत्ययः। समन्तात् शुष्यन्ति पदार्था येन स **आशुशुक्षणिः**, अग्निर्वा।

उदा०—(1) आशुशुक्षणिः (= अग्नि, वायु)—आ समन्तात् शुष्यन्ति पदार्था येन। शुष शोषणे। आङ् शुष् सन् अनि—'हलन्त्यम्' से ङ् तथा न् की इत्सञ्ज्ञा,

'सन्यङो:' से धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व—आ शुष् शुष् स अनि—पूर्वोऽभ्यास:, हलादि: शेष:—आ शु शुष् स अनि—'षढो: क: सि' (पा० 8.2.41) से ककार—आ शु शुक् स अनि—'आदेशप्रत्यययो:' से मूर्धन्य आदेश—आशु शुक् ष अनि—'अतो गुणे' से पररूप, णत्व, सु।

(265) कृषेरादिश्च ध: [2.106]

पद०—कृषे: 5.1, आदि: 1.1, च—अव्य०, ध: 1.1

अनु०—'अर्त्ति····भ्योऽनि:' (उ०सू० 2.104) से 'अनि:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—कृष्धातोर् अनिप्रत्यय: स्याद्, धातोश्च य आदिवर्ण: तस्य स्थाने 'ध्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'कृषे:' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'कृषे:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'कृषे:' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बना लिया जाता है। 'आदि:' इस प्रथमान्त पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर इसका अन्वय 'कृषे:' पद के साथ किया जाता है। अर्थ—कृष् धातु से परे अनि प्रत्यय होता है तथा धातु का जो आदि वर्ण (अर्थात् ककार), उसके स्थान पर धकार आदेश होता है। धकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—कृषतीति **धर्षणि:**, पुंश्चली स्त्री वा; ङीष् **'धर्षणी'**।

उदा०—(1) धर्षणि: (= वेश्या)—कृषतीति। कृष विलेखने। कृष् अनि—आदि वर्ण को धकार—धृष् अनि—लघूपध गुण, रपरत्व, णत्व, सु।

विशेष—श्वेतवनवासी तथा नारायण भट्ट आदि धातु के आदि वर्ण के स्थान पर 'च्' आदेश स्वीकार करते हैं। द्रष्टव्य—'कृषेरादेश्च च:'। तदनु 'चर्षणि' शब्द बनता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य (1.27.9) में चर्षणि शब्द के व्याख्यान के समय इसी पाठ को उद्धृत किया है।

(266) अदेर्मुट् च [2.107]

पद०—अदे: 5.1, मुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'अर्त्ति····भ्योऽनि:' (उ०सू० 2.104) से 'अनि:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अद्धातोर् अनिप्रत्यय: स्यात्, प्रत्ययस्य 'मुट्' आगम: स्यात्।

व्याख्या—अद् धातु से परे अनि प्रत्यय होता है और प्रत्यय को मुट् आगम होता है। 'ट्' की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'म्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—अत्तीति **अद्मनि:**, अग्निर्वा।

उदा॰—(1) अद्मनिः (= अग्नि)—अत्तीति। अद भक्षणे। अद् मुट् अनि—अनुबन्धलोप, सु।

(267) वृत्तेश्च [2.108]

पद॰—वृत्तेः 5.1, च—अव्य॰।
अनु॰—'अर्त्ति·····भ्योऽनिः' (उ॰सू॰ 2.104) से 'अनिः' की अनुवृत्ति है।
सं॰—वृत्धातोर् अनिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वृत् धातु से अनि प्रत्यय होता है।

स्वा॰द॰वृ॰—वर्तते यस्मिन्निति **वर्तनिः**, मार्ग एकपदी वा।

उदा॰—(1) वर्त्तनिः (= मार्ग)—वर्त्तते यस्मिन्। वृतु वर्त्तने। वृत् अनि—लघूपध गुण, सु।

(268) क्षिपेः किच्च [2.109]

पद॰—क्षिपेः 5.1, कित् 1.1, च—अव्य॰।
अनु॰—'अर्त्ति·····भ्योऽनिः' (उ॰सू॰ 2.104) से 'अनिः' की अनुवृत्ति है।
सं॰—क्षिप्धातोर् अनिप्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—क्षिप् धातु से परे अनि प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन लघूपध गुण का निषेध है।

स्वा॰द॰वृ॰—क्षिपत्यनेन शत्रून् स **क्षिपणिः**, आयुधं वा।

उदा॰—(1) क्षिपणिः (= आयुध, जाल, चप्पू)—क्षिपति शत्रून् अनेन। क्षिप प्रक्षेपणे। क्षिप् अनि सु।

(269) अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः [2.110]

पद॰—अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्यः 5.3, इसिः 1.1
सं॰—अर्च् शुच् हु सृप् छद् छर्द् इत्येतेभ्यो धातुभ्य इसिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—अर्च्, शुच्, हु, सृप्, छादि तथा छर्द्—इन धातुओं से परे इसि प्रत्यय होता है। सकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है।

स्वा॰द॰वृ॰—अर्चति येन तत् **अर्चिः**, दीप्तिर्वा। शोचति शोचयतीति **शोचिः**, प्रकाशो वा। हूयते यत्तत् **हविः**, होमयोग्यं वस्तु वा। यद् येन वा सर्पति तत् **सर्पिः**, घृतं वा। छादयति येन तत् **छदिः**, छादनं तृणादिछादनसाधनं वा। 'इस्मन्त्रन्॰' [अ॰ 6.4.97] इति ह्रस्वादेशः। छर्दति यत्तत् **छर्दिः**, वमनव्याधिर्वा।

बाहुलकात्—समन्तादवतीति **आविः**, प्राकट्यम् [वा]। अव्ययशब्दोऽयम्।

उदा०—(1) अर्चिः (= दीप्ति)—अर्चति येन तत्। अर्च पूजायाम्। अर्च् इसि—अर्चिस् सु—'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप, रुत्व, विसर्ग।

(2) शोचिः (= ज्वाला)—शोचतीति। शुच शोके। शुच् इसि—लघूपधगुण, सु, लोप।

(3) हविः (= यज्ञ, द्रव्य, जल)—हूयते तत्। हु दानाऽऽदनयोः। हु इसि—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण—हो इस्—'एचोऽयवायावः' से अव् आदेश, सु।

(4) सर्पिः (= घी)—सर्पतीति। सृप गतौ। लघूपध गुण।

(5) छदिः (= छादन)—छादयति येन तत्। छदि संवरणे। छद् णिच्—छाद् इ इसि। णिच् का लोप—छाद् इसि—'इस्मन्त्रन्०' (पा० 6.4.97) से ह्रस्व आदेश—छदिस् सु।

(6) छर्दिः (= वमन)—छर्दति यत्। छर्द वमने। छर्द् इसि।

(7) आविः (= एक अव्यय)—समन्ताद् अवतीति। बाहुलकात् इसि प्रत्यय।

(270) बृंहेर्नलोपश्च [2.111]

पद०—बृंहेः 5.1, नलोपः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'अर्चि····इसिः' (उ०सू० 2.110) से 'इसिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—बृंह्धातोर् इसिप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च यो नकारः तस्य लोपो भवति।

व्याख्या—'बृंहेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'बृंहेः' को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'बृंहेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर इसका 'नलोपः' पद के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—बृंह् धातु से परे इसि प्रत्यय होता है तथा धातु के नकार का लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—बृंहति वर्द्धते तद् **बर्हिः**, दर्भो वा।

उदा०—(1) बर्हिः (= दर्भ)—बृहति वर्धते। बृहि वृद्धौ। बृहि इदित् धातु है। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम्—बृ न् ह् इसि—नकारलोप—बृह् इस्—लघूपध गुण, रपरत्व,सु, लोप।

(271) द्युतेरिसिन्नादेश्च जः [2.112]

पद०—द्युतेः 5.1, इसिन् 1.1, आदेः 6.1, च—अव्य०, जः 1.1

सं०—द्युत्धातोर् इसिन् प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च य आदिवर्णः तस्य स्थाने 'ज्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'द्युतेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'द्युतेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'द्युतेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'आदेः' पद के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—द्युत् धातु से परे इसिन् प्रत्यय होता है तथा धातु का जो आदि वर्ण, उसके स्थान पर 'ज्' आदेश होता है। जकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। इसिन् के 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)। सकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—द्योतते प्रकाशते तत् **ज्योतिः**, अग्निः सूर्यादिकं वा। ज्योतिरधिकृत्य कृतो ग्रन्थो **'ज्योतिषम्'**। संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वाद् वृद्धिनिषेधः।

उदा०—(1) ज्योतिः (= अग्नि, प्रकाश)—द्योतते प्रकाशते तत्। द्युत दीप्तौ। द्युत् इसिन्—लघूपध गुण, आदि वर्ण (दकार) के स्थान पर जकार—ज्योत् इस् सु—लोप।

(272) वसौ रुचेः सञ्ज्ञायाम् [2.113]

पद०—वसौ 7.1, रुचेः 1.1, सञ्ज्ञायाम् 7.1
अनु०—'द्युतेरिसिन्नादेश्च जः' (उ०सू० 2.112) से 'इसिन्' की अनुवृत्ति है।
सं०—'वसु' इत्युपपदे रुच्धातोर् इसिन् प्रत्ययः स्यात्, सञ्ज्ञायाम्।

व्याख्या—'वसु' शब्द के उपपद रहते रुच् धातु से परे इसिन् प्रत्यय होता है, सञ्ज्ञा के विषय में।

स्वा०द०वृ०—वसूनग्न्यादीन् रोचतेऽसौ **वसुरोचिः**, यज्ञो वा। बाहुलकात्—केवलादपि **रोचिः**, ज्वाला वा।

उदा०—(1) वसुरोचिः (= यज्ञ)—वसून् अग्न्यादीन् रोचतेऽसौ। वसु रुच् इसिन्—लघूपध गुण—वसुरोचिस् सु—लोप।

(273) भुवः कित् [2.114]

पद०—भुवः 5.1, कित् 1.1
अनु०—'द्युतेरिसिन्नादेश्च जः' (उ०सू० 2.112) से 'इसिन्' की अनुवृत्ति है।
सं०—भूधातोर् इसिन्प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—भू धातु से परे इसिन् प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय कित् होता है।

स्वा०द०वृ०—इसिन् कित्। यो भवति यस्मिन् वा स **भुविः**, समुद्रो वा।

उदा०—(1) भुविः (= सागर)—यो भवति यस्मिन् सः। भू इसिन्—आर्धधातुकलक्षण गुण प्राप्त, प्रत्यय के कित् होने से गुणनिषेध, 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से उवङ् आदेश—भुवङ् इस् सु—लोप[1]।

(274) सहो धश्च [2.115]

पद०—सहः 5.1, धः 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'द्युतेरिसि····जः' (उ०सू० 2.112) से 'इसिन्' की अनुवृत्ति है।
सं०—सह्धातोर् इसिन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'ध्' इत्यादेशः स्यात्।

व्याख्या—'सहः' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—सह् धातु से परे इसिन् प्रत्यय होता है तथा धातु को धकार अन्तादेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से धकार आदेश धातु के अन्त्य अल् (हकार) के स्थान पर होता है। धकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—इसिन्। सहते भारमिति **सधिः**, अनड्वान् वा।

उदा०—(1) सधिः (= बैल)—सहते भारम्। षह मर्षणे। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—सह् इसिन्—'ध्' अन्तादेश—सध् इस्—सु, लोप।

(275) पिबतेस्थुक् [2.116]

पद०—पिबतेः 5.1, थुक् 1.1
अनु०—'द्युतेरिसि····जः' (उ०सू० 2.112) से 'इसिन्' की अनुवृत्ति है।
सं०—पाधातोर् इसिन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'थुक्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—पा धातु से परे इसिन् प्रत्यय होता है तथा धातु को थुक् आगम होता है। 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'थ्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—पिबति यो येन वा तत् **पाथिः**, चक्षुः समुद्रो वा।

उदा०—(1) पाथिः (= नेत्र, सागर)—पिबति यो येन तत्। पा पाने। पा थुक् इसिन्—थुक् आगम कित् है, 'आद्यन्तौ टकितौ' से धातु का अन्तावयव बनता है, अनुबन्ध लोप—पाथ् इस् सु—लोप।

(276) जनेरुसिः [2.117]

पद०—जनेः 5.1, उसिः 1.1

---

1. दशपाद्यां 'स्तुवः कित्' (द०पा० 9.34) इति पठित्वा 'स्तुविः' इति पदं व्युत्पाद्यते।

सं०—जन्धातोर् उसिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—जन् धातु से परे उसि प्रत्यय होता है। उसि का इकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—जायते यत्तत् **जनुः**, जननं वा। जनुषी, जनूंषि।

उदा०—(1) जनुः (= जनन)—जायते यत्। जनी प्रादुर्भावे। जन् उसि—जनुस् सु—लोप।

(277) मनेर्धश्छन्दसि [2.118]

पद०—मनेः 5.1, धः 1.1, छन्दसि 7.1

अनु०—'जनेरुसिः' (उ०सू० 2.118) से 'उसिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—मन्धातोर् उसिप्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'ध्' इत्यन्तादेशो भवति, छन्दसि विषये।

व्याख्या—'मनेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'मनेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'मनेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को अन्तादेश किया जाता है। अर्थ—मन् धातु से परे उसि प्रत्यय होता है तथा धातु के अन्त्य अल् (अर्थात् नकार) के स्थान पर 'ध्' आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा प्रवृत्त होती है। धकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—मन्यते बुध्यते यद् येन वा तत् **मधुः**, पवित्रद्रव्यं वा।

उदा०—(1) मधुः (अशोक वृक्ष)—मन्यतेऽवबुध्यते येन। मनु अवबोधने। मन् → मध् उसि—मधुस् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(278) अर्त्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् [2.119]

पद०—अर्त्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यः 5.3, नित् 1.1

अनु०—'जनेरुसिः' (उ०सू० 2.117) से 'उसिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—ऋ पृ वप् यज् तन् धन् तप् इत्येतेभ्यो धातुभ्य उसिः स्यात्, स च नित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—ऋ, पृ, वप्, यज्, तन्, धन् और तप्—इन धातुओं से परे उसि प्रत्यय होता है और वह नित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को नित् करने का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर करना है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)।

स्वा०द०वृ०—ऋच्छति प्राप्नोतीति **अरुः**, आदित्यो व्रणो वा। पिपर्त्ति येन

तत् **परुः**, ग्रन्थिर्वा। वपति बीजादिकमस्मात् तत् **वपुः**, शरीरं वा। यजति येन तद् **यजुः**, वेदविशेषो वा। तनोति कार्याण्यनेन तत् **तनुः**, शरीरं वा। दिधन्ति धनादिकं प्राप्नोति येन तत् **धनुः**, बाणक्षेपणं वा। तपति दुःखयतीति **तपुः**, सूर्योऽग्निः शत्रुर्वा।

बाहुलकात्—'मन'धातोरपि। मन्यते जानातीति **मनुः, मनुषी**।

उदा०—(1) अरुः (= सूर्य, घाव)—ऋच्छति प्राप्नोति। ऋ गतौ। ऋ उसि—आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, रपरत्व, सु, लोप।

(2) परुः (= ग्रन्थि, सागर, स्वर्ग, पर्वत)—पिपर्त्ति येन तत्। पृ पालनपूरणयोः। पृ उसि—पूर्ववत् गुण, सु, 'स्वमोर्नपुंसकात्' से लुक्।

(3) वपुः (= शरीर)—वपति बीजादिकं यस्मात् तत्। वप बीजसन्ताने छेदने च। वप् उसि—वपुस् सु—लुक्।

(4) यजुः (= यजुर्वेद का मन्त्र)—यजति येन। यज देवपूजादिषु। यज् उसि—यजुस् सु—सु का लोप।

(5) तनुः (= शरीर)—तनोति कार्याण्यनेन। तनु विस्तारे। तन् उसि—तनुस् सु—प्रत्यय का लोप।

(6) धनुः (= धनुष)—दिधन्ति धनादिकम्। धन धान्ये। धन् उसि—धनुस् सु—विभक्ति का लुक्।

(7) तपुः (= सूर्य, अग्नि, शत्रु)—तपति दुःखयति। तप सन्ताने। तप् उसि—सु, विभक्तिलुक्।

(8) मनुः—मन्यते जानाति। मन् उसि—मनुस् सु—लोप। बाहुलकात् प्रत्यय।

(279) एतेर्णिच्च [2.120]

पद०—एतेः 5.1, णित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'जनेरुसिः' (उ०सू० 2.117) से 'उसिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—इण्धातोर् उसिप्रत्ययः स्यात्, स च णित्सञ्ज्ञो भवति।

व्याख्या—'एतेः' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—'इ' धातु से परे उसि प्रत्यय होता है और वह णित्सञ्ज्ञक होता है। णित् करने का प्रयोजन 'अचो ञ्णिति' से इगन्त अङ्ग को वृद्धि आदेश करना है।

स्वा०द०वृ०—ईयते प्राप्यते यत्तत् **आयुः**, जीवनं वा। जटापूर्वात् **'जटायुः'** पक्षिराजः।

उदा०—(1) आयुः (= जीवन)—ईयते प्राप्यते। इण् गतौ। इ उसि—वृद्धि आदेश—ऐ उस्—'एचोऽयवायावः' से आय् आदेश—आयुस् सु—लोप।

(280) चक्षेः शिच्च [2.121]

पद०—चक्षेः 5.1, शित् 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'जनेरुसिः' (उ०सू० 2.117) से 'उसिः' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—चक्ष्धातोर् उसि प्रत्ययः स्यात्, स च शित्सञ्ज्ञः ।

व्याख्या—चक्ष् धातु से उसि प्रत्यय होता है और वह शित्सञ्ज्ञक होता है । शित् होने से 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' से 'उसि' की सार्वधातुक सञ्ज्ञा होती है ।

स्वा०द०वृ०—चक्षते रूपमनुभवन्त्यनेन तत् **चक्षुः**, नेत्रं वा । चक्षुषा गृह्यत इति **'चाक्षुषं'** रूपम् ।

उदा०—(1) चक्षुः (= नेत्र)—चक्षते रूपं यत् । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि । चक्ष् उसि सु—लोप ।

(281) मुहेः किच्च [2.122]

पद०—मुहेः 5.1, कित् 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'जनेरुसिः' (उ०सू० 2.117) से 'उसिः' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—मुह्धातोर् उसिप्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः ।

व्याख्या—मुह् धातु से परे उसि प्रत्यय होता है तथा वह कित्सञ्ज्ञक होता है । प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन लघूपध गुण का निषेध करना है ।

स्वा०द०वृ०—मुह्यति भ्रान्तो भवतीति **मुहुः**, पोनःपुन्येऽर्थेऽव्ययं वा ।

उदा०—(1) मुहुः (= बार-बार)—मुह्यति भ्रान्तो भवति । मुह वैचित्ये । मुह् उसि—मुहुस् सु ।

(282) कृगृशृवृञ्चतिभ्यः ष्वरच् [2.123]

पद०—कृगृशृवृञ्चतिभ्यः 5.3, ष्वरच् 1.1

सं०—कृ गृ शृ वृञ् चत् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः ष्वरच् प्रत्ययः स्यात् ।

व्याख्या—कृ, गृ, शृ, वृञ् तथा चत्—इन धातुओं से परे ष्वरच् प्रत्यय होता है । ष्वरच् के 'च्' की 'हलन्त्यम्' से तथा 'ष्' की 'षः प्रत्ययस्य' से इत्सञ्ज्ञा है । 'च्' अनुबन्ध चिद्लक्षण स्वर के लिए है । 'ष्' अनुबन्ध 'स्त्रियाम्' के अधिकार में षिद्लक्षण ङीष् प्रत्यय के लिए है । द्रष्टव्य—'षिद्गौरादिभ्यश्च' (पा० 4.1.41) । 'वर' शेष रहता है ।

स्वा०द०वृ०—किरति विक्षिपतीति **कर्वरः**, व्याघ्रो दुष्टो वा; **'कर्वरी'**

रात्रिर्व्याघ्री दुष्टा वा। गिरति निगरतीति **गर्वर:**, अहङ्कार: [वा]। अहङ्कारयोगाद् **'गर्वरो'** नायक:। शृणाति हिनस्ति प्रकाशमिति **शर्वरी**, रात्रिर्वा। वृणातीति **वर्वर:**, प्राकृतजनो वा। चतते याचते स्वीक्रियते यत्तत् **चत्वरम्**, अङ्गनं वा।

उदा०—(1) कर्वर: (= दुष्ट, व्याघ्र)—किरति विक्षिपति। कृ विक्षेपे। कृ ष्वरच्—'आर्धधातुकं शेष:' से प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयो:' से इगन्त अङ्ग को गुण प्राप्त, 'उरण् रपर:' से रपरत्व—कर् वर सु। स्त्रीलिङ्ग में—कर्वरी (= दुष्टा, व्याघ्री)।

(2) गर्वर: (= अहंकार, नायक)—गिरति निगरति। गॄ निगरणे। गॄ ष्वरच्—पूर्ववत्।

(3) शर्वरी (= रात्रि)—शृणाति हिनस्ति प्रकाशम्। शॄ हिंसायाम्। शॄ ष्वरच्—पूर्ववत् गुण, रपरत्व, यह शब्द प्राय: स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है, अत: षिद्लक्षण ङीष्, अनुबन्धलोप—शर्वर ई—भसञ्ज्ञा, 'यस्येति च' से अकारलोप—शर्वरी सु—'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप।

(4) वर्वर: (= साधारण पुरुष)—वृणातीति। वृञ् वरणे।

(5) चत्वरम् (= आँगन)—चतते याचते। चत याचने। चत् ष्वरच्—चत्वर सु—अतोऽम्, अमि पूर्व:।

(283) नौ षदे: [2.124]

पद०—नौ 7.1, षदे; 5.1

अनु०—'कृगृशृवृञ्चतिभ्य: ष्वरच्' (उ०सू० 2.123) से 'ष्वरच्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—'नि' शब्द उपपदे षद्धातो: ष्वरच्प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—'नि' शब्द के उपपद रहते षद् धातु से परे ष्वरच् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—निषीदति यो यत्र वा स **निषद्वर:**, पङ्को; **'निषद्वरी'** रात्रिर्वा।

उदा०—(1) निषद्वर: (= कीचड़)। निषीदति य:। नि षद् ष्वरच्। निसद्वर मूर्धन्य आदेश, सु।

॥ इति 'पीयूष' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याद्वयोपेतोणादिकोषे द्वितीय: पाद: ॥



तृतीयः पादः

(284) छित्वरछत्वरधीवरपीवरमीवरचीवरतीवर-नीवरगह्वरकट्वरसंयद्वराः [3.1]

पद०—छित्वरछत्वरधीवरपीवरमीवरचीवरतीवरनीवरगह्वरकट्वरसंयद्वराः 1.3

अनु०—'कृगृशृवृञ्चतिभ्यः ष्वरच्' (उ०सू० 2.123) से 'ष्वरच्' की अनुवृत्ति है।

सं०—छित्वर छत्वर धीवर पीवर मीवर चीवर तीवर नीवर गह्वर कट्वर संयद्वर—इत्येते शब्दाः ष्वरच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—छित्वर, छत्वर, धीवर, पीवर, मीवर, चीवर, तीवर, नीवर, गह्वर, कट्वर और संयद्वर—ये शब्द ष्वरच् प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—छित्वरादय एकादश शब्दाः ष्वरच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। छिनत्तीति **छित्वरः**, धूर्तः शत्रुश्छेदनद्रव्यं वा। छदतेऽपवारयतीति **छत्वरः**, गृहं लताच्छादितं स्थानं वा। अत्रोभयत्र धातुदकारस्य तकारः। 'डुधाञ् [धारणे]', 'पा पाने' 'मा माने' एषामीत्वमन्त्यस्य [मिनोतेर्दीर्घत्वं च]। दधातीति **धीवरः**, नौवाहको वा। पिबति दुग्धादिकमिति **पीवरः**, स्थूलो वा। माति मीनाति हिनस्ति वा स **मीवरः**, हिंसको वा। चिनोति तृणादिना चीयते वा स **चीवरः**, **चीवरं**, वस्त्रं मुनिपरिधानं वा। धातोर्दीर्घादेशः। तीरयति कर्म्मसमाप्तिं करोतीति **तीवरः**, जातिविशेषो वा। रेफलोपो गुणाभावश्च। नयतीति **नीवरः**, परिव्राट् वा। गुणनिषेधः। गाहते विलोडयतीति **गह्वरम्**, गहनं वा। ह्रस्वादेशः। कटति वर्षत्यावृणोति वा तत् **कट्वरम्**, भोज्यं व्यञ्जनं वा। संयच्छतीति **संयद्वरः**, नृपो वा। मकारस्य दकारः।

बाहुलकात्—उपजुहोतीति **उपह्वरः**, रथो वा। [धातोरन्त्यलोपः।] ष्वरच्प्रत्ययस्य षित्त्वात् स्त्रियां **'छित्वरी'** इत्यादि, सर्वत्र ङीष्।

उदा०—(1) छित्वरः (= धूर्त्त)—छिनत्तीति। छिदिर् द्वैधीकरणे। छिद् ष्वरच्—निपातन से चर्त्व—छित् वर सु।

(2) छत्वरः (= घर, पर्णशाला)—छदतेऽपवारयति। छद् ष्वरच्—छत् वर सु—पूर्ववत्।

(3) धीवरः (= मछुआरा)—दधातीति। डुधाञ् धारणपोषणयोः। धा ष्वरच्—निपातन से धातु को ईकार अन्तादेश—धीवर सु।

(4) पीवरः (मोटा)—पिबतीति। पा पाने। पा ष्वरच्—निपातन से धातु को ईकार अन्तादेश, सु।

(5) मीवरः (= हिंसक)—माति मीनाति हिनस्ति। मा माने। मा ष्वरच्—पूर्ववत्, सु, विभक्तिकार्य।

(6) चीवरम् (= वस्त्र)—चिनोति। चीयते तृणादिना। चिञ् चयने। निपातन से धातु को दीर्घ आदेश।

(7) तीवरः (= समुद्र)—तीरयति कर्म्म समाप्तिं करोति। तीर कर्म्मसमाप्तौ। तीर् ष्वरच्—निपातन से रेफ का लोप, गुण का निषेध।

(8) नीवरः (= संन्यासी)—नयतीति। णीञ् प्रापणे। णो नः। नी ष्वरच्—निपातन से गुण का निषेध।

(9) गह्वर (= गड्ढा)—गाहते विलोडयति। गाहू विलोडने। गाह् ष्वरच्—धातु को ह्रस्व आदेश निपातन से, सु।

(10) कट्वरम् (= व्यञ्जन)—कटति वर्षत्यावृणोति। कटे वर्षाऽऽवरणयोः। कट् ष्वरच् सु।

(11) संयद्वरः (= नृप)—संयच्छति। सम् दाण् दाने। सम् यच्छ् ष्वरच्—धातु के च्छ् के स्थान पर दकार आदेश, सु।

(12) उपह्वरः (= रथ)—उप जुहोतीति। उप हु ष्वरच्—बाहुलकात् प्रत्यय, धातु का अन्त्य लोप निपातन से—उप ह् वरः सु। दशपादी में इसका पाठ है।

(285) इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् [3.2]

पद०—इण्सिञ्जिदीङ्उष्यविभ्यः 5.3, नक् 1.1

सं०—इ सि जि दी उष् अव्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो नक्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—इ, सि, जि, दी, उष् तथा अव्—इन धातुओं से परे नक् प्रत्यय होता है। क् अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—एतीति **इनः**, ईश्वरो राजा प्रभुः सूर्यो वा। इनेन स्वामिना सह वर्त्तत इति **'सेना'**। सिनोति बध्नातीति **सिनः**, काणो वा। जयतीति **जिनः**, अतिवृद्धो जयशीलो नास्तिकभेदो वा। दीयते क्षीणो भवतीति **दीनः**, दुःखी वा। ओषति दहतीति **उष्णम्**, ईषत्तप्तं वा। वाच्यलिङ्गः। अवति रक्षादिकं करोतीति **ऊनः**, असम्पूर्णं वा। [**ज्वरत्वर०** (अ० 6.4.20) इत्यादिना ऊठ्।]

उदा०—(1) इनः (= ईश्वर, राजा, पति, सूर्य)—एति। इण् गतौ। इ नक्—गुणनिषेध, सु।

(2) सिनः (= ग्रास, काणा व्यक्ति)—सिनोति बध्नाति। सिञ् नक्—पूर्ववत्।

(3) जिनः (= जयशील)—जयतीति। जि जये। पूर्ववत्।

(4) दीनः (= लाचार, निर्धन)—दीयते क्षीणो भवति। दीङ् नक् सु।

(5) उष्णः (= गर्म)—ओषति दहति। उष दाहे। उष् नक्—णत्व, रषाभ्यां नो०।

(6) ऊनः (= अपर्याप्त)—अवति रक्षति। अव रक्षणादिषु। अव् नक्—'ज्वरत्वरस्रिव्य०' (पा० 6.4.20) से ऊठ् आदेश—ऊ न सु।

(286) फेनमीनौ [3.3]

पद०—फेनमीनौ 1.2

सं०—फेन मीन इत्येतौ शब्दौ नक्प्रत्ययान्तौ निपात्येते।

व्याख्या—फेन और मीन—ये दो शब्द नक् प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—स्फायते वर्द्धते स **फेनः**, हिण्डीरः 'समुद्रफेन' इति प्रसिद्धः, जलविकारो वा। **फेनायते** नदी। [स्फायतेर्धातोः 'फे' आदेशः।] मीनाति हिनस्तीति **मीनः**, राश्यन्तरो मत्स्यो वा।

उदा०—(1) फेनः (= झाग)—स्फायते वर्द्धते। स्फाय् नक्—निपातन से धातु के स्थान पर 'फे' सर्वादेश, सु। फेनायते—पा० 3.1.13 से क्यष्। 'लोहितडाज्भ्यः क्यष्वचनं भृशादिष्वितराणि' इस महाभाष्यवचन से क्यङ् होता है।

(2) मीनः (= मछली)—मीनाति हिनस्ति। मी नक्—गुणनिषेध निपातन से।

(287) कृषेर्वर्णे [3.4]

पद०—कृषेः 5.1, वर्णे 7.1

अनु०—'इण्सि·····नक्' (उ०सू० 3.2) से 'नक्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—कृष्धातोर् नक्प्रत्ययः स्याद् वर्णेऽभिधेये।

व्याख्या—यदि 'वर्ण' अर्थ वाच्य हो तो कृष् धातु से नक् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—कृषतीति **कृष्णः**, नीलवर्णो वा; **कृष्णा**, पिप्पली वा।

बाहुलकात्—जिघर्ति क्षरति चित्तं यया सा **घृणा**, दौर्मनस्यं वा।

उदा०—(1) कृष्णः (काला)—कृषतीति। कृष् नक्—कृष् ण—'रषाभ्यां नो णः समा०' से णत्व। वर्णवाची कृष्ण शब्द नक् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त है। मृगवाची कृष्ण शब्द आद्युदात्त है। नामधेयवाची आद्युदात्त व अन्तोदात्त है। द्रष्टव्य—'कृष्णस्याऽमृगाख्या चेत्, वा नामधेयस्य' (फि०सू० 1.11-12)।

(2) घृणा (= घृणा)—जिघर्त्ति क्षरति चित्तम्। बाहुलकात् प्रत्यय। घृ न—णत्व, टाप्, सु। जिघर्ति आर्द्रीभवति चित्तं यया सा घृणा (= दया)।

(288) बन्धेर्ब्रधिबुधी च [3.5]

पद०—बन्धेः 5.1, ब्रधिबुधी 1.2, च—अव्य०।

अनु०—'इण्सि·····नक्' (उ०सू० 3.2) से 'नक्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—बन्ध्धातोर् नक्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च स्थाने ब्रधि बुधि इत्येतौ पर्यायेण आदेशौ भवतः।

व्याख्या—'बन्धेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'बन्धेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'बन्धेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु के स्थान पर आदेश किया जाता है। अर्थ—बन्ध् धातु से परे नक् प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर क्रमेण ब्रधि तथा बुधि आदेश होते हैं। दोनों आदेश अनेकाल् हैं। अतः 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से सर्वादेश होता है।

स्वा०द०वृ०—ब्रध्नातीति **ब्रध्नः**। [बुध्नातीति] **बुध्नः**। **ब्रध्नो**, महान् सूर्य्यो वा। **बुध्नो,** मेघो मूलम् अन्तरिक्षं वा।

उदा०—(1) ब्रध्नः (= जड़, सूर्य)—बध्नातीति। बन्ध बन्धने। बन्ध् → ब्रध् नक् सु।

(2) बुध्नः (= मेघ, मूल)—बुध् सर्वादेश, सु।

(289) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः [3.6]

पद०—धापॄवस्यज्यतिभ्यः 5.3, नः 1.1

सं०—धा पॄ वस् अज् अत्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो नप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—धा, पॄ, वस्, अज् तथा अत्—इन धातुओं से परे 'न' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—दधतीति **धानाः**, अग्निपक्वा यवा वा। नित्यं स्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च। पिपर्ति पालयति पूरयति वा तत् **पर्णम्,** पत्रं वा। वसति येन स **वस्नः**, मूल्यं वेतनं वा। अजति गच्छति प्राप्नोति वा स **वेनः**, कमनीयः प्रजापतिरीश्वरो वा। अतति निरन्तरं गच्छतीति **अत्नः**, सूर्य्यो वा।

बाहुलकात्—शृणोतीति **श्रोणः**, पङ्गुर्वा।

उदा०—(1) धानाः (= धाना)—दधतीति। डुधाञ् धारणपोषणयोः। धान जस्।

(2) पर्णम् (= पत्ता)—पिपर्त्ति पालयति। पृ पालनपूरणयोः। पृ न—गुण, रपरत्व, सु।

(30 वस्नः (= वेतन)—वसति येन सः। वस निवासे। वस् न सु।

(4) वेनः (= कमनीय, ईश्वर)—अजति गच्छति। अज गतिक्षेपणयोः। अज् नक्—'अजेर्व्यघञपोः' से 'वी' आदेश—वी न—गुण, सु।

(5) अत्नः (= सूर्य, वायु)—अतति निरन्तरं गच्छति। अत सातत्यगमने। अत् न सु।

(6) श्रोणः (= पंगु)—शृणोतीति। श्रु धातु से बाहुलकात् 'न' प्रत्यय, गुण, सु।

(290) लक्षेरट् मुट् च [3.7]

पद०—लक्षेः 5.1, अट् 1.1, मुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' (उ०सू० 3.6) से 'नः' की अनुवृत्ति है।

सं०—लक्ष्धातोर् 'न'प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च अट्मुटौ आगमौ क्रमेण भवतः।

व्याख्या—लक्ष् धातु से 'न' प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को अट् और मुट् आगम पर्यायेण होते हैं। एक पक्ष में अट् आगम तथा दूसरे पक्ष में मुट् होता है। अट् के ट् की इत्सञ्ज्ञा है। अ शेष रहता है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से यह प्रत्यय का आद्यवयव बनता है। मुट् के 'ट्' की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'म्' शेष रहता है। पूर्ववत् आद्यवयव बनता है। दशपादी में 'मुट्' (आगम) का पाठ नहीं है।

स्वा०द०वृ०—लक्षयतीति **लक्षणः**; **लक्ष्मणम्**, चिह्नं नाम वा। रामभ्राता **लक्ष्मणो** वा; **लक्ष्मणा** हंसस्त्री सारसी वा।

उदा०—(1) लक्षणम् (= चिह्न, पद)—लक्षयतीति। लक्ष दर्शनाऽङ्कयोः। लक्ष् अट् न—लक्षन—'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व—लक्षण सु—अतोऽम्।

(2) लक्ष्मणः (= राम का भाई)—लक्ष् मुट् अट् न—पक्ष में दोनों आगम होते हैं, अनुबन्धलोप। लक्ष्मन—णत्व, सु।

(291) वनेरिच्चोपधायाः [3.8]

पद०—वनेः 5.1, इत् 1.1, च—अव्य०, उपधायाः 6.1

अनु०—'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' (उ०सू० 3.6) से 'नः' की अनुवृत्ति है।

सं०—वन्धातोर् नप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च य उपधावर्णस्तस्य स्थाने इत् इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'वनेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'वनेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'वनेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'उपधायाः' के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—वन् धातु से परे 'न' प्रत्यय होता है तथा धातु की जो उपधा, उसके स्थान पर इत् आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' से उपधासञ्ज्ञा कही है। इत् = ह्रस्व इकार। 'त्' अनुबन्ध उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—वन्यते सम्भज्यते या सा **वेन्ना**, नदी वा।

उदा०—(1) वेन्ना (= नदी)—वन्यते सम्भज्यते या सा। वन् न—धातु को इकार आदेश-वेन्न टाप्—अजाद्यतष्टाप्, सु, अपृक्त सकार का लोप। नारायण भट्ट 'वनेः' के स्थान पर 'पणेः' पाठ स्वीकार करते हैं। तदनु 'पेण्णा' रूप बनता है।

(292) सिवेष्टेर्यू च [3.9]

पद०—सिवेः 5.1, टेः 6.1, यू 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' (उ०सू० 3.6) से 'नः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सिव्धातोर् नप्रत्ययः स्यात्, धातोश्च यो टिः, तस्य स्थाने 'यू' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—सिव् धातु से परे 'न' आदेश होता है तथा धातु का जो 'टि', उसके स्थान पर 'यू' आदेश होता है। अचोऽन्त्यादि टि।

स्वा०द०वृ०—सीव्यति तन्तून् सन्तनोतीति **स्यूनः**, आदित्यो वा। टिभागस्य 'यू' इत्यादेशः। [दीर्घादेशविधानसामर्थ्याद् गुणाभावः।]

बाहुलकात्—केवलोऽपि 'न' प्रत्ययः, तेन ऊठादेशे कृते **स्योनः** सुखी; **स्योनं** सुखमित्यपि सिद्धं भवति।

उदा०—(1) स्यूनः (= सूर्य, किरण)—सीव्यति तन्तून् सन्तनोति। सिव् न—टि (इव्) के स्थान पर 'यू' आदेश—स्यू न—आर्धधातुकलक्षण गुण प्राप्त, परन्तु 'यू' में दीर्घ निर्देश व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि गुण का निषेध होता है। यदि आचार्य को गुण आदेश इष्ट होता तो 'यू' के स्थान पर 'यु' ऐसा ह्रस्व विधान करते। ह्रस्व-विधान में मात्रालाघव होता है।

(2) स्योनः (= सुखी)—बाहुलकात् केवल सिव् धातु से 'न' प्रत्यय होता है। टि को 'यू' नहीं होता है। सिव् न—ऊठ् आदेश—सि ऊ न—इको यणचि—स्यू न—आर्धधातुकलक्षण गुण, सु।

(293) कृवृजृसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यो नित् [3.10]

पद॰—कृवृजृसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यः 5.3, नित् 1.1

अनु॰—'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' (उ॰सू॰ 3.6) से 'नः' का अनुवर्त्तन है।

सं॰—कृ वृ जृ सि द्रु पन् अन् स्वप्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो 'न'प्रत्ययः स्यात्, स च नित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—कृ, वृ, जृ, सि, द्रु, पन्, अन् तथा स्वप्—इन धातुओं से परे 'न' प्रत्यय होता है तथा वह नित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को नित् करने का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर करना है। द्रष्टव्य—ञ्नित्यादिर्नित्यम्।

स्वा॰द॰वृ॰—नो नित्। किरति विक्षिपतीति **कर्णः**, श्रोत्रं क्षत्रियविशेषो वा। वृणोति व्रियते वा स **वर्णः**, ब्राह्मणादिः शुक्लादिः स्तुतिर्यशो रूपम् अक्षरं स्वीकारश्च। जीर्यतीति **जर्णः**, चन्द्रमा वृद्धो वा। सिनोति बध्नाति शत्रूनिति **सेना**। इनेन सह वर्तत इति [व्युत्पत्त्यन्तरं] पूर्वमुक्तम्। द्रवति गच्छतीति **द्रोणः**, कृष्णकाको मानविशेषोऽर्जुनगुरुर्वा॥ **'द्रोणी'** जलसेचनी वा। पनायति स्तौतीति **पन्नः**, सर्पो वा। अनिति जीवयतीति **अन्नम्**, ओदनादिकं वा। यः स्वपिति यत् सुप्यते वा स **स्वप्नः**, निद्रा वा।

उदा॰—(1) कर्णः (= कान)—किरति विक्षिपति। कृ विक्षेपे। कृ न—गुण, उरण् रपरः, णत्व—रषाभ्यां नो णः समानपदे, सु।

(2) वर्णः (= ब्राह्मण आदि वर्ण, रंग)—वृणोति व्रियते वा। वृ न—पूर्ववत् आर्धधातुकलक्षण गुण, रपरत्व—वर् न—रषाभ्यां नो णः—णत्व, सु।

(3) जर्णः (= चन्द्र, वृद्ध)—जीर्यतीति। जृ न—पूर्ववत् गुण, सु।

(4) सेना (= बल)—सिनोति बध्नाति शत्रून्। षिञ् बन्धने। धात्वादेः षः सः—सि न—गुण—सेन—टाप्, सु। इनेन सह वर्त्तत इत्यपि।

(5) द्रोणः (= कृष्ण काक, एक तौल)—द्रवति गच्छति। द्रु गतौ। द्रु न—आर्धधातुकलक्षण गुण—द्रो न—'अट्कुप्वाङ्नुम्॰' से णत्व, सु।

(6) पन्नः (= सर्प, पतित)—पनायति स्तौति। पन व्यवहारे स्तुतौ च। पन् न—सु।

(7) अन्नम् (= अन्न)—अनिति जीवयति। अन प्राणने। अन् न सु।

(8) स्वप्नः (= निद्रा)—यः स्वपिति, यत् सुप्यते सः। ञिष्वप्—आदिर्ञिटुडवः, धात्वादेः षः सः—स्वप्न सु।

(294) धेट इच्च [3.11]

पद०—धेटः 5.1, इत् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' (उ०सू० 3.6) से 'नः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—धेधातोर् नप्रत्ययः स्याद् धातोश्च स्थाने 'इत्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'धेटः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'धेटः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है तथा द्वितीय 'धेटः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—धे धातु से परे 'न' प्रत्यय होता है तथा धातु को इकार आदेश होता है। इत् = ह्रस्व इकार। 'अलोऽन्त्यस्य' से धातु के अन्त्य अल् (एकार) के स्थान पर इकार आदेश होता है। 'आदेच उपदेशेऽशिति' से धातु के एच् वर्ण के स्थान पर आकार आदेश प्राप्त था। प्रकृत के द्वारा बाध होकर इकार होता है।

स्वा०द०वृ०—धयन्ति पिबन्ति यस्मात् स **धेनः** समुद्रः; **धेना** नदी वा। आत्त्वनिवृत्त्यर्थ इकारादेशः।

उदा०—(1) धेनः (= समुद्र, नद)—धयन्ति पिबन्ति यस्मात् सः। धेट् पाने। धे न—आत्व का बाध—धि न—इकार आदेश, आर्धधातुकलक्षण गुण, सु।

(2) धेना (= नदी)—धेन—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्, सु।

(295) तृषिशुषिरसिभ्यः कित् [3.12]

पद०—तृषिशुषिरसिभ्यः 5.3, कित् 1.1

अनु०—'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' (उ०सू० 3.6) से 'नः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—तृष् शुष् रस्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो नप्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—तृष्, शुष् और स्—इन धातुओं से परे 'न' प्रत्यय होता है और वह कित् होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन लघूपध गुण का निषेध करना है।

स्वा०द०वृ०—तृष्यति काङ्क्षति पिपासति वा यया सा **तृष्णा**, लिप्सा पिपासा वा। शुष्यति रसादिकमिति **शुष्णः**, सूर्योऽग्निर्वा। रसति शब्दयतीति **रस्नम्**, द्रव्यं वा।

उदा० (1) तृष्णा (= प्यास, इच्छा)—तृष्यति पिपासति यया। ञितृषा पिपासायाम्। तृष् न—'रषाभ्यां नो णः समा०' से णत्व। स्त्रियाम्, 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप्, अनुबन्धलोप—तृष्ण आ—'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ, सु, लोप।

(2) शुष्णः (= सूर्य, अग्नि)—शुष्यति रसादिकम्। शुष शोषणे। शुष् न—णत्व, सु।

(3) रस्नम् (= द्रव्य)—रसति शब्दयति। रस शब्दे। रस् न सु।

(296) सुञो दीर्घश्च [3.13]

पद०—सुञः 5.1, दीर्घः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' (उ०सू० 3.6) से 'नः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सुधातोर् नप्रत्ययः स्याद् धातोश्च दीर्घाऽऽदेशो भवति।

व्याख्या—'सुञः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'सुञः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है तथा द्वितीय 'सुञः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को दीर्घ आदेश किया जाता है। अर्थ—सु धातु से परे 'न' प्रत्यय होता है और धातु को दीर्घ आदेश होता है। ह्रस्व, दीर्घ आदि सञ्ज्ञाएँ अच् वर्णों की होती है। अतः धातु के अच् वर्ण (उकार) के स्थान पर दीर्घ आदेश प्राप्त होता है। उकार के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से ऊकार के रूप में दीर्घ आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—यः सुनोति यत्र वेति **सूना,** जन्तुँवधस्थानं वा।

उदा०—(1) सूना (= वधशाला, नदी, पुत्री, करधनी)—यः सुनोति (यत्र वा)। षुञ् अभिषवे। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—सु न—धातु को दीर्घ आदेश—सून टाप्—सूना सु—लोप।

(297) रमेस्त च [3.14]

पद०—रमेः 5.1, त 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' (उ०सू० 3.6) से 'नः' की अनुवृत्ति है।

सं०—रम्धातोर् नप्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'त्' इत्यन्तादेशो भवति।

व्याख्या—'रमेः' धातु की पूर्ववत् आवृत्ति होकर सूत्रार्थ किया जाता है। रम् धातु से परे 'न' प्रत्यय होता है तथा धातु को 'त्' आदेश होता है। तकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'अलोऽन्त्यस्य' से धातु के अन्त्य अल् (म) के स्थान पर 'त्' आदेश होता है। 'त' यह लुप्त प्रथमान्त रूप है। 'त सु' इस दशा में 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्ण०' (पा० 7.1.39) से विभक्ति का लुक् हुआ है।

स्वा०द०वृ०—ण्यन्ताद् रमेर्नप्रत्ययो ऽस्य तश्चादेशः। रमयति हर्षयतीति **रत्नम्। "जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्धि रत्नं प्रचक्षते"**। अश्वरत्नम्, गजरत्नम्, मणिरत्नम्, स्त्रीरत्नम् इत्यादि।

उदा०—(1) रत्नम् (= रत्न, श्रेष्ठ)—रमयति हर्षयति। रमन्तेऽस्मिन्। रमु क्रीडायाम्। रम् णिच् न—णि का लोप—रम् न—'त्' अन्तादेश—रत् न सु—अतोऽम्, अमि पूर्वः।

(298) रास्नासास्नास्थूणावीणाः [3.15]

पद०—रास्नासास्नास्थूणावीणाः 1.3
अनु०—'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' (उ०सू० 3.6) से 'नः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—रास्ना सास्ना स्थूणा वीणा इत्येते शब्दा नप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—'न' प्रत्यय का प्रकरण चल रहा है। रास्ना, सास्ना, स्थूणा तथा वीणा—ये शब्द नप्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—रसति शब्दयतीति **रास्ना,** गन्धद्रव्यं वा। सस्ति स्वपिति यया सा **सास्ना**, गवादीनां कण्ठाधोभागश्चर्म वा। [उभयत्र धातोरुपधाया दीर्घः।] तिष्ठति छादनादिकमनया सा **स्थूणा,** गृहस्तम्भो वा। आकारस्य 'ऊ' आदेशः [णत्वं च प्रत्ययस्य]। वेति व्याप्नोति शब्दोऽस्यां सा **वीणा,** वाद्यविशेषो वा। निपातनाण्णत्वम् [गुणाभावश्च]।

उदा०—(1) रास्ना (= एक ओषधि)—रसति शब्दयति। रस शब्दे। रस् न—स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप्, सवर्णदीर्घ, सु, सुलोप, निपातन से धातु को दीर्घ आदेश। अथवा रा दाने धातु से 'न' प्रत्यय, सुट् आगम, रा स् न टाप्—सु।

(2) सास्ना (= गलकम्बल)—सस्ति स्वपिति यया सा। षस स्वप्ने। धात्वादेः षः सः—सस् न—निपातन से धातु को दीर्घ आदेश, टाप्, सु।

(3) स्थूणा (= स्तम्भ)—तिष्ठति छादनादिकम् अनया। ष्ठा गतिनिवृत्तौ। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—स्ठा—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' से थकार—स्था न—धातु को 'ऊ' अन्तादेश निपातन से—स्थून—णत्व निपातन से, टाप्, सु।

(4) वीणा (= सितार)—वेति व्याप्नोति शब्दोऽस्यां सा। वी गत्यादिषु। वी न—निपातन से णत्व, गुणनिषेध टाप्, सु।

(299) गादाभ्यामिष्णुच् [3.16]

पद०—गादाभ्याम् 5.2, इष्णुच् 1.1
सं०—गै दा इत्येताभ्यां धातुभ्याम् इष्णुच् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—गै तथा दा धातुओं से परे इष्णुच् प्रत्यय होता है। 'च्' अनुबन्ध चिद्लक्षण स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—चितः।

स्वा०द०वृ०—गायति शब्दं करोतीति **गेष्णुः**, गाथको वा। ददातीति **देष्णुः**, दानशीलो वा।

उदा०—(1) गेष्णुः (= गाथक)—गायति। गै शब्दे। गै इष्णुच्—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व—गा इष्णु—'आद् गुणः' से गुण एकादेश, सु।

(2) देष्णुः (= दानशील)—ददातीति। डुदाञ् दाने। दा इष्णुच्—आद् गुणः, सु।

विशेष—दशपादीवृत्तिकार 'इष्णुच्' के स्थान पर 'चेष्णक्' प्रत्यय मानते हैं। द्रष्टव्य—द०वृ० 5.48 'गादाभ्याञ्चेष्णक्'। 'च्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है तथा 'क्' अनुबन्ध आकारलोप के लिए है। यथा—(1) गेष्णः—गै—गा—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आकार आदेश, 'आतो लोप इटि च' (पा० 6.4.64) से आकार-लोप—ग् एष्ण—सु। (2) देष्णः—दा चेष्णक्—द् एष्ण—सु, पूर्ववत्।

(300) कृत्यशूभ्यां क्स्नः [3.17]

पद०—कृत्यशूभ्याम् 5.2, क्स्नः 1.1

सं०—कृत् अश् इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्स्नप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कृत् तथा अश्—इन धातुओं से परे क्स्न प्रत्यय होता है। प्रत्यय के आदि में स्थित ककार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा होती है। 'स्न' शेष रहता है। पेरिसूरि 'स्नक्' प्रत्यय मानते हैं।

स्वा०द०वृ०—कृन्तति स्वल्पमिति **कृत्स्नम्,** सम्पूर्णं वा। अश्नुते व्याप्नोतीति **अक्ष्णम्,** अखण्डं वा।

उदा०—(1) कृत्स्नम् (= सम्पूर्ण)—कृन्तति स्वल्पम्। कृती छेदने। कृत् क्स्न—कृत्स्न सु—अतोऽम्।

(2) अक्ष्णम् (= अखण्ड)—अश्नुते व्याप्नोति। अशूङ् व्याप्तौ। अश् क्स्न—अष् स्न—'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से शकार को षकार—अक् स्न—'षढोः कः सि' से षकार को ककार—अक् ष्न—'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य आदेश—अक्ष्ण—'रषाभ्यां नो णः समा०' से णत्व, सु।

(301) तिजेर्दीर्घश्च [3.18]

पद०—तिजेः 5.1, दीर्घः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कृत्यशूभ्यां क्स्नः' (उ०सू० 3.17) से 'क्स्नः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—तिज्धातोः क्स्नप्रत्ययः स्याद् धातोश्च दीर्घादेशो भवति।

व्याख्या—'तिजेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'तिजेः' पद को

पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है तथा द्वितीय 'तिजेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को दीर्घ आदेश होता है। अर्थ—तिज् धातु से परे क्स्न प्रत्यय होता है तथा धातु को दीर्घ आदेश होता है। दीर्घ आदेश धातु के अच् वर्ण (इकार) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—तितिक्षते तत् **तीक्ष्णम्,** तीव्रम् वा [वा]। वाच्यलिङ्गोऽयं शब्दः। **तीक्ष्णा** बुद्धिः; **तीक्ष्णः** पुरुषः; **तीक्ष्णं** घृतम्।

उदा०—(1) तीक्ष्णम् (= तीव्र)—तितिक्षते तत्। तिज निशाने। तिज् क्स्न—तिज् स्न—धातु को दीर्घ आदेश—तीज् स्न—'चोः कुः' से कुत्व—तीग् स्न—'खरि च' से चर्त्व—तीक् स्न—आदेशप्रत्यययोः—तीक्ष्न—रषाभ्यां नो णः समान०—तीक्ष्ण सु।

(302) शिलषेरच्चोपधायाः [3.19]

पद०—शिलषेः 5.1, अत् 1.1, च—अव्य०, उपधायाः 6.1

अनु०—'कृत्यशूभ्यां क्स्नः' (उ०सू० 3.17) से 'क्स्नः' की अनुवृत्ति है।

सं०—शिलष्धातोः क्स्नप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च य उपधासञ्ज्ञो वर्णस्तस्य स्थाने 'अत्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'शिलषेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'शिलषेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'शिलषेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर इसका 'उपधायाः' पद के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—शिलष् धातु से परे क्स्न प्रत्यय होता है तथा धातु की उपधा में स्थित वर्ण के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है। अत् = ह्रस्व अकार। अत् में तकार उच्चारणार्थ है। 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' से उपधा सञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०— [चात्] क्स्नः। शिलष्यतीति **शलक्ष्णम्,** सुकुमारं वा। त्रिलिङ्गेषु [वाच्यवत्]।

उदा०—(1) शलक्ष्णम् (= सुन्दर, कोमल)—शिलष्यति। शिलष आलिङ्गने। शिलष् क्स्न—शिलष् स्न-धातु की उपधा (इकार) के स्थान पर अकार—शलष् स्न-'षढोः कः सि' से ककार—शलक् स्न—आदेशप्रत्यययोः—शलक् ष् न—रषाभ्यां नो णः समान०, सु, अतोऽम्।

(303) यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् [3.20]

पद०—यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यः 5.3, युच् 1.1

सं०—यज् मन् शुन्ध् दस् जन् इत्येतेभ्यो धातुभ्यो युच् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—यज्, मन्, शुन्ध्, दस् और जन्—इन धातुओं से परे युच् प्रत्यय होता है। 'च्' अनुबन्ध चिद्लक्षण स्वर के लिए है। 'यु' शेष रहता है। 'आयनेयीनीयिय०' से 'यु' के स्थान पर 'अन' आदेश प्राप्त होता है। बाहुलकात् निषेध हो गया है।

स्वा०द०वृ०—यजतीति **यज्युः**, अध्वर्युर्वा। मन्यतेऽसौ **मन्युः**, शोकः क्रोधो वा। शुन्धतीति **शुन्ध्युः**, अग्निर्वा। दस्यति नाशयति परपदार्थानिति **दस्युः**, तस्करो वा। जायते प्रादुर्भवतीति **जन्युः**, शरीरी वा। बाहुलकादनादेशाभावः ॥20॥

उदा०—(1) यज्युः (= अध्वर्यु)—यजतीति। यज देवपूजादिषु। यज् युच्—यज्यु सु। विभक्तिकार्य।

(2) मन्युः (= क्रोध)—मन्यतेऽसौ। मनु अवबोधने। मन् युच् सु।

(3) शुन्ध्युः (= अग्नि, वायु)—शुन्धति। शुन्ध शुद्धौ। शुन्ध् युच् सु।

(4) शुध्युः—शुध् युच्।

(5) दस्युः (= चौर, आततायी)—दस्यति नाशयति। दसु उपक्षये। दस् युच् सु।

(6) जन्युः (= जन्म, अग्नि)—जायते। जनी प्रादुर्भावे। जन् युच्—जन्यु सु।

(304) भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ [3.21]

पद०—भुजिमृङ्भ्याम् 5.2, युक्त्युकौ 1.2

सं०—भृज् मृ इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्रमेण युक्त्युकौ प्रत्ययौ भवतः।

व्याख्या—दो प्रकृतियाँ (भुज् और मृ) हैं तथा दो प्रत्यय (युक् और त्युक्) हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—भुज् और मृ—इन धातुओं से परे युक् और त्युक् प्रत्यय यथासंख्य होते हैं। भाव यह है कि भुज् धातु से युक् तथा मृ धातु से त्युक् प्रत्यय होता है। युक् के 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। शेष 'यु' रहता है 'यु' को 'अन' आदेश बाहुलकात् नहीं होता है। त्युक् के 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'क्' अनुबन्ध गुण के निषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—यो भुनक्ति यत्र वा स **भुज्युः**, पात्रं वा। म्रियत इति **मृत्युः**, शरीरवियोगो वा। स्त्रीलिङ्गः पुँल्लिङ्गश्च।

उदा०—(1) भुज्युः (= पात्र)—भुनक्ति यः (यत्र वा)। भुज पालनाऽभ्यवहारयोः। भुज् युक्—लघूपध गुणनिषेध, अन आदेश का निषेध, सु।

(2) मृत्युः (= मरण)—म्रियत इति। मृङ् प्राणत्यागे। मृ त्युक्—आर्धधातुकलक्षण गुण का निषेध, सु।

(305) स्रतेरयुः [3.22]

पद०—सरतेः 5.1, अयुः 1.1
सं०—सृधातोर् अयुप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—सृ धातु से अयु प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—यः सरति यत्र जलानि वा सरन्ति स **सरयुः,** नदी वा। **अयू** प्रत्यय इति पाठान्तरम्=**सरयूः**।

उदा०—(1) सरयुः (= एक नदी, वायु)—यः सरति (यत्र जलानि सरन्ति)। सृ गतौ अयु—आर्धधातुकलक्षण गुण, उरण् रपरः, सु। क्वचित्क[1] 'अयू' प्रत्यय का विधान दृष्टिगोचर होता है, जो उचित प्रतीत नहीं होता है। 'अप्राणिजातेश्च' (पा० 4.1.66) सूत्रस्थ वार्त्तिक के द्वारा सरयु शब्द से ऊङ् प्रत्यय करके 'अयू' प्रत्यय के बिना भी 'सरयू' शब्द निर्बाध सिद्ध हो जाता है।

(306) पानीविषिभ्यः पः [3.23]

पद०—पानीविषिभ्यः 5.3, पः 1.1
सं०—पा नी विष्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः 'प'प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—पा, नी और विष्—इन धातुओं से परे 'प' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—पान्ति रक्षन्त्यात्मानमस्मादिति **पापम्,** अधर्मो वा; तद्योगात् पापः पुरुषः। नयत ति **नेपः, पुरोहितो वा;** [बाहुलकात् गुणाभावो **नीपः वृक्षविशेषः**]। वेवेष्टि व्याप्नोतीति **वेष्पः**, पेयमुदकं वा।

उदा०—(1) पापम् (= पाप)—पान्ति रक्षन्ति आत्मानम् अस्मात्। पा रक्षणे प—सु।

(2) नीपः (= पुरोहित, एक वृक्ष)—नयतीति। णीञ् प्रापणे—णो नः। नी प सु। बाहुलकात् गुणनिषेध। गुण पक्ष में 'नेपः' बनता है।

(3) वेष्पः (= पेय, जल)—वेवेष्टि व्याप्नोति। विष्लृ व्याप्तौ। विष् प—लघूपध गुण, सु।

(4) वेष्यः—बाहुलकात् य् अन्तादेश होता है।

(307) च्युवः किच्च [3.24]

पद०—च्युवः 5.1, कित् 1.1, च—अव्य०।

---

1. द्रष्टव्य—नारायण भट्ट वृत्ति।

अनु॰—'पानीविषिभ्यः पः' (उ॰सू॰ 3.23) से 'पः' का अनुवर्त्तन है।
सं॰—च्युधातोः 'प'प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—च्यु धातु से 'प' प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है।

स्वा॰द॰वृ॰—च्यवते प्राप्नोति वदति वा येन स **च्युपः**, मुखं वा।

उदा॰—(1) च्युपः (= मुख)—च्यवते प्राप्नोति। च्युङ् गतौ। च्यु प—'सार्वधातुकार्धधातु॰' से गुण प्राप्त, प्रत्यय के कित् होने से गुणनिषेध, सु। दशपादी में 'चुपेः कित्' (7.3) सूत्र प्राप्त होता है। तदनु 'चुप्पम्' उदाहरण है।

(308) स्तुवो दीर्घश्च [3.25]

पद॰—स्तुवः 5.1, दीर्घः 1.1, च—अव्य॰।
अनु॰—'पानीविषिभ्यः पः' (उ॰सू॰ 3.23) से 'पः' का अनुवर्त्तन है।
सं॰—स्तुधातोः 'प'प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च दीर्घादेशो भवति।

व्याख्या—'स्तुवः' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—स्तु धातु से परे 'प' प्रत्यय होता है तथा धातु को दीर्घ आदेश होता है। दीर्घ आदेश धातु में स्थित अच् (उकार) के स्थान पर होता है।

स्वा॰द॰वृ॰—स्तौतीति **स्तूपः**, भूमिसमुच्छ्रायो यज्ञवेदिर्वा।

उदा॰—(1) स्तूपः (= स्तम्भ, यज्ञवेदी)—स्तौति। ष्टुञ् स्तुतौ। ष्टु—स् टु—'धात्वादेः षः सः' से सकार, निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः—स्तु प—धातु को दीर्घ आदेश, सु।

(309) सुशृभ्यां निच्च [3.26]

पद॰—सुशृभ्याम् 5.2, नित् 1.1, च—अव्य॰।
अनु॰—'पानीविषिभ्यः पः' (उ॰सू॰ 3.23) से 'पः' का, 'च्युवः किच्च' (उ॰सू॰ 3.24) से 'कित्' का तथा 'स्तुवो दीर्घश्च' (उ॰सू॰ 3.25) से 'दीर्घः' का अनुवर्त्तन है।
सं॰—सु, शृ इत्येताभ्यां धातुभ्यां 'प' प्रत्ययः स्यात्, स च नित्सञ्ज्ञो भवति।

व्याख्या—सु और शृ—इन धातुओं से परे 'प' प्रत्यय होता है और वह नित्-सञ्ज्ञक व कित् होता है। धातु को दीर्घ आदेश होता है। नित्करण का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—ञ्नित्यादिर्नित्यम्।

स्वा॰द॰वृ॰— [चात्] किद् दीर्घश्च। सुनोति सूयते पच्यते वा स **सूपः**, पक्वं द्विदलान्नं वा। शृणाति हिनस्तीति **शूर्पम्**, मानभेदोऽन्नशोधकं पात्रं वा।

उदा०—(1) सूप: (= दाल, कड़ाहा)—सुनोति। सूयते। षुञ् अभिषवे। 'धात्वादे: ष: स:' से सकार—सु प—धातु को दीर्घ आदेश—सूप सु—प्रत्यय के कित् होने से आर्धधातुकलक्षण गुण न हुआ।

(2) शूर्पम् (= छांज)—शृणाति हिनस्ति। शॄ हिंसायाम्। शॄ प—बाहुलकात् धातु को उत् आदेश, उरण् रपर:—शुर् प—दीर्घ आदेश, सु।

(310) कुयुभ्यां च [3.27]

पद०—कुयुभ्याम् 5.2, च—अव्य०।

अनु०—'पानीविषिभ्य: प:' (उ०सू० 3.23) से 'प:' का, 'च्युव: किच्च' (उ०सू० 3.24) से 'कित्' का, 'सुशृभ्यां निच्च' (उ०सू० 3.26) से 'नित्' का तथा 'स्तुवो दीर्घश्च' (उ०सू० 3.25) से 'दीर्घ:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—कु यु—इत्येताभ्यां धातुभ्यां 'प' प्रत्यय: स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञ: स्याद्, धातोश्च दीर्घादेशो भवति।

व्याख्या—कु और यु—इन धातुओं से परे 'प' प्रत्यय होता है, प्रत्यय नित् व कित् होता है तथा धातु को दीर्घ आदेश होता है। नित् आद्युदात्त स्वर के लिए है तथा कित् गुणनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—कित् दीर्घश्च। कौति शब्दयतीति **कूप:** [उदपानं वा]। यौति मिश्रयतीति **यूप:**, यज्ञशालास्तम्भो वा [चान्नित्]।

उदा०—(1) कूप: (= कुआँ)—कौति शब्दयति। कु शब्दे। कु प—आर्धधातुक गुण का निषेध, धातु को दीर्घ आदेश, सु।

(2) यूप: (=यज्ञशालास्तम्भ)—यौति मिश्रयति। यु मिश्रणाऽमिश्रणयो:। यु प—गुण का निषेध, धातु को दीर्घ आदेश। सु।

(3) सूप:—दशपादी में 'सु' का पाठ अधिक है।

(311) खष्पशिल्पशष्पवाष्परूपपर्पतल्पा: [3.28]

पद०—खष्पशिल्पशष्पवाष्परूपपर्पतल्पा: 1.3

अनु०—'पानीविषिभ्य: प:' (उ०सू० 3.23) से 'प:' का तथा 'सुशृभ्यां निच्च' (उ०सू० 3.26) से 'नित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—खष्प शिल्प शष्प वाष्प रूप पर्प तल्प—इत्येते शब्दा: 'प'प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—'प' प्रत्यय का प्रकरण चल रहा है। अर्थ—खष्प, शिल्प, शष्प, वाष्प, रूप, पर्प और तल्प—ये शब्द 'प'प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—खष्पादयः पप्रत्ययान्ता निपाताः। खनतीति **खष्पः,** क्रोधो बलात्कारो वा। नकारस्य षत्वम्। यत् शीलति समादधाति तत् **शिल्पम्,** कौशलं वा। ह्रस्वादेशः। शस्यते हन्यते [यत्] तत् **शष्पम्,** बालतृणं कान्तिक्षयो वा। षत्वम्। बाधते दुःखयतीति **वाष्पम्,** नेत्रजलम् ऊष्मा वा। धकारस्य षत्वम्। रौति शब्दयतीति **रूपम्,** आकृतिः स्वभावः सौन्दर्यं वा। दीर्घादेशः। पिपर्त्तीति **पर्पम्,** गृहं बालतृणं वा। तलयति प्रतिष्ठां करोतीति **तल्पम्,** शय्या स्त्रियो वा। [णिलोप इडाभावश्च।]

बाहुलकात्—चमति भक्षयतीति **चम्पा,** नगरी वा। पाति रक्षतीति **पम्पा,** नदी वा। ह्रस्वत्वं मुडागमश्च।

उदा०—(1) खष्पः (= क्रोध, हिंसा, साहस)—खनतीति। खनु अवदारणे। खन् प—'ष्' अन्तादेश, सु।

(2) शिल्पम् (= कौशल)—यच् छीलति समादधाति। शील समाधौ। शील् प—धातु को ह्रस्व आदेश, सु।

(3) शष्पम् (= हरी घास)—शस्यते हन्यते यत्। शस हिंसायाम्। शस् प—'ष्' अन्तादेश।

(4) वाष्पम् (= अश्रु, भाप)—बाधते दुःखयति। बाधृ विलोडने। बाध् प—धातु को 'ष्' अन्तादेश, धातु के आदि वर्ण को 'व्' आदेश, सु।

(5) रूपम् (= रूप)—रौति शब्दयति। रु शब्दे। रु प—दीर्घ आदेश, सु।

(6) पर्पम् (= सदन, नई घास)—पिपर्त्तीति। पॄ पूरणे। पॄ प—गुणादेश, रपरत्व, सु।

(7) तल्पम् (= शय्या)—तलयति प्रतिष्ठां करोति। तल प्रतिष्ठायाम्। तल् णि प—णिलोप, इट्निषेध, सु।

(8) चम्पा (= एक नगरी)—चमति भक्षयति। चम् प—बाहुलकात् प्रत्यय, टाप्, सु।

(9) पम्पा (= एक नदी)—पाति रक्षति। पा प—बाहुलकात् प्रत्यय, मुट् आगम, धातु को ह्रस्व आदेश—पम् प—टाप्, सु।

विशेष—सूत्रोक्त कुछ शब्द आद्युदात्त हैं। प्रकृत में 'नित्' की अनुवृत्ति से स्वर की सिद्धि हो जाती है, परन्तु कुछ शब्द अन्तोदात्त हैं। इनकी दशा में बाहुलकात् नित्त्व का निषेध जानना चाहिए। नारायणवृत्ति में 'तर्प' पाठ अधिक है।

(312) स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्यो णेरित्नुच् [3.29]

पद०—स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्य: 5.3, णे: 5.1, इत्नुच् 1.1

सं०—णिच्प्रत्ययान्तेभ्य: स्तनि हर्षि पोषि गदि मदि—इत्येतेभ्यो धातुभ्य इत्नुच् प्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—'णे:' को वचनविपरिणाम से बहुवचनान्त 'णिभ्य:' बना लिया जाता है। 'णि' के द्वारा 'णिच्' का ग्रहण होता है। 'णिच्' प्रत्यय है। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्या:' परिभाषा से 'णिभ्य:' के द्वारा 'णिजन्तेभ्य:' ऐसा अर्थ गृहीत होता है। अर्थ—णिच् प्रत्ययान्त स्तनि, हर्षि, पोषि, गदि और मदि—इन धातुओं से परे इत्नुच् प्रत्यय होता है। इत्नुच् के 'च्' की इत्सञ्ज्ञा है। तब चिद्लक्षण स्वर होता है।

स्वा०द०वृ०—स्तनयति शब्दयतीति **स्तनयित्नुः,** मेघो विद्युद्वा। हर्षयतीति **हर्षयित्नुः,** हर्षयिता सुवर्णं वा। पोषयतीति **पोषयित्नुः,** पोषयिता [वा]। गदयतीति **गदयित्नुः,** वावदूको वा। मदयतीति **मदयित्नुः,** मदिरा वा। अत्र सर्वत्र **'अयामन्ताल्वाय्येत्नु०'** [अ० 6.4.55] इति सूत्रेण णेरयादेश:।

उदा०—(1) स्तनयित्नु: (= बादल, विद्युत्, रोग, मृत्यु)—स्तनयति शब्दयति। स्तन देवशब्दे। स्तन् णिच्—अनुबन्धलोप—स्तनि इत्नुच्—'आर्धधातुकं शेष:' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा—स्तने इत्नु—अय् आदेश, सु।

(2) हर्षयित्नु: (= सोना)—हर्षयतीति। हृषु हर्षे। हृष् णिच्—'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण, उरण् रपर:—हर्षि इत्नुच्—शेष पूर्ववत्।

(3) पोषयित्नु: (= कोयल, पोषक)—पोषयति। पुष पुष्टौ। पुष् णिच्—लघूपध गुण आदि पूर्ववत्।

(4) गदयित्नु: (= वावदूक)—गदयतीति। गद व्यक्तायां वाचि। गद् णिच्—पूर्ववत्। इत्नुच् प्रत्यय के परे रहते सर्वत्र 'अयामन्ताल्वा०' (पा० 6.4.55) से अय् आदेश होता है।

(5) मदयित्नु: (= मदिरा, कामदेव, बादल)—मदयतीति। मदी हर्षे। मद् णिच्—पूर्ववत्।

विशेष—दशपादी वृत्ति (1.140) में 'घुषिगन्धिमण्डिजनिनन्दि' पाठ अधिक है। तदनु—

(1) घोषयित्नु: (= शब्द)—घोषयतीति। घुषिर् अविशब्दने। (2) गन्धयित्नु: (= बलाहक) गन्ध सेचने। गन्धयति। (3) मण्डयित्नु: (= सजाने वाला)—मडि भूषायाम्। मण्डयति। (4) जनयित्नु: (= पिता)—जनी प्रादुर्भावे। जनयति। (5) नन्दयित्नु: (= आनन्द)—टुनदि समृद्धौ। नन्दयति।

(313) कृहनिभ्यां क्त्नुः [3.30]

पद०—कृहनिभ्याम् 5.2, क्त्नुः 1.1

सं०—कृ हन् इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्त्नुप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कृ तथा हन्—इन धातुओं से परे क्त्नु प्रत्यय होता है। 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—करोतीति **कृत्नुः**, शिल्पी वा। यो हन्ति येन वा स **हत्नुः**, व्याधिः शस्त्रं वा। [**'अनुदात्तोपदेश०'** (अ० 6.4.37) इत्यादिना नकारलोपः]।

उदा०—(1) कृत्नुः (= शिल्पी)—(ऋ० 1.4.1, 8.16.3, 8.79.1) करोतीति। डुकृञ् करणे कृणोतीति। कृञ् हिंसायाम्। करतीति। कृञ् करणे। अनुबन्धरहित निर्देश सामान्य के ग्रहण के लिए है। कृ क्त्नु—अनुबन्धलोप—कृत्नु—आर्धधातुकलक्षण गुण प्राप्त, प्रत्यय के कित् होने से गुणनिषेध।

(2) हत्नुः (= रोग, शस्त्र)—(ऋ० 1.25.2) यो हन्ति येन वा हन हिंसागत्योः। हन् क्त्नु—'अनुदात्तोपदेश०' (पा० 6.4.37) से अनुनासिकलोप, सु। दशपादी वृत्ति (1.141) में 'क्नु' प्रत्यय है। नारायण भट्ट और श्वेतवनवासी भी 'क्नु' मानते हैं। उज्ज्वलदत्तादि के अनुसार 'क्त्नु' प्रत्यय है। तदनु—(1) कृणुः, (2) हनुः—बाहुलकात् नकारलोप। यहाँ 'हनु' शब्द अन्तोदात्त है। 'शृस्वृस्निहि०' (उ०सू० 1.10) से व्युत्पन्न 'हनु' शब्द आद्युदात्त होता है।

(314) गमेः सन्वच्च [3.31]

पद०—गमेः 5.1, सन्वत्—अव्य०, च—अव्य०।

अनु०—'कृहनिभ्यां क्त्नुः' (उ०सू० 3.30) से 'क्त्नुः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—गम्धातोः क्त्नु प्रत्ययः स्यात् स च सन्वद् भवति।

व्याख्या—गम् धातु से परे क्त्नु प्रत्यय होता है और वह सन्वत् होता है। तब धातु को द्वित्वादि कार्य होते हैं।

स्वा०द०वृ०—गमयति शरीराणीति **जिगत्नुः**, प्राणो वा।

उदा०—(1) जिगत्नुः (= प्राण, जीवन)—गमयति शरीराणि। गम्लृ गतौ। गम् क्त्नु—धातु को द्वित्व—गम् गम् क्त्नु—पूर्वोऽभ्यासः, हलादिः शेषः—गगम् त्नु—'कुहोश्चुः' से चुत्व—जगम् त्नु—'सन्यतः' से अत् के स्थान पर इकार आदेश—जिगम् त्नु—अनुनासिकलोप, सु।

(315) दाभाभ्यां नुः [3.32]

पद०—दाभाभ्याम् 5.2, नुः 1.1
सं०—दा भा इत्येताभ्यां धातुभ्यां नुप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—दा तथा भा—इन धातुओं से परे 'नु' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—ददातीति **दानुः,** दानशीलो बुद्ध्यादिविचक्षणो वा। भाति दीप्यतेऽसौ **भानुः,** सूर्यः प्रकाशः किरणा वा। **'स्वर्भानुः'** राहुः। **'चित्रभानुः'** सूर्योऽग्निर्वा। **'बृहद्भानुः'** अग्निः।

उदा०—(1) दानुः (= दानशील, बुद्धिमान्)—ददातीति। डुदाञ् दाने। दा नु सु।

(2) भानुः (= सूर्य, प्रकाश)—भाति दीप्यते। भा दीप्तौ। भा नु सु। इसी प्रकार (3) स्वर्भानुः (= राहु)। (4) चित्रभानुः (= सूर्य, अग्नि)। (5) बृहद्भानुः (= अग्नि)। (6) विश्वभानुः (= सूर्य)।

(316) वचेर्गश्च [3.33]

पद०—वचेः 5.1, गः 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'दाभाभ्यां नुः' (उ०सू० 3.32) से 'नुः' की अनुवृत्ति है।
सं०—वच्धातोर् नुप्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'ग्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'वचेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'वचेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'वचेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—वच् धातु से परे नु प्रत्यय होता है तथा धातु को 'ग्' आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से 'ग्' आदेश धातु के अन्त्य अल् (च्) के स्थान पर होता है। गकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—वक्तीति **वग्नुः,** वाचालो वा।

उदा०—(1) वग्नुः (= वाचाल)—वक्तीति। वच परिभाषणे। ब्रवीति। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि। वच् नु—'ग्' अन्तादेश—वग् नु सु।

(317) धेट इच्च [3.34]

पद०—धेटः 5.1, इत् 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'दाभाभ्यां नुः' (उ०सू० 3.32) से 'नुः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—धेधातोर् नुप्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'इत्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'धेटः' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—'धे' धातु से परे 'नु' प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर 'इत्' आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से 'इत्' आदेश धातु के अन्त्य अल् (एकार) के स्थान पर होता है। इत् = ह्रस्व इकार। इत् में तकार उच्चारणार्थ है। इत् आदेश आत्व की निवृत्ति के लिए है। 'आदेच उपदेशेऽशिति' से प्राप्त अकार का बाध होकर इकार आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—धयन्ति पिबन्ति यस्याः सा **धेनुः**, नवप्रसूता गौर्वा॥ [संज्ञायां कन् (अ० 5.3.87) इति] कनि सति धेनुका हस्तिनी वा॥

उदा०—(1) धेनुः (= गाय, पृथ्वी)—धयन्ति पिबन्ति यस्याः सा॥ धेट् पाने॥ धे नु—धि नु—इकार आदेश, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, सु॥

(2) धेनुका (= हस्तिनी)—'सञ्ज्ञायां कन्' (पा० 5.3.87) से कन् होकर स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् होता है।

(318) सुवः कित् [3.35]

पद०—सुवः 5.1, कित् 1.1

अनु०—'दाभाभ्यां नुः' (उ०सू० 3.32) से 'नुः' का अनुवर्तन है॥ सुधातोर् नुप्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः। सु धातु से परे 'नु' प्रत्यय होता है तथा वह कित्-सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध है॥

स्वा०द०वृ०—सूयत उत्पद्यतेऽसौ **सूनुः**, अनुजः पुत्रः सूर्यो वा॥

उदा०—(1) सूनुः (= पुत्र, सूर्य, शिशु)—सूयत उत्पद्यतेऽसौ॥ षु प्रसवैश्वर्ययोः। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—सु नु—आर्धधातुकलक्षण गुण का निषेध, सु॥ दशपादीवृत्ति (1.146) में 'षूङः किच्च' सूत्रपाठ है।

(319) जहातेर्द्वेऽन्त्यलोपश्च [3.36]

पद०—जहातेः 5.1, द्वे 1.2, अन्त्यलोपः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'दाभाभ्यां नुः' (उ०सू० 3.32) से 'नुः' का अनुवर्तन है।

सं०—हाधातोर् नुप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च द्वे भवतः, धातोर् अन्त्यलोपः स्यात्॥

व्याख्या—'जहातेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'जहातेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है तथा द्वितीय 'जहातेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर इसका 'द्वे' तथा 'अन्त्यलोपः' पदों के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—हा धातु से नु प्रत्यय होता है, धातु को द्वित्व होता है तथा धातु के अन्त्य वर्ण का लोप होता है। द्वित्व करने के पश्चात् अभ्यासकार्य होता है। तब धातु के अन्त्य अल् (आकार) का लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—जहाति दोषानीति **जह्नुः**, कश्चिद् राजर्षिर्वा।

उदा०—(1) जह्नुः (= एक राजा)—जहाति दोषान्। ओहाक् त्यागे। हा नु—द्वित्व—हा हानु—'पूर्वोऽभ्यासः' से अभ्यास सञ्ज्ञा, 'ह्रस्वः' से ह्रस्व आदेश—ह हानु—'कुहोश्चुः' से चुत्व—झ हा नु—'अभ्यासे चर्च' से जश्त्व—जहानु—अन्त्य वर्ण का लोप—जह् नु सु।

(320) स्थो णुः [3.37]

पद०—स्थः 5.1, णुः 1.1

सं०—स्थाधातोर् 'णु'प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—स्था धातु से परे 'णु' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—तिष्ठतीति **स्थाणुः**, शुष्कवृक्षो निश्चलो वा।

उदा०—(1) स्थाणुः (= ठूंठ, शंकर, कामी)—तिष्ठतीति। ष्ठा गतिनिवृत्तौ। धात्वादेः षः सः—स्ठा—स्था णु सु।

(321) अजिवृरीभ्यो निच्च [3.38]

पद०—अजिवृरीभ्यः 5.3, नित्—1.1, च—अव्य०।

अनु०—'स्थो णुः' (उ०सू० 3.37) से 'णुः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अज् वृ री—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो णुप्रत्ययः स्यात्, स च नित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—अज्, वृ और री—इन धातुओं से परे णु प्रत्यय होता है और वह नित्सञ्ज्ञक होता है।

स्वा०द०वृ०—अजति गच्छति प्रक्षिपति वा स **वेणुः**, वंशो राजविशेषो वा। व्रियते सम्भजतीति **वर्णुः**, गदो देशभेदो वा। रिणाति गच्छति हिनस्ति हन्यते वा स **रेणुः**, धूलिः [वा]। **'सुरेणुः'** सुवर्णरजः, त्रसरेणुर्वा।

उदा०—(1) वेणुः (= वंश, बंसी)—अजति गच्छति प्रक्षिपति। अज गतिक्षेपणयोः। अज् णु—'अजेर्व्यघञपोः' से 'वी' आदेश। वी णु—आर्धधातुकलक्षण गुण, सु।

(2) वर्णुः (= गद, सूर्य)—व्रियते सम्भजति। वृङ् सम्भक्तौ। वृ णु—आर्धधातुकलक्षण गुण, उरण् रपरः—वर्णु सु।

(3) रेणुः (= धूल, पराग)—रिणाति गच्छति हिनस्ति। री गतिरेषणयोः। री णु—गुण, सु।

(322) विषे: किच्च [3.39]

पद०—विषे: 5.1, कित् 1.1, च—अव्य० ॥

अनु०—'स्थो णु:' (उ०सू० 3.37) से 'णु:' का तथा 'अजिवृरीभ्यो निच्च' (उ०सू० 3.88) से 'नित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—विष्धातोर् णुप्रत्यय: स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञक: नित्सञ्ज्ञकश्च ॥

व्याख्या—विष् धातु से परे णु प्रत्यय होता है और वह कित् व नित् होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन लघूपध गुण का निषेध है॥

स्वा०द०वृ०—[चान्निच्च।] वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगदिति **विष्णु:**, जगदीश्वर:।

उदा०—(1) विष्णु: (= ईश्वर, अग्नि)—वेवेष्टि व्याप्नोति जगत्। विष्लृ व्याप्तौ। विष् णु सु।

(323) कृदाधारार्चिकलिभ्य: क: [3.40]

पद०—कृदाधारार्चिकलिभ्य: 5.3, क: 1.1

सं०—कृ दा धा रा अर्च् कल्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य: कप्रत्यय: स्यात् ॥

व्याख्या—कृ, दा, धा, रा, अर्च् और कल्—इन धातुओं से परे 'क' प्रत्यय होता है। 'लशक्वतद्धिते' से ककार की इत्सञ्ज्ञा प्राप्त होती है। बहुलवचन से निषेध होता है अथवा पूर्वशास्त्र 'विषे: किच्च' (उ०सू० 3.39) से 'कित्' की अनुवृत्ति की जाती है। 'कित्' की अनुवृत्ति के सामर्थ्य से 'क' प्रत्यय के आदि ककार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती है। द्वितीय मत उचित प्रतीत नहीं होता है। 'कित्' के अनुवर्तन में दो दोष उपस्थित होते हैं। यथा—

(क) कृ क—इस दशा में गुण का निषेध प्राप्त होता है, जो इष्ट नहीं है। इसी प्रकार 'अर्क' में गुण प्राप्त न होगा।

(ख) 'दा क' तथा 'धा क' इन दशाओं में प्रत्यय को कित् मान लेने पर 'घुमास्था०' (पा० 6.4.66) से धातु को ईकार आदेश प्राप्त होता है, जो इष्ट नहीं है।

उत्तर सूत्र 'सृवृभू॰॰॰॰कक्' (उ०सू० 3.41) में 'कक्' प्रत्यय को कित्करण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि प्रकृत में 'कित्' का अनुवर्तन नहीं होता है। 'आर्धधातुकं शेष:' से 'क' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—बहुलवचनान्न ककारस्येत्सञ्ज्ञा। करोतीति **कर्क:**, अग्नि:

शुक्लाश्वो दर्पणो घटो वा। ददातीति **दाक:**, यजमानो वा। दधातीति **धाक:**, आधारोऽनड्वान् वा। राति ददातीति **राका**, पौर्णमासी नदीभेदो वा। अर्चयतीति **अर्क:**, अर्कपर्णं स्फटिकं सूर्यो वा। कलते शब्दयतीति **कल्कम्**, दम्भ: किल्विषं वा।

बाहुलकात्—रमतेऽसौ रङ्क:, कृषणो मन्दो वा। **कपिलकादित्वात्** (द्रष्टव्य—अ० 8.2.18 वा०) लत्वे कृते **लङ्का**, दुष्टनगरी वृक्षशाखा पुंश्चली वा।

उदा०—(1) कर्क: (= अग्नि, दर्पण, घड़ा)—करोति। डुकृञ् करणे। कृ क—आर्धधातुकलक्षण गुण, उरण् रपर:—कर्क सु।

(2) दाक: (= यजमान)—ददातीति। डुदाञ् दाने। दा क—सु।

(3) धाक: (= आधार, बैल)—दधातीति। डुधाञ् धारणपोषणयो:। धा क-सु।

(4) राका (= रात्रि, पूर्णिमा, खुजली)—रातीति। रा दाने। रा क—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्—राक टाप्—अक: सवर्णे दीर्घ:। राका सु—अपृक्त सकार का लोप।

(5) अर्क: (= आक का पेड़, सूर्य)—अर्चयतीति। अर्च पूजायाम्। अर्च् क—बहुलवचनात् धातु का अन्त्यलोप—अर्क सु।

(6) कल्क: (= पाप, विष्ठा, पिष्ट)—कलते शब्दयति। कल् क सु। कल शब्दसङ्ख्यानयो:।

(7) रङ्क: (= निर्धन, कृपण)—रमतेऽसौ। बाहुलकात् प्रत्यय। रमु क्रीडायाम्। रम् क—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार—रं क—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण:' से परसवर्ण—रङ्क सु।

(8) लङ्का—इसी प्रकार पा० 8.2.18 वा० से रेफ को लकार आदेश तथा टाप् करके शब्द बनता है।

(324) सृवृभूशुषिमुषिभ्य: कक् [3.41]

पद०—सृवृभूशुषिमुषिभ्य: 5.3, कक् 1.1

सं०—सृ वृ भू शु मुष्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य: कक्प्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—सृ, वृ, भू, शुष् और मुष्—इन धातुओं से परे कक् प्रत्यय होता है। प्रत्यय के अन्त्य 'क्' की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा होती है। प्रत्यय के आदि में स्थित 'क्' की इत्सञ्ज्ञा नहीं है। इसमें प्रत्यय का अन्त्य 'क्' वर्ण का इत्सञ्ज्ञक होना ज्ञापक है।

स्वा०द०वृ०—सरतीति **सृक:**, वाणो वज्रं वायुरुत्पलं वा। वृणोतीति **वृक:**, काक: श्वापदो वा। वृक एव **'वार्केण्य:'**। भवतीति **भूकम्**, छिद्रं कालो वा।

शुष्यतीति **शुष्कः**, नीरसो वा। मुष्यत आद्रियत इति **मुष्कः**, अण्डकोषः सङ्कृतो वा। मुष्कोऽस्यास्तीति **'मुष्करः'**।

बाहुलकाद्—अवति रक्षणहेतुर्भवतीति **ओकः**, राशिः स्थानं वा। मूर्व्यते बध्यतेऽसौ **मूकः**, वचनवर्जितो वा। रेफवकारयोर्लोपः।

उदा०—(1) सृकः (= वाणी, वज्र, पवन)—सरतीति। सृ गतौ। सृ क—'आर्धधातुकं शेषः' से कक् आर्धधातुक है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से आर्धधातुक-लक्षण गुण प्राप्त, प्रत्यय के कित् होने से गुण का निषेध, सु।

(2) वृकः (= भेड़िया, कुत्ता, कव्वा, चोर)—वृणोतीति। वृञ् वरणे। वृ कक्—पूर्ववत्।

(3) वार्केण्यः—'वृक एव' इस अर्थ में 'वृकाट्टेण्यण्' (पा० 5.3.115) से 'टेण्यण्' होता है—वृक टेण्य—चुटू, 'तद्धितेष्वचामादेः' तथा 'उरण् रपरः' से—वार्क एण्य—अकारलोप, सु।

(4) भूकम् (= छेद, गर्त्त, झरना)—भवतीति। भू कक्—पूर्ववत्।

(5) शुष्कः (= सूखा)—शुष्यतीति। शुष शोषणे। शुष् कक्—'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त लघूपध गुण का निषेध, सु।

(6) मुष्कः (= अण्डकोष, चौर)—मुष्यते (आद्रियते)। मुष्णातीति। मुष स्तेये। मुष् कक्—पूर्ववत्।

(7) मुष्करः—मुष्कोऽस्याऽस्तीति। मुष्क र 'ऊषसुषिमुष्कमधो रः' (पा० 5.2.107) से मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय, सु।

(8) ओकः (= राशि, स्थान)—अवति रक्षणहेतुर्भवति। अव् कक्—सम्प्रसारण, वकार को उकार, 'आद् गुणः' से गुण एकादेश, सु। बाहुलकात् प्रत्यय हुआ है।

(9) मूकः (= गूंगा)। मूर्व्यते बध्यतेऽसौ। बाहुलकात् प्रत्यय। मूर्व् कक्—रेफ तथा वकार का लोप, सु।

(325) शुकवल्कोल्काः [3.42]

पद०—शुकवल्कोल्काः।

अनु०—'सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक्' (उ०सू० 3.41) से 'कक्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—शुक वल्क उल्का इत्येते शब्दाः कक्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—कक् का प्रकरण चल रहा है। अर्थ—शुक, वल्क और उल्का—ये शब्द कक् प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—शुकादयः कप्रत्ययान्ता निपाताः। शोभतेऽसौ **शुकः,** पक्षिजातिर्व्यासपुत्रो वा। वलते संवृणोति येन तत् [**वल्कम्**] वल्कलं वा। ओषति दहतीति **उल्का,** विद्युदग्नेर्ज्वाला वा। षकारस्य लत्वम्।

उदा०—(1) शुकः (= तोता)—शोभतेऽसौ। शुभ शोभने। शुभ् कक्—लघूपध गुण का निषेध, निपातन से भकार का लोप, सु।

(2) वल्कम् (= वल्कल)—वलते संवृणोति येन तत्। वल संवरणे। वल् कक्—सु।

(3) उल्का (= ज्वाला)—ओषति दहति। उष दाहे। उष् कक्—धातु के अन्त्य वर्ण के स्थान पर निपातन से लकार—उल्क टाप्—सु।

(326) इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् [3.43]

पद०—इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः 5.3, कन् 1.1

सं०—इ भी कै पा शल् अत् मर्च्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—इ, भी, कै, पा, शल्, अत् और मर्च्—इन धातुओं से परे कन् प्रत्यय होता है। कन् के 'न्' की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा होती है। 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा प्राप्त है। बहुलवचन से इसका निषेध होता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—एति प्राप्नोतीति **एकः**, मुख्योऽन्यः केवलो वा। यो बिभेति यस्माद्वा स **भेकः,** मण्डूको मेघो वा। कायति शब्दयतीति **काकः,** वायसो वा। पिबत्यसाविति **पाकः,** शिशुर्वृद्धो वा। शल्यति गच्छति शल्यते वा तत् **शल्कम्,** वल्कलं वा। अतति निरन्तरं गच्छतीति **अत्कः**, पथिकः शरीरावयवो वा। 'मर्च' इति सौत्रो धातुः। मर्चति चेष्टतेऽसौ **मर्कः,** शरीरवायुर्वा।

बाहुलकात्—श्यतीति **शाकम्,** स्यतीति **साकं** वा।

उदा०—(1) एकः (= मुख्य, केवल)—एति प्राप्नोति। इण् गतौ। इ कन्—'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा, आर्धधातुकलक्षण गुण, सु।

(2) भेकः (= मेंढक, बादल)—यो बिभेति (यस्माद् वा)। ञिभी भये। भी कन्—पूर्ववत् गुण।

(3) काकः (= कव्वा)—कायति शब्दयति। कै शब्दे। कै कन्—'आदेच उपदेशेऽशिति' से ऐकार को आकार—का क सु।

(4) पाकः (= शिशु, वृद्ध)—पिबत्यसौ। पा पाने। पा कन् सु।

(5) शल्कम् (= वल्कल)—शल्यते। शल गतौ। शल् कन्—सु।

(6) अत्कः (= पथिक, शरीर का अवयव)—अतति निरन्तरं गच्छति। अत सातत्यगमने। अत् कन्--सु।

(7) मर्कः (= शरीर-वायु)—मर्चति चेष्टतेऽसौ। मर्च सौत्र धातु से कन्। बाहुलकात् धातु का अन्त्यलोप, सु।

(8) शाकम् (= शाक)—श्यतीति। शो कन्—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व, सु। बाहुलकात् प्रत्यय।

(9) साकम्—स्यतीति—पूर्ववत्।

(10) मेकः—डुमिञ् से बाहुलकात् कनि प्रत्यय, गुण, सु।

(327) नौ हः [3.44]

पद॰—नौ 7.1, हः 5.1

अनु॰—'इण्भी····कन्' (उ॰सू॰ 3.43) से 'कन्' का अनुवर्त्तन है।

सं॰—'नि' इत्युपपदे हाधातोः कन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'नि' शब्द के उपपद रहते हा धातु से परे कन् प्रत्यय होता है।

स्वा॰द॰वृ॰—नितरां जहाति त्यजतीति **निहाका,** गोधिका वा।

उदा॰—(1) निहाका (= गोधिका)—नितरां जहाति त्यजति। नि ओहाक् त्यागे। नि हा क—टाप्।

(328) नौ सदेर्डिच्च [3.45]

पद॰—नौ 7.1, सदेः 5.1, डित् 1.1, च—अव्य॰।

अनु॰—'इण्भी····कन्' (उ॰सू॰ 3.43) से 'कन्' का अनुवर्त्तन है।

सं॰—'नि' इत्युपपदे सद्धातोः कन्प्रत्ययः स्यात्, स च डित्सञ्ज्ञः। डित्त्वाट् टिलोपः।

व्याख्या—'नि' शब्द के उपपद रहते सद् धातु से परे कन् प्रत्यय होता है और वह (प्रत्यय) डित् होता है। प्रत्यय को डित् करने का प्रयोजन धातु की टि का लोप करना है। 'अचोऽन्त्यादि टि' से सद् के 'अद्' अंश की टिसञ्ज्ञा होती है। पूर्वसूत्र से 'नौ' पद की अनुवृत्ति प्राप्त है। अतः प्रकृत में 'नौ' ग्रहण चिन्त्य है।

स्वा॰द॰वृ॰—निषीदतीति **निष्कः,** परिमाणभेदो वा।

उदा०—(1) निष्कः (= एक तोल)—नितरां षीदति । नि षद्लृ विशरणादिषु । 'धात्वादेः षः सः' से सकार—नि सद् कन्—टिलोप—नि स् क—षत्व, सु ।

(329) स्यमेरीट् च [3.46]

पद०—स्यमेः 5.1, ईट् 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'इण्भी·····कन्' (उ०सू० 3.43) से 'कन्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—स्यम्धातो; कन्प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य 'ईट्' आगमो भवति ।

व्याख्या—स्यम् धातु से परे कन् प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को ईट् आगम होता है । ट् की इत्सञ्ज्ञा है । 'आद्यन्तौ टकितौ' से ईट् आगम प्रत्यय का आद्यवयव बनता है ।

स्वा०द०वृ०—स्यमिति शब्दयतीति **स्यमीकः**, वल्मीको वृक्षभेदो वा। चकारादिडागमे **स्यमिकः** ।

उदा०—(1) स्यमीकः (= वल्मीक)—स्यमिति शब्दयति । स्यमु शब्दे । स्यम् ईट् कन्—अनुबन्धलोप ।

(2) स्यमिकः—कुछ व्याख्याकारों के मत में चकार-ग्रहण से इट् आगम भी होता है ।

(330) अजियुधुनीभ्यो दीर्घश्च [3.47]

पद०—अजियुधुनीभ्यः 5.3, दीर्घः 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'इण्भीका·····कन्' (उ०सू० 3.43) से 'कन्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—अज् यु धु नी—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च दीर्घादेशो भवति ।

व्याख्या—अज् यु धु नी—इन धातुओं से परे कन् प्रत्यय होता है तथा धातु को दीर्घ आदेश होता है । यह आदेश धातु के अच् वर्ण के स्थान पर होता है ।

स्वा०द०वृ०—अजति गच्छतीति **वीकः**, वायुः पक्षी वा । यौतीति **यूका**, शिरःकेशजन्तुर्वा । धूनोति कम्पयतीति **धूकः**, वायुर्वा । नयतीति **नीकः**, वृक्षविशेषो वा ।

उदा०—(1) वीकः (= वायु, पक्षी)—अजति गच्छति । अज गतिक्षेपणयोः । अज् कन्—'अजेर्व्यघञपोः' से 'वी' आदेश—वी क—सु ।

(2) यूका (= जूँ)—यौतीति । यु मिश्रणामिश्रणयोः । यु कन्—दीर्घ—यूक टाप्—सु ।

(3) धूकः (= वायु)—धुनोति। धु क—दीर्घ आदेश—सु। धुञ् कम्पने।
(4) नीकः (= एक वृक्ष)—नयतीति। णीञ् प्रापणे। णो नः—नी क सु।

(331) ह्रियो रश्च लो वा [3.48]

पद०—ह्रियः 5.1, रः 6.1, च—अव्य०, लः 1.1, वा—अव्य०।
अनु०—'इण्भीकापाश·····कन्' (उ०सू० 3.43) से 'कन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—ह्रीधातोः कन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च यो रेफस्तस्य स्थाने लकारादेशो भवति।

व्याख्या—'ह्रियः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'ह्रियः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'ह्रियः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर इसका अन्वय 'रः' पद के साथ किया जाता है। अर्थ—ह्री धातु से परे कन् प्रत्यय होता है तथा धातु का जो रेफ, उसके स्थान पर लकार आदेश विकल्प से होता है। लकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—जिह्रेति लज्जां करोतीति **ह्लीका; ह्रीका**, लज्जा वा।

उदा०—(1) ह्रीका (= लज्जा)—जिह्रेति लज्जां करोति। ह्री लज्जायाम्। ह्री कन्—टाप्, सु। लकार आदेश का अभाव है।
(2) ह्लीका—लकार आदेश होकर रूप बनता है।

(332) शकेरुनोन्तोन्त्युनयः [3.49]

पद०—शकेः 5.1, उनोन्तोन्त्युनयः 1.3
सं०—शक्धातोर् उन उन्त उन्ति उनि इत्येते प्रत्ययाः क्रमेण स्युः।

व्याख्या—शक् धातु से परे उन, उन्त, उन्ति तथा उनि ये प्रत्यय क्रमशः होते हैं।

स्वा०द०वृ०—उन, उन्त, उन्ति, उनि इत्येते प्रत्यया भवन्ति। शक्नोतीति **शकुनः; शकुन्तः; शकुन्तिः; शकुनिः**, पक्षिनामानि वा।

उदा०—(1) शकुनः (= एक पक्षी, चील, गीध)—शक्नोतीति। शक्लृ शक्तौ। शक् उन—सु।
(2) शकुन्तः (= नीलकण्ठ पक्षी)—शक् उन्त—सु।
(3) शकुन्तिः (= पक्षी)—शक् उन्ति—सु।
(4) शकुनिः (= पक्षी)—शक् उनि—सु।

(333) भुवो झिच् [3.50]

पद०—भुवः 5.1, झिच् 1.1

सं०—भूधातोर् झिच् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—भू धातु से परे झिच् प्रत्यय होता है। 'च्' अनुबन्ध चिद्लक्षण स्वर के लिए है। 'झोऽन्तः' (पा० 7.1.3) से प्रत्यय के 'झ्' के स्थान पर 'अन्त्' आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—भवन्ति पदार्था यस्मिन् स **भवन्तिः**, वर्तमानकालो वा। कामयतेऽसौ **कुन्तिः**; स्त्रियां **'कुन्ती'**। धातोः कुरादेशः प्रत्ययादिलोपश्च। अवतीति **अवन्तिः**, राजा वा। वदतीति **वदन्तिः**, कोलाहलो वा। **'किंवदन्ती** जनश्रुतिः'। कुन्त्यादयो बाहुलकादेव भवन्ति।

उदा०—(1) भवन्ति (= वर्त्तमान काल)—भवन्ति यस्मिन्। भू सत्तायाम्। भू झिच्—भू अन्त् इ—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण—भो अन्ति—एचोऽयवायावः।

(2) कुन्ती (= एक स्त्री)—कामयतेऽसौ। बाहुलकात् प्रत्यय। कम् झिच्—धातु को 'कु' आदेश—कु अन्ति—कुन्ती—प्रत्यय के आदि वर्ण का लोप, स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप्, सु।

(3) अवन्तिः (= राजा)—अवतीति। अव् झिच्—सु। बाहुलकात् प्रत्यय।

(4) वदन्तिः—वदतीति। वद् झिच्। वद् अन्त् इ। सु।

(5) किंवदन्ती—'कृदिकारादक्तिनः' (पा० 4.1.45 गणसूत्र) से ङीष् होता है।

(334) कन्युच् क्षिपेश्च [3.51]

पद०—कन्युच् 1.1, क्षिपेः 5.1, च—अव्य०।

अनु०—'भुवो झिच्' (उ०सू० 3.50) से 'भुवः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—क्षिप्धातोर् भूधातोश्च कन्युच्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—क्षिप् धातु से तथा भू धातु से कन्युच् प्रत्यय होता है। 'च्' अनुबन्ध चिद्- लक्षण स्वर के लिए है। 'लशक्वतद्धिते' से प्रत्यय के आदि 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुण का निषेध करना है। दशपादी वृत्ति में 'कन्यु' प्रत्यय का विधान है।

स्वा०द०वृ०—चाद् भुवः। क्षिप्यति प्रेरयतीति **क्षिपण्युः**, वसन्त ऋतुर्वा। भवतीति **भुवन्युः**, स्वामी सूर्यो वा।

उदा०—(1) क्षिपण्युः (= वसन्त ऋतु, शरीर)—क्षिप्यति प्रेरयति। क्षिप

प्रेरणे। क्षिप् कन्युच्–अनुबन्धलोप—क्षिप् अन्यु—आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण प्राप्त, गुणनिषेध—क्षिपन्यु—'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व, सु।

(2) भुवन्युः (= स्वामी, सूर्य)—भवतीति। भू कन्युच्—आर्धधातुकलक्षण गुण का निषेध—भू अन्यु—'अचि श्नुधातु०' से उवङ्—भुवङ् अन्यु—भुव् अन्यु सु।

(335) अनुङ् नदेश्च [3.52]

पद०—अनुङ् 1.1, नदेः 5.1, च—अव्य०।

अनु०—'कन्युच् क्षिपेश्च' (उ०सू० 3.51) से 'क्षिपेः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—नद्धातोः क्षिप्धातोश्च अनुङ्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—नद् धातु तथा क्षिप् धातु से अनुङ् प्रत्यय होता है। 'ङ्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'ङ्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—चात् क्षिपेः। नदत्यव्यक्तं शब्दं करोतीति **नदनुः,** मेघो वा। क्षिप्यतीति **क्षिपणुः,** वायुर्वा।

उदा०—(1) नदनुः (= बादल)—नदतीति। णद अव्यक्तशब्दे। णद → नद्-णो नः—नद् अनुङ्—नद नु सु।

(2) क्षिपणुः (= वायु)—क्षिप्यति। क्षिप् अनुङ्—लघूपध गुणनिषेध, सु।

(336) कृवृदारिभ्य उनन् [3.53]

पद०—कृवृदारिभ्यः 5.3, उनन् 1.1

सं०—कृ वृ दॄ—इत्येतेभ्य उनन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कृ, वृ और दारि—इन धातुओं से परे उनन् प्रत्यय होता है। उनन् के 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—ञ्नित्यादिर्नित्यम्। दशपादी वृत्ति में 'तॄ' का अधिक पाठ है, जो उचित नहीं है। अग्रिम सूत्र 'त्रो रश्च लो वा' (उ०सू०3.54) में 'तॄ' का निर्देश है।

स्वा०द०वृ०—किरति विक्षिपति दुर्गुणमिति **करुणः,** वृक्षभेदो वा; **करुणा,** कृपा वा। करुणा श लमस्येति **कारुणिकः।** वृणोति व्रियते वाऽसौ **वरुणः,** उत्तमं जलं वृक्षभेदो वा। दारयति यत् येन वा तत् **दारुणं,** भीषणं वा।

उदा०—(1) करुणा (= दया)—किरति विक्षिपति दुर्गुणान्। कृ विक्षेपे। कृ उनन्—आर्धधातुकलक्षण गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—कर् उन—णत्व टाप्, अजाद्यतष्टाप्, सु, हल्ङ्याब्भ्यो०।

(2) वरुण: (= जल, सूर्य, समुद्र)—वृणोति व्रियते वाऽसौ। वृ वरणे। वृ उनन्—पूर्ववत् गुण—वर् उन—'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व, सु।

(3) दारुण: (= कठोर)—दारयति यो (येन वा)। दॄ विदारणे णिच्। दॄ इ—अनुबन्धलोप, 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि आदेश, 'उरण् रपर:' से रपरत्व—दारि उनन्—दार् उन—णिलोप, णेरनिटि, णत्व, सु।

(337) त्रो रश्च लो वा [3.54]

पद०—त्र: 5.1, र: 6.1, ल: 1.1, वा—अव्य०।

अनु०—'कृवृदारिभ्य उनन्' (उ०सू० 3.53) से 'उनन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—तॄधातोर् उनन् प्रत्यय: स्याद्, धातोश्च यो रेफस्तस्य स्थाने लकारो भवति विकल्पेन।

व्याख्या—'त्र:' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'त्र:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'त्र:' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त बनाकर इसका 'र:' पद के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—तॄ धातु से परे उनन् प्रत्यय होता है तथा धातु का जो रेफ, उसके स्थान पर विकल्प से लकार आदेश होता है। लकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। दशपादीवृत्ति में 'वा' का पाठ नहीं है।

स्वा०द०वृ०—उनन्। तरतीति **तरुण:; तलुन:**, युवा वृक्षभेदो वा। स्त्रियां **गौरादित्वात्** (अ० 4.1.41) ङीष्। **तरुणी; तलुनी** वा युवति:।

उदा०—(1) तरुण: (= युवा)—तरतीति। तॄ प्लवनसन्तरणयो:। तॄ उनन्—'सार्वधातुकार्धधातुक०' से गुण, 'उरण् रपर:' से रपरत्व—तर् उन—'अट्कुप्वाङ्-नुम्०' से णत्व, सु।

(2) तरुणी—'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (पा० 4.1.41) से ङीष् प्रत्यय होता है। तरुण और तलुन का गौरादिगण में पाठ है। महाभाष्य में एक वार्त्तिक प्राप्त होता है—'नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसङ्ख्यानम्'। इससे ङीप् होता है। तरुण ई—अनुबन्धलोप, भसञ्ज्ञा, 'यस्येति च' से अकारलोप, सु, लोप। ङीष् और ङीप् में स्वर का भेद है।

(3) तलुन:—पक्ष में रेफ के स्थान पर लकार हुआ। (4) तलुनी।

(338) क्षुधिपिशिमिथिभ्य: कित् [3.55]

पद०—क्षुधिपिशिमिथिभ्य: 5.3, कित् 1.1

अनु०—'कृवृदारिभ्य उनन्' (उ०सू० 3.53) से 'उनन्' की अनुवृत्ति है।

सं०—क्षुध् पिश् मिथ्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य उनन्प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः ।

व्याख्या—क्षुध्, पिश् और मिथ्—इन धातुओं से परे उनन् प्रत्यय होता है तथा वह कित्सञ्ज्ञक होता है । कित्करण गुणनिषेध के लिए है ।

स्वा०द०वृ०—क्षुध्यति भोक्तुमिच्छतीति **क्षुधुनः,** म्लेच्छजातिर्वा । पिशत्यवयवं करोतीति **पिशुनः,** खलः सूचको वा । मेथति जानाति ज्ञायते हिनस्ति वा तत् **मिथुनम्,** द्वयोः संयोगो राशिर्वा ।

उदा०—(1) क्षुधुनः (= म्लेच्छ जाति)—क्षुध्यति भोक्तुम् इच्छति । क्षुध बुभुक्षायाम् । क्षुध् उनन्—लघूपध गुण प्राप्त, उसका निषेध, सु ।

(2) पिशुनः (= चुगलखोर)—पिशत्यवयवं करोति । पिश अवयवे । पिश् उनन्—सु ।

(3) मिथुनम् (युगल)—मेथति जानाति । मिथ मेधाहिंसनयोः । मिथ् उनन्—पूर्ववत् ।

(339) फलेर्गुक् च [3.56]

पद०—फलेः 5.1, गुक् 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'कृवृदारिभ्य उनन्' (उ०सू० 3.53) से 'उनन्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—फल्धातोर् उनन् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'गुक्' इत्यागमः स्यात् ।

व्याख्या—फल् धातु से परे उनन् प्रत्यय होता है तथा धातु को गुक् आगम होता है । 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है । उकार उच्चारणार्थ है । 'ग्' शेष रहता है ।

स्वा०द०वृ०—फलति निष्पन्नो भवतीति **फल्गुनः,** शुक्लो वा ।

उदा०—(1) फल्गुनः (= शुक्ल)—फलति निष्पन्नो भवति । फल निष्पत्तौ । फल् गुक् उनन्—'आद्यन्तौ टकितौ' से गुक् अन्ताऽवयव बनता है, अनुबन्धलोप—फल् ग् उन सु ।

(340) अशेर्लशश्च [3.57]

पद०—अशेः 5.1, लशः 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'कृवृदारिभ्य उनन्' (उ०सू० 3.53) से 'उनन्' की अनुवृत्ति है ।

सं०—अश्धातोर् उनन् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'लश्' इत्यादेशो भवति ।

व्याख्या—'अशेः' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है । अर्थ—अश्

धातु से परे उनन् प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर 'लश्' आदेश होता है। लश् के शकार में स्थित अकार उच्चारणार्थ है। लश् अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से सर्वादेश होता है।

स्वा०द०वृ०—उनन्। अश्यते भुज्यते यत्तत् **लशुनम्,** औषधरूप: कन्दो वा।

उदा०—(1) लशुनम् (= एक ओषधि)—अश्यते भुज्यते तत्। अश भोजने। अश् उनन्—लशुन सु—अतोऽम्। दशपादीवृत्ति (5.54) में लष् धातु से 'श्' अन्तादेश करके 'लशुन' शब्द सिद्ध किया है। यथा—'लषे: श च'। 'अलोऽन्त्यस्य' से 'श्' अन्तादेश होता है। लष कान्तौ। लष् उनन्—लश् उन । लषति लष्यते वा। कुछ पुस्तकों में 'लपे: श च' पाठ भी प्राप्त होता है।

(341) अर्जेर्णिलुक् च [3.58]

पद०—अर्जे: 5.1, णिलुक् 1.1, च—अव्य०

अनु०—'कृवृदारिभ्य उनन्' (उ०सू० 3.53) से 'उनन्' की अनुवृत्ति है।

सं०—ण्यन्ताद् ऋज्धातोर् उनन् प्रत्यय: स्याद् णेर्लुक् च भवति।

व्याख्या—णिच् प्रत्ययान्त ऋज् धातु (यथा—अर्जि) से उनन् प्रत्यय होता है तथा णिच् प्रत्यय का लुक् होता है। ऋज् णिच्—लघूपध गुण। 'उरण् रपर:' से रपरत्व होकर 'अर्जि' बनता है।

स्वा०द०वृ०—उनन्। अर्जयतीति **अर्जुन:,** शुक्लो मयूरो वृक्षभेदो वा; **अर्जुनी** सौरभेयी।

उदा०—(1) अर्जुन: (= मोर, एक वृक्ष)—अर्जयति। अज् इ उनन्—णिलुक्, सु। 'ऋजु अर्जने' धातु है।

(342) तृणाख्यायां चित् [3.59]

पद०—तृणाख्यायाम् 7.1, चित् 1.1

अनु०—'कृवृदारिभ्य उनन्' (उ०सू० 3.53) से 'उनन्' का तथा 'अर्जेर्णिलुक् च' (उ०सू० 3.58) से 'अर्जे:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—ऋज्धातोर् उनन् प्रत्यय: स्यात् स च चित्सञ्ज्ञक:, तृणाऽभिधेये।

व्याख्या—यदि 'तृण' अर्थ वाच्य हो तो ऋज् धातु से उनन् प्रत्यय होता है और वह चित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को चित् अन्तोदात्त स्वर के लिए किया है। द्रष्टव्य—चित: (पा० 6.1.162)।

स्वा०द०वृ०—अर्जयति यत्तत् **अर्जुनं** तृणम्। चित्करणमन्तोदात्तार्थम् ॥59॥

उदा०—(1) अर्जुनम् (= तृण)—ऋज् उनन्—लघूपध गुण, रपरत्व—अर्जुन सु—अतोऽम्।

(343) अर्त्तेश्च [3.60]

पद०—अर्त्तेः 5.1, च—अव्य०।

अनु०—'कृवृदारिभ्य उनन्' (उ०सू० 3.53) से 'उनन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—ऋधातोर् उनन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—ऋ धातु से उनन् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—ऋच्छति प्राप्नोतीति **अरुणः**, सूर्यः कुष्ठं रक्तं वा।

उदा०—(1) अरुणः (= सूर्य, कोढ, लाल वर्ण)—ऋच्छति प्राप्नोति। ऋ गतौ। ऋ उनन्—अर् उन—आर्धधातुक सञ्ज्ञा, गुण, उरण् रपरः, 'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व, सु।

(344) अजियमिशीङ्भ्यश्च [3.61]

पद०—अजियमिशीङ्भ्यः 5.3, च—अव्य०।

अनु०—'कृवृदारिभ्य उनन्' (उ०सू० 3.53) से 'उनन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अज् यम् शी इत्येतेभ्यो धातुभ्य उनन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—अज्, यम् और शी—इन धातुओं से परे उनन् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—वीयते गम्यतेऽनेति **वयुनम्**, मन्दिरं वा। यच्छतीति **यमुना**, नदीभेदो वा। शेतेऽसौ **शयुनः**, अजगरो वा।

उदा०—(1) वयुनम् (= मन्दिर, ज्ञान)—वीयते गम्यतेऽसौ। अज गतिक्षेपणयोः। अज् उनन्—'अजेर्व्यघञपोः' से वी आदेश—वी उनन्—आर्धधातुकलक्षण गुण—वे उन—'एचोऽयवायावः' से अय् आदेश, सु, अतोऽम्।

(2) यमुना (= एक नदी)—यच्छतीति। यम उपरमे। यम् उनन्—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्, सु, लोप।

(3) शयुनः (= अजगर)—शेतेऽसौ। शीङ् स्वप्ने। शी उनन्—गुण, अय् आदेश पूर्ववत्।

(345) वृतृवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः [3.62]

पद०—वृतृवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः 5.3, सः 1.1

सं॰—वृ तृ वद् वच् वस् हन् कम् कष् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः 'स'प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वृ, तृ, वद्, वच्, वस्, हन्, कम् और कष्—इन धातुओं से परे 'स' प्रत्यय होता है।

स्वा॰द॰वृ॰—वृणोति स्वीकरोतीति **वर्षम्,** संवत्सरो वृष्टिरार्यावर्तो मेघो वा; स्त्रियां बहुवचनान्तो **'वर्षाः'** प्रावृषि ऋतौ। तरति येन यत्र वा स **तर्षः,** [प्लवः] समुद्रो वा। वदतीति **वत्सः,** बालो [वा। वक्त्यस्मिन्निति **वक्षः,**] वक्षःस्थलं वा। [वसत्यस्मिन्निति **वत्सम्,** निवासस्थानं वा।] हन्तीति **हंसः,** निर्लोभः सूर्यः पक्षिभेदोऽश्वभेदः शरीरस्थो वायुर्वा। कामयते परपदार्थानिति **कंसः,** तैजसद्रव्यं पात्रं तस्करो वा। कषति हिनस्तीति **कक्षः,** तृणं लता वनसमीपं बाहुमूलं वा।

बाहुलकात्—राजते दीप्यते सा **राक्षा; लाक्षा** [रञ्जनद्रव्यं वा]। **कपिलकादित्वात्** (अ॰ 8.2.18 वा॰) लत्वम्। यौतीति **योषा,** स्त्री वा।

उदा॰—(1) वर्षम् (= वर्षा, वर्ष)—वृणोति स्वीकरोति। वृञ् वरणे। वृ स—'आर्धधातुकं शेषः' से प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—वर् स—मूर्धन्य आदेश, आदेशप्रत्यययोः से मूर्धन्य आदेश—वर्ष सु—अतोऽम्, अमि पूर्वः।

(2) तर्षः (= समुद्र, प्यासा, सूर्य)—तरति येन (यत्र वा)। तृ प्लवनसन्तरणयोः। तृ स—पूर्ववत्।

(3) वत्सः (= पुत्र, शिशु)—वदतीति। वद व्यक्तायां वाचि। वद् स—'खरि च' से चर्त्व, सु।

(4) वक्षः (= छाती)—वक्त्यस्मिन्निति। वच परिभाषणे। वच् स—'चोः कुः' सु कुत्व—वक् स—'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य आदेश, सु।

(5) वत्सम् (= निवासस्थान, वक्षःस्थल)—वसति यत्र। वस निवासे। वस् स—'सः स्यार्धधातुके' से सकार परे रहते सकार को तकार—वत्स सु—अतोऽम्।

(6) हंसः (= एक पक्षी, सूर्य)—हन्ति गच्छतीति। हन हिंसागत्योः। हन् स—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार, सु।

(7) कंसः (= एक धातु)—कामयते परपदार्थान्। कमु कान्तौ। कम् स—पूर्ववत्, अनुस्वार।

(8) कक्षम् (= बाहुमूल)—कषति हिनस्ति। कष हिंसायाम्। कष् स—'षढोः कः सि' से षकार को ककार—कक् स—'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य आदेश।

(9) राक्षा (= रंगने का पदार्थ)—राजते दीप्यते। राज् स—बाहुलकात् प्रत्यय,

'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से जकार को षकार—राष् स—'षढोः कः सि' से ककार—राक् स—'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य आदेश, स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्—राक्ष टाप्—अनुबन्ध-लोप, सु, लोप।

(10) लाक्षा—कपिलकादि गण में पाठ होने से पक्ष में लत्व होता है।

(11) योषा (= स्त्री)—यौति। यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः। यु स—आर्धधातुक लक्षण गुण, टाप्, सु। दशपादीवृत्ति में 'युमुचि०' पाठ अधिक है। (12) मोक्षः।

(346) प्लुषेरच्चोपधायाः [3.63]

पद०—प्लुषेः 5.1, अत्—1.1, च—अव्य०, उपधायाः 6.1

अनु०—'वृतृ.....सः' (उ०सू० 3.62) से 'सः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—प्लुष्धातोः 'स'प्रत्ययः स्याद्, धातुश्च य उपधासञ्ज्ञको वर्णस्तस्य स्थाने 'अत्' इत्यादेशः स्यात्।

व्याख्या—'प्लुषेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'प्लुषेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'प्लुषेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'उपधायाः' के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—प्लुष् धातु से परे 'स' प्रत्यय होता है तथा धातु की उपधा में स्थित जो वर्ण, उसके स्थान पर 'अत्' आदेश होता है। अत् में तकार उच्चारणार्थ है। अत् = ह्रस्व अकार।

स्वा०द०वृ०—प्लोषति दहतीति **प्लक्षः**, पिप्पलं पर्कटी 'पाकरि' इति प्रसिद्धा, द्वीपभेदो गृहस्य द्वारपार्श्व वा।

उदा०—(1) प्लक्षः (= एक वृक्ष)—प्लोषति दहति। प्लुष दाहे। प्लुष् स—'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' से उकार की उपधा सञ्ज्ञा, अत् आदेश—प्ल् अष् स—'षढोः कः सि' से ककार, 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य आदेश—प्लक् ष सु।

(347) मनेर्दीर्घश्च [3.64]

पद०—मनेः 5.1, दीर्घः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'वृतृवदि.....सः' (उ०सू० 3.62) से 'सः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—मन्धातोः 'स'प्रत्ययः स्याद् धातोश्च दीर्घादेशः स्यात्।

व्याख्या—'मनेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'मनेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'मनेः' पद को षष्ठ्यन्त मानकर धातु को

दीर्घ आदेश किया जाता है। अर्थ—मन् धातु से परे 'स' प्रत्यय होता है तथा मन् धातु के अच् वर्ण के स्थान पर दीर्घ आदेश (आकार) होता है।

स्वा०द०वृ०—मन्यते ज्ञायतेऽनेन तत् **मांसम्,** शरीरोपचयो वा।

उदा०—(1) मांसम् (= मांस)—मन्यते ज्ञायतेऽनेन। मन ज्ञाने। मन् स—दीर्घ आदेश—मान् स—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार, सु, अतोऽम्।

(348) अशेर्देवने [3.65]

पद०—अशेः 5.1, देवने 7.1
अनु०—'वृतृवदि·····सः' (उ०सू० 3.62) से 'सः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—अश्धातोः 'स'प्रत्ययः स्याद्, देवनाऽभिधेये।

व्याख्या—यदि 'देवन' अर्थ वाच्य हो तो अश् धातु से 'स' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—अश्नुते व्याप्नोतीति **अक्षः; अक्षाणि,** इन्द्रियाणि तुषं चक्रं शकटं व्यवहारो वा।

उदा०—(1) अक्षः (= इन्द्रिय, शकट, व्यवहार)—अश्नुते व्याप्नोति। अशूङ् व्याप्तौ। 'अश भोजने' धातु का भी ग्रहण होता है। अश्नाति तैरर्थान् अक्षाः (= पाश)। अश् स—'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से शकार को षकार—अष् स—षढोः कः सि से ककार—अक् स—'आदेशप्रत्ययोः' से मूर्धन्य आदेश, सु।

(349) स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित् [3.66]

पद०—स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः 5.3, कित् 1.1
अनु०—'वृतृवदि·····सः' (उ०सू० 3.62) से 'सः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—स्नु व्रश्च् कृत् ऋष् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः 'स'प्रत्ययः स्यात् स च कित्-सञ्ज्ञः।

व्याख्या—स्नु, व्रश्च्, कृत् और ऋष्—इन धातुओं से परे 'स' प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध तथा सम्प्रसारण कार्य है।

स्वा०द०वृ०—स्नौति प्रस्रवतीति **स्नुषा,** यवीयसो भ्रातुर्भार्या वा। वृश्च्यते छिद्यतेऽसौ **वृक्षः**। **'वृक्ष वरणे'** इत्यस्मादपि अचि प्रत्यये **'वृक्षः'** इति सिध्यति। अर्थभेदायात्र वृश्चिग्रहणम्, तेन छेद्यत्वात् कार्यं जगदपि **'वृक्षः'** उच्यते। कृन्तति छिनत्तीति **कृत्सम्,** उदकम् [वा]। ऋषति गच्छतीति **ऋक्षम्,** नक्षत्रसामान्यं वा।

बाहुलकात्— [आ] समन्तान्मेषति हिनस्तीति **आमिक्षा,** क्षीरविकारो वा। लिश्यतेऽल्पा भवतीति **लिक्षा,** शिरःकेशजन्तुर्वा। रोहति बीजाज्जायतेऽसौ **रुक्षः,** वृक्षजातिः प्रीतिहीनो वा।

उदा०—(1) स्नुषा (= पुत्रवधू)—स्नौति प्रस्रवति। ष्णु प्रस्रवणे। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—स्णु—'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' से णकार को नकार—स्नु स—'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य आदेश—स्नुष टाप्—स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ, सु, लोप।

(2) वृक्षः (= तरु)—वृश्च्यते छिद्यतेऽसौ। ओव्रश्चू छेदने। व्रश्च् स—यहाँ 'स्तोः श्चुना श्चुः' (पा० 8.4.39) से निष्पन्न श्चुत्व (श्) 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (पा० 8.2.29) की दृष्टि में असिद्ध (अर्थात् स्) है, श् का लोप—व्रच् स—'ग्रहिज्यावयि-व्यधिवष्टि०' (पा० 6.1.16) से सम्प्रसारण—व् ऋ अच् स—'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (पा० 6.1.36) से वकार को प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध, 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप—वृच् स—'चोः कुः' (पा० 8.2.30) से कुत्व, 'आदेश-प्रत्यययोः' से मूर्धन्य आदेश—वृक्ष—सु।

(3) कृत्सम् (= जल, समूह)—कृन्तति छिनत्ति। कृती छेदने। कृत् धातु तौदादिक है। कृत् स—सु, विभक्तिकार्य।

(4) ऋक्षम् (= नक्षत्र)—ऋषति गच्छति। ऋष गतौ। ऋष् स—'षढोः कः सि' से ककार—ऋक् स—'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य आदेश—ऋक्ष सु—अमोऽम्।

(5) आमिक्षा (= लस्सी आदि)—आ समन्तात् मेषति हिनस्ति। आ मिष् स—षकार को ककार, सकार को मूर्धन्य आदेश (षकार)—आमिक्ष—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ, सु, लोप। बाहुलकात् प्रत्यय हुआ है।

(6) लिक्षा (= लीख)—लिश्यतेऽल्पा भवति। लिश् स—'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से षकार—लिष् स—'षढोः कः सि' से ककार—लिक् स—मूर्धन्य आदेश—लिक्ष टाप्—पूर्ववत्। बाहुलकात् प्रत्यय।

(7) रुक्षः (= प्रेमशून्य, एक वृक्षजाति)—रोहति बीजात् जायतेऽसौ। रुह बीज-जन्मनि धातु। बाहुलकात् प्रत्यय। रुह् स—'हो ढः' से ढकार—रुढ् स—'षढोः कः सि' से ककार—रुक् ष—'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य आदेश, सु।

(350) ऋषेर्जातौ [3.67]

पद०—ऋषेः 5.1, जातौ 7.1

अनु०—'स्नुव्रश्चि० कित्' (उ०सू० 3.66) से 'कित्' की तथा 'कृतॄवृदि० सः' (उ०सू० 3.62) से 'सः' की अनुवृत्ति है।

सं०—ऋष्धातो: 'स'प्रत्यय: स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञक:, जात्यभिधेये।

व्याख्या—ऋष् धातु से 'स' प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है, यदि 'जाति' वाच्य हो।

स्वा०द०वृ०— [कित्।] ऋषति गच्छतीति **ऋक्ष:,** मृगजातिभेदो भल्लूक: [वा]। पूर्व(3.66)सूत्रेण सिद्धे जातिनियमाद् यौगिके 'ऋष'धातो: सप्रत्ययो वा।

उदा०—(1) ऋक्ष: (= भालू)—ऋषति गच्छति। ऋष गतौ। ऋष् स—ककार, सकार को मूर्धन्य आदेश, सु। प्रत्यय के कित् होने से लघूपध गुण का निषेध हो गया।

(351) उन्दिगुधिकुषिभ्यश्च [3.68]

पद०—उन्दिगुधिकुषिभ्य: 5.3, च—अव्य०।

अनु०—'वृतृवदि.....स:' (उ०सू० 3.62) से 'स:' की तथा 'स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्य: कित्' (उ०सू० 3.66) से 'कित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—उन्द् गुध् कुष्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य: 'स'प्रत्यय: स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञ:।

व्याख्या—उन्द्, गुध् और कुष्—इन धातुओं से परे 'स' प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है।

स्वा०द०वृ०— [कित्।] उनत्ति क्लिद्यतीति **उत्स:,** जलस्रवणस्थानमृषिर्वा। गुध्नाति रोषं करोतीति **गुत्स:,** हारभेद: पुष्पगुम्फो वा। कुष्णाति निष्कर्षतीति **कुक्ष:,** जठरस्थानं वा।

उदा०—(1) उत्स: (= स्रोत)—उनत्ति क्लिद्यति। उन्दी क्लेदने। उन्द् स—अनिदितां हल०। अनुनासिक लोप—उद् स—'खरि च' से चर्त्व, सु।

(2) गुत्स: (= हारविशेष)—गुध्नाति रोषं करोति। गुध रोषे। गुध् स—'खरि च' से चर्त्व—गुत् स—लघूपध गुण का निषेध।

(3) कुक्ष: (= जठरस्थल)—कुष्णाति निष्कर्षति। कुष निष्कर्षे। कुष् स—'षढो: क: सि' से ककार—कुक् स—'आदेशप्रत्यययो:' से षकार, सु।

(4) अंस: (= कन्धा)—दशपादीवृत्ति में 'उन्द्यमिगुधिकृषिभ्य: किच्च' (9.28) पाठ है। पूर्वशास्त्र से 'कित्' का अनुवर्त्तन सुलभ है। अत: दशपादीवृत्तिकार के द्वारा 'कित्' का ग्रहण अनुचित है। अमति। अम्यते। अम गत्यादिषु। अम् स—अनुस्वार, सु। नश्चाऽपदान्तस्य झलि।

(352) गृधिपण्योर्दकौ च [3.69]

पद०—गृधिपण्योः 6.2, दकौ 1.2, च—अव्य०।

अनु०—'वृतॄवदि····सः' (उ०सू० 3.62) से 'सः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—गृध् पण्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां 'स'प्रत्ययः स्याद् धात्वोश्च क्रमेण दकार-ककारौ आदेशौ स्याताम्।

व्याख्या—'गृधिपण्योः' यह षष्ठ्यन्त पद है। विभक्तिविपरिणाम से इसे पञ्चम्यन्त (यथा—गृधिपणिभ्याम्) बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होकर धातु से 'स' प्रत्यय होता है। दो प्रकृतियाँ (यथा—गृध्, पण्) हैं तथा दो ही आदेश (यथा—दकार, ककार) हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' की प्रवृत्ति होकर आदेश यथासंख्य होते हैं। अर्थ—गृध् और पण् धातुओं से परे 'स' प्रत्यय होता है तथा धातुओं के स्थान पर क्रमशः दकार और ककार आदेश होते हैं। भाव यह है कि गृध् धातु को दकार और पण् धातु को ककार आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से यह आदेश धातु के अन्त्य अल् के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—कित्। गृध्यति अभिकाङ्क्षतीति **गृत्सः**, कामो वा। गकारस्य भष्भावनिवृत्त्यर्थो दकारादेशः। पणायति स्तौति व्यवहरति वा येन यत्र वा स **पक्षः**; मासार्द्धः पार्श्वभागः साध्यविरोधः समूहो बलं मित्रसहायो वा।

उदा०—(1) गृत्सः (= काम)—गृध्यति अभिकाङ्क्षति। गृधु अभिकाङ्क्षायाम्। गृध् स—धातु को दकार—गृद् स—'खरि च' से चर्त्व—गृत् स सु। ध्यान देने योग्य यह है कि सकार प्रत्यय परे रहते 'एकाचो बशो भष्०' (पा० 8.2.37) से गकार को घकार प्राप्त होता है। धकार के स्थान पर दकार आदेश करने में झषन्तता के न रहने से भष्भाव नहीं होता है।

(2) पक्षः (= पखवाड़ा)—पणायति व्यवहरति। पण व्यवहारे स्तुतौ च। पण् स—ककार आदेश—पक् स—'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य आदेश—पक्ष सु। दशपादी (9.29) में 'पत्' धातु से 'पक्ष' शब्द व्युत्पन्न किया गया है।

(353) अशेः सरन् [3.70]

पद०—अशेः 5.1, सरन् 1.1

सं०—अश्धातोः सरन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—अश् धातु से सरन् प्रत्यय होता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—अश्नुते व्याप्नोतीति **अक्षरम्,** ब्रह्म वर्णो मोक्ष उदकं वा।

उदा०—(1) अक्षरम् (= वर्ण, ब्रह्म, जल, अन्तरिक्ष)—अश्नुते व्याप्नोति। अशूङ् व्याप्तौ। अश् सरन्—'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से शकार को षकार—अष् सर—'षढोः कः सि' से ककार—अक् सर—'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य आदेश—अक्षर सु—अतोऽम्। 'अक्षर' शब्द 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त है, परन्तु व्यत्यय से मध्योदात्त होता है।

विशेष—दशपादी में (8.50) में अश् के द्वारा अशूङ् व्याप्तौ तथा अश भोजने—इन दोनों धातुओं का ग्रहण किया गया है। अश्नाति।

(354) वसेश्च [3.71]

पद०—वसेः 5.1, च—अव्य०।

अनु०—'अशेः सरन्' (उ०सू० 3.70) से 'सरन्' की अनुवृत्ति है।

सं०—वस्धातोः सरन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वस् धातु से सरन् प्रत्यय होता हैं।

स्वा०द०वृ०—वसन्त्यस्मिन्निति **वत्सरः,** वर्षो वा।

उदा०—(1) वत्सरः (= वर्ष)—वसन्त्यस्मिन्। वस निवासे। वस् सरन्—'सः स्यार्धधातुके' से सकार परे रहते सकार को तकार—वत्सर सु—अतोऽम्।

(355) सम्पूर्वाच्चित् [3.72]

पद०—सम्पूर्वात् 5.1, चित् 1.1

अनु०—'वसेश्च' (उ०सू० 3.71) से 'वसेः' का तथा 'अशेः सरन्' (उ०सू० 3.70) से 'सरन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सम्पूर्वकात् वस्धातोः सरन्प्रत्ययः स्यात्, स च चित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—सम्पूर्वक वस् धातु से परे सरन् प्रत्यय होता है और वह चित्-सञ्ज्ञक होता है। 'चितः' (पा० 6.1.161) से अन्तोदात्त स्वर होता है। दशपादी (8.52) में 'सपूर्वाच्चित्' पाठ प्राप्त होता है, जो अधिक उचित प्रतीत होता है। सह पूर्वेण वर्त्तत इति सपूर्वः। तदनु—(1) परिवत्सरः, (2) विवत्सरः, (3) इद्वत्सरः, (4) इदावत्सरः इत्यादि प्रयोग साधु हैं।

स्वा०द०वृ०—चित्त्वादन्तोदात्तस्वरः। सम्यग्वसन्त्यत्र स **संवत्सरः**।

उदा०—(1) संवत्सरः (वर्ष)—सम्यग् वसन्त्यत्र। सम् वस् सरन्—पूर्ववत् तकार आदेश—सम् वत्सर—'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार, सु।

(356) कृधूमदिभ्यः कित् [3.73]

पद०—कृधूमदिभ्यः 5.3, कित् 1.1
अनु०—'अशेः सरन्' (उ०सू० 3.70) से 'सरन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—कृ धू मद् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः सरन् प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—कृ, धू और मद्—इन धातुओं से परे सरन् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध है।

स्वा०द०वृ०—यः करोति क्रियते वा स **कृसरः,** तिलौदनं मिश्रं वा। धूनोतीति **धूसरः,** ईषत्पाण्डुरो वा। माद्यतीति **मत्सरः,** असह्यपरसम्पत्तिर्जनः कृपणः क्रुद्धो वा; **'मत्सरा'** मक्षिका वा।

उदा०—(1) कृसरः (= तिलौदन)—यः करोति क्रियते वा। डुकृञ् सरन्—कृसर—सु। प्राप्त मूर्धन्य आदेश का बाहुलकात् निषेध।
(2) धूसरः (= गधा, ऊँट, कबूतर)—धूनोति। धूञ् कम्पने। धू सरन्—सु। पूर्ववत् मूर्धन्य आदेश का अभाव है।
(3) मत्सरः (= कृपण, दुष्ट, मच्छर)—माद्यति। मदी हर्षे। मद् सरन्—'खरि च' से चर्त्व, सु।
(4) मत्सरा (= मक्खी)—टाप्, सु आदि।

(357) पते रश्च लः [3.74]

पद०—पतेः 5.1, रः 6.1, च—अव्य०, लः 1.1
अनु०—'अशेः सरन्' (उ०सू० 3.70) से 'सरन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—पत्धातोः सरन्प्रत्ययः स्याद्, प्रत्ययस्य यो रेफस्तस्य स्थाने 'ल्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'रः' पद का 'प्रत्ययस्य' के साथ अन्वय है। अर्थ—पत् धातु से परे सरन् प्रत्यय होता है और प्रत्यय का जो रेफ, उसके स्थान पर लकार आदेश होता है। लकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—पतन्ति गच्छन्ति यत्र स **पत्सलः,** पन्था वा।

उदा०—(1) पत्सलः (= मार्ग)—पतन्ति गच्छन्ति यत्र। पत्ऌ गतौ। पत् सरन्—पत्सर—पत्सल सु।

(358) तन्यृषिभ्यां क्सरन् [3.75]

पद०—तन्यृषिभ्याम् 5.2, क्सरन् 1.1

सं०—तन् ऋष् इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्सरन् प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—तन् और ऋष्—इन धातुओं से परे क्सरन् प्रत्यय होता है। 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से तथा 'न्' की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा होती है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है तथा 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—तनोतीति **तसरः**, सूत्रवेष्टनो वा। ऋषति प्राप्नोति वा स **ऋक्षरः**, ऋत्विग्वा।

उदा०—(1) तसरः (= सूत्रवेष्टन)—तनोति। तनु विस्तारे। तन् क्सरन्—अनुबन्धलोप—तन् सर—अनुनासिकलोप, सु।

(2) ऋक्षरः (= ऋत्विज, काँटा)—ऋषति प्राप्नोति। ऋष गतौ। ऋष् क्सरन्—लघूपध गुण का निषेध, ऋष् सर—'षढोः कः सि' से ककार—ऋक् सर—'आदेशप्रत्यययोः' से षकार। ऋक् षर सु।

(359) पीयुक्वणिभ्यां कालन् ह्रस्वं सम्प्रसारणं च [3.76]

पद०—पीयुक्वणिभ्याम् 5.2, कालन् 1.1, ह्रस्वम् 1.1, सम्प्रसारणम् 1.1, च—अव्य०।

सं०—पीय् क्वण् इत्येताभ्यां धातुभ्यां कालन् प्रत्ययः स्यात्, पीय्धातोर् ह्रस्वाऽऽदेशः, क्वण्धातोश्च सम्प्रसारणं स्यात्।

व्याख्या—दो प्रकृतियाँ (यथा—पीय्, क्वण्) हैं तथा दो कार्य (यथा—ह्रस्वम्, सम्प्रसारणम्) हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' की प्रवृत्ति होकर दोनों कार्य क्रमशः होते हैं। अर्थ—पीय् तथा क्वण् धातुओं से परे कालन् प्रत्यय होता है तथा दोनों धातुओं को क्रमशः ह्रस्वादेश तथा सम्प्रसारण होते हैं। भाव यह है कि पीय् धातु के अच् को ह्रस्वादेश तथा क्वण् धातु को सम्प्रसारण होता है। ईकार के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' की सहायता से इकार ह्रस्वादेश होता है। 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से क्वण् धातु के यण् वर्ण (वकार) के स्थान पर इक् (उकार) होता है। क्वण्—क उ अण्—'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप। कुण्। कालन् के क् और न् की इत्सञ्ज्ञा है। आल शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—'पीयुः' सौत्रो धातुः। पीयति तर्पयतीति **पियालः**, वृक्षभेदो वा, 'चिरोंजी' इति प्रसिद्धा। क्वणति शब्दं करोतीति **कुणालः**, देशभेदो वा।

बाहुलकात्—भजतीति **भगालम्**, नरमस्तकं वा। कुत्वं च।

उदा०—(1) पियालः (= चिरौंजी)—पीयति तर्पयति। पीयु तर्पणे सौत्र धातु।

पीय् कालन्—अनुबन्ध लोप। पीय् आल—ह्रस्व आदेश—पिय् आल सु। लघूपध गुण का निषेध।

(2) कुणालः (= देशभेद)—क्वणति शब्दं करोति। क्वण् शब्दे। क्वण् कालन्—क्वण् आल—सम्प्रसारण—कुण् आल—सु।

(3) भगालम् (= नरमस्तक)—भजतीति। भज् धातु से बाहुलकात् कालन्। भज् आल—बाहुलकात् धातु को कुत्व—भगाल सु—अतोऽम्।

विशेष—प्रत्यय को कित् करने के दो प्रयोजन होते हैं—गुणनिषेध (द्रष्टव्य—पुगन्तलघूपधस्य च, सार्वधातुकार्धधातुकयोः) तथा अनुनासिक लोप (द्रष्टव्य—अनिदितां हल उपधाया०)। अनुनासिक लोप यहाँ सम्भव नहीं है। पीय् धातु को ह्रस्वादेश विधान सामर्थ्य से लघूपध गुण नहीं होता है। क्वण् धातु की दशा में गुण सम्भव नहीं है। अतः गुण का निषेध व्यर्थ है। इस प्रकार प्रकृत में 'क्' अनुबन्ध का निर्देश चिन्त्य है। कुणाल शब्द की 'तिमिविडि' (द०पा० 8.115) से सिद्धि होने पर भी पुनः विधान स्वर के लिए है।

(360) कठिकुषिभ्यां काकुः [3.77]

पद०—कठिकुषिभ्याम् 5.2, काकुः 1.1

सं०—कठ् कुष्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां काकुप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कठ् तथा कुष्—इन धातुओं से परे काकु प्रत्यय होता है। काकु के आदि में स्थित ककार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा। आकु शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—कठतीति **कठाकुः**, पक्षी वा। कषति हिनस्तीति **कषाकुः**, अग्निः सूर्यो वा।

उदा०—(1) कठाकुः (= पक्षी)—कठतीति। कठ कृच्छ्रजीवने। कठ् काकु—सु।

(2) कषाकुः (= अग्नि, सूर्य)—कषति हिनस्ति। कष् काकु—सु।

(3) कुषाकुः—कुष् काकु—सु। दशपादी (1.150) में 'कठ्' के स्थान पर 'कुड्' धातु का पाठ है। द्रष्टव्य—'कुडिकुषिभ्यां काकुः'। तदनु—(4) कुडाकुः।

(361) सर्त्तेर्दुक् च [3.78]

पद०—सर्त्तेः 5.1, दुक् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कठिकुषिभ्यां काकुः' (उ०सू० 3.77) से 'काकुः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सृधातोः काकुप्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'दुक्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—सृ धातु से परे काकु प्रत्यय होता है तथा धातु को दुक् आगम होता है। दुक् के 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है, उकार उच्चारणार्थ है। 'द्' शेष रहता है। आगम के कित् होने से यह 'आद्यन्तौ टकितौ' से धातु का अन्ताऽवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—सरतीति **सृदाकुः,** वायुर्वा; सरन्त्यापोऽस्यामिति **सृदाकुः,** नदी [वा]।

उदा०—(1) सृदाकुः (= नदी, वायु, मृग, अग्नि)—सरतीति। सृ गतौ। सृ दुक् काकु—अनुबन्धलोप, सु। दशपादी में 'मुक्' आगम किया है। (2) सृमाकुः।

(362) वृतेर्वृद्धिश्च [3.79]

पद०—वृतेः 5.1, वृद्धिः 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'कठिकुषिभ्यां काकुः' (उ०सू० 3.77) से 'काकुः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—'वृत्' धातोः काकुप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च वृद्धिरादेशः स्यात्।

व्याख्या—'वृतेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'वृतेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'वृतेः' पद को षष्ठ्यन्त मानकर धातु को वृद्धि आदेश किया जाता है। अर्थ—वृत् धातु से काकु प्रत्यय होता है तथा धातु को वृद्धि आदेश होता है। 'इको गुणवृद्धी' परिभाषा सूत्र से यह वृद्धि आदेश धातु के इक् वर्ण (ऋकार) के स्थान पर होता है। 'उरण् रपरः' से रपरत्व (आर्) होता है।

स्वा०द०वृ०—वर्त्ततेऽसौ **वार्त्ताकुः,** 'वृन्ताक' इति प्रसिद्धम्। बाहुलकादुकारस्य अ, ई भवतः। **वार्त्ताकम्; वार्त्ताकी,** हिङ्गुली वा।

उदा०—(1) वार्त्ताकुः (= हिंगुली)—वर्त्ततेऽसौ। वृतु वर्त्तने। वृत् काकु—वृत् आकु—वृद्धि। वार्त् आकु। 'अचो रहाभ्यां०' से द्वित्व, सु।

(2) वार्त्ताकम्—बाहुलकात् प्रत्यय के उकार के स्थान पर अकार होता है। वृत् काकु—वृत् आक—वार्त् आक—द्वित्व, सु, अतोऽम्।

(3) वार्त्ताकी—बाहुलकात् प्रत्यय के उकार के स्थान पर ईकार—वृत् काकु—वृत् आकी—वार्त् आकी—तकार को द्वित्व—वार्त्ताकी सु—सुलोप।

(363) पर्देर्नित् सम्प्रसारणमलोपश्च [3.80]

पद०—पर्देः 5.1, नित् 1.1, सम्प्रसारणम् 1.1, अलोपः 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'कठिकुषिभ्यां काकुः' (उ०सू० 3.77) से 'काकुः' की अनुवृत्ति है।
सं०—पर्द्धातोः काकुप्रत्ययः स्यात्, स च नित्सञ्ज्ञः, धातोश्च सम्प्रसारणं, तस्य अकारस्य लोपश्च स्यात्।

व्याख्या—'पर्दे:' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'पर्दे:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'पर्दे:' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर सम्प्रसारण और अकारलोप किया जाता है। 'अलोप:' में नञ् समास नहीं है, अपितु षष्ठीतत्पुरुष (यथा—अकारस्य लोप:) है। अर्थ—पर्द् धातु से परे काकु प्रत्यय होता है और वह नित् होता है। धातु को सम्प्रसारण और अकारलोप होता है। 'इग्यण: सम्प्रसारणम्' से पर्द् धातु के यण् (रेफ) वर्ण के स्थान पर इक् वर्ण (ऋकार) होता है।

स्वा०द०वृ०—पर्दते कुत्सितं शब्दं करोतीति **पृदाकुः,** व्याघ्रः सर्पो वा।

उदा०—(1) पृदाकु: (= बाघ, सर्प, बिच्छू, वृक्ष)—पर्दते कुत्सितं शब्दं करोति। पर्द कुत्सिते शब्दे। पर्द् काकु—पर्द् आकु—सम्प्रसारण—प ऋ दाकु—अकारलोप—पृदाकु सु। प्रत्यय को नित् आद्युदात्त स्वर के लिए किया गया है।

(364) सृयुवचिभ्योऽन्युजागूजक्नुचः [3.81]

पद०—सृयुवचिभ्य: 5.3, अन्युजागूजक्नुच: 1.3

सं०—सृ यु वच्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य: अन्युच् आगूच् अक्नुच् इत्येते प्रत्यया: क्रमेण स्यु:।

व्याख्या—तीन प्रकृतियाँ (यथा—सृ, यु, वच्) हैं तथा तीन प्रत्यय (यथा—अन्युच्, आगूच्, अक्नुच्) हैं। 'यथासङ्ख्यनमनुदेश: समानाम्' से क्रमेण कार्य होते हैं। अर्थ—सृ, यु, वच्—इन धातुओं से परे क्रमश: अन्युच्, आगूच् और अक्नुच् प्रत्यय होते हैं। 'च्' अनुबन्ध चिद्‌लक्षण स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—सरतीति **सरण्युः,** मेघो वायुर्वा। यौति मिश्रयतीति **यवागूः,** दुग्धे पक्वयवचूर्णं वा। वक्तीति **वचक्नुः,** वाचाल: प्राज्ञो वा।

उदा०—(1) सरण्यु: (= बादल, वायु, जल, अग्नि)—सरतीति। सृ गतौ। सृ अन्युच्—सृ अन्यु—'आर्धधातुकं शेष:' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, 'उरण् रपर:' से रपरत्व—सर् अन्यु—'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व, सु।

(2) यवागू: (= दूध में पकाया सत्तू)—यौति। यु मिश्रणाऽमिश्रणयो:। यु आगूच्—आर्धधातुकं शेष:, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण—यो आगू—एचोऽयवायाव: से अव्—यवागू सु।

(3) वचक्नु: (= वाचाल, बुद्धिमान्)—शोभनं वक्तीति। वच परिभाषणे। वच् अक्नुच्—सु।

(365) आनकः शीङ्भियः [3.82]

पद०—आनकः 1.1, शीङ्भियः 5.1

सं०—शी भी इत्येताभ्यां धातुभ्याम् आनकप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—शी तथा भी—इन धातुओं से परे आनक प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—शेतेऽसौ **शयानकः,** अजगरो वा। बिभेत्यस्मादिति **भयानकः,** भयप्रदः [वा]।

उदा०—(1) शयानकः (= अजगर)—शेत इति। शीङ् स्वप्ने। शी आनक—आर्धधातुक सञ्ज्ञा, गुण, अय् आदेश—शय् आनक सु।

(2) भयानकः (= डरावना, राहु)—बिभेत्यस्मात्। ञिभी भये। भी आनक—पूर्ववत्।

(366) आणको लूधूशिङ्घिधाञ्भ्यः [3.83]

पद०—आणकः 1.1, लूधूशिङ्घिधाञ्भ्यः 5.3

सं०—लू धू शिङ्घ् धा—इत्येतेभ्यो धातुभ्य आणकप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—लू, धू, शिङ्घ् तथा धा—इन धातुओं से परे आणक प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—लुनाति येन तत् **लवाणकम्,** दात्रं वा। धूनोतीति **धवाणकः,** वायुर्वा। शिङ्घति समन्ताज्जिघ्रतीति **शिङ्घाणकः,** श्लेष्मा वा।

बाहुलकात्—ककारलोपे **शिङ्घाणम्,** काचपात्रं लोहनासिकयोर्मलं वा। दधाति धीयते वा स **धाणकः,** व्यवहारयोग्यद्रव्यंभागो वा।

उदा० (1) लवाणकः (= दात्र)—लुनाति येन तत्। लूञ् छेदने। लू आणक—आर्धधातुक लक्षण गुण—लो आणक—अव् आदेश, सु।

(2) धवाणकः (= वायु)—धूनोति। धूञ् कम्पने। धू आणक—पूर्ववत् गुण, अव् आदेश—धव् आणक सु।

(3) शिङ्घाणकः (= नाक का मैल)—शिङ्घति समन्ताद् जिघ्रति। शिघि आघ्राणे। इदितो नुम् धातोः, नश्चाऽपदान्तस्य झलि, अनुस्वारस्य ययि०—शिङ्घ् आणक सु।

(4) धाणकः (= व्यावहारिक पदार्थ भाग)—दधातीति। डुधाञ् धारण-पोषणयोः। धा आणक—सु। बाहुलकात् नत्व होकर 'धानक' शब्द भी बनता है।

(367) उल्मुकदर्विहोमिनः [3.84]

पद०—उल्मुकदर्विहोमिनः 1.3

सं०—उल्मुक दर्विन् होमिन् इत्येते शब्दा निपात्यन्ते।

व्याख्या—उल्मुक, दर्विन् और होमिन्—ये शब्द निपातन से सिद्ध हैं।

स्वा०द०वृ०—ओषति दहतीति **उल्मुकम्,** ज्वलदङ्गारो वा। मुक्प्रत्ययो धातोः षकारस्य लत्वम्। दृणाति विदारयति येन स **दर्विः,** परिवेषणपात्रं वा। विन्-प्रत्ययः। जुहोतीति **होमी,** यजमानो वा। अत्र मिन्प्रत्ययः।

उदा०—(1) उल्मुकम् (= जलता हुआ अंगार)—ओषति दहति। उष दाहे। उष् मुक—निपातन से मुक प्रत्यय तथा धातु को लकार अन्तादेश, गुणनिषेध—उल्मुक सु।

(2) दर्वी (= परिवेषणपात्र)—दृणाति विदारयति येन। दॄ विदारणे। दॄ विन्—निपातन से विन् प्रत्यय, गुण, रपरत्व—दर् विन् सु—विभक्तिकार्य। दशपादी में इकारान्त 'दर्वि' शब्द व्युत्पादित है। यथा—दॄ भये धातु से 'वि' प्रत्यय, गुण, रपरत्व, सु।

(3) होमी (= यजमान)—जुहोतीति। हु दानाऽऽदानयोः। हु मिन्—गुण, सु।

(368) ह्रियः कुग् रश्च लो वा [3.85]

पद०—ह्रियः 5.1, कुक् 1.1, रः 6.1, च—अव्य०, लः 1.1, वा—अव्य०।

सं०—ह्रीधातोः कुक्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च यो रेफस्तस्य स्थाने विकल्पेन लकारादेशः स्यात्।

व्याख्या—'ह्रियः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'ह्रियः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'ह्रियः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'रः' पद के साथ अन्वय किया जाता है। लकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। अर्थ—ह्री धातु से परे कुक् प्रत्यय होता है और धातु में स्थित रेफ के स्थान पर लकार आदेश विकल्प से होता है। कुक् के अन्त्य ककार की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—जिह्रेति लज्जां करोतीति **ह्लीकुः** लज्जावान्। **ह्रीकुः,** जतुत्रपुणी लाक्षादिर्वा।

उदा०—(1) ह्लीकुः (= शर्मीला, लाख धातु)—जिह्रेति। ह्री लज्जायाम्। ह्री कुक्—लकार आदेश—ह्ली कु सु।

(2) ह्लीकुः—लकार आदेश का अभाव।

(369) हसिमृग्रिण्वाऽमिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन् [3.86]

पद०—हसिमृग्रिण्वाऽमिदमिलूपूधूर्विभ्यः 5.3, तन् 1.1

सं०—हस् मृ गृ इण् वा अम् दम् लू पू धूर्व्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—हस्, मृ, गृ, इ, वा, अम्, दम्, लू, पू और धूर्व्—इन धातुओं से परे तन् प्रत्यय होता है। तन् के 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। ञ्नित्यादिर्नित्यम्।

स्वा०द०वृ०—हसतीति **हस्तः,** नक्षत्रं करो वा। हस्तोऽस्यास्तीति **'हस्ती'**। म्रियतेऽसौ **मर्त्तः,** मनुष्यो वा। मर्त्त एव **'मर्त्यः'** स्वार्थे यत्। गिरति निगलति स **गर्त्तः**, अवटः पतनस्थानं वा। एति प्राप्नोति यं स **एतः**, विचित्रवर्णो वा; स्त्रियां—**एनी; एता।** वातीति **वातः** वायुर्व्याधिर्वा। अमति गच्छतीति **अन्तः,** नाशः समीपं तत्त्वस्वरूपं मनोहरं वा। दाम्यत्युपशाम्यति यो येन वा स **दन्तः**, दशनो वा। शोभना दन्ता यस्याः सा **'सुदती'** युवतिः। **'दन्तावलो'** हस्ती। **दन्तुरः** [उन्नतदन्तः]। लुनातीति **लोतः**, अश्रुचिह्नं वा। पुनातीति **पोतः**, बालो वहित्रो वा। धूर्वतीति **धूर्त्तः** शठो लवणं धत्तूरं वा।

बाहुलकात्—तोसति शब्दयतीति **तूस्तम्,** पापं जटा वा। तूस्तं करोति **तूस्तयति**। छ्यति छिनत्तीति **छातः**, दुर्बलो वा। अभितो म्लायतीति **अभिम्लातः**, हर्षक्षीणो वा।

उदा०—(1) हस्तः (= हाथ, एक नक्षत्र)—हसतीति। हस हसने। हस् तन्—सु।

(2) मर्त्तः (= मनुष्य, भूलोक)—म्रियतेऽसौ। मृङ् प्राणत्यागे। मृ तन्—सार्वधातुकार्धधातुक०, उरण् रपरः, मर्त—अचो रहाभ्यां द्वे—मर्त्त सु। मर्त्त एव—स्वार्थ में यत्—मर्त्य सु।

(3) गर्त्तः (= छेद, खोडर)—गिरति निगलति। गॄ निगरणे। गॄ तन्—पूर्ववत्।

(4) एतः (= एक मृग)—एतीति। इण् गतौ। इ तन्—गुण। स्त्रीत्व में—एता, एनी। 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्०' (पा० 4.1.39) से विभाषया ङीष् व तकार को नकार।

(5) वातः (= वायु)—वातीति। वा गतिगन्धनयोः। वा तन्—सु।

(6) अन्तः (= अन्त)—अमति गच्छति। अम गतौ। अम् तन्—नश्चाऽपदान्तस्य झलि, अनुस्वारस्य ययि०, सु।

(7) दन्तः (= दाँत)—दाम्यत्युपशाम्यति यो (येन वा)। दमु उपशमे। पूर्ववत्। शोभना दन्ता यस्याः सा।

(8) सुदती। (9) दन्तावली (= हाथी)। (10) दन्तुरः (= ऊँचे दाँतों वाला)।

(11) लोतः (= आँसू)—लुनातीति। लूञ् छेदने। लू तन्—गुण, सु।

(12) पोतः (= बच्चा)—पुनातीति। पूञ् पवने। पू तन्—पूर्ववत्।

(13) धूर्तः (= ठग, लवण, धतूरा)—धूर्वतीति। धुर्वी हिंसायाम्। धुर्व् तन्—वकारलोप, उपधादीर्घ, सु।

(14) तूस्तम् (= पाप, जटा)—तोसति शब्दयति। तूस् तन्—बाहुलकात् प्रत्यय, लघूपध गुण का निषेध।

(5) तूस्तयति—तूस्तं करोतीति। 'मुण्डमिश्र०' (पा० 3.1.21)।

(15) छातः (= कमजोर)—छ्यति छिनत्ति। छो—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आकार आदेश—छा तन्—सु।

(16) अभिम्लातः (= दुःखी)—अभितो म्लायति। अभि म्लै तन्—पूर्ववत् आकार आदेश, सु। दशपादी में 'तमि' धातु का पाठ अधिक है। तब 'ताम्यतीति तन्तः' बनता है।

(370) नञ्याप इट् च [3.87]

पद०—नञि 7.1, आपः 5.1, इट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'हसि......भ्यस्तन्' (उ०सू० 3.86) से 'तन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—नञ्शब्दे उपपदे आप्धातोस्तन्प्रत्ययः स्यात् प्रत्ययस्य च 'इट्' इत्यागमः स्यात्।

व्याख्या—'नञ्' शब्द के उपपद रहते आप् धातु से परे तन् प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को 'इट्' आगम होता है।

स्वा०द०वृ०—नाप्नोति सत्कर्माणीति **नापितः**, केशच्छेदको वा।

उदा०—(1) नापितः (= नाई)—नाऽऽप्नोति सत्कर्माणि। नञ् आप्लृ इट् तन्—अनुबन्धलोप, 'नलोपो नञः' से नकारलोप प्राप्त, बाहुलकात् निषेध—न आप् इ त—सवर्णदीर्घ, सु।

(371) तनिमृङ्भ्यां किच्च [3.88]

पद०—तनिमृङ्भ्याम् 5.2, कित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'हसि......स्तन्' (उ०सू० 3.86) से 'तन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—तन् मृ—इत्येताभ्यां धातुभ्यां तन्प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—तन् और मृ धातुओं से तन् प्रत्यय होता है और वह कित् होता है। प्रत्यय को कित् करने के दो प्रयोजन हैं—अनुनासिकलोप तथा गुणनिषेध।

स्वा०द०वृ०—तनोतीति **ततम्,** वीणादिकं वाद्यं वा। म्रियते येन तत् **मृतम्,** याचितं भैक्ष्यं वा।

उदा०—(1) ततम् (= विस्तृत)—तनोतीति। तनु विस्तारे। तन् तन्—हलन्त्यम्—तन् त—अनुनासिकलोप। त त—तत सु—'अनुदात्तोपदेशवनति०' (पा० 6.4.37)।

(2) मृतम् (= मरण)—म्रियते येन। मृङ् प्राणत्यागे। मृ तन्—'सार्वधातु-कार्धधातु०' से गुण प्राप्त, गुणनिषेध, सु। दशपादी में 'मृङ्' के स्थान पर 'मूङ्' पाठ है। अतः (3) मूतः (= आलानपाश) शब्द बनता है। मवते मूयते वा। मूङ् बन्धने।

(372) अञ्जिघृसिभ्यः क्तः [3.89]

पद०—अञ्जिघृसिभ्यः 5.3, क्तः 1.1

सं०—अञ्ज् घृ सि-इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्तप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—अञ्ज्, घृ और सि—इन धातुओं से परे 'क्त' प्रत्यय होता है। 'लशक्वतद्धिते' से ककार की इत्सञ्ज्ञा है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध तथा अनुनासिक लोप के लिए है।

स्वा०द०वृ०—यदनक्ति प्रकटीकरोति तत् **अक्तम्,** व्याघ्रः परिमितं वा। जिघर्ति सञ्चलति दीप्यते वा तत् **घृतम्,** उदकं सर्पिः प्रदीप्तं वा। सिनोति बध्नातीति **सितम्,** शुक्लं वा।

बहुलवचनात्—हूर्च्छति कुटिलं भवतीति **मुहूर्त्तम्,** घटिकाद्वयकालो वा। धातोर्मुडागमः, **राल्लोपः** [अ० 6.4.21] इति छलोपः। ऋच्छत्यात्मानं प्राप्नोतीति **ऋतम्,** यथार्थं वा। वसति यत्रेति **वस्तम्,** स्थानं वा।

उदा०—(1) अक्तम् (= बाघ)—यद् अनक्ति प्रकटीकरोति। अञ्जू व्यक्ति-भक्षणादिषु। अञ्ज् क्त—अनुनासिकलोप—'अनिदितां हल उपधाया०'(पा० 6.4.24)—अज् त—'चोः कुः' से कुत्व—अग् त—'खरि च' से चर्त्व—अक्त सु—अतोऽम्।

(2) घृतम् (= घी)—जिघर्ति सञ्चलति दीप्यते वा। घृ क्षरणदीप्त्योः। घृ क्त—गुण प्राप्त, निषेध।

(3) सितम् (= श्वेत)—सिनोति बध्नाति। षिञ् बन्धने। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—सि क्त—गुणनिषेध, सु।

(4) मुहूर्त्तम् (= दो घड़ी काल)—हूर्च्छति कुटिलं भवति। हुर्च्छा कौटिल्ये। बाहुलकात् प्रत्यय, उपधादीर्घ। हूर्च्छ् क्त—बाहुलकात् धातु को मुट् आगम—मु हूर्च्छ् त—'राल्लोपः' (पा० 6.4.29) से छकार लोप, तकार (> चकार) की निवृत्ति। मुहूर्त—'अचो रहाभ्यां द्वे' से द्वित्व। मुहूर्त्त—सु, अतोऽम्।

(5) ऋतम् (= सत्य)—ऋच्छति प्राप्नोति। ऋ क्त—गुणनिषेध, सु।

(6) वस्तम् (= स्थान)—वसति यत्र। वस् क्त—सु।

(373) दुतनिभ्यां दीर्घश्च [3.90]

पद०—दुतनिभ्याम् 5.2, दीर्घः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'अञ्जिघृसिभ्यः क्तः' (उ०सू० 3.81) से 'क्त' का अनुवर्त्तन है।

सं०—द्रु तन्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्तप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च दीर्घाऽऽदेशः स्यात्।

व्याख्या—'दुतनिभ्याम्' की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'दुतनिभ्याम्' पद में पञ्चमी विभक्ति होने से 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'दुतनिभ्याम्' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त (यथा—दुतन्योः) बनाकर धातु को दीर्घ आदेश किया जाता है। अर्थ—दु तथा तन् धातुओं से परे क्त प्रत्यय होता है तथा धातु का जो अच् वर्ण, उसके स्थान पर दीर्घ आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—दवति गच्छति दुनोत्युपतपति वा स **दूतः**, बहुकार्यसाधको राजभृत्यो वा; स्त्रियां **'दूती'**। तनोति कार्याणीति **तातः**, पिता वा।

बाहुलकात्—स्यति कर्मसमाप्तिं करोतीति **सीता,** क्षेत्रे हलेन कृता रेखा, स्त्रीविशेषो वा।

उदा०—(1) दूतः (= दूत)—दवति गच्छति। दु गतौ। दुनोत्युपतपति। टुदु उपतापे। दु क्त—गुणनिषेध—दूत—दीर्घ आदेश, सु।

(2) तातः (= पिता, लघु)—तनोति कार्याणि। तनु विस्तारे। तन् क्त—अनुनासिकलोप—'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्य०' (पा० 6.4.37)—त त—दीर्घ आदेश, सु।

(3) सीता (= हल चलाई हुई भूमि)—स्यति कर्मसमाप्तिं करोति। षोऽन्त-कर्मणि। बाहुलकात् प्रत्यय।

(374) जेर्मूट् चोदात्तः [3.91]

पद०—जेः 5.1, मूट् 1.1, च—अव्य०, उदात्तः 1.1

अनु०—'अञ्जिघृसिभ्यः क्तः' (उ०सू० 3.89) से 'क्तः' का तथा 'दुतनिभ्यां दीर्घश्च' (उ०सू० 3.90) से 'दीर्घः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—जिधातोः क्तप्रत्ययः स्याद् धातोश्च दीर्घाऽऽदेशः स्यात्, प्रत्ययस्य 'मूट्' इत्यागमः, प्रत्ययश्चोदात्तः।

व्याख्या—'जेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'जेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'जेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को दीर्घ आदेश किया जाता है। अर्थ—जि धातु से परे क्त प्रत्यय होता है, धातु को दीर्घ आदेश होता है, प्रत्यय को 'मूट्' आगम होता है तथा प्रत्यय उदात्त होता है। मूट् के टकार की इत्सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—धातोर्दीर्घः प्रत्ययस्य मूडुदात्तत्वं च। यो जयति येन वा स **जीमूतः,** मेघः पर्वतो वा।

उदा० (1) जीमूतः (= बादल, राजा)—जयति यो येन वा। जि जये। जि क्त—गुणनिषेध, दीर्घादेश—जी मूट् त—सु।

(375) लोष्टपलितौ [3.92]

पद०—लोष्टपलितौ 1.2

सं०—लोष्ट पलित—इत्येतौ शब्दौ क्तप्रत्ययान्तौ निपात्येते।

व्याख्या—लोष्ट और पलित—ये शब्द क्तप्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—लोष्टते सङ्घातो भवतीति **लोष्टम्,** मृत्पिण्डो वा। पल्यते प्राप्यते तत् **पलितम्,** वृद्धावस्थया केशादीनां शुक्लत्वं वा।

उदा०—(1) लोष्टम् (= ढेला)—लोष्टते सङ्घातो भवति। लोष्ट् क्त। निपातन से अन्त्यलोप।

(2) पलितम् (= श्वेत केश)—पल्यते प्राप्यते तत्। पल् क्त—निपातन से इट्, सु।

(376) हृश्याभ्यामितन् [3.93]

पद०—हृश्याभ्याम् 5.2, इतन् 1.1

सं०—हृ श्यै—इत्येताभ्याम् इतन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—हृ श्यै—इन धातुओं से परे 'इतन्' प्रत्यय होता है। 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—हरतीति **हरितः**, वर्णभेदो वा। श्यायति गच्छतीति **श्येतः**, श्यामवर्णो वा। स्त्रियां—**हरिणी; हरिता। श्येनी; श्येता**।

उदा०—(1) हरितः (= एक रंग, हरा)—हरतीति। हृ हरणे। जिहर्त्ति। हृ प्रसह्यकरणे। हृ इतन्—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व।

(2) श्येतः (= काला रंग)—श्यायति गच्छति। श्यैङ् गतौ। श्यै इतन्—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आकार आदेश—श्य् आ इत—'आद् गुणः' से गुण एकादेश, सु।

(377) रुहेरश्च लो वा [3.94]

पद०—रुहेः 5.1, रः 6.1, च—अव्य०, लः 1.1, वा—अव्य०।

अनु०—'हृश्याभ्यामितन्' (उ०सू० 3.93) से 'इतन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—रुह्धातोर् इतन् प्रत्ययः स्याद् धातोश्च यो रेफस्तस्य स्थाने लकारादेशो विकल्पेन स्यात्।

व्याख्या—'रुहेः' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—रुह् धातु से परे 'इतन्' प्रत्यय होता है तथा धातु में स्थित जो रेफ, उसके स्थान पर विकल्प से लकार आदेश होता है। लकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—रोहति प्रादुर्भवतीति **रोहितः**, मृगमत्स्ययोर्भेदः [वा]; **रोहितं**, रुधिरं वा। **लोहितः**, अङ्गारको रुधिरं रक्तवर्णो वा। [स्त्रियाम्—**रोहिणी, रोहिता। लोहिनी, लोहिता**]।

उदा०—(1) रोहितः (= लाल)—रोहति प्रादुर्भवति। रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भवे च। रुह् इतन्—'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण—रोहित सु—लत्व अभाव।

(2) लोहितः—लकार आदेश।

(3) रोहिता। (4) रोहिणी—स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीष्। 'वर्णादनुदात्तात्तोपधाद०' (पा० 4.1.39)। इसी प्रकार—(5) लोहिता। (6) लोहिनी।

(378) पिशेः किच्च [3.95]

पद०—पिशेः 5.1, कित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'हृश्याभ्यामितन्' (उ०सू० 3.93) से 'इतन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—पिश्धातोर् इतन् प्रत्ययः स्यात् स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—पिश् धातु से परे इतन् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध है।

स्वा०द०वृ०—पिश्यतेऽवयवरूपं क्रियते तत् **पिशितम्,** मांसं वा।

उदा०—(1) पिशितम् (= मांस)—पिश्यतेऽवयवरूपं क्रियते। पिश अवयवे। पिश् इतन्—सु।

(379) श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्य आय्यः [3.96]

पद०—श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्य: 5.3, आय्य: 1.1

सं०—श्रु दक्ष् स्पृह् गृह्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य आय्यप्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—श्रु, दक्ष्, स्पृह् और गृह्—इन धातुओं से परे आय्य प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—श्रावयतीति **श्रवाय्यः,** दानपशुर्वा। दक्षयति वर्द्धतेऽसौ **दक्षाय्यः,** गृध्रो वा। स्पृहयतीति **स्पृहयाय्यः,** अभीप्सुर्नक्षत्रं वा। गर्हयति पदार्थान् गृह्णातीति **गृहयाय्यः,** गृहस्वामी वा। आय्यप्रत्यये णेरयादेश:।

उदा०—(1) श्रवाय्य: (= दानपशु)—श्रावयति। श्रु श्रवणे। श्रु णिच् आय्य—णिलुक्। श्रु आय्य—प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, सार्वधातुकार्धधातु०—श्रो आय्य—अव् आदेश, सु।

(2) दक्षाय्य: (= गरुड़)—दक्षयति वर्धते। दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च। दक्ष् आय्य—सु।

(3) स्पृहयाय्य: (= नक्षत्र)—स्पृहयतीति। स्पृह ईप्सायाम्। स्पह् णिच् आय्य—चुटू, हलन्त्यम्। स्पृह् इ आय्य—'अयामन्ताल्वाय्योत्न्विष्णुषु' (पा० 6.4.55) से णि को अय् आदेश—स्पृह् अय् आय्य सु।

(4) गृहयाय्य: (= गृहपति)—गृह्णातीति। ग्रह ग्रहणे। ग्रह् णिच् आय्य—पूर्ववत्।

(380) दधिषाय्यः [3.97]

पद०—दधिषाय्य: 1.1

सं०—दधिषाय्यशब्द आय्यप्रत्ययान्तो निपात्यते।

व्याख्या—दधिषाय्य शब्द आय्यप्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध है।

स्वा०द०वृ०—दधि स्यति समापयतीति **दधिषाय्यः,** घृतम्। निपातनात् षत्वम्।

उदा० (1) दधिषाय्यः (= घी)—दधि स्यति समापयति। डुधाञ् आय्य—निपातन से आय्य प्रत्यय, धातु को द्वित्व—धा धा आय्य—निपातन से धातु को इकार आदेश तथा षुक् आगम—धा ध् इ षुक् आय्य—पूर्वोऽभ्यासः, ह्रस्वः—ध धिष् आय्य—अभ्यासे चर्च—दधिषाय्य सु। पक्षान्तर में—धिष् धातु से आय्य प्रत्यय, धातु को द्वित्व, अभ्यास को अत् आदेश।

(381) वृञ एण्यः [3.98]

पद०—वृञः 5.1, एण्यः 1.1
सं०—वृधातोर् एण्यप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वृ धातु से एण्य प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—व्रियते स्वीक्रियतेऽसौ **वरेण्यः**, श्रेष्ठो वा।

उदा०—(1) वरेण्यः (= श्रेष्ठ)—व्रियते स्वीक्रियते। वृञ् वरणे। वृ एण्य—आर्धधातुक गुण, उरण् रपरः—वर् एण्य सु। दशपादी में वृङ् सम्भक्तौ धातु से 'एण्य' प्रत्यय कहा है।

(382) स्तुवः केय्यश्छन्दसि [3.99]

पद०—स्तुवः 5.1, केय्यः 1.1, छन्दसि 7.1
सं०—स्तुधातोः केय्यप्रत्ययः स्याद् वेदविषये।

व्याख्या—स्तु धातु से परे केय्य प्रत्यय होता है, वेद के विषय में। प्रत्यय के 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—स्तूयतेऽसौ **स्तुवेय्यः**, पुरन्दरो वा। **'क्सेय्यः'** इति पाठान्तरं, तदा **स्तुषेय्यः**।

उदा०—(1) स्तुवेय्यः (= इन्द्र)—स्तूयतेऽसौ। गुरुः। स्तौतीति देवः। ष्टुञ् स्तुतौ। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—स् टु—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' से तकार—स्तु केय्य—अनुबन्धलोप—स्तु एय्य—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से प्राप्त गुण का निषेध, 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से उवङ्, सु।

विशेष—दशपादी में 'क्सेय्य' प्रत्यय का पाठ है। तदनु—'स्तुषेय्य' शब्द बनता है। आचार्य सायण ने भी ऋग्वेदभाष्य (10.120.6) में 'क्सेय्य' प्रत्यय स्वीकार किया है। सम्भवतः इसी को आधार मानकर आचार्य भट्टोजि दीक्षित ने 'केय्य' प्रत्यय का प्रत्याख्यान कर दिया है। द्रष्टव्य—स्तुषेय्यं स्तोतव्यं बहुरूपमिति वेदभाष्यम्

(सा०ऋ०भा० 10.120.6)। 'यत्तूज्ज्वलदत्तेन स्तुवः केय्य इति पठित्वा कित्त्वाद् गुणाऽभाव उवङादेशे स्तुवेय्यः पुरन्दर इत्युक्तम्। तन्न। वेदतद्भाष्यादिविरोधात्। तस्मादिह क्सेय्य- प्रत्ययं पठन् दशपादीवृत्तिकृदेव ज्यायान्' (प्रौ०म०पृ० 782)। तत्त्वबोधिनीकार ने भी दीक्षित जी का समर्थन किया है। (द्रष्टव्य—तत्त्व०पृ० 543)

(383) राजेरन्यः [3.100]

पद०—राजेः 5.1, अन्यः 1.1
सं.—राज्धातोर् अन्यप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—राज् धातु से 'अन्य' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—राजते दीप्यतेऽसौ **राजन्यः**, अग्निर्वा; क्षत्रियजातौ तु राज्ञोऽपत्यं **राजन्यः**। तत्रान्त्यस्वरितः।

उदा०—(1) राजन्यः (= अग्नि, क्षत्रिय)—राजते दीप्यतेऽसौ। राजृ दीप्तौ। राज् अन्य सु।

(384) शॄरम्योश्च [3.101]

पद०—शॄरम्योः 6.2, च—अव्य०।
अनु०—'राजेरन्यः' (उ०सू० 3.100) से 'अन्यः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—शॄ रम्—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् 'अन्य' इति प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'शॄरम्योः' को विभक्तिविपरिणाम से पञ्चम्यन्त (यथा—शॄरमिभ्याम्) बना लिया जाता है। अर्थ—शॄ और रम्—इन धातुओं से परे 'अन्य' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—शृणाति हिनस्तीति **शरण्यम्**, अज्ञानं वा। रमतेऽस्मिंस्तत् **रमण्यम्**, गृहं वा।

उदा०—(1) शरण्यम् (= आश्रयस्थान, अज्ञान)—शृणाति हिनस्ति। शॄ हिंसायाम्। शॄ अन्य—आर्धधातुक गुण, रपरत्व—शर् अन्य—'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से णत्व, सु।

(2) रमण्यम् (= घर)—रमतेऽस्मिन् तत्। रमु क्रीडायाम्। रम् अन्य—णत्व, सु।

(385) अर्त्तेर्निच्च [3.102]

पद०—अर्त्तेः 5.1, नित् 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'राजेरन्यः' (उ०सू० 3.100) से 'अन्यः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—ऋधातोर् 'अन्ध'प्रत्ययः स्यात्, स च नित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—ऋ धातु से परे 'अन्य' प्रत्यय होता है और वह नित्सञ्ज्ञक होता है। नित् करने का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—ऋच्छन्ति गृहाद् गच्छन्ति यत्र तत् **अरण्यम्,** वनं वा; महदरण्यम् **अरण्यानी**।

उदा०—(1) अरण्यम् (वन)—ऋच्छन्ति गृहाद् गच्छन्ति यत्र तत्। ऋ गतौ। ऋ अन्य—आर्धधातुक गुण, रपरत्व—अरन्य—'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व, सु।

(386) पर्जन्यः [3.103]

पद०—पर्जन्यः 1.1
सं०—पर्जन्यशब्दोऽन्यप्रत्ययान्तो निपात्यते।

व्याख्या—'पर्जन्य' शब्द अन्यप्रत्ययान्त शब्द निपातन से सिद्ध है।

स्वा०द०वृ०—पर्षति सिञ्चतीति **पर्जन्यः,** मेघः समर्थो वा। निपातनात् षकारस्य जकारः।

उदा०—(1) पर्जन्यः (=बादल)—पर्षति सिञ्चति। पृषु सेचने। पृष् अन्य—निपातन से 'ज' अन्तादेश, सु। दशपादी वृत्ति (8.7) में परिपूर्वक वर्ष् अथवा गर्ज् धातु से सिद्ध किया है। यथा—परिवर्षति। परि वर्ष् अन्य—धातु को जकार आदेश—परि ज् अन्य—उपसर्ग के अन्त्य वर्ण (इकार) का लोप—पर्ज् अन्य—सु। परिगर्जति। परि गर्ज् अन्य—उपसर्ग के अन्त्य वर्ण का लोप—पर् गर्ज् अन्य—गकार व रेफ का लोप—पर्ज् अन्य—सु।

(387) वदेरान्यः [3.104]

पद०—वदेः 5.1, आन्यः 1.1
सं०—वद्धातोर् 'आन्य'प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वद् धातु से 'आन्य' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—उद्यते वदतीति वा स **वदान्यः,** वाग्मी त्यागी वा।

उदा०—(1) वदान्यः (=मान्य, वाग्मी)—उद्यते वदतीति। वद व्यक्तायां वाचि। वद् आन्य सु।

(388) अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् [3.105]

पद०—अमिनक्षियजिवधिपतिभ्यः 5.3, अत्रन् 1.1

सं०—अम् नक्ष् यज् वध् पत् इत्येतेभ्यो धातुभ्योऽत्रन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—अम्, नक्ष्, यज्, वध् और पत्—इन धातुओं से परे अत्रन् प्रत्यय होता है। न् अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—अमति प्राप्नोति यत्र तत् **अमत्रम्,** पात्रं वा। नक्षति गच्छनीति **नक्षत्रम्,** तारका वा। इज्यते यजति वा तद् **यजत्रम्,** अग्निहोत्रं होता वा। वधीति हनः स्थाने वधादेशो निपात्यते। हन्ति येन तद् **वधत्रम्,** आयुधं वा। पतति गच्छति येन तत् **पतत्रम्,** वाहनं लोमानि वा।

उदा०—(1) अमत्रम् (=पात्र), सामर्थ्य)—अमति प्राप्नोति यत्र। अम गतौ। अम् अत्रन्—सु, अतोऽम्।

(2) नक्षत्रम् (= नक्षत्र)—न क्षति गच्छति। नक्ष गतौ। नक्ष् अत्रन् सु।

(3) यजत्रम् (= अग्निहोत्र, होता)—यजति इज्यते यत्र। यज् अत्रन्—सु।

(4) वधत्रम् (= शस्त्र)—हन्ति येन। हन् को वध आदेश निपातन से होता है। हन हिंसागत्योः।

(5) पतत्रम् (= यान, रोम, भुजा)—पतति गच्छति येन। पत्लृ गतौ। पत् अत्रन्—सु।

(389) गडेरादेश्च कः [3.106]

पद०—गडेः 5.1, आदेः 6.1, च—अव्य०, कः 1.1

अनु०—'अमि·····भ्योऽत्रन्' (उ०सू० 3.105) से 'अत्रन्' की अनुवृत्ति है।

सं०—गड्धातोर् अत्रन् प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च य आदिवर्णस्तस्य स्थाने ककाराऽऽदेशः स्यात्, 'डलयोरभेदः' इत्यनेन बाहुलकात् लकारोऽन्तादेशो विकल्पेन भवति।

व्याख्या—'गडेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'गडेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'गडेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'आदेः' पद के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—गड् धातु से परे 'अत्रन्' प्रत्यय होता है, धातु का जो आदि वर्ण, उसके स्थान पर 'क्' आदेश होता है तथा 'डलयोरभेदः' इस नियम से धातु को विकल्प से लकार अन्तादेश होता है। ककारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—[धातोरादेः कादेशः।] गडति सिञ्चतीति **कडत्रम्।** बाहुलकात् डस्य लः। **कलत्रम्,** कटिभागो भार्या वा।

उदा० (1) कडत्रम् (= कटि, भार्या)—गडति सिञ्चति। गड सेचने। गड्—कड् अत्रन् सु।

(2) कलत्रम्—'ल्' अन्तादेश।

विशेष—नारायण भट्ट के अनुसार 'गलेरादेश्च कः' पाठ है।

(390) वृञश्चित् [3.107]

पद०—वृञः 5.1, चित् 1.1
अनु०—'अमि''''त्रन्' (उ०सू० 3.105) से 'अत्रन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—'वृ'धातोर् अत्रन्प्रत्ययः स्यात्, स च चित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—'वृ' धातु से परे अत्रन् प्रत्यय होता है और वह चित्सञ्ज्ञक होता है। चित् करने का प्रयोजन अन्तोदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—वृणोत्युदकादिकं यया या वा सा **वरत्रा,** चर्मरज्जुर्वा।

उदा०—(1) वरत्रा (= चर्मरज्जु)—वृणोत्युदकादिकं यया। वृञ् वरणे। वृ अत्रन्–गुण, रपरत्व—वर् अत्र—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्, चुटू, हलन्त्यम्—वरत्र आ—अकः सवर्णे दीर्घः, सु, लोप।

(391) सु विदेः कत्रन् [3.108]

पद०—सुविदेः 5.1, कत्रन् 1.1
सं०—सुपूर्वकाद् विद्धातोः कत्रन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'सु' शब्द के उपपद रहते विद् धातु से परे कत्रन् प्रत्यय होता है। 'लशक्वतद्धिते' से 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है तथा 'न्' की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। 'अत्र' शेष रहता है। सूत्रस्थ 'सु' लुप्तविभक्तिक रूप है। 'सु ङि' इस दशा में 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्ण०' (पा० 7.1.39) से विभक्ति का लुक् हुआ है।

स्वा०द०वृ०—सुष्ठु विद्यते तत् **सुविदत्रम्,** कुटुम्बं वा।

उदा०—(1) सुविदत्रम् (= परिवार)—सुष्ठु विद्यते यत्र तत्। सु विद सत्तायाम्। सुविद् कत्रन्—सु।

विशेष—नारायण भट्ट 'सुञि विदेः कत्रन्' पाठ स्वीकार करते हैं। यह पाठ अधिक उचित प्रतीत होता है।

(392) कृतेर्नुम् च [3.109]

पद०—कृतेः 5.1, नुम् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सुविदेः कत्रन्' (उ०सू० 3.108) से 'कत्रन्' का अनुवर्तन है।

सं०—कृत्धातोः कत्रन्प्रत्ययो भवति धातोश्च नुम् आगमो भवति।

व्याख्या०—कृत् धातु से परे कत्रन् प्रत्यय होता है तथा धातु को नुम् आगम होता है। 'म्' की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'न्' शेष रहता है। नुम् मित् है। 'मिदचोऽन्त्यात्' परः से धातु के अन्त्य अच् (ऋकार) से परे नुम् (= न्) होता है।

स्वा०द०वृ०—कृन्तति छिनत्ति येन तत् **कृन्तत्रम्,** लाङ्गलं वा।

उदा०—(1) कृन्तत्रम् (= लांगल)—कृन्तति छिनति। कृती छेदने। कृती वेष्टने। कृणत्ति। कृ नुम् त् कत्रन्—कृ न् त् अत्र—'नश्चाऽपदा०' से अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि०' से परसवर्ण, सु।

(393) भृमृदृशियजिपर्विपच्यमितमिनमिहर्य्यिभ्योऽतच् [3.110]

पद०—भृमृदृशियजिपर्विपच्यमितमिनमिहर्य्यिभ्यः 5.3, अतच् 1.1

सं०—भृ मृ दृश् यज् पर्व् पच् अम् तम् नम् हर्य्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः 'अतच्' इति प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—भृ, मृ, दृश्, यज्, पर्व्, पच्, अम्, तम्, नम् और हर्य्—इन धातुओं से परे अतच् प्रत्यय होता है। 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—भरति पुष्णातीति **भरतः,** राजभेदो नटो रामानुजो वा। म्रियते येन [स] **मरतः,** मृत्युर्वा। पश्यति येन स **दर्शतः,** चन्द्रः सूर्यो वा। यजतीति **यजतः,** ऋत्विग्वा। पर्वति पूर्णो भवतीति **पर्वतः,** गिरिर्वा। पर्वं विद्यतेऽस्मिन्निति मत्वर्थीयस्तकारप्रत्ययो वा। पचति येन स **पचतः,** अग्निर्वा। अमति गच्छतीति **अमतः,** रेणुर्वा। ताम्यति काङ्क्षतीति **तमतः,** तृष्णापरो वा। नमतीति **नमतः** नम्रो वा। हर्यति गच्छतीति **हर्यतः,** अश्वो वा।

बाहुलकात्—मलते स्वरूपं धरतीति **मालती** [पुष्पलता वा]। उपधादीर्घो, **गौरादित्वात्** [अ० 4.1.41] ङीष्।

उदा०—(1) भरतः (= राम का अनुज)—भरति पुष्णाति। भृञ् भरणे। भृ अतच्—आर्धधातुक गुण, उरण् रपरः—भर् अत सु।

(2) मरतः (= मृत्यु)—म्रियते येन। मृङ् प्राणत्यागे। पूर्ववत्।

(3) दर्शतः (= चन्द्र, सूर्य)—पश्यति येन। दृशिर् प्रेक्षणे। दृश् अतच्—पुगन्तलघूपधस्य च, रपरत्व, सु।

(4) यजतः (= ऋत्विज)—यजतीति। यज देवपूजादिषु। यज् अतच्—सु।

(5) पर्वतः (= पहाड़, शिला)—पर्वति पूर्णो भवति। पर्व पूरणे। पर्व् अतच्—सु।

(6) पचतः (= इन्द्र, सूर्य, अग्नि)—पचति येन। डुपचष् पाके। पच् अतच्—सु।

(7) अमतः (= रेणु, रोग)—अमति गच्छति। अम गतौ। अम् अतच्—सु।

(8) तमतः (= तृष्णापर व्यक्ति)—ताम्यति काङ्क्षति। तमु काङ्क्षायाम्। तम् अतच्—सु।

(9) नमतः (= विनम्र, बादल)—नमतीति। णम प्रह्वत्वे शब्दे च। 'णो नः' से नकार—नम् अतच्—सु।

(10) हर्यतः (= घोड़ा)—हर्यति गच्छति। हर्य गतिकान्त्योः। हर्य् अतच्—सु।

(11) मालती (= एक पुष्पलता)—मलते स्वरूपं धरति। मल् अतच्—बाहुलकात् प्रत्यय, उपधादीर्घ। माल त ङीष्—गौरादिलक्षण ङीष्, सु।

(394) पृषिरञ्जिभ्यां कित् [3.111]

पद०—पृषिरञ्जिभ्याम् 5.2, कित् 1.1

अनु०—'भृ····भ्योऽतच्' (उ०सू० 3.110) से 'अतच्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—पृष् रञ्ज् इत्येताभ्यां धातुभ्यामतच् स्यात् स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—पृष् और रञ्ज्—इन धातुओं से परे अतच् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने के प्रयोजन हैं—लघूपध गुण का निषेध और अनुनासिकलोप।

स्वा०द०वृ०—पर्षति सिञ्चतीति **पृषतः,** बिन्दुर्मृगो वा। रजति प्रियं भवतीति **रजतम्,** रूप्यं शुक्लं वा।

उदा०—(1) पृषतः (= बिन्दु, हरिण)—पर्षति सिञ्चति। पृषु सेचने। पृष् अतच्—'अनिदितां हल उपधा०' से अनुनासिकलोप, सु।

(395) खलतिः [3.112]

पद०—खलतिः 1.1

सं०—'खलति'शब्दोऽतच्प्रत्ययान्तो निपात्यते।

व्याख्या—'खलति' शब्द अतच् प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध है।

स्वा०द०वृ०—स्खलति सञ्चलतीति **खलतिः,** निष्केशशिराः पुरुषो वा। धातोः सलोपः प्रत्ययान्तस्येत्वं निपातः।

उदा०—(1) खलति: (= गंजा)—स्खलति सञ्चलति। स्खल सञ्चलने। स्खल् अतच्—धातु के आदि वर्ण का लोप—खलत—प्रत्यय को इकार अन्तादेश—खलति सु। खलति शब्द का भीमादिगण (पा० 3.4.74) में भी पाठ है। अत: अपादान अर्थ में भी अतच् प्रत्यय होता है। यथा—स्खलत्यस्मात्। दशपादीवृत्तिकार (6.16) के मत में 'खलत:' शब्द है। यथा—स्खलिता: केशा यस्याऽसौ। खल् अतच्—सु।

(396) शीङ्शपिरुगमिवञ्चिजीविप्राणिभ्योऽथ: [3.113]

पद०—शीङ्शपिरुगमिवञ्चिजीविप्राणिभ्य: 5.3, अथ: 1.1

सं०—शी शप् रु गम् वञ्च् जीव् प्र अन्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य: 'अथ'प्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—शी, शप्, रु, गम्, वञ्च्, जीव और प्रपूर्वक अन्—इन धातुओं से परे 'अथ' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—शेतेऽसौ **शयथ:**, अजगरो वा। शप्यत आक्रुश्यत इति **शपथ:**, निश्चयकरणं वा। रौतीति **रवथ:**, कोकिलो वा। गच्छतीति **गमथ:**, पथिको वा। वञ्चति प्रलम्भयतीति **वञ्चथ:**, धूर्त:। अस्य स्थाने 'वन्दि' इति पाठान्तरे **वन्दथ:**, स्तोता स्तुत्यो वा। जीवतीति **जीवथ:**, आयुष्मान् [वा] प्राणितीति **प्राणथ:** बलवान् वा।

बाहुलकात्—दृणातीति **दरथ:**, दिक्षु प्रसरणं गर्त्तो वा। शाम्यतीति **शमथ:**, शान्ति: [वा]। दाम्यतीति **दमथ:**, दान्ति: दमो वा।

उदा०—(1) शयथ: (= अजगर, मृत्यु)—शेतेऽसौ। शीङ् स्वप्ने। शी अथ—आर्धधातुकं शेष:, 'सार्वधातुकार्ध०' गुण—शे अथ—'एचोऽयवायाव:' से अय् आदेश, सु।

(2) शपथ: (= सौगन्ध)—शप्यत आक्रुश्यत। शप आक्रोशे। शप् अथ सु।

(3) रवथ: (= कोयल) रौतीति। रु शब्दे। पूर्ववत् आर्धधातुकलक्षण गुण, अव् आदेश—र व् अथ—सु।

(4) गमथ: (= पथिक)—गच्छतीति। गम्लृ गतौ। गम् अथ—सु।

(5) वञ्चथ: (= धूर्त)—वञ्चतीति। वञ्चु प्रलम्भने। वञ्च् अथ—सु।

(6) जीवथ: (= कछुआ, आयुष्मान्)—जीवतीति। जीव प्राणधारणे। जीव् अथ—उपधा में लघुवर्ण के प्राप्त न रहने से लघूपध गुण न हुआ।

(7) प्राणथ: (= वायु, बलवान्)—प्राणिति। अण प्राणने। प्र अण् अथ—सु।

(8) दरथः (= गढा)—दृणातीति। बाहुलकात् दृ धातु से अथ, आर्धधातुक लक्षण गुण, उरण् रपरः, सु।

(9) शमथः (= शान्ति)—शाम्यतीति। शम् अथ—बाहुलकात् प्रत्यय हुआ है—शमथ सु।

(10) दमथः (= दम, दण्ड)—दाम्यतीति। पूर्ववत्।

(11) वन्दथः (= प्रशंसनीय, स्तोता)—वन्दत इति। 'वञ्चि' के स्थान पर 'वन्दि' पाठान्तर प्राप्त होता है।

(397) भृञश्चित् [3.114]

पद०—भृञः 5.1, चित् 1.1

अनु०—'शीङ्·····भ्योऽथः' (उ०सू० 3.113) से 'अथः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—भृधातोर् अथप्रत्ययः स्यात् स च चित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—भृ धातु से परे अथ प्रत्यय होता है और वह चित्सञ्ज्ञक होता है। चित् करने का प्रयोजन अन्तोदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—बिभर्त्तीति **भरथः**, लोकपालो राजा वा।

उदा०—(1) भरथः (= राजा, अग्नि)—बिभर्त्तीति। डुभृञ् धारणपोषणयोः। भरतीति। भृञ् भरणे। भृ अथ—आर्धधातुक गुण, उरण् रपरः—भर् अथ सु।

(398) रुविदिभ्यां ङित् [3.115]

पद०—रुविदिभ्याम् 5.2, ङित् 1.1

अनु०—'शीङ्·····भ्योऽथः' (उ०सू० 3.113) से 'अथः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—रु विद्—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् 'अथ'प्रत्ययो भवति, स च ङित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—रु और विद्—इन धातुओं से परे 'अथ' प्रत्यय होता है और वह ङित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को ङित् करने के दो प्रयोजन हैं—उवङ् आदेश करना तथा लघूपध गुण का निषेध।

स्वा०द०वृ०—रौतीति **रुवथः**, श्वा वा। वेत्तीति **विदथः**, योगी वा।

उदा०—(1) रुवथः (= कुत्ता)—रौतीति। रु शब्दे। रु अथ—उवङ् आदेश—र् उवङ् अथ—अनुबन्धलोप, सु।

(2) विदथः (= योगी)—वेत्तीति। विद ज्ञाने। विद् अथ—लघूपध गुण का निषेध।

(399) उपसर्गे वसेः [3.116]

पद०—उपसर्गे 7.1, वसेः 5.1
अनु०—'शीङ्·····भ्योऽथः' (उ०सू० 3.113) से 'अथः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—उपसर्गपूर्वकाद् वस्धातोर् 'अथ'प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—उपसर्गसञ्ज्ञक शब्द के उपपद रहते वस् धातु से परे 'अथ' प्रत्यय होता है। दशपादी वृत्ति (6.39) में 'आङि वसः' पाठ है।

स्वा०द०वृ०—[आ] समन्ताद्वसति यत्र स **आवसथः**, गृहं वा। सम्यग्वसन्ति यत्र स **संवसथः**, ग्रामो वा।

उदा०—(1) आवसथः (= घर, छात्रावास)—सम्यग् वसन्ति यत्र। वस निवासे। आ वस् अथ—सु। 'उपसर्गाः क्रियायोगे' से 'आ' की उपसर्ग सञ्ज्ञा है।
(2) संवसथः (= गाँव)—समन्ताद् वसन्ति यत्र। सम् वस् अथ—'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार।

(400) अत्यविचमितमिनमिरभिलभिनभितपिपति-पनिपणिमहिभ्योऽसच् [3.117]

पद०—अत्यविचमितमिनमिरभिलभिनभितपिपतिपनिपणिमहिभ्यः 5.3, असच् 1.1
सं०—अत् अव् चम् तम् नम् रभ् लभ् नभ् तप् पत् पन् पण् मह्—इत्येतेभ्यो धातुभ्योऽसच् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या०—अत्, अव्, चम्, तम्, नम्, रभ्, लभ्, नभ्, तप्, पत्, पन्, पण् और मह्—इन धातुओं से परे असच् प्रत्यय होता है। 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—अतति निरन्तरं गच्छतीति **अतसः**, वायुर्वा; स्त्रियाम् **अतसी**। अवति रक्षादिकं करोतीति **अवसः**, राजा वा। चमति भक्षयति येन स **चमसः**, **गौरादित्वात्** [अ० 4.1.41] **चमसी**। ताम्यति काङ्क्षतीति **तमसः**, ध्वान्तं वा। नमतीति **नमसः**, अनुकूलं वा। रभतेऽसौ **रभसः**, वेगो हर्षो वा। लभतेऽसौ **लभसः**, अश्वबन्धनं वा। नभते हिनस्तीति **नभसः**, आकाशं वा। तपति तापहेतुर्भवतीति **तपसः**, चन्द्रमा वा। पततीति **पतसः**, पक्षी वा। पनायति स्तौतीति **पनसः**, कण्टकिफलं वा। [पणायति व्यवहरतीति **पणसः**, पण्यद्रव्यं वा।] महतीति **महसम्**, ज्ञानं वा।

बाहुलकात्—अम्यते प्राप्यते तत् **तामसम्**, कमलं वा। प्रत्ययस्य णित्वाद्

वृद्धिर्धातोश्च तुट्। स्यति कर्म समापयतीति **साध्वसम्,** प्रातिभं ज्ञानं वा। धातोर्धुक्। कङ्कते चञ्चलं भवतीति **कीकसम्,** अस्थि वा। धातोः कीकादेशः। तरतीति **तरसम्,** मांसं वा।

उदा०—(1) अतसः (= वायु)—अतति निरन्तरं गच्छति। अत सातत्यगमने। अत् असच्—सु।

(2) अवसः (= राजा)—अवति रक्षति। अव रक्षणादिषु। पूर्ववत्।

(3) चमसः (= चम्मच)—चमति भक्षयति येन। चमु भक्षणे। चम् असच्।

(4) तमसः (= अन्धकार)—ताम्यति काङ्क्षति। तमु अभिकाङ्क्षायाम्। तम् असच्—सु।

(5) नमसः (= अनुकूल)—नमतीति। णम प्रह्वत्वे शब्दे च। 'णो नः' से नकार—नम् असच्—सु। दशपादी (1.44) में 'नम्' का पाठ नहीं है।

(6) रभसः (= सुख)—रभतेऽसौ। रभ राभस्ये। रभ् असच्—सु।

(7) लभसः (= अश्वबन्धन)—लभतेऽसौ। डुलभष् प्राप्तौ। लभ् असच्—सु।

(8) नभसः (= आकाश)—नभते हिनस्ति। णभ हिंसायाम्। णो नः। नभ् अतस्—सु।

(9) तपसः (= चन्द्रमा)—तपति। तप सन्तापे। तप् असच्—सु।

(10) पतसः (= पक्षी, टिड्डा)—पतति। पत्लृ गतौ। पत् असच्—सु।

(11) पनसः (= कटहल)—पनायति स्तौति। पन व्यवहारे स्तुतौ च। पन् असच्—सु।

(12) पणसः (= कटहल) पणायति। पण् असच्—सु। दशपादी वृत्ति में यह नहीं है।

(13) महसम् (= विद्या)—महतीति। मह पूजायायाम्। मह् असच्—सु।

(14) तामसम् (= कमल)—अम्यते प्राप्यते। अम् असच्—बाहुलकात् प्रत्यय, धातु को तुट् आगम—तुट् अम् असच्—तमस—धातु को वृद्धि, सु।

(15) साध्वसम् (= ज्ञान)—स्यति कर्म समापयति। षोऽन्तकर्मणि। धात्वादेः षः सः—सो—सा—आदेच उपदेशेऽशिति—साधुक् असच्—सु। निपातन से धुक्।

(16) कीकसम् (= हड्डी)—कङ्कते चञ्चलं भवति। धातु को बाहुलकात् कीक् आदेश—कीक् असच्—सु।

(17) तरसम् (= मांस)—तरतीति। तॄ असच्—सु।

(401) वेञस्तुट् च [3.118]

पद०—वेञ: 5.1, तुट् 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'अत्यनि····ऽसच्' (उ०सू० 3.117) से 'असच्' की अनुवृत्ति है।

सं०—वेधातोर् असच्प्रत्ययः स्यात् प्रत्ययस्य च 'तुट्' (आगमः) स्यात्।

व्याख्या—वे धातु से परे असच् प्रत्यय होता है और प्रत्यय को तुट् आगम होता है। 'ट्' की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। तुट् टित् है। प्रत्यय का आद्यवयव होता है। आद्यन्तौ टकितौ। दशपादी वृत्तिकार (9.45) 'वी गतिप्रजननकान्त्यादिषु' धातु से 'वेतस' शब्द सिद्ध करते हैं। द्रष्टव्य—वियस्तुट् च (द०वृ० 9.45)। ····वी गत्यादौ। वीयत इति (द्रष्टव्याऽत्रत्या तत्त्वबोधिनी टीकाऽपि)।

स्वा०द०वृ०—वयति तन्तून् सन्तनोतीति **वेतसः**, वृक्षभेदो वा।

उदा०—(1) वेतसः (= बाँस)—वयति तन्तून्। वेञ् तन्तुसन्ताने। वे तुट् असच्—अनुबन्धलोप, सु।

(402) वहियुभ्यां णित् [3.119]

पद०—वहियुभ्याम् 5.2, णित् 1.1

अनु०—'अत्यवि····ऽसच्' (उ०सू० 3.119) से 'असच्' की अनुवृत्ति है।

सं०—वह् यु—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् असच्प्रत्ययः स्यात्, स च णित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—वह् और यु—इन धातुओं से परे असच् प्रत्यय होता है और वह णित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को णित् करने का प्रयोजन वृद्धिकार्य है।

स्वा०द०वृ०—वहतीति **वाहसः**, अजगरो वा। यौति मिश्रयत्यमिश्रयति वा स **यावसः**, तृणसन्ततिर्वा।

उदा०—(1) वाहसः (= जलमार्ग, अजगर)—वहतीति। वह प्रापणे। वह् असच्—'अत उपधायाः' से उपधा को वृद्धि—वाहस सु।

(2) यवसः (= घाससमूह)—यौतीति। यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः। यु असच्—'अचो ञ्णिति' से वृद्धि—यौ असच्—'एचोऽयवायावः' से आव् आदेश।

(3) यवसः (= यजु० 21.33) वेद में 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' परिभाषा से णिद्वद्भाव का विकल्प, अभाव पक्ष में—यव् अस सु।

(403) वयश्च [3.120]

पद०—वय: 5.1, च—अव्य० ।

अनु०—'अत्यविचमि····ऽसच्' (उ०सू० 3.117) से 'असच्' का तथा 'वहियुभ्यां णित्' (उ०सू० 3.119) से 'णित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वय्धातोर् असच्प्रत्ययो भवति, स च णित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—वय् धातु से असच् प्रत्यय होता है तथा वह णित्सञ्ज्ञक होता है।

स्वा०द०वृ०—वयते गच्छतीति **वायसः**, काको वा।

उदा०—(1) वायसः (= कव्वा, अगर)—वयते गच्छति। वय गतौ। वय् असच्—'अत उपधायाः' से वृद्धि आदेश—वायस सु। दशपादीवृत्तिकार तथा नारायण भट्ट 'वयो णित्' पाठ मानते हैं।

(404) दिवः कित् [3.121]

पद०—दिवः 5.1, कित् 1.1

अनु०—'अत्यविचमि····ऽसच्' (उ०सू० 3.117) से 'असच्' की अनुवृत्ति है।

सं०—दिव्धातोर् असच्प्रत्ययः स्यात्; स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—दिव् धातु से परे असच् प्रत्यय होता है तथा वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन लघूपध गुण का निषेध है।

स्वा०द०वृ०—दीव्यति प्रकाशते सूर्यो यत्र तद् **दिवसम्; दिवसो** वा। अर्धर्चादिपाठाद् [अ० 2.4.31] द्विलिङ्गः।

उदा०—(1) दिवसः (= दिन)—दीव्यति प्रकाशते। दिवु क्रीडादिषु। दिव् असच्—गुणनिषेध। अर्धर्चादिगण में पाठ होने से दिवस शब्द पुंनपुंसकलिङ्ग है। यथा—दिवसः, दिवसम्।

(405) कृशृशलिकलिगर्दिभ्योऽभच् [3.122]

पद०—कृशृशलिकलिगर्दिभ्यः 5.3, अभच् 1.1

सं०—कृ शृ शल् कल् गर्द्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः 'अभच्' प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कृ, शृ, शल्, कल् और गर्द्—इन धातुओं से परे अभच् प्रत्यय होता है। 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—किरति विक्षिपतीति **करभः**, हस्तस्य बहिर्भागः [उष्ट्रः] बालो वा। शृणा[ति हिनस]तीति **शरभः**, आरण्यानां मध्ये हिंसकविशेषपशुजातिः। शलते गच्छतीति **शलभः**, पतङ्गो वा। कलते संख्यां करोतीति स **कलभः**, करिशावको वा। गर्दयति शब्दं करोतीति **गर्दभः**, खरो वा।

उदा०—(1) करभ: (=बच्चा, हाथी का सूंड)—किरति विक्षिपति। कॄ अभच्—'आर्धधातुकं शेष:' से अभच् की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, 'उरण् रपर:' से रपरत्व—कर् अभ सु।

(2) शरभ: (= ऊँट, हाथी का बच्चा)—शृणाति हिनस्ति। शॄ हिंसायाम्। शॄ अभच्—पूर्ववत्।

(3) शलभ: (= टिड्डा)—शलति। शल गतौ। शल् अभच्—सु।

(4) कलभ: (= हाथी का बच्चा)—कल सङ्ख्याने धातु। पूर्ववत्।

(5) गर्दभ: (= गधा)—गर्दयति, रूक्षशब्दं करोति। गर्द अव्यक्ते शब्दे। गर्द् अभच्—सु।

(406) ऋषिवृषिभ्यां कित् [3.123]

पद०—ऋषिवृषिभ्याम् 5.2, कित् 1.1

अनु०—'कृशॄ·····भ्योऽभच्' (उ०सू० 3.122) से 'अभच्' की अनुवृत्ति है।

सं०—ऋष् वृष् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् 'अभच्' प्रत्यय: स्यात्, स च कित्-सञ्ज्ञ:।

व्याख्या—ऋष् और वृष् धातुओं से परे 'अभच्' प्रत्यय होता है और वह कित्-सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध है। 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण यहाँ प्राप्त है।

स्वा०द०वृ०—ऋषति गच्छतीति **ऋषभ:**; वर्षतीति **वृषभ:**, श्रेष्ठपर्यायौ बलीवर्दौ वा।

उदा०—(1) ऋषभ: (= बैल, सूअर की पूँछ)—ऋषति। ऋष गतौ। ऋष् अभच्—गुणनिषेध, सु।

(2) वृषभ: (= बैल)—वर्षतीति। वृषु सेचने। वृष् अभच्—पूर्ववत्।

(407) रुषेर्निल्लुष् च [3.124]

पद०—रुषे: 5.1, नित् 1.1, लुष् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कृशॄ·····ऽभच्' (उ०सू० 3.122) से 'अभच्' का तथा 'ऋषिवृषिभ्यां कित्' (उ०सू० 3.123) से 'कित्' का अनुवर्तन है।

सं०—रुष्धातोर् अभच्प्रत्यय: स्यात्, स च नित्सञ्ज्ञ:। धातोश्च स्थाने 'लुष्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'रुषे:' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'रुषे:' पद को पञ्चम्यन्त

मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है तथा द्वितीय 'रुषेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु के स्थान पर आदेश किया जाता है। अर्थ—रुष् धातु के परे अभच् प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर लुष् आदेश होता है। प्रत्यय नित-कित् सञ्ज्ञक होता है। लुष् अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से लुष् आदेश सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् रुष्) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—रोषति हिनस्तीति **लुषभः**, मत्तहस्ती वा। [किदनुवर्तनाद् गुणाभावः।]।

उदा०—(1) लुषभः (= मस्त हाथी)—रोषति हिनस्ति। रुष हिंसायाम्। रुष्—लुष् अभच्—लघूपध गुण प्राप्त, प्रत्यय के कित् होने से गुणनिषेध। नित् होने से आद्युदात्त, सु।

विशेष—दशपादीवृत्तिकार तालव्य शकारान्त रुश् धातु से प्रत्यय करते हैं तथा तालव्य शकारान्त आदेश (लुश्) ही स्वीकार करते हैं। द्रष्टव्य—'रुशेर्निच्च लुश च' (द०वृ० 7.20)। तदनु 'लुशभ' शब्द निष्पन्न होता है। श्वेतवनवासी लिखते हैं कि कुछ व्याख्याकार 'लुश' को प्रकृत्यन्तर मानते हैं। धातुपाठ में भ्वादिगण में वृत्करण नहीं है। अतः वहाँ रुश् लुश् आदि का पाठ गृहीत होता है। जो 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः वृत्' इस प्रकार वृतकरण है, वह यजादि की परिसमाप्ति के लिए है तथा भ्वादि की परिसमाप्ति के लिए नहीं है।

(408) रासिवल्लिभ्यां च [3.125]

पद०—रासिवल्लिभ्याम् 5.2, च—अव्य०।

अनु०—'कृश·····ऽभच्' (उ०सू० 3.122) से 'अभच्' का तथा 'रुषेर्निल्लुष् च' (उ०सू० 3.124) से 'नित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—रास् वल्ल्—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् अभच्प्रत्ययः स्यात् स च नित्-सञ्ज्ञः।

व्याख्या—रास् तथा वल्ल् धातुओं से परे अभच् प्रत्यय होता है तथा वह नित्-सञ्ज्ञक होता है।

स्वा०द०वृ०—रासति शब्दयतीति **रासभः**, खरो वा। वल्लते संवृणोतीति **वल्लभः**, प्रियो वा।

उदा०—(1) रासभः (= गधा)—रासति शब्दयति। रासृ शब्दे। रास् अभच्—सु।

(2) वल्लभः (= प्रिय)—वल्लते संवृणोति। वल्ल संवरणे। वल्ल् अभच्—सु।

(409) जॄविशिभ्यां झच् [3.126]

पद०—जॄविशिभ्याम् 5.2, झच् 1.1
सं०—जॄ विश् इत्येताभ्यां धातुभ्यां झच् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—जॄ और विश्—इन धातुओं से परे झच् प्रत्यय होता है। झच् के 'च्' की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। 'झोऽन्तः' (पा० 7.1.3) से 'झ्' के स्थान पर 'अन्त्' आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—प्रत्ययादिझकारस्य **'झोऽन्त'**। [अ० 7.1.3] इत्यन्तादेशः। जीर्यति स **जरन्तः**, महिषो वा। विशति प्रवेशं करोतीति **वेशन्तः**, अल्पजलाशयो वा।

बाहुलकात्—अर्हति पूज्यो भवतीति **अर्हन्तः** [पूज्यः]।

उदा०—(1) जरन्तः (= महिष, वृद्ध व्यक्ति)—जीर्यति सः। जॄ वयोहानौ। जॄ झच्—जॄ झ—जॄ अन्त् अ—'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व, सु।

(2) वेशन्तः (= छोटा तालाब, अग्नि)—विशति प्रवेशं करोति। विश प्रवेशने। विश् झच्—विश् अन्त अ—'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण—वेशन्त सु।

(3) अर्हन्तः (= पूज्य)—अर्ह् से बाहुलकात् प्रत्यय।

(410) रुहिनन्दिजीविप्राणिभ्यः षिदाशिषि [3.127]

पद०—रुहिनन्दिजीविप्राणिभ्यः 5.3, षित् 1.1, आशिषि 7.1
अनु०—'जॄविशिभ्यां झच्' (उ०सू० 3.126) से 'झच्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—रुह् नन्द् जीव् प्र अण्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो झच् प्रत्ययः स्यात् स च षित्सञ्ज्ञः, आशिषि विषये।

व्याख्या—रुह्, नन्द्, जीव और प्र + अण्—इन धातुओं से परे झच् प्रत्यय होता है, आशीर्वाद के विषय में तथा वह प्रत्यय षित्सञ्ज्ञक है। प्रत्यय को षित् करने का प्रयोजन षिद्लक्षण ङीष् प्रत्यय करना है।

स्वा०द०वृ०—रोहतीति **रोहन्तः**, वृक्षभेदो वा। नन्दति समृद्धियुक्तो भवतीति **नन्दन्तः**, पुत्रो वा। यो जीवति [येन वा] स **जीवन्तः**, औषधं वा। प्राणिति श्वासप्रश्वासान् प्रवर्त्तयति स **प्राणन्तः**, वायुर्वा। षित्त्वात् स्त्रियां ङीष् **'प्राणन्ती, रोहन्ती, नन्दन्ती, जीवन्ती'**।

उदा०—(1) रोहन्तः (= एक वृक्ष)—रोहतीति। रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च। रुह् झच्—'झोऽन्तः' से अन्त् आदेश—रुह् अन्त् अ—'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण—रोह् अन्त—सु। रोहन्त ङीष्—'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से प्रत्यय—भसञ्ज्ञा, अनुबन्धलोप—रोहन्त ई—'यस्येति च' से आकारलोप—रोहन्ती सु—अपृक्त सकार का लोप।

(2) नन्दन्तः (= पुत्र)—नन्दतीति। टुनदि समृद्धौ। न नुम् द्—'इदितो नुम् धातोः' से नुम्—नन्द—अनुस्वार, परसवर्ण—नन्द् झच्—नन्द् अन्त् अ—सु। स्त्रीलिङ्ग में नन्दन्ती।

(3) जीवन्तः (= जीवन)—जीवति यो (येन वा)। जीव प्राणधारणे। जीव् झच्—पूर्ववत्। स्त्रीलिङ्ग में 'जीवन्ती'।

(4) प्राणन्तः (= वायु, जीवनम्)—प्राणिति। प्र अण प्राणने। प्र अण् झच्—स्त्रियाम्—प्राणन्ती।

(411) तॄभूवहिवसिभासिसाधिगडिमण्डिजिनन्दिभ्यश्च [3.128]

पद०—तॄभूवहिवसिभासिसाधिगडिमण्डिजिनन्दिभ्यः 5.3, च—अव्य०।

अनु०—'जॄविशिभ्यां झच्' (उ०सू० 3.126) से 'झच्' का अनुवर्त्तन है। दशपादीवृत्तिकार प्रकृत में पूर्वशास्त्र (रुहिनन्दिजीविप्राणिभ्यः षिदाशिषि—उ०सू० 3.127) से 'षित्' का अनुवर्त्तन स्वीकार करते हैं (द्रष्टव्य—द०वृ० 6.19)।

सं०—तॄ भू वह् वस् भास् साध् गण्ड् मण्ड् जि नन्द्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो झच् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—तॄ, भू, वह्, वस्, भास्, साध्, गण्ड्, मण्ड्, जि और नन्द्—इन धातुओं से परे झच् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—झच्। यस्तरति येन यत्र वा स **तरन्तः** समुद्रः, **तरन्ती** नौका वा। यो भवतीति यत्र वा स **भवन्तः**, कालो वा। वहति कार्याणि प्रापयतीति **वहन्तः**, वायुर्वा। यो वसति यत्र वा स **वसन्तः**, ऋतुभेदो वा। भासयते दीप्यतेऽसौ **भासन्तः**, सूर्यो वा। साध्नोति कार्याणीति **साधन्तः**, भिक्षुको वा। गण्डयति सेचयतीति **गण्डयन्तः**, मेघो वा। मण्डयति शोभितं करोतीति **मण्डयन्तः**, भूषणं वा। जयतीति **जयन्तः**, जयशीलः [वा]। स्त्रियां **'जयन्ती'** पुष्पभेदो वा। **'विजयन्तः'** कश्चिद्राजविशेषस्तस्य प्रासादो **'वैजयन्तः'**, **वैजयन्ती** पताका। नन्दन्ति येन स **नन्दयन्तः**, आनन्दकरो वा। यतः पूर्वसूत्रेऽपि नन्दिः पठितः, ततोऽत्र पुनर्ग्रहणमनाशिष्यपि यथा स्यात्।

उदा०—(1) तरन्तः (= समुद्र, तेज वर्षा, भेक)—यस्तरति (येन यत्र वा)। तॄ प्लवनसन्तरणयोः। तॄ झच्—झोऽन्तः, सार्वधातुकार्धधातु०, उरण्रपरः—तर् अन्त सु।

(2) भवन्तः (= काल)—भवति यो (यत्र वा)। भू सत्तायाम्। भू झच्—भू अन्त—पूर्ववत् गुण—भो अन्त—'एचोऽयवायावः' से अव् आदेश, सु।

(3) वहन्तः (= वायु, शिशु)—वहति कार्याणि प्रापयति। वह प्रापणे। वह् झच्—झोऽन्तः।

(4) वसन्तः (= ऋतु-विशेष)—यो वसति (यत्र वा)। वस निवासे। वस् झच्—पूर्ववत्।

(5) भासन्तः (= सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र)—भासयते दीप्यते। भास दीप्तौ। भास् झच्—पूर्ववत्।

(6) साधन्तः (=भिक्षुक)—साध्नोति कार्याणि। साध संसिद्धौ। साध् झच्।

(7) गण्डयन्तः (= बादल)—गण्डयति सेचयति। गडि सेचने। इदितो नुम् धातोः, अनुस्वार, परसवर्ण—ग नुम् ड्—गण्ड् झच्—शेष पूर्ववत्।

(8) मण्डयन्तः (= आभूषण, आहार)—मण्डयति शोभितं करोति। मडि भूषायाम्। पूर्ववत् नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण, झच् आदि।

(10) जयन्तः (= शिव, चन्द्रमा, जयशील)—जयतीति। जि जये। जि झच्—अन्त् आदेश—जि अन्त् अ—'सार्वधातुकार्धधातुक०' से गुण, अय्, सु।

(11) नन्दयन्तः (= आनन्दकर)—नन्दति येन। टुनदि—आदिर्ञिटुडवः, इदितो नुम् धातोः, अनुस्वार, परसवर्ण—नन्द् झच्—अन्त् आदेश, सु।

(412) हन्तेर्मुट् हि च [3.129]

पद०—हन्तेः 5.1, मुट् 1.1, हि 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'जॄविशिभ्यां झच्' (उ०सू० 3.126) से 'झच्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—हन्धातोर् झच् प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य 'मुट्' इत्यागमो भवति, धातोश्च 'हि' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'हन्तेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'हन्तेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'हन्तेः' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—हन् धातु से परे झच् प्रत्यय होता है, प्रत्यय को 'मुट्' आगम होता है तथा धातु के स्थान पर 'हि' आदेश होता है। मुट् के टकार की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'म्' शेष रहता है। मुट्

टित् हैं। 'आद्यन्तौ टकितौ' से प्रत्यय का आद्यवयव बनता है। 'हि' लुप्तप्रथमान्त रूप है। हि सु—इस दशा में 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्ण०' (पा० 7.1.39) से विभक्ति का लुक् हुआ है। 'हि' अनेकाल् आदेश है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से 'हि' आदेश सम्पूर्ण स्थानी (हन् धातु) के स्थान पर होता है। दशपादीवृत्तिकार 'मुट्' के स्थान पर 'मुक्' आगम मानते हैं। द्रष्टव्य—द०वृ० 6.20)। मुक् आगम धातु को होता है।

स्वा०द०वृ०—यो हन्ति शीतेन स **हेमन्तः**, ऋतुभेदो बा।

उदा०—(1) हेमन्तः (= एक ऋतु)—यो हन्ति। हन हिंसागत्योः। हन्—हि झच्—हि अन्त् अ—मुट् आगम—हि मुट् अन्त—अनुबन्धलोप—हि मन्त—'यदागमास्तद्, अवयवीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते'। 'आर्धधातुकं शेषः' से 'मन्त' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण—हे मन्त सु।

(413) भन्देर्नलोपश्च [3.130]

पद०—भन्देः 5.1, नलोपः 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'जॄविशिभ्यां झच्' (उ०सू० 3.130) से 'झच्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—भन्द्धातोर् झच्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च अनुनासिकस्य लोपो भवति।

व्याख्या—'भन्देः' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—भन्द् धातु से परे झच् प्रत्यय होता है तथा धातु का जो नकार, उसका लोप होता है। भदि धातु इदित् है। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम् होता है। अनुस्वार एवं परसवर्ण होकर 'भन्द्' ऐसा बनता है। 'अनिदितां हल उपधाया०' में अनिदित्, कित्, ङित्—ये तीन शर्तें हैं जो प्रकृत में लागू नहीं होती हैं। अतः अनुनासिक लोप प्राप्त न था। नलोपः के द्वारा उसे कह दिया है।

स्वा०द०वृ०—भन्दते कल्याणं करोतीति **भदन्तः**, प्रव्रजितो वा।

उदा०—(1) भदन्तः (= बौद्ध भिक्षु)—भन्दते कल्याणं करोति। भदि कल्याणे सुखे च—भन्द् झच्—नुम्, अनुनासिकलोप—भद् अन्त् अ—झोऽन्तः, सु।

(414) ऋच्छेररः [3.131]

पद०—ऋच्छेः 5.1, अरः 1.1
सं०—ऋच्छ्धातोर् 'अर'प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—ऋच्छ् धातु से परे 'अर' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—ऋच्छति गच्छति स **ऋच्छरः**; **ऋच्छरा** वेश्या वा।

बाहुलकात्—वदतीति **वदरम्,** वदर्य्याः फलं वा। कन्दति वैकल्यं करोतीति **कदरः**, श्वेतखदिरो वा। [धातोर्नलोपः।] **कपिलकादित्वात्** [अ० 8.2.18 वा०] लत्वे [**कदलः**], **गौरादित्वात्** [अ० 4.1.41] ङीष्—**'कदली, कदरी, वदरी'**। **मन्दर-कन्दर-शीकर-कोटर-शवर-समर-बर्बर-बर्कर-कर्पर-पिञ्जर-अम्बर-आडम्बर-जर्जर-कर्कर-नखर-तोमर**प्रभृतयोऽपि अरप्रत्ययान्ता बहुलवचनादेव साधनीयाः।

उदा०—(1) ऋच्छरः। ऋच्छरा (=वेश्या)—ऋच्छति गच्छति। ऋच्छ गतौ। ऋच्छ् अर—सु। स्त्रियाम्, 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप्—ऋच्छर टाप्—अनुबन्धलोप, सवर्ण दीर्घ, सु।

(2) बाहुलकात् वदरम्—वदतीति। वदरी—गौरादित्वात् ङीष्। (3) कदरः—कन्दति वैकल्यं करोति। धातु के नकार का लोप—कद् अर सु। कदरी—गौरादिलक्षण ङीष्। (4) कदलः—कपिलकादित्वात् लकार आदेश। द्रष्टव्य—पा० 8.2.18 पर वा०। कदली—ङीष्। (5) मन्दरः, (6) कन्दरः, (7) शीकरः, (8) कोटरः, (9) शवरः, (10) समरः, (11) बर्बरः, (12) बर्करः, (13) कर्परः, (14) पिञ्जरः, (15) अम्बरः, (16) आडम्बरः, (17) जर्जरः, (18) कर्करः, (19) नखरः, (20) तोमरः—इत्यादयः अरप्रत्ययान्ताः।

विशेष—दशपादीवृत्तिकार प्रकृत में 'अरन्' प्रत्यय मानते हैं। द्रष्टव्य—'ऋच्छेररन्' (द०वृ० 8.61)। नित् आद्युदात्त स्वर के लिए किया जाता है, परन्तु 'ऋच्छर' शब्द वैदिक साहित्य (अथ० 10.9.23) में मध्योदात्त प्राप्त होता है। 'अर' प्रत्यय करने पर प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त स्वर सिद्ध है। अतः प्रकृत में 'अरन्' प्रत्यय का पाठ उचित प्रतीत नहीं होता है। द्रष्टव्याऽत्रत्योज्ज्वलदत्तीयवृत्तिः।

(415) अर्त्तिकमिभ्रमिचमिदेविवासिभ्यश्चित् [3.132]

पद०—अर्त्तिकमिभ्रमिचमिदेविवासिभ्यः 5.3, चित् 1.1

अनु०—'ऋच्छेररः' (उ०सू० 3.131) से 'अरः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—ऋ कम् भ्रम् चम् दिव् वासि--इत्येतेभ्यो धातुभ्यः 'अर'प्रत्ययः स्यात्, स च चित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—ऋ, कम्, भ्रम्, चम्, दिव् और वासि—इन धातुओं से परे 'अर' प्रत्यय होता है और वह चित्सञ्ज्ञक होता है। चित् करने का प्रयोजन अन्तोदात्त स्वर है। 'वासि' के द्वारा णिजन्त 'वस्' का ग्रहण होता है।

स्वा०द०वृ०—ऋच्छति गच्छति यतः स **अररः**, कपाटो वा। कामयतेऽसौ

कमरः, कामुको वा। भ्राम्यतीति **भ्रमरः**, षट्पदं कामुको वा। चमति भक्षयतीति **चमरः**, मृगभेदो वा। **गौरादित्वात्** [अ० 4.1.41] स्त्रियां ङीष्—'**चमरी**' सुरा गौः। चमर्य्या अयं **चामरः** बालसमूहः। दीव्यति क्रीडादिकं करोतीति **देवरः**, विधवाया द्वितीयः पतिः, पत्युः कनिष्ठभ्राता [वा]। वासयतीति **वासरः**, मङ्गलादिवारो वा।

उदा०—(1) अररः (= किवाड़, आरी)—ऋच्छति गच्छति। ऋ गतौ। ऋ अर—'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—अर् अर सु।

(2) कमरः (= कामुक)—कामयतेऽसौ। कमु कान्तौ। कम् अर—सु।

(3) भ्रमरः (= भौंरा)—भ्राम्यतीति। भ्रमु अनवस्थाने। भ्रम् अर—सु।

(4) चमरः (= एक मृग)—चमति भक्षयति (शष्पादिकम्)। चमु अदने। चम् अर—सु। चमरी—ङीष्।

(5) देवरः (= देवर)—दीव्यति क्रीडति। दिवु क्रीडादिषु। दिव् अर—'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण, सु।

(6) वासरः (= वार)—वासयति। वस निवासे। वस् णिच्—अर प्रत्यय—वास् इ अर—णिलोप, सुलोप।

(7) वाशरः (= कोयल)—दशपादी वृत्ति में 'चम्' का पाठ नहीं है तथा 'वास्' के स्थान पर 'वाश्' का पाठ है। तदनु 'वाशर' शब्द निष्पन्न होता है। (द्रष्टव्य—द०वृ० 8.62)। आचार्य भट्टोजि दीक्षित भी 'वाश्' पाठान्तर स्वीकार करते हैं। द्रष्टव्य—केचित्तु सूत्रे 'वाशिभ्य' इति तालव्यं पठित्वा 'वाशृ शब्दे' इत्यस्मादरप्रत्ययो वाश्यत इति वाशरः कोकिल इत्याहुः (द्रष्टव्य—प्रौ० म०)।

(416) कुवः क्ररन् [3.133]

पद०—कुवः 5.1, क्ररन् 1.1

सं०—कुधातोः क्ररन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कु धातु से क्ररन् प्रत्यय होता है। 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से तथा 'न्' की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा होती है। 'रर' शेष रहता है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—कौति शब्दयतीति कुररः, पक्षिभेदो वा।

उदा०—(1) कुररः (= पक्षी-विशेष)—कौति शब्दयति। कु शब्दे। कु क्ररन्—सु।

(417) अङ्गिमदिमन्दिभ्य आरन् [3.134]

पद०—अङ्गिमदिमन्दिभ्यः 5.3, आरन् 1.1

सं०—अङ्ग् मद् मन्द्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य आरन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—अङ्ग्, मद् और मन्द्—इन धातुओं से परे आरन् प्रत्यय होता है। न् अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। कुछ पुस्तकों में 'चारन्' प्रत्यय का विधान प्राप्त होता है, जो उचित नहीं है।

स्वा०द०वृ०—अङ्गति गच्छति स **अङ्गारः**, निर्धूमोऽग्निर्भूमिविकारो वा। माद्यति मत्तो भवतीति **मदारः**, वराहो वा। मन्दते स्तौतीति **मन्दारः**, निम्बतरुरर्कवृक्षो वा। बाहुलकात् 'मन्द'धातोर् 'आरु'प्रत्ययोऽपि भवति। मन्दतेऽसौ **मन्दारुः**, निम्बार्को वा।

उदा०—(1) अङ्गारः (= अंगार)—अङ्गति गच्छति। अगि गतौ। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण—अङ्ग् आरन्—सु।

(2) मदारः (= वराह, मस्त हाथी)—माद्यति मत्तो भवति। मद स्तुतौ। मद् आरन्—सु।

(3) मन्दारः (= वृक्षविशेष, स्वर्ग, हाथी)—मन्दते स्तौति। मदि स्तुत्यादिषु। नुम् आदि पूर्ववत्।

(4) मन्दारुः (= नीम, आक का वृक्ष)—बाहुलकात् 'आरु' प्रत्यय।

(418) गडेः कड च [3.135]

पद०—गडेः 5.1, कड 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'अङ्गिमदिमन्दिभ्य आरन्' (उ०सू० 3.134) से 'आरन्' की अनुवृत्ति है।

सं०—गड्धातोर् आरन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'कड' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'कड' लुप्तविभक्तिक रूप है। कड सु—इस दशा में 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्ण०' (पा० 7.1.39) से सुलुक् होता है। कड् अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण स्थानी (गड् धातु) के स्थान पर 'कड्' आदेश होता है। डकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। अर्थ—गड् धातु से परे आरन् प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर 'कड्' सर्वादेश होता है।

स्वा०द०वृ०—गडति सिञ्चतीति **कडारः**, पीतवर्णो वा।

उदा०—(1) कडारः (= पीतवर्ण, सेवक)—गडति सिञ्चति। गड सेचने। गड्—कड् आरन्—सु।

(419) शृङ्गारभृङ्गारौ [3.136]

पद०—शृङ्गारभृङ्गारौ 1.2

सं०—शृङ्गार भृङ्गार—इत्येतौ शब्दौ 'आरन्'प्रत्ययान्तौ निपात्येते ।

व्याख्या—आरन् प्रत्यय का प्रकरण है । अर्थ—शृङ्गार और भृङ्गार—ये शब्द आरन् प्रत्ययान्त साधु हैं ।

स्वा०द०वृ०—शृणाति हिनस्तीति **शृङ्गारः**, हस्तिशोभा नाट्यरसो दम्पत्योरन्योऽन्यं सम्भोगस्पृहा वा । अत्र धातोर्नुम्, ह्रस्वादेशश्च । बिभर्ति पुष्यतीति **भृङ्गारः**, सुवर्णपात्रविशेषो वा; स्त्रियां **'भृङ्गारी'**, कीटजातिभेदो वा, 'झींगर' इति प्रसिद्धः ।

उदा०—(1) शृङ्गारः (= एक रस, हाथी की शोभा)—शृणाति हिनस्ति । शॄ हिंसायाम् । शॄ—धातु को नुम् आगम, धातु को ह्रस्वादेश—शृ नुम् गुक् आरन्—धातु को नुक् और गुक् आगम, अनुबन्धलोप—शृ न् ग् आर—सु ।

(2) भृङ्गारः (= सुराही)—बिभर्ति पुष्यति । डुभृञ् धारणपोषणयोः । पूर्ववत् आदि ।

(3) भृङ्गारी (= झींगुर) ।

(420) कञ्जिमृजिभ्यां चित् [3.137]

पद०—कञ्जिमृजिभ्याम् 5.2, चित् 1.1

अनु०—'अङ्गिमदिमन्दिभ्य आरन्' (उ०सू० 3.134) से 'आरन्' की अनुवृत्ति है ।

सं०—कञ्ज् मृज् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् आरन्प्रत्ययः स्यात् । स च चित्सञ्ज्ञः ।

व्याख्या—कञ्ज् और मृज्—इन धातुओं से परे आरन् प्रत्यय होता है और वह चित्सञ्ज्ञक होता है । प्रत्यय को चित् करने का प्रयोजन अन्तोदात्त स्वर करना है ।

स्वा०द०वृ०—कञ्जति रौतीति **कञ्जारः**, मयूरो व्यञ्जनं वा । मार्ष्टि शुन्धतीति **मार्जारः**, विडालो वा; स्त्रियां 'मार्जारी' ।

उदा०—(1) कञ्जारः (= मोर, व्यञ्जन)—कञ्जति रौति । कञ्जि एक सौत्र धातु है ।

(2) मार्जारः (= बिलाव)—मार्ष्टि शुन्धति । मृजूष् शुद्धौ । मृज् आरन्—'मृजेर्वृद्धिः' से वृद्धि तथा 'उरण् रपरः' से रपरत्व—मार्ज् आरन्—सु ।

(3) मार्जारी—'स्त्रियाम्' के अधिकार में । मार्जार ई—अकारलोप, सु ।

(421) कमेः किदुच्चोपधायाः [3.138]

पद०—कमे: 5.1, कित् 1.1, उत् 1.1, च—अव्य०, उपधाया: 6.1

अनु०—'अङ्गिमदिमन्दिभ्य आरन्' (उ०सू० 3.134) से 'आरन्' की तथा 'कञ्जिमृजिभ्यां चित्' (उ०सू० 3.137) से 'चित्' की अनुवृत्ति है। प्रकृत में कित् करण का कोई प्रयोजन दृष्टिगोचर नहीं होता है। 'कित्' का अनुवर्त्तन उत्तरशास्त्र में इष्ट है। अत: प्रकृत में 'कित्' का निर्देश है।

सं०—कम्धातोर आरन् प्रत्यय: स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञ:। धातोश्च उपधाया: स्थाने उत् इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'कमे:' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'कमे:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'कमे:' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'उपधाया:' के साथ अन्वय किया जाता है। उत् में तकार उच्चारणार्थ है। उत्=ह्रस्व उकार। 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' से उपधा सञ्ज्ञा होती है। अर्थ—कम् धातु से परे आरन् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक व चित् होता है तथा धातु के उपधासञ्ज्ञक वर्ण (अर्थात् अकार) के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—चिदनुवर्त्तते। कामयते भोगानिति **कुमार:**, शिशुर्युवराजो वा। **'कुमार क्रीडायाम्'** इत्यस्मादपि पचाद्यचि कृते कुमारशब्दो व्युत्पद्यते। तदुपायान्तरमर्थभेदश्च।

उदा०—(1) कुमार: (=शिशु, पुत्र, अग्नि, कार्त्तिकेय)—कामयते भोगान्। कमु कान्तौ। कम् णिङ्—णि का लोप—कम् आरन्—धातु के उपधासञ्ज्ञक वर्ण को उकार। कुम् आर—लघुपध गुण का निषेध, सु।

(422) तुषारादयश्च [3.139]

पद०—तुषारादय: 1.3, च—अव्य०।

सं०—तुषारादयश्शब्दा आरन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—आरन् प्रत्यय का प्रकरण चल रहा है। तुषार आदि शब्द आरन् प्रत्ययान्त निपातित हैं। सूत्र में 'आदि' शब्द प्रकारवाची है।

स्वा०द०वृ०—यस्तुष्यति येन वा तत् **तुषारम्**, हिमं वा। कासते शब्दयति निन्दति वा स **कासार:**, सरो वा। सहतीति **सहार:**, आम्रभेदो वा। तर्कयति भाषतेऽसौ **तर्कार:**; स्त्रियां **गौरादित्वात्** [अ० 4.1.41] **'तर्कारी'**, जयन्ती विशेषलता वा।

उदा०—(1) तुषार: (=बर्फ, एक कपूर)—यस्तुष्यति (येन वा)। तुष् आरन्—सु।

(2) कासारः (= तालाब)—कासते शब्दयति निन्दति। कास् आरन्—सु।

(3) सहारः (= एक आम, प्रलय)—सहतीति। सह् आरन्—सु।

(4) तर्कारः—तर्कयति भाषते। तर्क् आरन्।

(5) तर्कारी (= एक बेल)—'स्त्रियाम्' के अधिकार में गौरादिलक्षण ङीष्। सु, अपृक्त सकार का लोप।

(423) दीङो नुट् च [3.140]

पद०—दीङः 5.1, नुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'अङ्गिमदिमन्दिभ्य आरन्' (उ०सू० 3.134) से 'आरन्' की अनुवृत्ति है।

सं०—दीधातोर् आरन्प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च 'नुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—दी धातु से परे आरन् प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को नुट् आगम होता है। 'ट्' की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'न्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—दीयते क्षयति येन वा स **दीनारः**, सुवर्णाभरणं वा।

उदा०—(1) दीनारः (= एक मुद्रा)—दीयते क्षयति येन। दीङ् उपक्षये। दी नुट् आरन्—अनुबन्धलोप—दीन् आर—सु।

(424) सर्त्तेरपः षुक् च [3.141]

पद०—सर्त्तेः 5.1, अपः 1.1, षुक् 1.1, च—अव्य०।

सं०—सृधातोर् 'अप' प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'षुक्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—सृ धातु से परे 'अप' प्रत्यय होता है तथा धातु को 'षुक्' आगम होता है। 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'ष्' शेष रहता है। आगम कित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से धातु का अन्ताऽवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—सरति गच्छति स **सर्षपः**, कटुस्नेहवान् वा।

उदा०—(1) सर्षपः (= एक पौधा)—सरति। सृ गतौ। सृ षुक् अप—अनुबन्धलोप, लघूपध गुण, उरण् रपरः—सृष् अप—सर्ष् अप—सु।

(425) उषिकुटिदलिकचिखजिभ्यः कपन् [3.142]

पद०—उषिकुटिदलिकचिखजिभ्यः 5.3, कपन् 1.1

सं०—उष् कुट् दल् कच् खज्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कपन् प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—उष्, कुट्, दल्, कच् और खज्—इन धातुओं से परे 'कपन्' प्रत्यय होता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—ओषति दहति स **उषपः**, अग्निः सूर्यो वा। कुटतीति **कुटपः**, मानभाण्डं वा। दालयति विदारयतीति **दलपः**, प्रहारो वा। कचते बध्नातीति **कचपम्**, शाकपात्रं वा। खजति मथ्नाति मथ्यत इति **खजपम्**, घृतं वा।

उदा०—(1) उषपः (= अग्नि, सूर्य)—ओषति दहति। उष दाहे। उष् कपन्—अनुबन्धलोप—उष् अप—सु। 'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त गुण का निषेध।

(2) कुटपः (= मानपात्र, संन्यासी)—कुटति। कुट कौटिल्ये। कुट् कपन्—पूर्ववत् गुणनिषेध, सु।

(3) दलपः (= प्रहार, शस्त्र, सोना)—दालयति विदारयति। दल विदारणे। दल् कपन्—सु।

(4) कचपम् (= शाकपात्र)—कचते बध्नाति। कच बन्धने। कच् कपन्—सु।

(5) खजपम् (= घी)—खजति मथ्नाति। खज मन्थे। पूर्ववत्।

(426) क्वणेः सम्प्रसारणं च [3.143]

पद०—क्वणेः 5.1, सम्प्रसारणम् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'उषि·····कपन्' (उ०सू० 3.142) से 'कपन्' की अनुवृत्ति है।

सं०—क्वण्धातोः कपन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च सम्प्रसारणं स्यात्।

व्याख्या—क्वण् धातु से परे कपन् प्रत्यय होता है और धातु को सम्प्रसारण होता है। 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से धातु के यण् वर्ण (अर्थात् वकार) के स्थान पर इक् (अर्थात् उकार) वर्ण आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—क्वणति शब्दं करोतीति **कुणपः**, शवो मृद्भेदो वा।

उदा०—(1) कुणपम् (= शव, मृद्विशेष)—क्वणति शब्दं करोति। क्वण शब्दे। क्वण् कपन्—अनुबन्धलोप, धातु को सम्प्रसारण—क् उ अण् अप—'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप एकादेश—कुणप सु—अतोऽम्।

(427) कपश्चाक्रवर्म्मणस्य [3.144]

पद०—कपः 1.1, चाक्रवर्म्मणस्य 6.1

अनु०—'क्वणेः सम्प्रसारणं च' (उ०सू० 3.143) से 'क्वणेः' की अनुवृत्ति है।

सं०—आचार्यचाक्रवर्म्मणस्य मते क्वण्धातोः कपप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—आचार्य चाक्रवर्म्मण के मत में क्वण् धातु से 'कपन्' प्रत्यय होता है। उणादिकोशकार के मत में कपन् होता है। दोनों में स्वर का अन्तर है। कपन् प्रत्ययान्त 'कुणप' शब्द आद्युदात्त होता है तथा 'कप' प्रत्ययान्त 'कुणपं' शब्द मध्योदात्त होता है। कप प्रत्यय आद्युदात्त है।

स्वा०द०वृ०—चाक्रवर्मणस्य मते कपे सति प्रत्ययस्यादिरुदात्तः। अन्यमते सङ्घातस्याद्युदात्तत्वम्।

उदा० (1) कुणपंः (= शव, बर्छी, दुर्गन्ध)—क्वण् कप—लशक्वतद्धिते, तस्य लोपः—क्वण् अप—सम्प्रसारण—कुण् अप—प्रत्यय आद्युदात्त, शेष अनुदात्त—कुणप्—उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित आदेश—कुणपं—सु।

(428) विटपविष्टपविशिपोलपाः [3.145]

पद०—विटपविष्टपविशिपोलपाः 1.3

सं०—विटप विष्टप विशिप उलप—इत्येते शब्दाः कपप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—कप प्रत्यय का प्रकरण है। विटप, विष्टप, विशिप और उलप ये शब्द कप्प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—कपप्रत्ययान्ता निपाताः। वेटति शब्दयति वायुनेति **विटपः**, शाखाविस्तारो वा। विशन्ति यत्रेति **विष्टपम्**, भुवनं वा। [प्रत्ययस्य तुडागमः।] **त्रिविष्टपः**, सुखविशेषभोगो वा। धातोर्वकारस्य पत्वं प्रत्ययस्य तुट् च **त्रिपिष्टपम्** इति वा। विशन्ति यत्रेति **विशिपम्**, मन्दिरं वा। प्रत्ययादेरित्वम्। वलते संवृणोतीति **उलपम्**, कोमलतृणं वा। धात्वादेः सम्प्रसारणम्।

उदा०—(1) विटपः (= वृक्ष, शाखा, कोंपल)—वेटति शब्दयति। विट शब्दे। विट् कप—सु। मध्योदात्त।

(2) विष्टपम् (= भुवन)—विशन्ति यत्र। विश प्रवेशने। विश् तुट् कप—प्रत्यय को तुट् आगम, अनुबन्धलोप—विश् त् अप—'श्' को 'ष्' आदेश—विष् तप—ष्टुना ष्टुः—विष्टप सु।

(3) विशिपम् (= मन्दिर, घर)—विशन्ति यत्र। विश् कप—प्रत्यय के आदि वर्ण को इकार आदेश, सु।

(4) उलपम् (= कोमल घास)—वलते संवृणोति। वल संवरणे। वल् कप धातु के आदि वर्ण को सम्प्रसारण, सु।

'विष्टप' शब्द मध्योदात्त प्राप्त होता है। इसमें कप प्रत्यय जानना चाहिए। वैदिक साहित्य में 'उलप' शब्द आद्युदात्त प्राप्त होता है। अतः इसमें कपन् प्रत्यय जानना चाहिए।

(429) वृतेस्तिकन् [3.146]

पद०—वृतेः 5.1, तिकन् 1.1

सं०—वृत्धातोस् तिकन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वृत् धातु से परे तिकन् प्रत्यय होता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—वर्त्ततेऽसौ **वर्त्तिका**, पक्षिभेदो वा। यस्तु 'वृतुधातोर्ण्वुल्प्रत्यये 'वर्त्तका'शब्दस्तत्र वार्तिकेनेत्वनिषेधाद् **'वर्त्तका'** इत्येव। तत्रोणादीनामव्युत्पन्नत्वाद् [**वर्त्तिका**] **वर्तका** व्युत्पन्न इति भेदः।

उदा०—(1) वर्त्तिका (= एक पक्षी)—वर्त्ततेऽसौ। वृतु वर्त्तने। वृत् तिकन्—आर्धधातुकं शेषः, 'पुगन्तलघूपध०' से लघूपध गुण—वर्त् तिक--'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप—वर्त्तिक आ सवर्णदीर्घ, सु, अपृक्त सकार का लोप।

वृत् धातु से ण्वुल् प्रत्यय करने पर 'वर्त्तक' शब्द से पूर्ववत् टाप् होकर 'वर्त्तक टाप्' इस दशा में 'वर्तका शकुनौ प्राचाम्' (पा० 7.3.45 वा०) से इत्त्व आदेश का निषेध होता है। तब 'वर्त्तका' शब्द सिद्ध होता है।

(430) कृतिभिदिलतिभ्यः कित् [3.147]

पद०—कृतिभिदिलतिभ्यः 5.3, कित् 1.1

अनु०—'वृतेस्तिकन्' (उ०सू० 3.146) से 'तिकन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—कृत् भिद् लत्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यस् तिकन्प्रत्ययः स्यात्, स च कित्-सञ्ज्ञः।

व्याख्या—कृत्, भिद् और लत्—इन धातुओं से परे तिकन् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध करना है।

स्वा०द०वृ०—कृन्तीति **कृत्तिका**, नक्षत्रं वा। भिनत्तीति **भित्तिका**, भित्तिर्वा। लततीति **लत्तिका,** गोधा वा।

उदा०—(1) कृत्तिका (एक नक्षत्र)—कृन्ततीति। कृती छेदने। कृत् तिकन्—टाप्, सु।

(2) भित्तिका (= दीवार)—भिनत्तीति। भिदिर् विदारणे। भिद् तिकन्—'खरि च' से चर्त्व—भित् तिक—टाप्, सु।

(3) लत्तिका (= गोधा)—लततीति। लत सौत्र धातु। लत् तिकन्—पूर्ववत्।

(431) इष्यशिभ्यां तकन् [3.148]

पद०—इष्यशिभ्याम् 5.2, तकन् 1.1

सं०—इष् अश् इत्येताभ्यां धातुभ्यां तकन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—इष् और अश्—इन धातुओं से परे तकन् प्रत्यय होता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—इष्यतेऽसौ **इष्टका** [मृद्विकारविशेषः]। अश्नुते सा **अष्टका**, वैदिककर्मविशेषो वा।

बाहुलकात्—मस्यति परिणमतीति **मस्तकम्,** शिरो वा। दधातीति **धातकम्**। स्त्रियां '**धातकी**' पुष्पभेदः।

उदा०—(1) इष्टका (= ईंट)—इष्यतेऽसौ। इषु इच्छायाम्। इष् तकन्—'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व—इष् टक—टाप्, सु, अपृक्त सकार का लोपा।

(2) अष्टका (= वैदिक कर्मविशेष)—अश्नुते सा। अशूङ् व्याप्तौ। अश् तकन्—'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से शकार को षकार—अष् तक—शेष पूर्ववत्।

(3) मस्तकम् (= शिर)—मस्यति परिणमति। मस् धातु से बाहुलकात् प्रत्यय—मस् तकन्—सु।

(4) धातकम्—दधातीति। इसी प्रकार—धातकी (=पुष्पविशेष)—स्त्रीलिङ्ग में। षिद्गौरादिभ्यश्च।

(432) इणस्तशन्तशसुनौ [3.149]

पद०—इणः 5.1, तशन्तशसुनौ 1.2

सं०—'इ'धातोस् तशन्-तशसुन्—इत्येतौ प्रत्ययौ स्याताम्।

व्याख्या—'इ' धातु से तशन् और तशसुन् प्रत्यय होते हैं। तशन् के 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। तश शेष रहता है। तशसुन् के 'न्' की पूर्ववत् इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है 'तशस्' शेष रहता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—एति प्राप्नोतीति **एतशः, [एतशौ]। एतशाः, एतशसौ,** अश्वो ब्राह्मणो वा। एकोऽदन्तोऽपरः सान्तः।

उदा०—(1) एतशः (= अश्व, ब्राह्मण)—एतीति। प्राप्नोति। इण् गतौ। इ तशन्—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण—एतश सु।

(2) एतशाः (= अश्व, ब्राह्मण)—'अनुबन्धलोप—ए तशस्—पूर्ववत् गुण, सु। एतशस् स्—'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (पा० 6.4.14) से दीर्घ आदेश—एतशास् स्—'हल्ङ्याब्भ्यो०' (पा० 6.1.66) से अपृक्त सकार का लोप। रुत्व, विसर्ग। दशपादीवृत्तिकार तशस् तथा तशसुन्—ये दो प्रत्यय मानते हैं। दोनों दशाओं में 'एतशाः' प्रयोग निष्पन्न होता है। केवल स्वर का अन्तर है। द्रष्टव्य—द०वृ० 10.6......स्वरे विशेषः।

(433) वीपतिभ्यां तनन् [3.150]

पद०—वीपतिभ्याम् 5.2, तनन् 1.1
सं०—वी पत्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां तनन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वी तथा पत् इन धातुओं से परे तनन् प्रत्यय होता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। तनन् की आर्धधातुक सञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—वेति प्राप्नोति खादति वा तद् **वेतनम्,** भृतिर्वा। वेतनेन जीवति **वैतनिकः** कर्मकरः। पतति गच्छतीति **पत्तनम्,** नगरं वा।

उदा०—(1) वेतनम् (= वेतन)—वेति प्राप्नोति खादति वा। वी गत्यादिषु। वी तनन्—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातुक०' से गुण, सु, अतोऽम्।

(2) पत्तनम् (= नगर)—पतति गच्छति। पत्लृ गतौ। पत् तनन्—अनुबन्धलोप—पत्तन—सु—अतोऽम्।

(434) दृदलिभ्यां भः [3.151]

पद०—दृदलिभ्याम् 5.2, भः 1.1
सं०—दृ दल् इत्येताभ्यां धातुभ्यां 'भ'प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—दृ और दल्—इन धातुओं से परे 'भ' प्रत्यय होता है। 'भ' की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—दृणाति विदारयतीति **दर्भः**, कुशो वा। दलते विशीर्णो भवतीति **दल्भः**, ऋषिश्चक्रं वा।

उदा० (1) दर्भः (= कुश)—दृणाति विदारयति। दृ विदाणे। दृ भ—'सार्वधातुकार्धधातुक०' से गुण, 'उरण्रपरः' से रपरत्व, सु।

(2) दल्भः (छल, पाप)—दलते विशीर्णो भवति। दल विशरणादिषु। दल् भ—दल्भ सु—विभक्तिकार्य।

(435) अर्त्तिगृभ्यां भन् [3.152]

पद०—अर्त्तिगृभ्याम् 5.2, भन् 1.1

सं०—ऋ गृ—इत्येताभ्यां धातुभ्यां 'भन्'प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—ऋ तथा गृ धातुओं से परे भन् प्रत्यय होता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—इयर्ति गच्छतीति **अर्भः**, शिशुर्वा। अल्पोऽर्भोऽर्भकः। गिरति गृणात्युपदिशतीति गर्भः, जठरं तत्रस्थो वा। **'गर्भादप्राणिनि'** इति **तारकादित्वाद्** (अ० 5.2.36) इतच्। **गर्भिताः** शालयः। प्राणिनि तु—**'गर्भिणी'**।

उदा०—(1) अर्भः (= शिशु)—इयर्त्ति गच्छति। ऋ गतौ। ऋ भन्—आर्धधातुकं शेषः, सार्वधातुकार्धधातुक०, उरण् रपरः—अर् भ—सु।

(2) गर्भः (= गर्भ)—गिरति गृणात्युपदिशति। गृ शब्दे। गृ भन्—पूर्ववत् गुण आदि।

(3) गर्भिताः शालयः—'गर्भादप्राणिनि' से तारकादि होने से 'तदस्य सञ्जातम्०' (पा० 5.2.36) से इतच्, जस्। प्राणी अर्थ में 'गर्भिणी' बनता है।

(436) इणः कित् [3.153]

पद०—इणः 5.1, कित् 1.1

अनु०—'अर्त्तिगृभ्यां भन्' (उ०सू० 3.152) से 'भन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—'इ'धातोर् भन्प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—'इ' धातु से भन् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध करना है।

स्वा०द०वृ०—एतीति **इभः**, हस्ती वा।

उदा०—(1) इभः (= हाथी)—एति। इण् गतौ। इ भन्—गुणनिषेध, सु।

(437) असिसञ्जिभ्यां क्थिन् [3.154]

पद०—असिसञ्जिभ्याम् 5.2, क्थिन् 1.1

सं०—अस् सञ्ज् इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्थिन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—अस् और सञ्ज्—इन धातुओं से परे क्थिन् प्रत्यय होता है। 'न्' की

'हलन्त्यम्' से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा होती है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए तथा 'क्' अनुबन्ध अनुनासिकलोप के लिए है।

स्वा०द०वृ०—अस्यति प्रक्षिपति येन तत् **अस्थि**, कीकसं शरीरान्तरवयवो वा। सजतीति **सक्थि**, ऊरुदेशो वा।

उदा०—(1) अस्थि (=हड्डी)—अस्यति प्रक्षिपति। असु क्षेपणे। अस् क्थिन्—अस् थि—सु।

(2) सक्थि (=लट्ठा, ऊरुदेश)—सजतीति। षञ्ज सङ्गे। सञ्ज—'धात्वादेः षः सः' से सकार—सञ्ज् क्थिन्—सज् थि—'अनिदितां हल उप०' से अनुनासिक लोप—सग् थि—'चोः कुः' से कुत्व—सक् थि—'खरि च' से चर्त्व, सु।

(438) प्लुषिकुषिशुषिभ्यः क्सिः [3.155]

पद०—प्लुषिकुषिशुषिभ्यः 5.3, क्सिः 1.1

सं०—प्लुष् कुष् शुष्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्सिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—प्लुष्, कुष्, शुष्—इन धातुओं से परे क्सि प्रत्यय होता है। 'लशक्वतद्धिते' से 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—प्लोषति दहतीति **प्लुक्षिः**, अग्निर्वा। कुष्णाति निष्कृषतीति **कुक्षिः**, जठरं गर्भाशयो वा। शोषयतीति **शुक्षिः**, वायुर्वा। अत्रान्तर्गतो णिच्, तस्य च पर्णशुड्वत् (द्रष्टव्य—2.23, पृष्ठ 141) णिलुक्।

उदा०—(1) प्लुक्षिः (= अग्नि)—प्लोषति दहति। प्लुष दाहे। प्लुष् क्सि—प्लुष् सि—गुणनिषेध, 'षढोः कः सि' से ककार—प्लुक् सि—'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य आदेश—प्लुक् षि—सु। प्लुष स्नेहादिषु। प्लुष्णाति।

(2) कुक्षिः (= कोख, गर्त्त, कन्दरा)—कुष्णाति। कुष निष्कर्षे। कुष् क्सि—पूर्ववत्।

(3) शुक्षिः (= वायु)—शोषयति। शुष शोषणे। शुष् क्सि—पूर्ववत्।

(439) अशेर्नित् [3.156]

पद०—अशेः 5.1, नित 1.1

अनु०—'प्लुषिकुषिशुषिभ्यः क्सिः' (उ०सू० 3.155) से 'क्सिः' की अनुवृत्ति है।

सं०—अश्धातोः क्सिप्रत्ययः स्यात्, स च नित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—अश् धातु से परे क्सि प्रत्यय होता है और वह नित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को नित् करने का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—अश्नुते व्याप्नोति विषयान् येन तत् **अक्षि,** नेत्रं वा।

उदा०—(1) अक्षि (=नेत्र)—अश्नुते व्याप्नोति विषयान् येन। अशूङ् व्याप्तौ। अश् क्सि—'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से शकार को षकार—अष् सि—'षढोः कः सि' से ककार—अक् सि—आदेशप्रत्यययोः, सु।

(440) इषेः क्सुः [3.157]

पद०—इषेः 5.1, क्सुः 1.1

सं०—इष्धातोः क्सुप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—इष् धातु से परे क्सु प्रत्यय होता है। 'लशक्वतद्धिते' से ककार की इत्सञ्ज्ञा है। 'क्' अनुबन्ध का प्रयोजन लघूपध गुण का निषेध है।

स्वा०द०वृ०—इष्यते स **इक्षुः,** मधु तृणं वा।

उदा०—(1) इक्षुः (= गन्ना)—इष्यते सः। इषु गतौ। इष् क्सु—इष् सु—ककार, मूर्धन्य आदेश।

(441) अवितॄस्तॄतन्त्रिभ्य ईः [3.158]

पद०—अवितॄस्तॄतन्त्रिभ्यः 5.3, ईः 1.1

सं०—अव् तॄ स्तॄ तन्त्र् इत्येतेभ्यो धातुभ्य 'ई'प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—अव्, तॄ, स्तॄ और तन्त्र्—इन धातुओं से परे 'ई' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—अवतीति **अवीः**, रजस्वला स्त्री वा। तरति यया सा **तरीः**, नौका वस्त्रादिरक्षकं भाण्डं वा। स्तृणोत्याच्छादयतीति **स्तरीः**, धूमो वा। तन्त्रयति कुटुम्बं धरतीति **तन्त्रीः**, वीणा वा। णिलोपः।

उदा० (1) अवीः (= रजस्वला स्त्री)—अवतीति। अव रक्षणादिषु। अव् ई—सु।

(2) तरीः (= नौका)—तरति यया सा। तॄ प्लवनसन्तरणयोः। तॄ ई—गुण, रपरत्व, सु।

(3) स्तरीः (= धूम)—स्तृणोति। आच्छादयति। स्तॄञ् आच्छादने। पूर्ववत् गुण आदि।

(4) तन्त्रीः (= वीणा)—तन्त्रयति कुटुम्बं धारयति। तत्रि. कुटुम्बधारणे। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण—तन्त्र् ई—सु। णिलोप।

(442) यापोः किद् द्वे च [3.159]

पद०—यापोः 6.2, कित् 1.1, द्वे 1.2, च—अव्य०।

अनु०—'अवितृस्तृ……ई:' (उ०सू० 3.158) से 'ई:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—या पा इत्येताभ्यां धातुभ्याम् 'ई'प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः। धातोश्च द्वे भवतः।

व्याख्या—या और पा—इन धातुओं से परे 'ई' प्रत्यय होता है और वह कित्-सञ्ज्ञक होता है। धातु को द्वित्व होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन आकार-लोप करना है।

स्वा०द०वृ०—याति प्रापयति स **ययीः**, अश्वो वा। पिबति पाति रक्षतीति वा स **पपीः**, सूर्यश्चन्द्रो वा।

उदा०—(1) ययी: (= घोड़ा)—याति प्रापयति। या प्रापणे। या ई—या या ई—द्वित्व, पूर्वोऽभ्यासः, 'ह्रस्वः' से ह्रस्वादेश—य या ई—'आतो लोप इटि च' से आकारलोप सु।

(2) पपी: (= सूर्य)—पाति पिबति वा। पा रक्षणे। पा पाने। पा ई—पूर्ववत्।

(443) लक्षेर्मुट् च [3.160]

पद०—लक्षे: 5.1, मुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'अवितृ……ई:' (उ०सू० 3.158) से 'ई:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—लक्ष्धातोर् ईप्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च 'मुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—लक्ष् धातु से परे 'ई' प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को मुट् आगम होता है। 'ट्' की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'म्' शेष रहता है। आगम टित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से यह प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—लक्षयति पश्यत्यङ्कयति वा सा **लक्ष्मीः**, विभूतिर्वा। लक्ष्मीरस्यातीति **'लक्ष्मणः'**। **'लक्ष्म्या अच्च'** इति **पामादिपाठात्** [अ० 5.2.100] मत्वर्थीयो नः।

उदा०—(1) लक्ष्मी: (= शोभा, विभूति)—लक्षयति पश्यति। लक्ष दर्शनाऽङ्कनयोः। लक्ष् मुट् ई—अनुबन्धलोप—लक्ष्मी सु—रुत्व, विसर्ग।

॥ इति 'पीयूष'संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याद्वयोपेतोणादिकोषे तृतीयः पादः ॥



चतुर्थः पादः

(444) वातप्रमीः [4.1]

पद०—वातप्रमीः 1.1

सं०—वातप्रमीशब्द ईप्रत्ययान्तो निपात्यते।

व्याख्या—वातप्रमी शब्द ईप्रत्ययान्त निपातित है। 'वात' शब्द उपपद में रहते प्रपूर्वक 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' धातु से निपातनात् 'ई' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—वात इव प्रमिणोति प्रक्षिपतीति **वातप्रमीः**, अतिशीघ्रगामी हरिणविशेषो वा। पुँल्लिङ्ग एवायं शब्दः। वातप्रमीन् मृगान्। ङौ तु—वातप्रमी, अमि—वातप्रमीम्।

बाहुलकात्—उश्यते काम्यतेऽसौ **उशी**, वाञ्छा [वा]। तत्कुशला नरा अस्मिन् सन्तीति **'उशीनरो'** देशः। अत्र बहुलवचनादेव सम्प्रसारणम्।

उदा०—(1) वातप्रमीः (= एक मृग)—वात इव प्रमिणोति प्रक्षिपति। वात प्रमि ई—सु।

बाहुलकात् निम्नलिखित में 'ई' प्रत्यय होता है—

(2) उशीः (= वाञ्छा)। उश्यते काम्यतेऽसौ। उश् ई—सु। बाहुलकात् सम्प्रसारण है।

(445) ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज्यर्पिमद्यत्यङ्गिकुयुकृशिभ्यः कत्निज्यतुजलि-जिष्णुजिष्ठज्सिनन्स्यनिथिन्नुल्यसासानुकः [4.2]

पद०—ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज्यर्पिमद्यत्यङ्गिकुयुकृशिभ्यः 5.3, कत्निज्यतुजलि-जिष्णुजिष्ठजिसन्स्यनिथिन्नुल्यसासानुकः 1.3

सं०—ऋ तन् अञ्ज् वन् अञ्जि अर्पि मद् अत् अङ्ग् कु यु कृश्—इत्येतेभ्यो द्वादशेभ्यो धातुभ्यः क्रमेण कत्निच्-यतुच्-अलिच्-इष्णुच्-इष्ठच्-इसन्-स्यन्-इथिन्-उलि-अस-आस-आनुक् इत्येते प्रत्ययाः स्युः।

व्याख्या—बारह प्रकृतियाँ (यथा—ऋ आदि) हैं। बारह प्रत्यय (यथा—कत्निच् आदि) हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—ऋ, तन्, अञ्ज्, वन्, अञ्जि, अर्पि, मद्, अत्, अङ्ग्, कु, यु और कृश्—इन बारह धातुओं से परे

यथाक्रम कत्निच्, यतुच्, अलिच्, इष्णुच्, इष्ठच्, इसन्, स्यन्, इथिन्, उलि, अस, आस तथा आनुक् प्रत्यय होते हैं अर्थात् ऋ से 'कत्निच्', तन् से 'यतुच्', अञ्ज् से 'अलिच्', वन् से 'इष्णुच्', अञ्जि से 'इष्ठच्', अर्पि से 'इसन्', मद् से 'स्यन्', अत् से 'इथिन्' अङ्ग् से 'उलि', कु से 'अस', यु से 'आस' तथा कृश् से 'आनुक्' प्रत्यय होता है। अञ्जि के द्वारा णिच् प्रत्ययान्त अञ्ज् (= अञ्ज् इ) का तथा अर्पि के द्वारा णिच् प्रत्ययान्त ऋ (ऋ इ) का ग्रहण होता है। कत्निच् के 'च्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'लशक्वतद्धिते' से 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'अत्नि' शेष रहता है। 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है तथा 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है। यतुच् के 'च्' की इत्सञ्ज्ञा है। अलिच् का 'च्' इत्सञ्ज्ञक है। इष्णुच् का 'च्' इत्सञ्ज्ञक है। इष्ठच् का 'च्' इत्सञ्ज्ञक है। इसन् का 'न्' इत्सञ्ज्ञक है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। स्यन् का 'न्' इत्सञ्ज्ञक है। इथिन् का 'न्' इत्सञ्ज्ञक है आनुक् का 'क्' इत्सञ्ज्ञक है। क् अनुबन्ध लघूपध गुण के निषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—एभ्यो द्वादश धातुभ्यः कत्निजादयो द्वादश प्रत्यया यथासंख्यं भवन्ति। ऋच्छति गच्छतीति **रत्निः**, बद्धमुष्टिहस्तो वा। [बद्धमुष्टिः] प्रसृत-[कनिष्ठ]ाङ्गुलिररत्निः। तनु—यतुच्—तनोति विस्तृणोतीति **तन्यतुः**, वायू रात्रिर्वा। अञ्जू—अलिच्—अनक्ति व्यक्तं करोतीति **अञ्जलिः**, संयुतौ करौ वा। वनु—इष्णुच्—वनोति याचतेऽसौ **वनिष्णुः**, अपानवायुर्वा। अञ्जू—इष्ठच्—अनक्ति प्रकटयति पदार्थानिति **अञ्जिष्ठः**, सूर्यो वा। अर्पि—इसन्—अर्पयतीति **अर्पिसः**, [हृदयस्य] अग्रमांसं वा। [मदि—स्यन्—] माद्यति हृष्यतीति **मत्स्यः**, मीनो वा। अत—इथिन्—अतति निरन्तरं गच्छति भ्रमतीति **अतिथिः**, अकस्मादागतः सज्जनो वा। न विद्यते नियता तिथिरस्येति व्युत्पत्त्यन्तरम्। स्त्रियां **कृदिकारादक्तिनः** [अ० 4.1.45 गणसूत्रम्] इति ङीष्—**'अतिथी'** स्त्री। अङ्गि—उलि अङ्गति चेष्टतेऽनेन सः **अङ्गुलिः**, करशाखा वा। कु अस कौति वा कवत इति **कवसः**, कण्टकजातिर्वा। **'अच'** इति पाठान्तरम्। तदा कवत इति **कवचम्** [वर्म उरस्त्राणं वा]। [यु—आस—] यौति मिश्रयतीति **यवासः**, कण्टकवृक्षभेदो वा। [कृश—आनुक्—] कृशति तनूकरोतीति **कृशानुः**, अग्निर्वा।

उदा०—(1) रत्निः (= मूँठी बन्धा हाथ)—ऋच्छति गच्छति। ऋ गतौ। ऋ कत्निच्—ऋ अत्नि—गुण का निषेध, 'इको यणचि' से यण्, सु। 'अत्निच्' पाठान्तर प्राप्त होता है। तब 'अरत्नि' शब्द बनता है।

(2) तन्यतुः (= वायु, रात्रि)—तनोति विस्तृणोति। तनु विस्तारे। तन् यतुच्—सु।

(3) अञ्जलिः (= अंजलि)—अनक्ति व्यक्तं करोति। अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु। अञ्ज् अलिच्—अञ्जलि सु।

(4) वनिष्णुः (= अपान वायु)—वनोति याचतेऽसौ। वन सम्भक्तौ। वन् इष्णुच्—अनुबन्धलोप—वनिष्णु सु।

(5) अञ्जिष्ठः (= सूर्य)—अञ्जयति प्रकटयति। णिच् प्रत्ययान्त अञ्जि इष्ठच्—णिलोप—अञ्ज् इष्ठ सु।

(6) अर्पिसः (= हृदय का अगला मांस)—अर्पयतीति। ऋ गतौ णिच्, पुक् आगम, गुण—अर्प् ई इसन्—णिलोप—अर्पिस सु।

(7) मत्स्यः (= मछली)—माद्यति हृष्यति। मदी हर्षे। मद् स्यन्—'खरि च' से चर्त्व—मत् स्य सु।

(8) अतिथिः (= अतिथिः)—अतति निरन्तरं गच्छति। अत सातत्यगमने। अत् इथिन्—अतिथि सु। व्युत्पत्त्यन्तरं यथा—न विद्यते नियतो तिथिर्यस्य। नञ् बहुव्रीहि समास। स्त्रीत्व की विवक्षा में 'कृदिकारादक्तिनः' (पा० 4.1.45 गणसूत्र) से ङीष् होकर 'अतिथी' शब्द बनता है।

(9) अङ्गुलिः (= अंगुलि)—अङ्गति चेष्टतेऽनेन। अगि गत्यर्थे। इदितो नुम् धातोः, नश्चाऽपदान्तस्य, अनुस्वारस्य ययि पर०—अङ्ग् उलि—सु।

(10) कवसः (= कण्टक)—कौति कवते वा। कु शब्दे। कु अस—आर्धधातुकं शेषः, सार्वधातुकार्धधातुक०—को अस—एचोऽयवायावः, सु।

(11) यवासः (= एक वृक्ष)—यौति मिश्रयति। यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः। यु आस—पूर्ववत् गुण, अव् आदेश, सु।

(12) कृशानुः (= अग्नि)—कृशति तनूकरोति। कृश तनूकरणे। कृश् आनुक्—'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त गुण का निषेध—कृशानु सु।

(446) श्रः करन् [4.3]

पद०—श्रः 5.1, करन् 1.1

सं०—शृधातोः करन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—शॄ धातु से करन् प्रत्यय होता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। करन् के 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा प्राप्त है। अग्रिम सूत्र (पुषः कित् 4.4) में प्रत्यय को कित्करण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि करन् के 'क्' की इत्सञ्ज्ञा नहीं है। यदि करन् के 'क्' की इत्सञ्ज्ञा करते हैं तो पुष् धातु से परे करन् को कित् करना व्यर्थ हो जाता है।

स्वा०द०वृ०—शृणातीति **शर्करा**, खण्डविकारो मृद्विकारो वा ।

उदा०—(1) शर्करा (= बालू, खाण्ड)—शृणाति हिनस्ति । शॄ हिंसायाम् । शॄ करन्—आर्धधातुकलक्षण गुण, 'उरण् रपर:' से रपरत्व—शर् कर—स्त्रियाम्, 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ, सु, लोप ।

(447) पुषः कित् [4.4]

पद०—पुष: 5.1, कित् 1.1
अनु०—'श्र: करन्' (उ०सू० 4.3) से 'करन्' की अनुवृत्ति है ।
सं०—पुष्धातो: करन्प्रत्यय: स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञ: ।

व्याख्या—पुष् धातु से परे करन् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन लघूपध गुण का निषेध करना है ।

स्वा०द०वृ०—पुष्णातीति **पुष्करम्**, अन्तरिक्षं क़मलमुदकं वा ।

उदा०—(1) पुष्करम् (= आकाश, कमल, वायु)—पुष्णाति । पुष पुष्टौ । पुष् कर—सु ।

(448) कलँश्च [4.5]

पद०—कलन् 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'पुषे: कित्' (उ०सू० 4.4) से 'पुषे:' और 'कित्' का अनुवर्त्तन है ।
सं०—पुष्धातो: कलन्प्रत्यय: स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञ: ।

व्याख्या—पुष् धातु से परे कलन् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक है। कलन् के 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है ।

स्वा०द०वृ०—'पुष'धातो: कलनपि । पुष्यतीति **पुष्कलम्,** पूर्णं वा ।

उदा०—(1) पुष्कलम् (= पर्याप्त) पुष्यतीति । पुष् कलन्—पूर्ववत् ।

(449) गमेरिनिः [4.6]

पद०—गमे: 5.1, इनि: 1.1
सं०—गम्धातोर् इनिप्रत्यय: स्यात् ।

व्याख्या—गम् धातु से परे इनि प्रत्यय होता है । नकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है । 'इन्' शेष रहता है ।

स्वा०द०वृ०—गमिष्यतीति **गमी**, पथिको वा। **भविष्यति गम्यादय:** [3.3.3] इति कालनियम: ।

उदा०—(1) गमी (= पथिक)—गमिष्यतीति। गम् इनि—गमिन् सु—'सौ च' (पा० 6.4.13) से उपधादीर्घ।

(450) आङि णित् [4.7]

पद०—आङि 7.1, णित् 1.1

अनु०—'गमेरिनिः' (उ०सू० 4.6) से सम्पूर्ण सूत्र की अविकल अनुवृत्ति है।

सं०—आङ्पूर्वक गम्धातोर् इनिप्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययश्च णित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—आङि सप्तम्यन्त पद है। 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' से आङ् की उपपद सञ्ज्ञा होती है। अर्थ—'आङ्' शब्द के उपपद रहते गम् धातु से इनि प्रत्यय होता है और वह णित्सञ्ज्ञक होता है। णित् करने का प्रयोजन वृद्धि करना है।

स्वा०द०वृ०—णित्त्वाद् वृद्धिः। आगमिष्यतीति **आगामी** [भविष्यत्कालः]।

उदा०—(1) आगामी (= भविष्यत्काल)—आगमिष्यतीति। आङ् गम् इनि—अनुबन्धलोप। आगम् इन्—'अत उपधायाः' से वृद्धि आदेश—आगामिन् सु—'सौ च' (पा० 6.4.13) से इन्नन्त अङ्ग की उपधा को वृद्धि, अपृक्त सकार का लोप—आगामीन् स्—आगामीन्—'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (पा० 8.2.7) से नलोप।

(451) भुवश्च [4.8]

पद०—भुवः 5.1, च—अव्य०।

अनु०—'गमेरिनिः' (उ०सू० 4.6) से 'इनिः' का तथा 'आङि णित्' (उ०सू० 4.7) से 'णित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—भूधातोर् इनिप्रत्ययः स्यात्, स च णित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—भू धातु से इनि प्रत्यय होता है और वह णित्सञ्ज्ञक होता है।

स्वा०द०वृ०—इनिः णित्। भविष्यतीति **भावी** [भविष्यत्कालः]।

उदा०—(1) भावी (= भविष्यत्काल)—भविष्यतीति। भू इनि—'अचो ञ्णिति' से वृद्धि आदेश—भौ इन्—'एचोऽयवायावः' से आव् आदेश, सु, विभक्तिकार्य।

(452) प्रे स्थः [4.9]

पद०—प्रे 7.1, स्थः 5.1

अनु०—'गमेरिनिः' (उ०सू० 4.6) से 'इनिः' का तथा 'आङि णित्' (उ०सू० 4.7) से 'णित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—प्रपूर्वकात् स्थाधातोर् इनिप्रत्ययः स्यात्, स च णित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—'प्र' शब्द के उपपद रहते स्था धातु से परे इनि प्रत्यय होता है और वह णित्सञ्ज्ञक होता है।

स्वा०द०वृ०—इनिः णित्। णित्त्वाद्युक्। प्रस्थातुमिच्छतीति **प्रस्थायी** गन्तुमनाः।

उदा०—(1) प्रस्थायी (= जाने का इच्छुक)—प्रस्थातुम् इच्छाति। प्र ष्ठा इनि—धात्वादेः सः—सठा—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्ययायः'—प्रस्था इन्—'आतो युक् चिण्कृतोः' से युक् आगम। प्रस्था युक् इन—अनुबन्धलोप—प्रस्थायिन् सु।

(453) परमे कित् [4.10]

पद०—परमे 7.1, कित् 1.1

अनु०—'प्रे स्थः' (उ०सू० 4.9) से 'स्थः' का तथा 'गमेरिनिः' (उ०सू० 4.6) से 'इनिः' की अनुवृत्ति है।

सं०—'परम'पूर्वकात् स्थाधातोर् इनिप्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—'परम' शब्द के उपपद रहते स्था धातु से परे इनि प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन आकारलोप करना है।

स्वा०द०वृ०—परमे उत्तमे व्यवहारे तिष्ठतीति **परमेष्ठी**, सर्वेषां पितामह ईश्वरो वा। सप्तम्या अलुक् षत्वं च।

उदा०—(1) परमेष्ठी (= ईश्वर)—परमे उत्तमे व्यवहारे तिष्ठति। परमे स्था इनि—'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' से सप्तमी विभक्ति का अलुक्—परमे स्थ् इन्—'आतो लोप इटि च' से आकारलोप—परमे ष् थ् इन्—'अम्बाऽम्बगोभूमि०' (पा० 8.3.97) से षत्व हुआ। 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व—परमेष्ठिन् सु—'सौ च' (पा० 6.4.13) से उपधादीर्घ, अपृक्त सकार का लोप, नलोप।

(454) मन्थः [4.11]

पद०—मन्थः 5.1

अनु०—'परमे कित्' (उ०सू० 4.10) से 'कित्' का तथा 'गमेरिनिः' (उ०सू० 4.6) से 'इनिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—मन्थ्धातोर् इनिप्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—मन्थ् धातु से परे इनि प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है।

स्वा०द०वृ०—इनिः कित्, कित्त्वान्नलोपः। मन्थयति विलोडयतीति **मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः**; दध्यादिमन्थनदण्डो वज्रो वायुर्वा। मथिन्शब्दस्य सर्वनामस्थान आत्त्वम् [थो न्थ आदेशश्च (अ० 7.1.86-87)]।

उदा०—(1) मन्थाः (= मन्थनदण्ड)—मन्थति विलोडयति। मन्थ् इनि—'अनिदितां हल उपधाया०' (6.4.24) से अनुनासिकलोप—मथ् इन्—सु—'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (पा० 7.1.85) से आकार अन्तादेश—मथि आ स्—'इतोऽत् सर्वनामस्थाने' (पा० 7.1.86) से इकार के स्थान पर अत् आदेश—मथ् अ आस्—'थो न्थः' (पा० 7.1.87) से थकार को 'न्थ्' आदेश—म न्थ् अ आस्—सवर्णदीर्घ—मन्थ् आस्—रुत्व, विसर्ग।

(455) पतः थ च [4.12]

पद०—पतः 5.1, थ 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'गमेरिनिः' (उ०सू० 4.6) से 'इनिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—पत्धातोर् इनिप्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'थ्' इत्यादेशः स्यात्।

व्याख्या—'पतः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'पतः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'पतः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'थ' पद के साथ अन्वय किया जाता है। 'थ' यह लुप्तप्रथमान्त रूप है। थ सु—इस दशा में 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण०' ((पा० 7.1.39) से सुप् का लुक् होता है। थकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। अर्थ—पत् धातु से परे इनि प्रत्यय होता है तथा धातु को 'थ्' आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से 'थ्' आदेश पत् धातु के अन्त्य अल् (त्) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—पतन्ति गच्छन्ति यत्र स **पन्थाः, पन्थानौ** मार्गः। पूर्ववदात्वम्। **'पथे गतौ'** इत्यस्माद्धातोः पचाद्यचि कृते **पथः, पथौ, पथाः** इत्यदन्तोऽपि दृश्यते।

उदा०—(1) पन्थाः (= मार्ग)—पतन्ति गच्छन्ति यत्र। पत् इनि—पथ् इन्—पथिन् सु—पूर्ववत् आकार, न्थ्, सवर्णदीर्घ—पथि आस्—प थ् अ आस्—पन्थ् अ आस्—पन्थ् आस्—रुत्व, विसर्ग।

(456) खजेराकः [4.13]

पद०—खजेः 5.1, आकः 1.1

सं०—खज्धातोर् आकप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—खज् धातु से परे 'आक' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—खजति मथ्नातीति **खजाकः** पक्षिः; **खजाका**, दर्व्विर्वा।

बहुलवचनात्—मन्द्यन्ते स्तूयन्ते तानि **मन्दाकानि**, स्रोतांसि वा। तान्यस्याः सन्तीति '**मन्दाकिनी**' नदीभेदः।

उदा०—(1) खजाकः (= पक्षी)—खजति मथ्नाति। खज मन्थे। खज् आक सु। बाहुलकात्—

(2) मन्दाकानि—मन्द्यन्ते स्तूयन्ते तानि। इसी प्रकार मन्दाकानि अस्याः सन्ति। मन्दाकिनी (एक नदी)।

(457) बलाकादयश्च [4.14]

पद०—बलाकादयः 1.3, च—अव्य०।

सं०—बलाकादयः शब्दा आकप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—बलाका आदि शब्द आकप्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—वलते संवृणोत्यसौ **वलाका**, बकपङ्क्तिः कामिनी [वा]; **वलाको**, बकपक्षी वा। मन्यते जानाति सा **मनाका**, हस्तिनी वा। पुनातीति **पवाका** [वात्या वा]।

उदा०—(1) बलाका (= बकपंक्ति)—बलते संवृणोति। वल संवरणे। वल् आक—टाप् आदि। बाहुलकात् बकारादेश।

(2) मनाका (= हथिनी)—मन्यते जानाति। मन ज्ञाने। मन् आक—पूर्ववत्।

(3) पवाका (= तूफान)—पुनाति। पूञ् पवने। पू आक—आर्धधातुक गुण—पो आक—'एचोऽयवायावः' से अव् आदेश, टाप्, सु।

(4) मवाका (= हथिनी का बन्धन)—पूर्ववत्। मव्य बन्धने। मव्यति, मव्यते। निपातन से यकारलोप। मव् आक—टाप्।

(458) शलिपटिपतिभ्यो नित् [4.15]

पद०—शलिपटिपतिभ्यः 5.3, नित् 1.1

अनु०—'खजेराकः' (उ०सू० 4.13) से 'आकः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—शल् पट् पत्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य आकप्रत्ययः स्यात् स च नित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—शल्, पट्, पत्—इन धातुओं से परे 'आक' प्रत्यय होता है और वह नित्सञ्ज्ञक होता है। नित्करण आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०--यां शलन्ति गच्छन्तीति **शलाका**, अञ्जनयष्टिका वा। पटति गच्छतीति **पटाकः**, पक्षी वा। पत्यते ज्ञायतेऽसौ **पताका**, ध्वजा वा।

उदा०—(1) शलाका (= अञ्जनयष्टि)—शलन्ति गच्छन्ति याम्। शल गतौ। शल् आक—स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ—शलाका सु—अपृक्त सकार का लोप। बालमनोरमाकार 'शम गतौ' से व्युत्पादित करते हैं।

(2) पटाकः (= पक्षी)—पटति गच्छति। पट गतौ। पट् आक—पटाक सु—विभक्तिकार्य।

(3) पताका (ध्वजा)—पत्यते ज्ञायते। पत्लृ गतौ। पत्यते ज्ञायते। पत् आक—टाप्, सवर्णदीर्घ, सु।

(459) पिनाकादयश्च [4.16]

पद०—पिनाकादयः 1.3, च—अव्य०।

सं०—पिनाकादयश्शब्दा आकप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—आक प्रत्यय तथा नित् अतिदेश का प्रकरण चल रहा है। अर्थ—पिनाक आदि शब्द आक प्रत्ययान्त निपातित हैं तथा आद्युदात्त स्वर होता है।

स्वा०द०वृ०—पाति रक्षतीति **पिनाकः**, त्रिशूलं धनुर्वा। ताडयत्याहन्तीति तडाका, प्रभा वा।

बहुलवचनात्—आगप्रत्यये सति **तडागः** इत्यपि सिद्धं भवति। भन्दतेऽसौ **भदाकः** कल्याणम्। धातोर्नलोपः। श्यायते प्राप्नोतीति **श्यामाकः**, व्रीहिभेदो वा, 'समा' इति प्रसिद्धः। मुगागमो निपातनम्। न भाति प्रकाशत इति **नभाकम्**, मेघयुतमाकाशं वा। यं पिनष्टि सम्यक् चूर्णयति स **पिण्याकः**, तिलकल्को वा। धातोः षकारस्य णत्वं युगागमश्च। वर्त्तते येन स **वार्त्ताकः**; **वार्त्ताकी** वा, 'वनभण्टा' इति प्रसिद्धा। धातोर्वृद्धिः। गुवति पुरीषमुत्सृजतीति **गुवाकः**, पूगीफलं वा। कुटादित्वाद् गुणाभावः।

उदा०—(1) पिनाकः (= शिव का धनुष)—पाति रक्षति। पा रक्षणे। पा आक्—नुक आगम, धातु को इकार अन्तादेश—पिन् आक सु।

(2) तडाकः (= प्रकाश)—'तड ताडने' धातु से आक प्रत्यय होता है। तड् आक—सु—विभक्तिकार्य।

(3) भदाकः (=कल्याण, सौभाग्य)—भन्दतेऽसौ। भदि आक—न् का लोप, सु।

(4) श्यामाकः (= चावल विशेष)—श्यायते प्राप्नोति। श्यैङ्—आदेच उपदेशेऽशिति—श्या आक—मुक् आगम, सु। दशपादीवृत्तिकार (द०वृ० 3.34) मुम् आगम मानते हैं।

(5) नभाकम् (= राहुविशेष, अन्धकार)—न भाति प्रकाशते। नञ् भा आक—न भाक सु—अतोऽम्।

(6) पिण्याकः (= तिलों का कल्क)—यं पिनष्टि सम्यक् चूर्णयति। पिष् आक—धातु को 'ण्' अन्तादेश, युक् आगम—पिण् युक् आक—अनुबन्धलोप, सु।

(7) वार्त्ताकः (= वनभण्टा)—वर्तते येन सः। वृतु वर्त्तने। वृत् आक—धातु को वृद्धि आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—वार् ताक—अचो रहाभ्यां द्वे, सु।

(8) गुवाकः (= सुपारी)—गुवति पुरीषम् उत्सृजति। कुटादिगण में पाठ होने से 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' (पा० 1.2.1) से 'आक' प्रत्यय ङित् हुआ। गुणनिषेध—गु आक—'अचि श्नुधातु०' (पा० 6.4.77) से उवङ् आदेश—गुव्आक सु।

(9) तडागः—'आग' प्रत्यय। तड् आग सु।

(460) कषिदीषिभ्यामीकन् [4.17]

पद०—कषिदूषिभ्याम् 5.2, ईकन् 1.1

सं०—कष् दूष्—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् ईकन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कष् और दूष्—इन धातुओं से परे ईकन् प्रत्यय होता है। 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—कषति हिनस्तीति **कषीका**, पक्षिजातिर्वा। दूषयतीति **दूषीका**, नेत्रमलं वा।

उदा०—(1) कषीका (= एक पक्षी), कुदाल—कषति हिनस्ति अनया। कष हिंसायाम्। कष् ईकन्—स्त्रियाम्, टाप्, सु।

(2) दूषीका (= नेत्रमल, लेखनी)—दूषयति। दुष वैकृत्ये। दुष् णिच्—ईकन् प्रत्यय, णिलोप।

(461) अनिहृषिभ्यां किच्च [4.18]

पद०—अनिहृषिभ्याम् 5.2, कित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कषि……मीकन्' (उ०सू 4.17) से 'ईकन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अन् हृष् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् ईकन्प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—अन् और हृष् धातुओं से परे ईकन् प्रत्यय होता है और वह कित् होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध करना है।

स्वा०द०वृ०—अनिति जीवयतीति **अनीकम्**, विरुद्धं सैन्यं वा। हृष्यति तुष्टो भवतीति येन तत् **हृषीकम्**, ज्ञानेन्द्रियं वा।

उदा०—(1) अनीकम् (= सेना)—अनिति जीवयति। अन प्राणने। अन् ईकन्—अनीक सु।

(2) हृषीकम् (= इन्द्रिय)—हृष्यति तुष्टो भवति येन। हृष तुष्टौ। हृष् ईकन्—प्रत्यय के कित् होने से लघूपध गुण का निषेध।

(3) दृषीका (= पुष्पवती)—दशपादीवृत्तिकार (द्रष्टव्य—द०वृ० 3.41) हृष् के स्थान पर 'दृश्' पाठ मानते हैं। तदनु—पश्यन्ति तां विस्मितमनस इति। दृशिर् प्रेक्षणे धातु से ईकन्। टाप् आदि पूर्ववत्।

(462) चङ्कणः कङ्कणश्च [4.19]

पद०—चङ्कणः 5.1, कङ्कणः 1.1, च—अव्य०।

सं०—चङ्कणधातोर् ईकन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'कङ्कण्' इत्यादेशो भवति।

अनु०—'कषि·······मीकन्' (उ०सू० 4.17) से 'ईकन्' का अनुवर्त्तन है।

व्याख्या—'चङ्कण्' के द्वारा यङ्लुगन्त कण् धातु का ग्रहण होता है। अर्थ—चङ्कण् धातु से परे ईकन् प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर कङ्कण् आदेश होता है। कङ्कण अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' के द्वारा यह सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् चङ्कण्) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—यङ्लुगन्तात् 'कण'धातोरीकन् कङ्कणादेशश्च। पुनः पुनः कणति शब्दयतीति **कङ्कणीका**, वाद्यसाधनविशेषो वा, 'घरियार' इति प्रसिद्धः। **किङ्किणीका** क्षुद्रघण्टिका। बहुलवचनात् [धातोरकारस्येत्त्वे] सिद्धम्।

उदा०—(1) कङ्कणीका (= घुंघरु)—पुनः पुनः कणति शब्दं करोति। चङ्कण्—कङ्कण् ईकन्—टाप्, सवर्णदीर्घ—कङ्कणीका सु—अपृक्त सकार का लोप।

(2) किङ्किणीका—बाहुलकात् धातु के अकार को इकार आदेश। दशपादीवृत्तिकार (द०वृ० 6.36) 'किङ्कण' आदेश मानते हैं। द्रष्टव्य—चङ्कणेः किङ्कणश्च। इनके मत में 'किङ्कणीका' शब्द बनता है।

(463) शॄपॄवृञां द्वेरुक् चाऽभ्यासस्य [4.20]

पद०—शॄपॄवृञाम् 6.3, द्वे 1.2, रुक् 1.1, च—अव्य०, अभ्यासस्य 6.1।

अनु०—'कषि·······मीकन्' (उ०सू० 4.17) से 'ईकन्' की अनुवृत्ति है।

सं०—शॄ पॄ वृञ्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य ईकन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च द्वे भवतः, अभ्यासस्य च 'रुक्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—शृ, पृ और वृञ्—इन धातुओं से परे ईकन् प्रत्यय होता है, धातु को द्वित्व होता है तथा अभ्यास को रुक् आगम होता है। 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है, उकार उच्चारणार्थ है। 'र्' शेष रहता है। आगम कित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से अन्तावयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—शृणाति हिनस्तीति **शर्शरीकः**, हिंसकः [वा]। पिपर्ति पालयतीति **पर्परीकः**, सूर्य्यो वा। वृणोति स्वीकरोतीति **वर्वरीकः**, कुटिलकेशो जनो वा।

उदा०—(1) शर्शरीकः (= हिंसक, दुष्ट)—शृणाति हिनस्ति। शॄ हिंसायाम्। शृ ईकन्—धातु को द्वित्व—शृ शृ ईकन्—पूर्वोऽभ्यासः, 'उरत्' से अभ्यास को अत् आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—शर् शृ ईकन्—'हलादिः शेषः' से हलादि शेष—श शर् ईकन्—अभ्यास को रुक् आगम—शर् शरीक सु। ईकन् की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा है, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व।

(2) पर्परीकः (= सूर्य, अग्नि, जलाशय)—पिपर्ति पालयति। पृ पालन-पूरणयोः। पृ ईकन्—पूर्ववत्।

(3) वर्वरीकः (=एक तुलसी)—वृणोति स्वीकरोति। वृञ् वरणे। वृ ईकन्—पूर्ववत्। दशपादीवृत्तिकार (3.37) वृङ् सम्भक्तौ धातु से 'वर्वरीका' शब्द व्युत्पन्न करते हैं।

(464) फर्फरीकादयश्च [4.21]

पद०—फर्फरीकादयः 1.3, च—अव्य०।

सं०—फर्फरीकादयश् शब्दा ईकन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—फर्फरीक आदि शब्द ईकन् प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—स्फुरति चेतनं भवतीति **फर्फरीकम्**, पत्रादिसहितः शाखा-ग्रन्थिर्वा। ईकन्प्रत्यये धातोः फर्फरादेशः। दृणातीति **दर्दरीकम्**, वादित्रं वा। करोति कार्याणि येन तत् **कर्करीकम्**, शरीरं वा; **कर्करीका** गलन्तिका, 'कलशी' इति प्रसिद्धा। अत्रोभयत्र धातोर्द्वित्वमभ्यासस्य रुक् च। तिम्यत्यार्द्रीकरोतीति **तिन्तिडीकः**, वृक्षजातिर्वा। मकारस्य डकारोऽभ्यासस्य नुट् च। चरति गच्छति भक्षयति वा **चञ्चरीकः**, भ्रमरो वा। अभ्यासस्य नुम्। म्रियतेऽसौ **मर्मरीकः**, हीनजनो वा। पुणति शुभकर्माचरतीति **पुण्डरीकम्**, श्वेताम्भोजं सितपत्रं भेषजं व्याघ्रोऽग्निर्वा।

उदा०—(1) फर्फरीकम् (= पत्तों से युक्त शाखा)—स्फुरति। स्फुर स्फुरणे। स्फुर् ईकन्—धातु को फर्फर आदेश—फर्फर् ईकन्—सु।

(2) दर्दरीकम् (= वादित्र)—दृणाति। दॄ विदारणे। पूर्ववत्।

(3) तिन्तिडीकः (= एक वृक्ष)—ति न् तिड् ईकन्—सु। तिम्यत्यार्द्रीकरोति। नुट् आगम। डकार अन्तादेश।

(4) चञ्चरीकः (= भौंरा)—चरति। चर गतिभक्षणयोः। चन् चर् ईकन्—धातु को द्वित्व, 'चरेर्नुम् च' गणसूत्र से नुम् आगम, अनुस्वार, परसवर्ण, सु।

(5) कर्करीकम् (= शरीर)—करोति कार्याणि येन तत्। डुकृञ् करणे। पूर्ववत् धातु को द्वित्व, अभ्यास को रुक् आगम।

(6) मर्मरीकः (= नीच व्यक्ति)—म्रियत इति। मृ मरणे। पूर्ववत्।

(7) पुण्डरीकम् (= श्वेत कमल)—पुणति शुभकर्माचरति। पुण शुभे कर्मणि।

(8) झर्झरीकम् (= शरीर)—जीर्यते। जृष् वयोहानौ। जृ जृ—धातु को द्वित्व, अभ्यास कार्य—ज जृ—ज र् जृ ईकन्—अभ्यास को रुक् आगम्, गुण, उरण् रपरः—जर्जर् ईक—तृतीय अक्षर को निपातन से चतुर्थ अक्षर, सु।

(465) ईषेः किद्ध्रस्वश्च [4.22]

पद०—ईषेः 5.1, कित् 1.1, ह्रस्वः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कषि.......मीकन्' (उ०सू० 4.17) से 'ईकन्' की अनुवृत्ति है।

सं०—ईष्धातोर् ईकन्प्रत्ययः स्यात् स च कित्सञ्ज्ञः स्यात्। धातोश्च ह्रस्वाऽऽदेशः स्यात्।

व्याख्या—ईष् धातु से परे ईकन् प्रत्यय होता है और वह कित् होता है। धातु को ह्रस्व आदेश होता है। धातु के अच् वर्ण (ईकार) के स्थान पर ह्रस्व आदेश (इकार) होता है।

स्वा०द०वृ०—कित्त्वाद् गुणाभावः। ईषते गच्छतीति **इषीका**, मुञ्जादिशलाका वा।

उदा०—(1) इषीका (= मुञ्जादि शलाका)—ईषते गच्छति। ईष गतौ। ईष्—इष् धातु को ह्रस्व आदेश—इष् ईकन्—इषीक टाप्—सवर्ण दीर्घ, सु, लोप।

विशेष—प्रत्यय को कित् गुणनिषेध के लिए किया जाता है। द्रष्टव्य—कित्त्वाद् गुणाऽभावः (उणादिकोश—स्वामी दयानन्दवृत्ति)। प्रकृत में ह्रस्व विधान व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि यहाँ गुण नहीं होता है। यदि आचार्य को गुण कार्य इष्ट होता तो ह्रस्व विधान की क्या आवश्यकता थी? अतः ह्रस्व विधान सामर्थ्य से यहाँ गुण नहीं होता है। तब कित्त्व विधान चिन्त्य है। समा०—प्रकृत में कित्करण उत्तरशास्त्र में अनुवर्त्तन के लिए है।

(466) ऋजेश्च [4.23]

पद०—ऋजेः 5.1, च—अव्य० ।

अनु०—'कषि......मीकन्' (उ०सू० 4.17) से 'ईकन्' की 'ईषेः किद्ध्रस्वश्च' (उ०सू० 4.22) से 'कित्' की अनुवृत्ति है।

सं०—ऋज्धातोर् ईकन्प्रत्ययः स्यात् स च कित्सञ्ज्ञः ।

व्याख्या—ऋज् धातु से परे ईकन् प्रत्यय होता है तथा वह कित्सञ्ज्ञक होता है। कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध है।

स्वा०द०वृ०—कित्। अर्जति गच्छतीति **ऋजीकः**, उपहतो वा। कित्वाद् गुणनिषेधः ।

उदा०—(1) ऋजीकः (= उपहत)—अर्जति गच्छति। ऋेज गत्यादिषु। ऋज् ईकन्—सु, लघूपध गुण का निषेध।

(467) सर्त्तेर्नुम् च [4.24]

पद०—सर्त्तेः 5.1, नुम् 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'कषि........मीकन्' (उ०सू० 4.17) से 'ईकन्' की तथा 'ईषेः किद् ध्रस्वश्च (उ०सू० 4.22) से 'कित्' की अनुवृत्ति है।

सं०—सृधातोर् ईकन्प्रत्ययः स्यात् स च कित्सञ्ज्ञः। धातोश्च 'नुम्' आगमो भवति।

व्याख्या—सृ धातु से परे ईकन् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। धातु को 'नुम्' आगम होता है। 'म्' इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। 'न्' शेष रहता है। 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से ऋकार से परे नुम् होता है।

स्वा०द०वृ०—सरति प्राप्नोतीति **सृणीका**, लाला वा, ष्ठीवनभेदः 'लार' इति प्रसिद्धम्।

उदा०—(1) सृणीका (= लार)—सरति प्राप्नोति। सृ गतौ। सृ नुम् ईकन्—अनुबन्धलोप—सृ न् ईक—प्राप्त लघुपध गुण का निषेध। 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से णत्व टाप्, सु। सृणीकः (= वायु)। स्त्रीत्व की विवक्षा में सवर्ण दीर्घ, सु, लोप।

(468) मृडः कीकन्कङ्कणौ [4.25]

पद०—मृडः 5.1, कीकन्कङ्कणौ 1.2

सं०—मृड्धातोः कीकन् कङ्कण—इत्येतौ प्रत्ययौ स्याताम्।

व्याख्या—मृड् धातु से परे क़ीकन् और कङ्कण—ये दो प्रत्यय होते हैं। कीकन् के 'न्' की 'हलन्त्यम्' से तथा आद्य 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा होती है। कङ्कण के आद्य 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा है। कित् करने का प्रयोजन लघूपध गुण का निषेध करना है।

स्वा०द०वृ०—मृडति सुखयतीति **मृडीकः** सुखदाता। **मृडङ्कणः**, बालो वा।

बहुलवचनात्—क़ायति शब्दयतीति **कङ्कणः**, करभूषणं वा।

उदा०—(1) मृडीकः (= सुखदाता)—मृडति सुखयति। मृड सुखने। मृड् कीकन्—मृड् ईक—अनुबन्धलोप, नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम्, सु।

(2) मृडङ्कणः (= बाल)—मृड् ऋङ्कण—क् का लोप, सु, पूर्ववत् गुणनिषेध। बाहुलकात्।

(3) कङ्कणः (= कंगण)—कायति शब्दयति। कै कङ्कण—क् अङ्कण—सु।

(469) अलीकादयश्च [4.26]

पद०—अलीकादयः 1.3, च—अव्य०।

सं०—अलीकादयश्शब्दाः कीकन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—अलीकादि शब्द कीकन् प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—कीकन्प्रत्ययान्ता अमी निपात्यन्ते। अलति वारयतीति **अलीकम्**, मिथ्या वा। विपूर्वाद् **व्यलीकम्**, अप्रियं खेदो वा। वलते संवृणोत्यनेन तत् **वलीकम्**, गृहच्छादनसामग्री वा।

अन्येऽपि—वलते संवृतो भवतीति **वल्मीकम्**, छिद्रमृषिभेदो वा। तस्यापत्यं **'वाल्मीकिः'**। मुडागमः। वहतीति **वाहीकः**, गौरश्वो वा। धातोर्वृद्धिः। सुष्ठु प्रैतीति **सुप्रतीकः**, अग्निर्वा। धातोस्तुट् च।

उदा०—(1) अलीकम् (= असत्य)—अलति वारयति। अल भूषणादिषु। अल् कीकन्—अनुबन्धलोप।

(2) व्यलीकम् (= कटु, दुःख)—विशेषेणाऽलति। वि अल् कीकन्—'इको यणचि' से यण्—व्यल् ईक—अनुबन्धलोप, सु।

(3) वलीकम् (= बल्ली)—वलते संवृणोति अनेन। वल संवरणे। वल् कीकन्—अनुबन्धलोप। बाहुलकात्।

(4) वल्मीकम् (= बाम्बी)—वल् कीकन् प्रत्यय को मुट् आगम। वल् मुट् कीकन्—अनुबन्धलोप—वल् म् ईक—सु।

(5) वाहीकः (= गौर अश्व)—वहति। वह् कीकन्—धातु की उपधा को वृद्धि—वाह् ईक—सु।

(6) सुप्रतीकः (= अग्नि)—सुष्ठु प्रैति। सु प्र तुट् कीकन्—धातु को तुट् आगम, अकार अन्तादेश, अनुबन्धलोप—सु प्रत् ईक—सु।

(470) कृतॄभ्यामीषन् [4.27]

पद०—कृतॄभ्याम् 5.2, ईषन् 1.1

सं०—कृ तॄ—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् 'ईषन्' प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कृ और तॄ—इन धातुओं से परे ईषन् प्रत्यय होता है। 'न्' की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—कीर्यते विक्षिप्यते स **करीषः**, शुष्कगोमयं वा। तरति येन स **तरीषः**, नौका वा।

उदा०—(1) करीषः (= सूखा गोबर)—कीर्यते विक्षिप्यते। कॄ विक्षेपे ईषन्—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण 'उरण् रपरः' से रपरत्व।

(2) तरीषः (= नौका)—तरति येन। तॄ प्लवनसन्तरणयोः। पूर्ववत्।

(471) शॄपॄभ्यां किच्च [4.28]

पद०—शॄपॄभ्याम् 5.2 कित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कृतॄभ्यामीषन्' (उ०सू० 4.27) से 'ईषन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—शॄ पॄ इत्येताभ्यां धातुभ्याम् ईषन्प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—शॄ और पॄ धातुओं से परे ईषन् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध करना है।

स्वा०द०वृ०—शृणाति हिनस्तीति **शिरीषः**, वृक्षभेदो वा। पिपर्ति तत् **पुरीषम्**, शकृद्वा।

उदा०—(1) शिरीषः (= एक वृक्ष)—शृणातीति। हिनस्ति। शॄ हिंसायाम्। शॄ ईषन्—'सार्वधातुकार्धधा०' से गुण प्राप्त, निषेध—'ॠत इद्धातोः' से इत् आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—शिर् ईष सु।

(2) पुरीषम् (= विष्ठा)—पिपर्त्ति तत्। पॄ पालनपूरणयोः। पूर्यत उदरं येन। पूर्ववत् गुणनिषेध, 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से उत् आदेश, रपरत्व—पुर् ईष—सु, अतोऽम्।

(472) अर्जेर्ॠज् च [4.29]

पद०—अर्जेः 5.1, ॠज् 1.1, च—अव्य०

अनु०—'कृतृभ्यामीषन्' (उ०सू० 4.27) से 'ईषन्' की अनुवृत्ति है।
सं०—ऋजधातोर् ईषन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'ऋज्' इत्यादेशः स्यात्।

व्याख्या—ऋज् धातु से परे ईषन् प्रत्यय होता है और धातु के स्थान पर 'ऋज्' आदेश होता है। ऋज् के स्थान पर ऋज् आदेश करना उचित प्रतीत नहीं होता है। समा०—ऋज् ईषन्—इस दशा में लघूपध गुण प्राप्त होता है। इस गुण के निषेध के लिए ऋज् के स्थान पर 'ऋज्' आदेश किया गया है। दशपादीवृत्ति (द्रष्टव्य—9.11) में 'कित्' का अनुवर्त्तन किया है। '.....ईषन्प्रत्ययो भवति किच्च ऋज इत्ययं चाऽऽदेशः'। वस्तुतः 'कित्' का अनुवर्त्तन व्यर्थ है।

स्वा०द०वृ०—अर्जति सञ्चितो भवति [रसो] यस्मात्तत् **ऋजीषम्**, पिष्टपचनं वा, 'तवा' इति प्रसिद्धम्।

उदा० (1) ऋजीषम्)= कड़ाहा)—अर्जति सञ्चितो भवति यस्मात् तत्। ऋज गत्यादिषु। ऋज् ईषन्—सु।

(473) अम्बरीषः [4.30]

पद०—अम्बरीषः 1.1
सं०—अम्बरीषशब्द ईषन्प्रत्ययान्तो निपात्यते।

व्याख्या—अम्बरीष शब्द ईषन् प्रत्ययान्त निपातित है।

स्वा०द०वृ०—अम्बते शब्दयतीति **अम्बरीषः**, आकाशः स्वेदनी वा, 'भाड़' इति प्रसिद्धम्।

उदा०—(1) अम्बरीषः (= आकाश, भाड़, कड़ाहा, सूर्य)—अम्बते शब्दयति। अबि शब्दे।—अ नुम् ब्—'इदितो नुम् धातोः' से नुम्, अनुबन्धलोप, अनुस्वार, परसवर्ण—अम्ब् ईषन्—प्रत्यय को रुट् आगम, 'आद्यन्तौ टकितौ' से आद्यवयव। अम्ब् रुट् ईषन्—अनुबन्धलोप, सु। दशपादीवृत्ति (9.12) में 'डुपचष् पाके' धातु से 'अम्बरीष' शब्द व्युत्पादित है। पचन्त्यस्मिन्। पच् ईषन्—अमुट् आगम। अमुट् पच् ईषन्—अनुबन्धलोप—अम् पच् ईष—धातु के आदि वर्ण (पकार) को बकार—अम् बच् ईष—धातु को रेफ अन्तादेश—अम्बरीष—सु।

(474) कॄशॄपॄकटिपटिशौटिभ्य ईरन् [4.31]

पद०—कॄशॄपॄकटिपटिशौटिभ्यः 5.3, ईरन् 1.1
सं०—कॄ शॄ पॄ कट् पट् शौट्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य ईरन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कृ, शॄ, पॄ, कट्, पट् और शौट्—इन धातुओं से परे ईरन् प्रत्यय होता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—किरतीति **करीरः**, वृक्षभेदो वंशाङ्कुरो वा। शीर्य्यते हिंस्यत इति **शरीरम्**, प्राणिकायो वा। पूर्यतेऽनेनेति **परीरम्**, फलं वा। कट्यत आव्रियतेऽसौ **कटीरः**, कुटी जघनदेशो वा। पटति गच्छतीति **पटीरः**, कन्दुकः कामश्चन्दनवृक्षो वा। शौटति गर्वं करोतीति **शौटीरः**, त्यागी वीरो वा। **ब्राह्मणादित्वात्** [अ० 5.1.123] ष्यञ्—**शौटीर्य्यम्** वैराग्यम्।

बहुलवचनात्—हिण्डत इतस्ततो गच्छतीति **हिण्डीरः**, समुद्रफेनो दाडिमो वा। **किर्मीर-तूणीर-जम्बीर-कुम्भीर-कुटीरा**दयोऽपीरन्प्रत्ययान्ता बाहुलकादेव बोद्धव्याः।

उदा०—(1) करीरः (= एक वृक्ष)—कृ विक्षेपे। किरति विक्षिपति। कृ ईरन्—आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, रपरत्व—कर् ईर सु।

(2) शरीरम् (= शरीर)—शॄ हिंसायाम्। शीर्य्यते हिंस्यते। शॄ ईरन्—पूर्ववत्।

(3) परीरम् (= फल-विशेष)—पूर्यतेऽनेन। पॄ पालनपूरणयोः। पूर्ववत्।

(4) कटीरः (= कुटी, जघन)—कट्यते आव्रियते। कटे वर्षाऽऽवरणयोः। कट् ईरन्—सु, विभक्तिकार्य।

(5) पटीरः (= गेंद, काम, चन्दन का वृक्ष)—पटति गच्छति। पट गतौ। पट् ईरन्—सु।

(6) शौटीरः (= त्यागी, वीर)—शौटति गर्वं करोति। शौट्ट गर्वे। शौट् ईरन्—सु। इसी प्रकार—

(7) शौटीर्य्यम्—'शौटीरस्य भावः' इस अर्थ में 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्म०' (पा० 5.1.123) से ष्यञ्, हलन्त्यम्, षः प्रत्ययस्य—शौटीर य—'तद्धितेष्वचामादेः' से आदिवृद्धि, अकारलोप, सु।

(8) हिण्डीरः (= समुद्रझाग, अनार)—हिण्डत इतस्ततो गच्छति। हिण्ड् ईरन्—बाहुलकात् प्रत्यय। इसी प्रकार निम्नलिखित में बाहुलकात् प्रत्यय होता है। (9) गरीरम् (= अन्न)—गॄ ईरन् सु। (9) किर्मीरः। (10) तूणीरः। (11) जम्बीरः। (12) कुम्भीरः। (13) कुटीरम्।

(475) वशेः किच्च [4.32]

पद०—वशेः 5.1, कित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कृशॄ·······इरन्' (उ०सू० 4.31) से 'ईरन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वश्धातोर् ईरन्प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—वश् धातु से परे ईरन् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन सम्प्रसारण कार्य है।

स्वा०द०वृ०—उश्यते काम्यते तद् **उशीरम्**, वीरणमूलं वा, **'खसखस'** इति प्रसिद्धम्।

उदा०—(1) उशीरम् (= खसखस)—उश्यते काम्यते तत्। वश कान्तौ। वश् ईरन्—'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टि०' (पा० 6.1.16) से सम्प्रसारण, उ अश् ईर—'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप एकादेश, उश् ईर—सु, अतोऽम्।

(476) कशेर्मुट् च [4.33]

पद०—कशेः 5.1, मुट् 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'कृशॄ·······ईरन्' (उ०सू० 4.31) से 'ईरन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—कश्धातोर् ईरन्प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च 'मुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—कश् धातु से परे ईरन् प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को मुट् आगम होता है। 'ट्' इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। 'म्' शेष रहता है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से मुट् आगम प्रत्यय का आद्यवयव होता है।

स्वा०द०वृ०—ईरनित्येव। कष्टे गच्छति शास्ति वाऽसौ **कश्मीरः**, देशभेदो वा।

उदा०—(1) कश्मीरः (= एक देश)—कष्टे गच्छति शास्ति। कश गत्यादिषु। कश् मुट् ईरन्—अनुबन्धलोप—कश् म् ईर सु।

(477) कृञ उच्च [4.34]

पद०—कृञः 5.1, उत् 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'कृशॄ·······ईरन्' (उ०सू० 4.31) से 'ईरन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—कृधातोर् ईरन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च उत् इत्यादेशः स्यात्।

व्याख्या—कृ धातु से परे ईरन् प्रत्यय होता है तथा धातु को उत् आदेश होता है। उत् में तकार उच्चारणार्थ है। उत्=ह्रस्व उकार। 'अलोऽन्त्यस्य' से उकार आदेश धातु के अन्त्य अल् (ॠ) के स्थान पर प्राप्त हुआ। 'उरण् रपरः' से रपर होकर उर् के रूप में होता है।

स्वा०द०वृ०—क्रियते तत् **कुरीरम्**, मैथुनं वा; **कपिलकादित्वात्** [अ० 8.2.18 वा०] लत्वे—**कुलीरः**, जलजन्तुभेदो वा।

उदा०—(1) कुरीरम् (=मैथुन, पटविशेष)—क्रियते तत्। डुकृञ् करणे। कृ ईरन्—उत् आदेश—कुर् ईर—सु।

(2) कुलीरः (= केंकड़ा)—'रलयोरभेदः' से (पा० 8.2.18 वा० के द्वारा) लकार आदेश।

(478) घसेः किच्च [4.35]

पद०—घसेः 5.1, कित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'कृशॄ····ईरन्' (उ०सू० 4.31) से 'ईरन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—घस् धातोर् ईरन्प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—घस् धातु से परे ईरन् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन 'गमहनजनखनघसां०' (पा० 6.4.98) से धातु की उपधा का लोप करना है। पा० 2.4.37 से पा० 2.4.40 तक चार सूत्रों के द्वारा विभिन्न स्थितियों में अद् को घस् आदेश होता है। प्रकृत में इसी घस् प्रकृति का ग्रहण है।

स्वा०द०वृ०—अद्यते भक्ष्यते यत्तत् **क्षीरं**, दुग्धं वा।

उदा०—(1) क्षीरम् (= दूध)—अद्यते भक्ष्यते यत्। अद भक्षणे। बाहुलकात् घस् आदेश—घ्स् ईरन्—उपधालोप—घ् स् ईर—जश्त्व। ग् स् ईर—'खरि च' से चर्त्व—क्स् ईर—'शासिवसिघसीनां च' (पा० 8.3.60) से मूर्धन्य आदेश—क्षीर सु।

(479) गभीरगम्भीरौ [4.36]

पद०—गभीरगम्भीरौ 1.2

सं०—गभीर गम्भीर—इत्येतौ शब्दा ईरन्प्रत्ययान्तौ निपात्येते।

व्याख्या—गभीर और गम्भीर—ये शब्द ईरन् प्रत्ययान्त हैं।

स्वा०द०वृ०—'गम'धातोर्मकारस्य भकारः, एकस्मिन् पक्षे नुमागमश्च। गम्यते प्राप्यते ज्ञायते वा स **गभीरः** [**गम्भीरः**], शान्तो महाशयो वा। विशेष्यलिङ्गावेतौ शब्दौ।

उदा०—(1) गभीरः (= शान्त)—गम्यते प्राप्यते ज्ञायते। गम्लृ गतौ। गम् ईरन्—'भ्' अन्तादेश—गभ् ईरन्—सु। निपातन से अन्तोदात्त स्वर है।

(2) गम्भीरः—पक्षे 'भ्' अन्तादेश तथा नुम् आगम—मिदचोऽन्त्यात्परः—गम्—गभ्—ग नुम् भ् ईरन्—अनुबन्धलोप—ग न् भ् ईरन्—'नश्चाऽपदान्तस्य०' से अनुस्वार—गंभीर—'अनुस्वारस्य ययि०' से परसवर्ण—गम्भीर सु। निपातन से अन्तोदात्त स्वर है।

विशेष—दशपादीवृत्ति में 'गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च' धातु से ईरन् प्रत्यय किया है। द्रष्टव्य—गाधत इति। गाध् ईरन्—धातु को ह्रस्व आदेश, धातु को भ् अन्तादेश—ग भ् ईर—सु। ह्रस्व आदेश, अन्तादेश तथा नुम् आगम होकर 'गम्भीर' बनता है। (द्रष्टव्य—द०वृ० 8.77)

(480) विषाविहा [4.37]

पद०—विषाविहा 1.2

सं०—विषाविहा—इत्येतौ शब्दा अव्ययत्वेन निपात्येते।

व्याख्या—विषा, विहा—ये शब्द अव्यय के रूप में निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—विशेषेण स्यति कर्मान्तं करोतीति **विषा**, बुद्धिर्वा। विशेषेण जहाति त्यजति दुःखमिति **विहा**, सुखलोको वा। स्वभावादनयोरव्ययत्वम्।

उदा०—(1) विषा (= प्रज्ञा)—विशेषेण स्यति। षो अन्तकर्मणि। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—वि सो-वि सा डा—टि का लोप, धातु को आकार, षत्व।

(2) विहा (= सौख्य, संसार)—विशेषेण जहाति त्यजति दुःखम्। विहा—डा आदि पूर्ववत्।

(481) पच एलिमच् [4.38]

पद०—पचः 5.1, एलिमच् 1.1

सं०—पच्धातोर् एलिमच्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—पच् धातु से परे एलिमच् प्रत्यय होता है। 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—पचति पदार्थानिति **पचेलिमः**, अग्निः सूर्यो वा। यस्तु 'पच'-धातोः सामान्यवार्त्तिकेन कृत्यार्थे केलिमज् विधीयते, स भावे कर्मणि कर्मकर्त्तरि वेति भेदः।

उदा०—(1) पचेलिमः (=अग्नि, सूर्य)—पचतीति। डुपचष् पाके। पच् एलिमच्—एचेलिम सु।

विशेष—'केलिमर उपसङ्ख्यानम्' (पा० 3.1.95 वा०) से पच् धातु से केमिलर् प्रत्यय की 'कृत्याः' (पा० 3.1.95) से कृत्य सञ्ज्ञा होने से यह भाव और कर्म अर्थों में होता है। काशिका में एक इष्टि प्राप्त होती है—'कर्मकर्त्तरि चाऽयमिष्यते'। तदनु—केलिमर् प्रत्यय कर्मकर्त्ता अर्थ में भी होता है। केलिमर् रित् प्रत्यय है। अतः इसे रिद् लक्षण स्वर होता है। केलिमर् और एलिमच् में स्वर का अन्तर है।

(482) शीङो धुक्लग्वलञ्वालनः [4.39]

पद०—शीङः 5.1, धुक्लक्वलञ्वालनः 1.3

सं०—शीधातोर् धुक् लक् वलञ् वालन्—इत्येते प्रत्ययाः पर्यायेण स्युः।

व्याख्या—शी धातु से धुक्, लक्, वलञ् और वालन् ये प्रत्यय क्रमशः होते हैं। धुक् और लक् के 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है। वलञ् के 'ञ्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'ञ्' अनुबन्ध के दो प्रयोजन हैं—अजन्त अङ्ग को 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि आदेश और 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त स्वर। वालन् का 'न्' इत्सञ्ज्ञक है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। वालन् प्रत्यय के आद्य वर्ण को 'प्' आदेश बहुलता से होता है।

स्वा०द०वृ०—शेते येन तत् **शीधु**, मद्यं वा। **शीलं** स्वभावः। **शैवलम्**। **शेवालम्**; बाहुलकात् प्रत्ययवकारस्य पकारः **शेपालम्**, जलनील्या नामान्येतानि, उदके लतारूपमुत्पन्नं 'सेवार' इति प्रसिद्धम्।

उदा०—(1) शीधु (=मदिरा)—शेते येन तत्। शीङ् स्वप्ने। शी धुक्—शीधु सु—लुक्।

(2) शीलम् (= प्रकृति)—शी लक्—शील सु—अतोऽम्।

(3) शैवलः (= सेवार)—शी वलञ्—वृद्धि आदेश—शै वल सु।

(4) शेवालम् (= सेवार)—शी वालन्—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, सु।

(5) शेपालम्—वकार को पकार।

(483) मृकणिभ्यामूकोकणौ [4.40]

पद०—मृकणिभ्याम् 5.2, ऊकोकणौ 1.2

सं०—मृ कण् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् ऊक ऊकण् इत्येतौ प्रत्ययौ क्रमेण भवतः।

व्याख्या—दो प्रकृतियाँ (यथा—मृ, कण्) हैं तथा दो ही प्रत्यय (यथा—ऊक, ऊकण्) हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' से प्रत्यय यथासंख्य होते हैं। अर्थ—मृ तथा कण् धातुओं से परे ऊक तथा ऊकण् प्रत्यय क्रमशः होते हैं। भाव यह है कि मृ धातु से ऊक तथा कण् धातु से ऊकण् प्रत्यय होता है। 'ण्' अनुबन्ध 'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि के लिए है।

स्वा०द०वृ०—म्रियते असौ **मरूकः**, मृगो वा। कणति शब्दयतीति **काणूकः**, काको वा।

उदा०—(1) मरूकः (= मोर, मृग)—म्रियतेऽसौ। मृङ् प्राणत्यागे। मृ ऊक—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—मरूक सु।

(2) काणूकः (= कव्वा)—कणति शब्दयति। कण शब्दे। कण् ऊकण्—काण् ऊक—सु।

(484) वलेरूकः [4.41]

पद०—वलेः 5.1, ऊकः 1.1

सं०—वल्धातोर् ऊकप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वल् धातु से परे 'ऊक' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—वलते संवृणोतीति **वलूकः**, पक्षी कमलमूलं वा।

उदा०—(1) वलूकः (= एक पक्षी, पंकजमूल)—वलते संवृणोति। वल संवरणे। वल् ऊक—सु।

(485) उलूकादयश्च [4.42]

पद०—उलूकादयः 1.3, च—अव्य०।

सं०—उलूकादयश्शब्दा ऊकप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—उलूक आदि शब्द ऊक प्रत्ययान्त हैं।

स्वा०द०वृ०—ऊकप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। वलतेऽसौ **उलूकः**, पक्षीभेदो वा। धातोः सम्प्रसारणम्। भृशं वक्तीति **वावदूकः** वक्ता। यङ्लुगन्तादूकः। [शमयतीति **शम्बूकः**] जलशुक्तिर्वा। धातोर्बुक्। बाहुलकादुकप्रत्यये **शम्बुकः** इत्यपि सिद्धम्। भल्लते परितो भाषतेऽसौ **भल्लूकः**, ऋक्षो वा। बाहुलकाद् ह्रस्वे **भल्लुकः** इत्यपि। तथा भलतेऽसौ **भालूकः** स एव। महतीति **मधूकः**, वृक्षभेदो वा। तथा **एलूक-जम्बूक-बन्धूक-वास्तूका**दयोऽप्यत्रैव द्रष्टव्याः।

उदा०—(1) उलूकः (= एक पक्षी)—वलतेऽसौ। वल संवरणे। वल् ऊक—धातु के यण् (व्) को सम्प्रसारण से इक् वर्ण (उ)—उलूक सु।

(2) वावदूकः (= वक्ता, जलशुक्ति)—भृशं वक्ति। वच परिभाषणे। वच् यङ्—यङ् प्रत्यय, यङ् का लुक्, द्वित्व आदि—वा वच् ऊक—धातु को दकार अन्तादेश।

(3) भल्लूकः (= भालु)—भल्लते परितो भाषतेऽसौ। भल्ल परिभाषणहिंसा-दानेषु—भल्लूक सु।

(4) शम्बूकः (= शंख)—शमयतीति। शमु उपशमे। शम् बुक् ऊक—'शमेर्बुक् च' इस गणसूत्र से बुक् आगम, अनुबन्धलोप—शम्बूक सु।

(5) शम्बुकः—बाहुलकात् प्रत्यय को ह्रस्व आदेश।

(6) भालूक:—भलतेऽसौ। इसी प्रकार—(7) एलूक:, (8) जम्बूक:, (9) बन्धूक:, (10) वास्तूक:।

(486) शलिमण्डिभ्यामूकण् [4.43]

पद०—शलिमण्डिभ्याम् 5.2, ऊकण् 1.1

सं०—शल् मण्ड्—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् ऊकण्प्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—शल् और मण्ड् धातुओं से ऊकण् प्रत्यय होता है। 'ण्' इत्सञ्ज्ञक है। 'ण्' अनुबन्ध उपधावृद्धि के लिए है।

स्वा०द०वृ०—शल्यते प्राप्यते यत्तत् **शालूकम्,** मूलद्रव्यं वा। मण्डति शोभतेऽसौ **मण्डूक:**, भेको जलजन्तुर्वा।

उदा०—(1) शालूक: (= कन्द)—शल्यते प्राप्यते यत् शालूकम्। शल गतौ। शल् ऊकण्—'अत उपधाया:' से उपधा को वृद्धि—शाल् ऊक—सु।

(2) मण्डूक: (= मेंढक)—मण्डति शोभतेऽसौ। मडि भूषायाम्। मडि—'इदितो नुम् धातो:' तथा 'मिदचोऽन्त्यात् पर:' से नुम्—मन् ड्—अनुबन्धलोप, 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण:' से परसवर्ण—मण्ड् ऊक सु।

(487) नियो मि: [4.44]

पद०—निय: 5.1, मि: 1.1

सं०—नीधातोर् मिप्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—नी धातु से 'मि' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—नयतीति **नेमि:**, चक्रावयवो वा।

बाहुलकात्—याति कार्याणि प्रापयतीति **यामि:**; आदेर्जत्वं **जामि:**, स्वसा कुलस्त्री वा।

उदा०—(1) नेमि: (= परिधितट)—नयतीति। णीञ् प्रापणे। 'णो: न:' से नकार—नी मि—'आर्धधातुकं शेष:' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा—'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण ने—मि सु।

(2) यामि: (= बहन)—याति कार्याणि प्रापयति। बाहुलकात् प्रत्यय।

(488) अर्त्तेरुच्च [4.45]

पद०—अर्त्ते: 5.1, उत् 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'नियो मिः' (उ०सू० 4.44) से 'मिः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—ऋधातोर् 'मि'प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च 'उत्' इत्यादेशः स्यात्।

व्याख्या—'अर्त्तेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'अर्त्तेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'अर्त्तेः' पद को विभिक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त बनाकर धातु के स्थान पर आदेश किया जाता है। अर्थ—ऋ धातु से परे 'मि' प्रत्यय होता है तथा धातु को ह्रस्व उकार आदेश होता है। उत् में तक़ार उच्चारणार्थ है। उत्=ह्रस्व उकार। 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य अल् के स्थान पर उकार आदेश प्राप्त है। 'व्यपदेशिवद्' से 'ऋ' के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश होता है। 'उरण् रपरः' से रपरत्व होता है।

स्वा०द०वृ०—ऋच्छति गच्छतीति **ऊर्मिः**, जलतरङ्गो वा।

उदा०—(1) ऊर्मिः (= लहर)—ऋच्छति गच्छति उर् मि—'हलि च' से दीर्घ आदेश, सु।

विशेष—कुछ पुस्तकों में 'अर्त्तेरू च' तथा 'अर्त्तेरूच्च' इस प्रकार पाठ प्राप्त होते हैं। 'उत्' आदेश की दशा में 'हलि च' से दीर्घ होकर दीर्घ ऊकार होता है। 'उच्च' पाठ में मात्रालाघव है। अतः 'उच्च' पाठ ही अधिक उचित प्रतीत होता है। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य (1.95.10) में 'अर्त्तेरुच्च' सूत्र को उद्धृत किया है, परन्तु धातु को दीर्घ ऊकार आदेश माना है। द्रष्टव्य—'ऋधातोर्मिः प्रत्यय ऊकाराऽऽदेशश्च'। यह लिपिकार का प्रमाद प्रतीत होता है। कुछ विद्वान् ऊर्णु धातु के 'णु' का लोप करके 'ऊर्मि' शब्द सिद्ध करते हैं।

(489) भुवः कित् [4.46]

पद०—भुवः 5.1, कित् 1.1
अनु०— 'नियो मिः' (उ०सू० 4.44) से 'मिः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—भू धातोर् मि प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—भू धातु से परे 'मि' प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध करना है।

स्वा०द०वृ०—भवन्ति पदार्था अस्यामिति **भूमिः**, उत्पत्तिस्थानम् [वा]। अल्पा भूमिः '**भूमिका**'। '**कृदिकारादक्तिनः**' [अ० 4.1.45 गणसूत्र] इति ङीष् '**भूमी**'।

उदा०—(1) भूमिः (= पृथिवी)—भवन्ति पदार्था अस्याम्। भू सत्तायाम्। भू

मि—सु। दशपादी वृत्ति (1.16) में 'क्मिन्' प्रत्यय स्वीकार किया गया है। वैदिक साहित्य में भूमि शब्द सर्वत्र आद्युदात्त प्राप्त होता है। अतः 'न्' अनुबन्ध सार्थक प्रतीत होता है। द्रष्टव्य—द०वृ० 1.16 भुवः क्मिन्।

(490) अश्नोते रश च [4.47]

पद०—अश्नोतेः 5.1, रश 1.1, च—अव्य०।
अनु०— 'नियो मिः' (उ०सू० 4.44) से 'मिः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—अशधातोर् मिप्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'रश' इत्यादेशः स्यात्।

व्याख्या—'अश्नोतेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'अश्नोतेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु को प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'अश्नोतेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु के स्थान पर आदेश किया जाता है। अर्थ—अश् धातु के परे 'मि' प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर 'रश' आदेश होता है। 'रश' यह लुप्तप्रथमान्त पद है। 'रश सु' इस दशा में 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण०' (पा० 7.1.39) से 'सु' विभक्ति का लुक् हुआ है। 'रश' अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से रश आदेश सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् अश्) धातु के स्थान पर होता है। शकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—अश्नुते व्याप्नोतीति **रश्मिः**, किरणो रज्जुर्वा।

उदा०—(1) रश्मिः (= किरण, लगाम, रस्सी)—अश्नुते व्याप्नोति। अशूङ् व्याप्तौ। अश्—रश् मि—सु।

(491) दल्मिः [4.48]

पद०—दल्मिः 1.1
सं०—दल्मिशब्दो मिप्रत्ययान्तो निपात्यते।

व्याख्या—दल् धातु से 'मि' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—दलति येन विदृणातीति **दल्मिः**, सूर्यकिरण उत्तमायुधं वा।

उदा०—(1) दल्मिः (= रश्मि, श्रेष्ठ शास्त्र)—दलति येन। दल् मि—सु।

(492) वीज्याज्वरिभ्यो निः [4.49]

पद०—वीज्याज्वरिभ्यः 5.3, निः 1.1
सं०—वी ज्या ज्वर्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो 'नि'प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वी, ज्या और ज्वर्—इन धातुओं से परे 'नि' प्रत्यय होता है। 'अजेर्व्यघञपोः' से अज् के स्थान पर 'वी' आदेश होता है। यहाँ उसी का ग्रहण है।

स्वा०द०वृ०—वीयते क्षिप्यते स **वेणिः**, केशविन्यासो वा। निपातनाण्णत्वम्। जिनाति वयोहीनो भवतीति **ज्यानिः**, क्षतिर्वा। ज्वरति रोगी भवतीति जूर्णिः, स्त्रीरोगो वा।

बाहुलकात्—क्षौति शब्दयतीति **क्षोणिः**; [स्त्रियां] ङीष् '**क्षोणी**', भूमिर्वा। क्रीणातीति **क्रेणिः; क्रेणी**।

उदा०—(1) वेणिः (= चोटी—वीयते क्षिप्यते। वी नि—'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, निपातन से णत्व, सु। अज गतिक्षेपणयोः धातु।

(2) ज्यानिः (= वृद्धावस्था, हानि)—जिनाति वयोहीनो भवति। ज्या वयोहानौ। ज्या नि—सु।

(3) जूर्णिः (= स्त्रीरोग)—ज्वरति रोगीभवति। ज्वर रोगे। ज्वर् नि—'ज्वरत्वर—' (पा०सू० 6.4.20) से सम्प्रसारण—जुर् नि—'हलि च' (पा० 8.2.77) से दीर्घ आदेश—जूर्नि—'रषाभ्यां नो णः'—से णत्व, सु।

(4) क्षोणिः (= पृथिवी)—क्षौति शब्दयति। बाहुलकात् प्रत्यय। क्षु नि—'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण—क्षो नि—'अट्कुप्वाङ्नुम्' से णत्व, सु।

(5) क्षोणी—'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'कृदिकारादक्तिनः' (पा० 4.1.45 गणसूत्र) से ङीष्। सवर्णदीर्घ, सु, लोप।

(6) क्रेणिः—क्रीणातीति। क्री नि—गुण, णत्व, सु।

वृत्तिकार नारायण भट्ट 'ज्वरि' के स्थान पर 'त्वरि' पाठ मानते हैं, जो उनका प्रमाद प्रतीत होता है। इसमें दो दोष हैं—वैदिक साहित्य में 'तूर्णि' शब्द सर्वत्र आद्युदात्त प्राप्त है, जो उ०सू० 4.52 से सिद्ध है। 'नि' प्रत्ययान्त 'तूर्णि' शब्द में स्वरव्यत्यय होता है। प्रकृत में 'त्वरि' पाठ मान लेने पर उणादिशास्त्र से विरोध होता है। उ०सू० 4.52 में त्वरि धातु से आद्युदात्त 'तूर्णि' शब्द सिद्ध किया गया है। पुनः प्रकृत में उसके साधन की क्या आवश्यकता है?

(493) सृवृषिभ्यां कित् [4.50]

पद०—सृवृषिभ्याम् 5.2, कित् 1.1

अनु०— 'वीज्या……निः' (उ०सू० 4.49) से 'निः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सृ वृष्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां निप्रत्ययः स्यात् स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—सृ और वृष् धातुओं से परे 'नि' प्रत्यय होता है और वह कित्-सञ्ज्ञक है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध है।

स्वा०द०वृ०—सरति गच्छतीति **सृणिः**, अङ्कुशं वा। वर्षतीति **वृष्णिः**, क्षत्रियो वैश्यो वा।

उदा०—(1) सृणिः (= अंकुश)—सरति गच्छति। सृ गतौ। सृ नि—'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा०) से णत्व, गुणनिषेध, सु।

(2) वृष्णिः (= क्षत्रिय)—वृष् नि। लघूपध गुण का निषेध। वृष् णि—'रषाभ्यां नो णः समान०' से णत्व। सु।

(494) अङ्गेर्नलोपश्च [4.51]

पद०—अङ्गेः 5.1, नलोपः 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'वीज्या······निः' (उ०सू० 4.49) से 'निः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अङ्ग्धातोर् निप्रत्ययः स्याद् धातोश्च यो नकारस् तस्य लोपो भवति।

व्याख्या—'अङ्गेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'अङ्गेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'अङ्गेः' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर धातु के 'न्' का लोप होता है। अर्थ—अङ्ग् धातु से परे 'नि' प्रत्यय होता है और धातु में स्थित 'न्' का लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—अङ्गति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा स **अग्निः**, वह्निः प्रसिद्धो वा।

उदा०—(1) अग्निः (= अग्नि)—अङ्गति गच्छति। अङ्ग्—अग् नि—सु।

(495) वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित् [4.52]

पद०—वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यः 5.3, नित् 1.1

अनु०— 'वी······निः' (उ०सू० 4.49) से 'निः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वह् श्रि श्रु यु द्रु ग्लै हा त्वर्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो निप्रत्ययः स्यात्, स च नित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—वह्, श्रि, श्रु, यु, द्रु, ग्लै, हा और त्वर्—इन धातुओं से परे 'नि' प्रत्यय होता है और वह नित्सञ्ज्ञक होता है। नित् होने से आद्युदात्त स्वर होता है।

स्वा०द०वृ०—वहतीति **वह्निः**, अग्निर्वा। श्रयति सेवतेऽसौ **श्रेणिः**, पङ्क्तिर्वा; निपूर्वात् **निश्रेणी**, अधिरोहिणी वा। शृणोतीति **श्रोणिः**, कटिप्रदेशो वा। यौति संयोजयति पृथक् करोति वा स **योनिः**, कारणम् उपस्थेन्द्रियं वा। द्रवन्ति गच्छन्ति

यत्र स **द्रोणिः**, सेचनी देशविशेषो वा। ग्लायति यस्मिन् स **ग्लानिः**, दौर्बल्यं दौर्मनस्यं वा। हीयते जहाति वा स **हानिः**, अपचयो वा; **प्रहाणिः, परिहाणिः**। **कृत्यचः** [अ० 8.4.28] इति णत्वम्। त्वरति सम्यग्भ्रमतीति **तूर्णिः**, मनो वा।

बहुलवचनात्—शेतेऽसौ **शिनिः**, क्षत्रियो वा। धातोर्ह्रस्वत्वं च। म्लायतीति **म्लानिः**, आनन्दक्षयो वा।

उदा०—(1) वह्निः (= अग्नि, भूख)—वहतीति। वह प्रापणे। वह् नि—सु।

(2) श्रेणिः (= पंक्ति, रेखा)—श्रयति सेवतेऽसौ। श्रिञ् सेवायाम्। श्रि नि—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण—श्रे नि—'अट्कुप्वा०' से णत्व, सु।

(3) श्रोणिः (= कटिभाग)—शृणोतीति। श्रु श्रवणे। श्रु नि—पूर्ववत्।

(4) योनिः (= उपस्थ इन्द्रिय)—यौति मिश्रयति पृथक् करोति। यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः। यु नि—आर्धधातुकलक्षण गुण, सु।

(5) द्रोणिः (= सेचनी)—द्रवन्ति गच्छन्ति यत्र। द्रु गतौ। द्रु नि—आर्धधातुक-लक्षण गुण, णत्व।

(6) ग्लानिः (= हानि, रोग)—ग्लायति यस्मिन्। ग्लै हर्षक्षये। ग्लै नि—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व—ग्ला नि—सु।

(7) हानिः (= क्षति)—हीयते त्यज्यते। ओहाक् त्यागे। हा नि—सु।

(8) परिहाणिः—परि हा नि—'कृत्यचः' से णत्व।

(9) तूर्णिः (= मन)—त्वरति सम्यग् भ्रमति। ञित्वरा सम्भ्रमे। त्वर् नि—'ज्वरत्वरस्रिव्यविम०' (पा० 6.4.20) से सम्प्रसारण—तुर् नि—'हलि च' (पा० 8.2.77) से उपधा को दीर्घ—तूर् नि—णित्व, सु।

(10) शिनिः (= क्षत्रिय)—शेतेऽसौ। शीङ् शयने। बाहुलकात् प्रत्यय। शी नि—धातु को ह्रस्व आदेश—शि नि—सु।

(11) म्लानिः (= आनन्दक्षय)—म्लायतीति। म्लै—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व—म्ल् आ नि—सु।

(496) घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णयः [4.53]

पद०—घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णयः 1.3

सं०—घृणि पृश्नि पार्ष्णि चूर्णि भूर्णि—इत्येते शब्दा निप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—नि प्रत्यय का प्रकरण है। घृणि, पृश्नि, पार्ष्णि, चूर्णि और भूर्णि—ये शब्द निप्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—जिघर्ति क्षरति दीप्यते वा स **घृणिः**, किरणो वा। स्पृशति

संयुक्तो भवतीति **पृश्निः**, अल्पशरीरो वा। धातोः सलोपः। पर्षति सिञ्चतीति **पार्ष्णिः**, पादतलं वा। धातोर्वृद्धिः। चरति गच्छति भक्षयति चूर्णयति प्रेरयतीति वा **चूर्णिः**, विवरणं वा। [चरतेरुपधाया ऊत्त्वम्।] बिभर्ति धरति सर्वमिति **भूर्णिः**, पृथिवी वा [धातोरूत्त्वम्]।

बाहुलकात्—घुरति शब्दयतीति घूर्णिः।

उदा०—(1) घृणिः (= रश्मि, सूर्य)—जिघर्त्ति क्षरति दीप्यते। घृ क्षरणदीप्त्योः। घृ नि—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण प्राप्त, निपातन से गुणनिषेध—घृणि—'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से णत्व, सु।

(2) पृश्निः (= लघुकाय, कोमल)—स्पृशति संयुक्तो भवति। स्पृश संस्पर्शे। स्पृश् नि—निपातन से धातु के आदि वर्ण (सकार) का लोप तथा गुणनिषेध—पृश् नि—सु, विभक्तिकार्य।

(3) पार्ष्णिः (= पादतल, व्यभिचारिणी)—पर्षति सिञ्चति। पृष सेचने। पृष् नि—निपातन से धातु को वृद्धि आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—पार् ष् नि—'रषाभ्यां नो णः समा०' से णत्व, सु। दशपादीवृत्ति (1.22) में स्पृश् धातु से 'पार्ष्णि' शब्द सिद्ध किया गया है। स्पृश् नि—सकारलोप, वृद्धि आदेश—पार् श् नि—षकार आदेश, णत्व, सु।

(4) चूर्णिः (= पिसा हुआ चूर्ण)—चरति गच्छति भक्षयति। चर गति-भक्षणयोः। चर् नि—निपातन से धातु की उपधा (अकार) के स्थान पर ऊकार आदेश—चूर् नि—'रषाभ्यां नो०' से णत्व, सु।

(5) भूर्णिः (= भूमि)—बिभर्त्ति धरति। डुभृञ् धारणपोषणयोः। भृ नि—पूर्ववत्। धातु को 'ऊ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व, णत्व। दशपादीवृत्ति (1.22) में धातु को रुक् व गुणनिषेध किया है। रुक् आगम करने पर 'भृर्' इस स्थिति में धातु के इगन्त न रहने से गुण प्राप्त नहीं है। तब गुणनिषेध व्यर्थ है। कुछ पुस्तकों में 'रुडागमः' पाठ है जो उचित प्रतीत होता है। प्रत्यय को रुट् आगम होता है।

(6) घूर्णिः—बाहुलकात्। घुरति शब्दयति। घुर् नि—दीर्घत्व, सु।

(7) धूर्णिः (= धृति)—धृङ् अवस्थाने। 'ऊ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—धूर् नि—णत्व, सु। दशपादीवृत्तिकार धातु को ऊकार आदेश तथा रुक् आगम मानते हैं। द्रष्टव्य—द०वृ० 1.22 'अस्य ऊकारादेशो रुगागमश्च। यहाँ 'उरण् रपरः' से आदेश ऊर् के रूप में होता है। अतः रुक् आगम करना व्यर्थ है।

(8) शिनिः (= एक राजा, वर्ण)—श्यैङ् गतौ से बाहुलकात् 'नि' प्रत्यय। निपातन से सम्प्रसारण—श् इ ऐ नि—'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप। शि नि—

आर्धधातुकलक्षण गुण का निपातन से निषेध। 'हलः' (पा० 6.4.2) से दीर्घादेश प्राप्त, निपातन से निषेध, सु। श्यायत इति।

(9) कुणिः (= लुञ्ज)—कौति कवते कूयते। कु शब्दे, कुङ् अव्यक्ते शब्दे। बाहुलकात् 'नि' प्रत्यय। निपातन से आर्धधातुकलक्षण गुण का निषेध, णत्व, सु।

(497) वृदृभ्यां विन् [4.54]

पद०—वृदृभ्याम् 5.2, विन् 1.1

सं०—वृ दृ—इत्येताभ्यां धातुभ्यां विन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वृ और दृ—इन धातुओं से परे विन् प्रत्यय होता है। 'न्' इत्सञ्ज्ञक है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)।

स्वा०द०वृ०—वृणोतीति **वर्विः**, भक्षको वा। दृणाति यया सा **दर्विः**, सूपचालनपात्रं वा; ङीष्—'**दर्वी**'।

उदा०—(1) वर्विः (= खादक)—वृणोतीति। वृञ् वरणे। वृ विन्—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण—वर् वि—उरण् रपरः, सु।

(2) दर्विः—(= कड़छी)—दृणाति यया। दॄ विदारणे। पूर्ववत् गुण आदि। स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होकर 'दर्वी' बनता है।

(498) जॄशॄस्तॄजागृभ्यः क्विन् [4.55]

पद०—जॄशॄस्तॄजागृभ्यः 5.3, क्विन् 1.1

सं०—जॄ शॄ स्तॄ जागृ—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्विन् स्यात्।

व्याख्या—जॄ, शॄ, स्तॄ और जागृ—इन धातुओं से परे क्विन् प्रत्यय होता है। 'लशक्वतद्धिते' से 'क्' की तथा 'हलन्त्यम्' से 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—जीर्यतीति **जीर्विः**, पशुर्वा। शृणातीति **शीर्विः** [हिंस्रो वा]। स्तृणोत्याच्छादयतीति **स्तीर्विः**, अध्वर्युर्वा। जागर्तीति **जागृविः**, नृपतिर्वा।

उदा०—(1) जीर्विः (= पशु)—जीर्यतीति। जॄ वयोहानौ। जॄ क्विन्—आर्धधातुक गुण का निषेध, ॠत इद्धातोः, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—जिर् वि—दीर्घ आदेश, सु।

(2) शीर्विः (= हिंसक)—शृणाति हिनस्ति। शॄ हिंसायाम्। पूर्ववत् गुणनिषेध, इत् आदेश—शिर् वि—दीर्घादेशः, सु। 'हलि च' (पा० 8.2.77)

(3) स्तीर्वि: (= अध्वर्यु)—स्तृणोत्याच्छादयति। स्तृञ् आच्छादने। स्तृ क्विन्—गुणनिषेध, इत् आदेश, 'उरण् रपर:' से रपरत्व—स्तिर् वि—दीर्घ आदेश, सु।

(4) जागृवि: (= राजा)—जागर्ति। जागृ निद्राक्षये धातु से प्रत्यय। जागृ क्विन्—अनुबन्धलोप—जागृ वि—गुणनिषेध—जागृवि सु—विभक्तिकार्य।

विशेष—क्विन् के 'न्' (हलन्त्यम् से) की, 'क्' की (लशक्वतद्धिते से) तथा इकार की (उपदेशेऽजनुनासि० से) इत्सञ्ज्ञा होकर 'तस्य लोप:' से इनका लोप होता है। 'व्' शेष रहता है। 'अपृक्त एकाल् प्रत्यय:' से व् की अपृक्त सञ्ज्ञा होकर 'वेरपृक्तस्य' (पा० 6.1.68) से इसका लोप प्राप्त है। बाहुलकात् व् लोप तथा इकार के लोप का निषेध।

(499) दिवो द्वे दीर्घश्चाऽभ्यासस्य [4.56]

पद०—दिव: 5.1, द्वे 1.2, दीर्घ: 1.1, च—अव्य०, अभ्यासस्य 6.1

अनु०— 'जॄ·······क्विन्' (उ०सू० 4.55) से 'क्विन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—दिव्धातो: क्विन्प्रत्यय: स्याद् धातोर् द्वे भवतोऽभ्यासस्य च दीर्घाऽऽदेश: स्यात्।

व्याख्या—'दीर्घ:' पद का 'अभ्यासस्य' पद के साथ सम्बन्ध है। 'दिव:' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'दिव:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'दिव:' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर धातु को द्वित्व किया जाता है। अर्थ—दिव् धातु से परे क्विन् प्रत्यय होता है, धातु को द्वित्व होता है और अभ्यास को दीर्घ आदेश होता है। अभ्यास के अच् वर्ण (इकार) के स्थान पर दीर्घ आदेश (ई) होता है।

स्वा०द०वृ०—दीव्यतीति **दीदिवि:**, सुखमन्नं वा। क्विन्प्रत्ययस्य बाहुलकादेवेत्सञ्ज्ञालोपौ न भवत:।

उदा०—(1) दीदिवि: (= अन्न, सौख्य)—दीव्यतीति। दिवु क्रीडादिषु। दिव् क्विन्—हलन्त्यम्, लशक्वतद्धिते—दिव् वि—द्वित्व, हलादि शेष—दि दिव् वि—अभ्यास को दीर्घ आदेश—दी दिव् वि—'लोपो व्योर्वलि' (पा० 6.1.64) से वकार-लोप।

(500) कृविघृष्विच्छविस्थविकिकीदिवि [4.57]

पद०—कृविघृष्विच्छविस्थविकिकीदिवि 1.1

सं०—कृवि घृष्वि छवि स्थवि किकीदिवि—इत्येते शब्दाश् क्विन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—क्विन् प्रत्यय का प्रकरण है। अर्थ—कृवि, घृष्वि, छवि, स्थवि और किकीदिवि—ये शब्द क्विन् प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—करोति येन स **कृविः**, तन्तुवायद्रव्यं वा। घर्षति सिञ्चतीति **घृष्विः**, वराहो वा। छ्यति सूक्ष्मं करोतीति **छविः**, दीप्तिर्वा। धातोर्ह्रस्वत्वं च। तिष्ठतीति **स्थविः**, तन्तुवायो वा। अत्रापि ह्रस्वः। किकिना शब्देन ददातीति **किकीदिविः**, चाषो वा, 'नीलकण्ठ' इति प्रसिद्धः। [उपपदस्य द्वितीयेकारस्य दीर्घत्वम्।] **किकीदिविः, किकिदिविः, किकिदीविः, किकिदिवः, कीकीदीविः** इति पञ्चभेदा बहुलवचनादेव मन्तव्याः।

उदा०—(1) कृविः (= जुलाहा)—करोति येन। डुकृञ् करणे। कृ क्विन्—क्, न् अनुबन्धों का लोप—कृ वि सु।

(2) घृष्विः (= सूअर)—घर्षति सिञ्चति। घृषु धातु से क्विन्। 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण, प्रत्यय के कित् होने से गुणनिषेध, सु। दशपादीवृत्ति में 'घृ क्षरणदीप्त्योः' धातु से 'वि' प्रत्यय तथा धातु को षुक् आगम किया है। द्रष्टव्य—द०वृ० 1.26।

(3) छविः (= कान्ति)—छ्यति तनूकरोति। छो तनूकरणे। 'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व—छा क्विन्—अनुबन्धलोप—छा वि—निपातन से धातु को ह्रस्व आदेश—छ वि सु।

(4) स्थविः (= जुलाहा)—तिष्ठतीति। ष्ठा गतिनिवृत्तौ। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—स्ठा—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' से थकार—स्था क्विन्—अनुबन्धलोप, धातु को ह्रस्व आदेश, सु।

(5) किकीदिविः (= नीलकण्ठ पक्षी)—किकिना शब्देन ददाति। किकि दा क्विन्—अनुबन्धलोप—किकिदा वि—उपपद के अन्त्य अच् को निपातन से दीर्घ आदेश—किकीदिवि—'घुमास्थागा०' (पा० 6.4.66) से ईत्त्व, ह्रस्व, सु।

(6) किकिदिविः—पक्ष में उपपद के अन्त्य अच् को दीर्घ आदेश का अभाव।

(7) किकिदीविः—धातु के अच् को दीर्घ आदेश।

(8) किकिदिवः।

(9) कीकीदीविः—उपपद के दोनों अच् वर्णों को दीर्घ आदेश। पूर्वोक्त सभी प्रयोग बाहुलकात् सिद्ध हैं।

(501) पातेर्डतिः [4.58]

पद०—पातेः 5.1, डतिः 1.1
सं०—पाधातोर् डतिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—पा धातु से परे डति प्रत्यय होता है। 'चुटू' से डति के डकार की इत्सञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—पाति रक्षतीति **पतिः**, स्वामी वा।

उदा०—(1) पतिः—पातीति। पा रक्षणे। पा डति—डित् होने से टि का लोप—प् अति।

(502) शकेर्ऋतिन् [4.59]

पद०—शकेः 5.1, ऋतिन् 1.1
सं०—शक्धातोर् ऋतिन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—शक् धातु से परे ऋतिन् प्रत्यय होता है। न् तथा इ की इत्सञ्ज्ञा है। ऋत् शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—शक्नोतीति **शकृत्** [पुरीषं वा]।

बाहुलकात्—यजतीति **यकृत्**, कालखण्डं वा। धातोर्जकारस्य ककारः।

उदा०—(1) शकृत् (= पुरीष)—शक्नोति। शक्लृ शक्तौ। शक् ऋतिन्—शकृत् सु—'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से अपृक्त सकार का लोप।

(2) यकृत् (= जिगर)—बाहुलकात् यज् धातु से प्रत्यय। यजतीति। यज् ऋतिन्—निपातन से धातु को ककार अन्तादेश—यक् ऋत्—सु।

(503) अमेरतिः [4.60]

पद०—अमेः 5.1, अतिः 1.1
सं०—अम्धातोर् अतिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—अम् धातु से परे अति प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—अमति गच्छतीति **अमतिः**, कालो वा।

बाहुलकात्—व्रतमाचरतीति **व्रततिः** विस्तरः; '**व्रतती**', लता वा। मालयति गन्धं धारयतीति **मालतिः**; **मालती** सुमना वा, 'चमेली' इति प्रसिद्धा। स्थापयति धर्म्ममिति **स्थपतिः**, वाग्मी यज्ञकर्ता वा। ण्यन्तस्य स्थाधातोः पुकि सति ह्रस्वत्वम्।

उदा०—(1) अमतिः (= समय)—अमति गच्छति। अम गतौ। अम् अति—सु। बाहुलकात्।

(2) व्रततिः (= विस्तार)—व्रतम् आचरति। व्रत् अति—सु।

(3) व्रतती (= बेल)—व्रतति ङीष्।

(4) मालतिः, मालती (= एक पुष्प)—मालयति गन्धं धारयति। माल् अति—सु।

(5) स्थपतिः (= वाग्मी)—स्थापयति धर्मम्। स्थाप् इ—णि का लोप, अति, ह्रस्वादेश, सु।

(504) वहिवस्यर्त्तिभ्यश्चित् [4.61]

पद०—वहिवस्यर्त्तिभ्यः 5.3, चित् 1.1

अनु०— 'अमेरतिः' उ०सू० 4.60) से 'अतिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वह् वस् ऋ—इत्येतेभ्यो धातुभ्योऽतिप्रत्ययः स्यात्, स च चित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—वह्, वस् तथा ऋ—इन धातुओं से परे 'अति' प्रत्यय होता है तथा वह चित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को चित् करने का प्रयोजन अन्तोदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—वहति प्रापयति पदार्थान् प्राप्नोति वेति **वहतिः**, पवनो वा। वसन्ति यत्रेति **वसतिः; वसती** वा, गृहं रात्रिर्वा। ऋच्छति गच्छतीति **अरतिः**, क्रोधो वा।

बाहुलकात्—अलति भूषयति समर्थो वा भवति स **अलतिः**, गीतमात्रिका वा।

उदा०—(1) वहतिः (= वायु)—वहति प्रापयति। वह प्रापणे। वह् अति—सु।

(2) वसतिः (= गृह)—वसन्ति यत्र। वस निवासे। वस् अति—सु।

(3) अरतिः (= क्रोध)—ऋच्छति गच्छति। ऋ गतौ। ऋ अति—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—अर् ति सु।

(4) अलतिः (= गीतमात्रिका)—अलति भूषयति। अल भूषणे। अल् अति—सु।

(505) अञ्चेः को वा [4.62]

पद०—अञ्चेः 5.1, कः 1.1, वा—अव्य०।

अनु०—'अमेरतिः' (उ०सू० 4.60) से 'अतिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अञ्चधातोर् अतिप्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'क्' अन्तादेशो विकल्पेन भवति।

व्याख्या—'अञ्चे:' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'अञ्चे:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'अञ्चे:' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर इसका 'क:' के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—अञ्च् धातु से परे 'अति' प्रत्यय होता है तथा धातु को 'क्' अन्तादेश विकल्प से होता है। ककारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—अञ्चति गच्छति पूजयति वा स **अङ्कति:**; **अञ्चति:**, वायुर्वा।

उदा०—(1) अङ्कति: (= पवन)—अञ्चति गच्छति। अञ्चु गतिपूजनयो:। अञ्च् अति—'क्' अन्तादेश।

(2) अञ्चति: (= पवन)—'क्' अन्तादेश अभाव पक्ष में।

(506) हन्तेरंह च [4.63]

पद०—हन्ते: 5.1, अंह 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'अमेरति:' (उ०सू० 4.60) से 'अति:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—हन्धातोर् 'अति'प्रत्यय: स्याद्, धातोश्च 'अंह' इत्यादेश: स्यात्।

व्याख्या—'हन्ते:' पद की पूर्ववत् आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—हन् धातु से परे 'अति' प्रत्यय होता है और धातु के स्थान पर 'अंह्' आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से अंह् आदेश धातु के अन्त्य अल् (नकार) के स्थान पर प्राप्त है। अंह् अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से अंह् सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् हन्) के स्थान पर होता है। अंह में हकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'अंह' यह लुप्तप्रथमान्त रूप है। 'अंह सु' इस दशा में 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण०' (पा० 7.1.39) से 'सु' विभक्ति का लुक् होता है।

स्वा०द०वृ०—अति:। हन्त्यनेनेति **अंहति:**, दानं वा।

उदा०—(1) अंहति: (= दान)—हन्ति पापकर्म। हन हिंसागत्यो:। हन्—अंह् अति—सु।

(507) रमेर्नित् [4.64]

पद०—रमे: 5.1, नित् 1.1

अनु०— 'अमेरति:' (उ०सू० 4.60) से 'अति:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—रम्धातोर् अतिप्रत्यय: स्यात्, स च नित्सञ्ज्ञ:।

व्याख्या—रम् धातु से परे अति प्रत्यय होता है और वह नित्सञ्ज्ञक होता है। नित् करने का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर होता है।

स्वा०द०वृ०—रमन्तेऽस्मिन् स **रमतिः**, कालः कामो वा।

उदा०—(1) रमतिः (= काम, काल)—रमतेऽस्मिन्। रमु क्रीडायाम्। रम् अति—सु।

(508) सूङः क्रिः [4.65]

पद०—सूङः 5.1, क्रिः 1.1

सं०—सूधातोः क्रिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—सू धातु से परे क्रि प्रत्यय होता है। 'लशक्वतद्धिते' से 'क्' की इत्सञ्ज्ञा होती है 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—सूते प्राणिनः प्रसवति समर्थयतीति **सूरिः**, पण्डितो वा; स्त्रियां **'सूरी'**।

उदा०—(1) सूरिः ((= विद्वान्)—सूते प्राणिनः। षूङ् प्राणिगर्भविमोचने। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—सू क्रि—सू रि—'सार्वधातुकार्धधातु०' से प्राप्त गुण का निषेध, सु। दशपादीवृत्तिकार प्रकृत में 'रिन्' प्रत्यय तथा धातु को दीर्घ आदेश मानते हैं। यथा—'सुञोरिन् दीर्घश्च' (द०वृ० 1.33)। ध्यान रहे कि उत्तर सूत्र में 'क्रिन्' इस प्रत्ययान्तर का पाठ होने से प्रकृत में 'रिन्' के नकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं है। तदनु—'सूरिन्' शब्द निष्पन्न होता है।

(509) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् [4.66]

पद०—अदिशदिभूशुभिभ्यः 5.3, क्रिन् 1.1

सं०—अद् शद् भू शुभ्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्रिन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—अद्, शद्, भू और शुभ्—इन धातुओं से परे क्रिन् प्रत्यय होता है। 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से तथा 'न्' की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए तथा 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—योऽत्ति अदन्ति यत्रेति वा स **अद्रिः**, पर्वतो मेघो वृक्षः सूर्यो वा। शीयते शातयतीति **शद्रिः**, शर्करा वा। भवतीति **भूरिः**, बहुसुवर्णं वा; भूरि प्रयोजनमस्य स '**भौरिकः**' कनकाध्यक्षो वा। शोभतेऽसौ **शुभ्रिः**, चतुर्वेदविद् ब्रह्मा वा।

उदा०—(1) अद्रिः (= पर्वत, बादल)—योऽत्ति। अदन्ति यत्र। अद भक्षणे। अद् क्रिन्—अद् रि—सु।

(2) शद्रिः (= शर्करा)—शीयते शातयति। शद्लृ शातने। शद् क्रिन्—सु।

(3) भूरिः (= अधिक)—भवतीति। भू सत्तायाम्। भू क्रिन्—गुणनिषेध, सु।

(4) भौरिकः—भूरि प्रयोजनम् अस्य सः। भूरि ठक्—ठस्येकः, आदिवृद्धि।

(4) शुभ्रिः (= विधाता, चतुर्वेदज्ञाता)—शोभतेऽसौ। शुभ दीप्तौ। शुभ् क्रिन्—लघूपध गुण का निषेध, सु।

(510) वङ्क्र्यादयश्च [4.67]

पद०—वङ्क्र्यादयः 1.3, च—अव्य०।

सं०—वङ्क्र्यादयश्शब्दाः क्रिन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—क्रिन् प्रत्यय का प्रकरण है। वङ्क्रि आदि शब्द क्रिन् प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—वङ्कतेऽसौ **वङ्क्रिः**, वाद्यभेदो गृहदारु वा। वपन्ति यस्मिन् स **वप्रिः**, क्षेत्रं वा। सम्प्रसारणाभावो बाहुलकात्। अंहयति भाषतेऽसौ **अंह्रिः**, पादो वा। 'तन्दि' सौत्रो धातुः। तन्दति क्लिश्नातीति **तन्द्रिः**, मोहो वा। स्त्रियां '**तन्द्री**'। बिभेति येन स **भेरिः**, वाद्यविशेषो वा; [स्त्रियाम्] **भेरी** वा।

उदा०—(1) वङ्क्रिः (= एक वाद्य)—वङ्कतेऽसौ। वकि गतौ। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम्, 'नश्चाऽपदान्त०' से अनुस्वार—वंक्—'अनुस्वारस्य ययि परस०' से परसवर्ण—वङ्क् क्रिन्—अनुबन्धलोप, सु।

(2) वप्रिः (= क्षेत्र)—वपन्ति यस्मिन्। वप बीजसन्ताने छेदने च। वप् क्रिन्—सम्प्रसारण प्राप्त, निपातन से निषेध—वप् रि—सु।

(3) अंह्रिः (= पाद)—अंहयति भाषतेऽसौ। अहि भाषार्थे। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम्—अ न् ह्—अनुबन्धलोप, 'नश्चाऽपदान्तस्य०' से अनुस्वार—अंह् क्रिन्—अनुबन्धलोप, सु।

(4) तन्द्रिः (= मोह)—तन्दति क्लिश्नाति। तदि धातु इदित् है। नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण।

(5) भेरिः (= एक वाद्य)—बिभेति येन। ञिभी भये। भी क्रिन्—बाहुलकात् गुण, सु।

(6) भेरी—'कृदिकारादक्तिनः' (पा० 4.1.45 ग०सू०) से पाक्षिक ङीष्।

(6) मङ्क्रिः (= शव)—मङ्कते। मकि मण्डने।

(7) अङ्क्रिः (= चिह्न)—अङ्कते। अकि लक्षणे।

(511) राशदिभ्यां त्रिप् [4.68]

पद०—राशदिभ्याम् 5.2, त्रिप् 1.1

सं०—रा शद्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां त्रिप्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—रा और शद् इन धातुओं से परे त्रिप् प्रत्यय होता है। 'प्'—इत्सञ्ज्ञक है। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा० 3.1.4) से अनुदात्त स्वर होता है।

स्वा०द०वृ०—राति सुखं ददातीति **रात्रिः**, [; **रात्रि**] प्रसिद्धा वा। शीयते छिनत्तीति **शत्रिः**, हस्ती वा।

उदा०—(1) रात्रिः (= रात)—राति सुखं ददाति। रा दाने। रा त्रिप्—रात्रि सु। रै शब्दे त्रिप् रायति।

(2) शत्रिः (= हाथी)—शीयते छिनत्ति। शद्लृ शातने। शद् त्रिप्—'खरि च' से चर्त्व, सु।

(512) अदेस् त्रिनिश्च [4.69]

पद०—अदेः 5.1, त्रिनिः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'राशदिभ्यां त्रिप्' (उ०सू० 4.68) से 'त्रिप्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अद्धातोस् त्रिनि त्रिप् इत्येतौ प्रत्ययौ पर्यायेण भवतः।

व्याख्या—अद् धातु से त्रिनि और त्रिप् प्रत्यय पर्यायेण होते हैं। त्रिनि के नकारस्थ इकार की इत्सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—चात् त्रिप्। अत्ति भक्षयतीति **अत्री, अत्रिणौ,** पापं वा। **अत्रिः**, मुनिभेदो वा। तस्यापत्यम् **'आत्रेयः'**।

उदा०—(1) अत्री (= पाप)—अत्ति भक्षयति। अद् भक्षणे। अद् त्रिनि—अद् त्रिन्—'खरि च' से चर्त्व। अत् त्रिन्—सु। 'सौ च' (पा० 6.4.13) से उपधादीर्घ—अत्रीन् स्—अपृक्त सकार का लोप, नलोप।

(2) अत्रिः (= एक मुनि)—अद् त्रिप्-पूर्ववत् चर्त्व, सु।

विशेष—त्रिप् पित् है। इसे अनुदात्त स्वर होता है। प्रकृत में दशपादीवृत्तिकार ने त्रिनिच् प्रत्यय माना है। चित् होने से अन्तोदात्त स्वर होता है। त्रिनिच् में अत्रिन् तथा त्रिप् में अत्रि शब्द बनता है। दशपादीवृत्तिकार लिखते हैं कि दोनों रूपों में स्वर और स्वरूप में अन्तर है।

(513) पतेरत्रिन् [4.70]

पद०—पतेः 5.1, अत्रिन् 1.1

सं०—पत्धातोर् अत्रिन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—पत् धातु से परे अत्रिन् प्रत्यय होता है। 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—ञ्नित्यादिर्नित्यम्।

स्वा०द०वृ०—पततीति **पतत्रिः**, पक्षी वा; [**पतत्री,**] **पतत्रयः**। पक्षवाचकात् पतत्रशब्दान्मत्वर्थ इनिः। **पतत्री, पतत्रिणौ**।

उदा०—(1) पतत्रिः (= पक्षी)—पततीति। पत्लृ गतौ। पत् अत्रिन्—पत् अत्रि—सु। पक्षवाची पतत्र शब्द से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करके 'पतत्रिन्' शब्द निष्पन्न होता है।

(514) मृकणिभ्यामीचिः [4.71[1]

पद०—मृकणिभ्याम् 5.2, ईचिः 1.1

सं०—मृ कण्—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् ईचिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—मृ और कण्—इन धातुओं से परे ईचि प्रत्यय होता है। 'ईचि' को आर्धधातुक सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—म्रियतेऽसौ **मरीचिः**, दीप्तिर्महर्षिर्वा। कणति शब्दयतीति **कणीचिः**, पत्रादियुक्ता शाखा शब्दो वा।

उदा०—(1) मरीचिः (= किरण)—म्रियतेऽसौ। मृङ् प्राणत्यागे। मृ ईचि—'सार्वधातुकार्धधातुक०' से गुण प्राप्त, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—मर् ईचि—सु, विभक्तिकार्य।

(2) कणीचिः (= ध्वनि, पत्तों से युक्त शाखा)—कणति शब्दयति। कण शब्दे। कण् ईचि—सु।

(515) श्वयतेश्चित् [4.72]

पद०—श्वयतेः 5.1, चित् 1.1

अनु०— 'मृकणिभ्यामीचिः' (उ०सू० 4.71) से 'ईचिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—श्विधातोर् ईचिप्रत्ययः स्यात्, स च चित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—श्वि धातु से परे ईचि प्रत्यय होता है तथा वह चित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को चित् करने का प्रयोजन अन्तोदात्त स्वर है।

स्वा०द०वृ०—श्वयति गच्छति वर्धते वा स **श्वयीचिः**, व्याधिर्वा।

उदा०—(1) श्वयीचिः (= रोग)—श्वयति वर्धते। टुओश्वि गतौ। श्वि ईचि—'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण—श्वे ईचि 'एचोऽयवायावः' से अय् आदेश, सु।

(516) वेञो ङिच्च [4.73]

पद०—वेञः 5.1, डित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'मृकणिभ्यामीचिः' (उ०सू० 4.71) से 'ईचिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वेधातोर् ईचिप्रत्ययः स्यात्, स च डित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—'वे' धातु से परे ईचि प्रत्यय होता है और वह डित्सञ्ज्ञक होता है। डित्करण सामर्थ्य से धातु की टि का लोप होता है। 'अचोऽन्त्यादि टि' से टिसञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—वयति तन्तून् सन्तनोतीति **वीचिः**, तरङ्गो वा। डित्त्वाट्टिलोपः।

उदा०—(1) वीचिः (= तरंग)—वयति तन्तून् सन्तनोति। वेञ् तन्तुसन्ताने। वे ईचि—टिलोप, सु।

(517) ऋहनिभ्यामूषन् [4.74]

पद०—ऋहनिभ्याम् 5.2, ऊषन् 1.1

सं०—ऋ हन्—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् ऊषन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—ऋ और हन्—इन धातुओं से परे ऊषन् प्रत्यय होता है। 'न्' इत्सञ्ज्ञक है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—ऋच्छति गच्छतीति **अरूषः**, सूर्यो वा। हन्तीति **हनूषः**, दस्युः [वा]।

उदा०—(1) अरूषः (= सूर्य)—ऋच्छति गच्छति। ऋ गतौ। ऋ ऊषन्—'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा। 'सार्वधातुकार्धधातुक०' से गुण प्राप्त, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—अरूष सु।

(2) हनूषः (= चौर)—हन्तीति। हन हिंसागत्योः। हन् ऊषन्—सु।

विशेषः—उज्ज्वलदत्त दीर्घ ऊकारादि 'ऊषन्' मानते हैं, परन्तु अन्य वृत्तिकार ह्रस्व उकारादि 'उषन्' स्वीकार करते हैं। तब 'अरुषः' तथा 'हनुषः' प्रयोग बनते हैं। उत्तरवर्त्ती सूत्र 'पीयेरूषन्' (उ०सू० 4.77) में दीर्घ ऊकारादि 'ऊषन्' प्रत्यय का निर्देश ज्ञापित करता है कि प्रकृत में ह्रस्व उकारादि 'उषन्' प्रत्यय ही युक्तियुक्त है। यदि आचार्य को प्रकृत में दीर्घ ऊकारादि प्रत्यय इष्ट होता तो वे 'ऋहनिभ्याम्' के स्थान पर 'ऋहनिपीयिभ्यः' पाठ करते। इस प्रकार मात्रालाघव होता है तथा पुनरुक्त दोष का निवारण होता है।

(518) पुरः कुषन् [4.75]

पद०—पुरः 5.1, कुषन् 1.1
सं०—पुर्धातोः कुषन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—पुर् धातु से कुषन् प्रत्यय होता है। कुषन् के 'न्' की 'हलन्त्यम्' से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा होती है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। 'क्' अनुबन्ध लघूपध गुण के निषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—पुरत्यग्रं गच्छतीति **पुरुषः** पुमान्। **अन्येषामपि दृश्यते** [6.3.136] इति दीर्घे **पूरुषः** वा।

उदा०—(1) पुरुषः (= मनुष्य)—पुरत्यग्रं गच्छति। पुर अग्रगमने। पुर् कुषन्—पुर् उषन्—सु।

(2) पूरुषः—काशिकाकार के अनुसार 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० 6.3.136) से दीर्घ आदेश हुआ है परन्तु आचार्य पतञ्जलि के अनुसार दीर्घ आदेश छान्दस है। (द्रष्टव्य—महा० 6.4.74)

(519) पॄनहिकलिभ्य उषच् [4.76]

पद०—पॄनहिकलिभ्यः 5.3, उषच् 1.1
सं०—पॄ नह् कल्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य उषच्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—पॄ, नह् और कल्—इन धातुओं से परे उषच् प्रत्यय होता है। 'च्' इत्सञ्ज्ञक है। 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है। 'उष' शेष रहता है। उषच् की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा है। उषच् के परे रहते 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण होता है।

स्वा०द०वृ०—पिपर्तीति **परुषम्**, निष्ठुरं वचो वा। नह्यति बध्नातीति **नहुषः**, राजर्षिः सर्पविशेषो वा। कलते शब्दयतीति **कलुषम्**, पापम् [वा]।

उदा०—(1) परुषः (= निष्ठुर)—पिपर्ति। पॄ पालनपूरणयोः। पॄ उषच्—गुण, रपरत्व, सु।

(2) नहुषः (= एक राजर्षि, नागविशेष)—नह्यति बध्नाति। णह बन्धने। 'णो नः' से नकार—नह् उषच्—सु।

(3) कलुषम् (= पाप)—कलते शब्दयति। कल शब्दसङ्ख्यानयोः। कल् उषच्—सु।

(520) पीयेरूषन् [4.77]

पद०—पीये: 5.1, ऊषन् 1.1

सं०—पीय्धातोर् ऊषन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—पीय् धातु सौत्र है। पीय् धातु से ऊषन् प्रत्यय होता है। ऊषन् के 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—ञ्नित्यादिर्नित्यम्।

स्वा०द०वृ०—पीयति पीयते वा तत् **पीयूषम्; पेयूषम्,** नूतनं पयोऽमृतं वा। सप्तरात्रप्रसूतायाः क्षीरं [पेयूषमुच्यते। बाहुलकात् पक्षे गुणः।]।

बहुलवचनात्—अङ्क्यते लक्षयतीति **अङ्कूषः,** नकुलो वा।

उदा०—(1) पीयूषम् (= अमृत, नव्यजल)—पीयति पीयते। पीय पाने। पीय् ऊषन्—सु, अतोऽम्।

(2) पेयूषम्—बाहुलकात् गुण आदेश।

(3) अङ्कूषः (= नेवला)—अङ्क्यते लक्षयति। अङ्क् धातु से बाहुलकात् प्रत्यय।

(521) मस्जेर्नुम् च [4.78]

पद०—मस्जेः 5.1, नुम् 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'पीयेरूषन्' (उ०सू० 4.77) से 'ऊषन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—मस्ज्धातोर् ऊषन्प्रत्ययो भवति, धातोश्च नुम् आगमः।

व्याख्या—मस्ज् धातु से परे ऊषन् प्रत्यय होता है और धातु को नुम् आगम होता है। 'म्' की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'न्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—धातोर्नुम्। स चाचोऽन्त्यात्परः। जश्त्वश्चुत्वे। [**'झरो झरि सवर्णे'** (अ० 8.4.64) इत्येकस्य जकारस्य लोपः।] मज्जति शुद्धो भवतीति **मञ्जूषा,** काष्ठमयं द्रव्यं वा।

उदा०—(1) मञ्जूषा (= पेटी)—मज्जति शुद्धो भवति। मस्ज शुद्धौ। मस्ज् ऊषन्—नुम् आगम, 'मिदचोऽन्त्यात् परः' से अन्त्य अच् (मकारस्थ अकार) से परे नुम् प्राप्त है। 'मस्जेरन्त्यात् पूर्वं नुममिच्छ०' (पा० 1.1.46 वा०) से नुम् अन्त्य अल् (जकार) से पूर्व हुआ—मस् न् ज् ऊष—'स्कोः संयोगा०' (पा० 8.2.29) से सकार-लोप—मन्ज्—अनुस्वार, परसवर्ण—मञ्जूष—'स्त्रियाम्' (पा० 4.1.3) के अधिकार में

'अजाद्यतष्टाप्' (पा० 4.1.4) से टाप्, अनुबन्धलोप—मञ्जूष आ—'अकः सवर्णे दीर्घः' (पा० 6.1.99) से सवर्णदीर्घ, सु—मञ्जूषा स्—अपृक्त सकार का लोप।

स्वामी दयानन्द के अनुसार जश्त्व, श्चुत्व एवं झर् का लोप होकर रूप बनता है। यथा—मन् स् ज् ऊषन्—अन्त्य अच् से परे नुम्, 'झलां जश् झशि' (पा० 8.4.52) से झश् (जकार) के परे रहते झल् (सकार) के स्थान पर जश् (जकार) हुआ—मन् ज् ज् ऊष—'स्तोः श्चुना श्चुः' (पा० 8.4.39) से नकार को ञकार हुआ। मञ् ज् ज् ऊष—'झरो झरि सवर्णे' (पा० 8.4.64) से पूर्व जकार का लोप। शङ्का—मन् ज् ज् ऊष—इस दशा में 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' (पा० 8.2.1) से श्चुत्व की दृष्टि में जश्त्व के असिद्ध रहने से यहाँ नकार को अनुस्वार और परसवर्ण ही होना चाहिए।

(522) गण्डेश्च [4.79]

पद०—गण्डेः 5.1, च—अव्यय।
अनु०—'पीयेरूषन्' (उ०सू० 4.77) से 'ऊषन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—गण्ड्धातोर् ऊषन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—गण्ड् धातु से परे ऊषन् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—गण्डति वदनावयवं दिशतीति **गण्डूषः** जलादिनां पूर्णं मुखम्, 'कुल्ला' इति प्रसिद्धम्।

उदा०—(1) गण्डूषः (= कुल्ला)—गण्डति। गडि वदनैकदेशे। इदितो नुम् धातोः, नश्चाऽपदान्त०, अनुस्वारस्य ययि परस०—ग नुम् ड्—अनुबन्धलोप—गन् ड्—गंड्—गण्ड् ऊषन्—सु।

(523) अर्त्तेररुः [4.80]

पद०—अर्त्तेः 5.1, अरुः 1.1
सं०—ऋधातोर् अरुप्रत्ययो भवति।

व्याख्या—ऋ धातु से परे अरु प्रत्यय होता है। 'अरु' की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—ऋच्छति प्राप्नोति येन तद् **अररुः**, आयुधं वा।

उदा०—(1) अररुः (= शास्त्र)—ऋच्छति प्राप्नोति। ऋ गतौ। ऋ अरु—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—अररु—सु।

(524) कुटः किच्च [4.81]

पद०—कुटः 5.1, कित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'अर्त्तेररुः' (उ०सू० 4.80) से 'अरुः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—कुट्धातोर् अरुप्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—कुट् धातु से परे अरु प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय के कित् होने से लघूपध गुण का निषेध होता है। शङ्का—प्रत्यय को कित् अथवा ङित् करने का प्रयोजन गुण-वृद्धि कार्य का निषेध करना है। कुट् धातु कुटादिगण में पठित है। 'गाङ्कुटादि०' (पा० 1.2.1) से अरु प्रत्यय ङित् है। गुण का निषेध स्वतः सिद्ध है। तब प्रकृत में 'अरु' प्रत्यय को कित् क्यों किया गया है ? समा०—प्रकृत में अरु प्रत्यय को कित्करण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि ङित्त्व अनित्य होता है। द्रष्टव्या श्वेतवनवासिकृतवृत्तिः।

स्वा०द०वृ०—कुटतीति **कुटरुः**, वस्त्रगृहं वा ['तम्बू' इति प्रसिद्धम्]।

उदा०—(1) कुटरुः (= तम्बू)—कुटति। कुट कौटिल्ये। कुट् अरु—सु।

दशपादीवृत्ति में इसका अर्थ 'वानर' लिखा है।

(525) शकादिभ्योऽटन् [4.82]

पद०—शकादिभ्यः 5.3, अटन् 1.1
सं०—शकादिभ्यो धातुभ्योऽटन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—शक् आदि धातुओं से परे अटन् प्रत्यय होता है। 'हलन्त्यम्' से 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—ञ्नित्यादिर्नित्यम्।

स्वा०द०वृ०—शक्नोतीति **शकटः**; **शकटं**, यानविशेषः, ऋषिर्वा। यस्यापत्यं **'शाकटायनः'**। वृणोतीति **वरटः** कीटभेदः; **वरटा**, हंसयोषिद्वा। कङ्कते गच्छतीति **कङ्कटः**, कवचो वा। सरति प्रसरतीति **सरटः**, कृकलासो वा, 'गिरगिट' इति प्रसिद्धः। देवते व्यवहरतीति **देवटः**, शिल्पी वा। कम्पते येन स **कपटः**, माया वा। धातोर्नलोपः। 'कर्क-मर्क-क[र्प-प]र्पाः' सौत्रा धातवः। कर्कतीति **कर्कटः**, जलजन्तुभेदो वा। मर्कतीति **मर्कटः**, वानरो वा; स्त्रियां **गौरादित्वात्** [अ० 4.1.41] ङीष्—**'मर्कटी'**। कर्पतीति **कर्पटः**, छिन्नं पुराणं वस्त्रं वा। पर्पति गच्छतीति **पर्पटः**, ऊषरभूमिर्वा। कखति हसतीति **कक्खटम्**, कठिनं वा। कुमागमः। चपति सान्त्वयति येन स **चपेटः**; **चर्पटो** वा, प्रसृताङ्गुलिर्हस्तो वा। एकत्र प्रत्ययादेरेत्वम्, अपरत्र रमागमश्च। मयते प्राप्नोति यं स **मयटः**, प्रासादो वा। किरति विक्षिपतीति **करटः**, काको वा। एवमन्येऽपि शब्दा अटन्प्रत्ययान्ता यथाप्रयोगं साध्याः।

उदा०—(1) शकटः, शकटम् (= छकड़ा)—शक्नोति। शक्लृ शक्तौ। शक् अटन्—सु।

(2) वरटः (= एक कीट)—वृणोतीति। वृञ् वरणे। वृ अटन्—आर्धधातुकं शेषः, सार्वधातुकार्धधा०, उरण् रपरः—वर् अट सु।

(3) वरटा (= हंसिनी)—वरट टाप् स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ, सु, लोप।

(4) कङ्कटः (= कवच)—कङ्कते गच्छति। कङ्क् अटन्—कङ्क् अट—अनुबन्धलोप, सु।

(5) सरटः (= गिरगिट)—सरति प्रसरति। सृ गतौ—सार्वधातुकार्धधातु०, उरण् रपरः—सर् अटन्—सु।

(6) देवटः—देवते व्यवहरति। देव् अटन्—देव् अट—सु!

(7) कपटः (= छल)—कम्पते येन। कपि चलने। क नुम् प्—इदितो नुम् धातोः, अनुस्वार, परसवर्ण—कम्प् अटन्—अनुनासिक लोप, सु।

(8) कर्कटः (= जलजन्तु-विशेष)—कर्कति। कर्क् अटन्—सु। सौत्र धातु।

(9) मर्कटः (= बन्दर)—मर्कतीति। मर्क् अटन्—सु। सौत्रधातु।

(10) मर्कटी—स्त्रियाम्, गौरादिगण में पाठ होने से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से ङीष्, अनुबन्धलोप, 'यस्येति च' से अकारलोप—मर्कट् ई—सु, लोप।

(11) कर्पटः (= पुराना वस्त्र, चीथड़ा)—कर्पतीति। सौत्र धातु। कर्प् अटन्—सु।

(12) पर्पटः (= बंजर)—पर्पति गच्छति। पर्प् अटन्—सौत्रधातु, सु।

(13) कक्खटम् (= कठिन)—कखति हसति। कख् अटन्—कुम् आगम, म् इत्सञ्ज्ञक, उकार उच्चारणार्थ—कक् ख् अट—मिदचोऽन्त्यात् परः, सु। कुछ पुस्तकों में 'कुक्' आगम किया है। तब 'आद्यन्तौ टकितौ' से धातु का अन्ताऽवयव बनकर 'क ख् क् अट' इस दशा में 'खरि च' से चर्त्व होकर प्रयोग सिद्ध होता है। धातुप्रदीप में 'कक्ख हसने' धातु का पाठ है। तब आगम की आवश्यकता नहीं है।

(14) चपेटः (= थप्पड़)—चपति सान्त्वयति। चप् अटन्—प्रत्यय के आदि वर्ण को 'ए' आदेश—चप् एट—सु।

(15) चर्पटः (= थप्पड़)—चप् अटन्—रम् आगम, म् इत्सञ्ज्ञक, अकार उच्चारणार्थ—चर् प् अट—मिदचोऽन्त्यात्परः, सु।

(16) मयटः (= महल)—मयते प्राप्नोति यं सः। मय् अटन्—सु।

(17) करटः (= कव्वा)—किरति विक्षिपति। कृ विक्षेपे। कृ अटन्—आर्धधातुकलक्षण गुण को बाधकर 'ॠत इद्धातोः' से इत् आदेश, रपरत्व, सु।

(18) अवटम् (= छत्र)—अवति, ऊयते। अव रक्षणादिषु। अव् अटन्—सु।

(19) वयटः (= रस)—वयतीति। वय समवाये। वय् अटन्—सु।

(20) चमटः (= घस्मर)—चमति। चमु अदने। चम् अटन्।

(21) भरटः (= भृत्य)—बिभर्त्ति, भ्रियते। डुभृञ् धारणपोषणयोः।

(526) कृकदिकडिकटिभ्योऽम्बच् [4.83]

पद०—कृकदिकडिकटिभ्यः 5.3, अम्बच् 1.1

सं०—कृ कद् कड् कट्—इत्येतेभ्यो धातुभ्योऽम्बच्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कृ, कद्, कड् और कट् इन धातुओं से परे अम्बच् प्रत्यय होता है। 'च्' इत्सञ्ज्ञक है। 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है। 'आर्धधातुकं शेषः' से प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—करोतीति **करम्बम्**, व्यामिश्रम् [वा]। कदतीति **कदम्बः**, वृक्षभेदो वा। कडत्यावृणोतीति **कडम्बः** अग्रभागो वा। कटतीति **कटम्बः**, वादित्रं वा।

उदा०—(1) करम्बम् (= व्यामिश्र, दधिसक्तु)—करोतीति। डुकृञ् करणे। कृ अम्ब—'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व, सु।

(2) कदम्बः (= वृक्षविशेष)—कदतीति। कद वैकल्ये। कद् अम्बच्—कदम्ब सु।

(3) कडम्बः (= अग्रभाग)—कडत्यात्रृणोति। कड मदे। कड् अम्बच्—सु।

(4) कटम्बः (= वादित्र)—कटतीति। कटे वर्षाऽऽवरणयोः। कट् अम्बच्—सु।

(527) कदेर्णित् पक्षिणि [4.84]

पद०—कदेः 5.1, णित् 1.1, पक्षिणि 7.1

अनु०— 'कृकदि······भ्योऽम्बच्' (उ०सू० 4.8) से 'अम्बच्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—पक्षिणि गम्यमाने कद्धातोर् अम्बच्प्रत्ययः स्यात् स च णित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—यदि 'पक्षी' अर्थ गम्यमान हो तो कद् धातु से परे अम्बच् प्रत्यय होता है और वह णित् होता है। प्रत्यय को णित् करने का प्रयोजन 'अत उपधायाः' से उपधा को वृद्धि करना है।

स्वा०द०वृ०—कदति विकलो भवतीति **कादम्बः**, पक्षिभेदो वा, 'बकः' इति प्रसिद्धः। [पक्षिणोऽन्यत्र **कदम्बः**, वृक्षभेदः ॥]।

उदा०—(1) कादम्बः (= बक)—कदति विकलो भवति। कद वैकल्ये। कद् अम्बच्—उपधावृद्धि—काद् अम्ब सु—रुत्व, विसर्ग।

(528) कलिकर्द्योरमः [4.85]

पद॰—कलिकर्द्योः 6.2, अमः 1.1

सं॰—कल्-कर्द्—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् अमप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कल् और कर्द्—इन धातुओं से परे अम प्रत्यय होता है। 'अम' प्रत्यय की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा होती है।

स्वा॰द॰वृ॰—कलते सङ्ख्यातीति **कलमः**, शालिभेदो वा। कर्दति कुत्सितं शब्दयतीति **कर्दमः**, पापं [पङ्को] वा।

उदा॰—(1) कलमः (= शालिविशेष)—कलते सङ्ख्याति। कल सङ्ख्याने। कल् अम—सु।

(2) कडमः—'डलयोरभेदः' से।

(3) कर्दमः (= कीचड़, पाप)—कर्दति कुत्सितं शब्दयति। कर्द कुत्सिते शब्दे। कर्द् अम—सु, विभक्तिकार्य।

(529) कुणिपुल्योः किन्दच् [4.86]

पद॰—कुणिपुल्योः 6.2, किन्दच् 1.1

सं॰—कुण् पुल्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां किन्दच्प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—'कुणिपुल्योः' षष्ठ्यन्त पद है। विभक्तिविपरिणाम से पञ्चम्यन्त (यथा—कुणिपुलिभ्याम्) बनाकर 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—कुण् और पुल् धातुओं से परे किन्दच् प्रत्यय होता है। 'च्' की 'हलन्त्यम्' (पा॰ 1.3.3) से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' (पा॰ 1.3.7) से इत्सञ्ज्ञा है। 'च्' अनुबन्ध का प्रयोजन 'चितः' (पा॰ 6.1.162) के द्वारा अन्तोदात्त स्वर करना है तथा 'क्' अनुबन्ध का प्रयोजन गुणनिषेध है। यहाँ 'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा॰ 7.3.86) से लघूपध गुण प्राप्त है।

स्वा॰द॰वृ॰—कुण्यते शब्द्यतेऽसौ **कुणिन्दः**, शब्दो वा। पोलति महान् भवतीति **पुलिन्दः**, शवरश्चाण्डालभेदो वा।

बाहुलकात्—अलति भूषयतीति **अलिन्दः**, गृहैकदेशो वा। प्रज्ञादित्वाद् [अ॰ 5.4.38] अणि '**आलिन्दः**' इत्यपि सिद्धम्।

उदा॰—(1) कुणिन्दः (= ध्वनि)—कुण्यते शब्द्यते। कुण शब्दोपकरणयोः।

(2) पुलिन्दः (चाण्डालविशेष)—पोलति महान् भवति। पुल महत्त्वे।

(3) अलिन्दः (= कमरा)—अलति भूषयति। बाहुलकात् प्रत्यय। अल् किन्दच् अल् इन्द—सु।

(4) आलिन्दः—प्रज्ञादि होने से पा० 5.4.38 से अण् होकर 'अलिन्द अण्'—इस स्थिति में आदिवृद्धि आदि कार्य होते हैं।

(530) कुपेर्वा वश्च [4.87]

पद०—कुपेः 5.1, वा—अव्य०, वः 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'कुणिपुल्योः किन्दच्' (उ०सू० 4.86) से 'किन्दच्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—कुप्धातोः किन्दच्प्रत्ययः स्याद्धातोश्च वकारोऽन्तादेशो विकल्पेन भवति।

व्याख्या—'कुपेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'कुपेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'कुपेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर धातु से अन्तादेश किया जाता है। अर्थ—कुप् धातु से परे किन्दच् प्रत्यय होता है तथा धातु को विकल्प से वकार आदेश होता है। किन्दच् के अनुबन्धों (क्, च्) का लोप होकर 'इन्द' शेष रहता है। वकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'अलोऽन्त्यस्य' से 'व्' आदेश धातु के अन्त्य अल् (प्) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—कुप्यति क्रुद्धो भवति स **कुविन्दः**; **कुपिन्दः**, तन्तुवायो वा।

उदा०—(1) कुविन्दः (= जुलाहा)—कुप्यतीति। कुप क्रोधे। कुप्—धातु को 'व्' अन्तादेश—कुव् किन्दच्—'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से प्राप्त गुण का निषेध, सु।

(2) कुपिन्दः (= जुलाहा)—अन्तादेश अभाव पक्ष में।

(531) नौ षञ्जेर्घथिन् [4.88]

पद०—नौ 7.1, षञ्जेः 5.1, घथिन् 1.1

सं०—'नि' इति शब्दे उपपदे षञ्ज्धातोर् घथिन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'नि' शब्द के उपपद रहते षञ्ज् धातु से परे घथिन् प्रत्यय होता है। 'न्' की 'हलन्त्यम्' (पा० 1.3.1) से तथा 'घ्' की 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.7) से इत्सञ्ज्ञा है। 'अथि' शेष रहता है। 'न्' अनुबन्ध का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर करना है। 'घ्' अनुबन्ध का प्रयोजन कुत्व कार्य है।

स्वा०द०वृ०—नितरां सजति सङ्गं करोतीति **निषङ्गथिः**, आलिङ्गको वा। घित्त्वात् [अ० 7.3.52] कुत्वम्।

उदा०—(1) निषङ्गथिः (= आलिंगक, रथ का स्कन्ध)—नितरां सजति सङ्गं

करोति। निपूर्वक षञ्ज् घथिन्—'चजोः कु घिण्०' 'धात्वादेः षः सः' से सकार—नि सञ्ज् घथिन्—अनुबन्धों का लोप—नि सञ्ज् अथि—'चजोः कु घिण्०' (पा० 7.3.52) से कुत्व आदेश—निसञ्ग् अथि—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' से ञ् को नकार। 'उपसर्गात् सुनोति०' से मूर्धन्य आदेश।

(532) उद्यर्तेश्चित् [4.89]

पद०—उदि 7.1, अर्त्तेः 5.1, चित् 1.1
अनु०— 'नौ षञ्जेर्घथिन्' (उ०सू० 4.88) से 'घथिन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—उदि उपपदे ऋधातोर् घथिन्प्रत्ययः स्यात्, स च चित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—'उद्' शब्द के उपपद रहते ऋ धातु से परे घथिन् प्रत्यय होता है और वह चित्सञ्ज्ञक है। प्रत्यय को चित् करने का प्रयोजन अन्तोदात्त स्वर करना है। घथिन् के 'घ' और 'न्' अनुबन्धों का लोप होकर 'अथि' शेष रहता है। 'आर्धधातुकं शेषः' (पा० 3.4.114) से 'घथिन्' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—उदृच्छन्त्यूर्ध्वं गच्छन्त्यापोऽस्मिन् स **उदरथिः**, समुद्रो वा।

उदा०—(1) उदरथिः (= सागर)—उदृच्छन्त्यूर्ध्वं गच्छन्त्यापोऽस्मिन्। उद्पूर्वक ऋ गतौ। उद् ऋ अथि—'सार्वधातुकार्धधातुक०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—उद् अर् अथि—सु।

(533) सर्त्तेर्णिच्च [4.90]

पद०—सर्त्तेः 5.1, णित् 1.1, च—अव्य०।
अनु०— 'नौ षञ्जेर्घथिन्' (उ०सू० 4.88) से 'घथिन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—सृधातोर् घथिन्प्रत्ययः स्यात्, स च णित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—सृ धातु से परे घथिन् प्रत्यय होता है और वह णित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को णित् करने से 'अचो ञ्णिति' (पा० 7.2.115) से वृद्धि आदेश होता है। 'घथिन्' का 'अथि' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—सारयति नियमेन चालयतीति **सारथिः**, नियन्ता वा। अत्र **अन्तणीतण्यर्थः**, णित्त्वाद् वृद्धिः।

उदा०—(1) सारथिः (= सारथि)—सारयति नियमेन चलयति। सृ गतौ। अन्तर्भावित ण्यर्थ में प्रत्यय है। सृ घथिन्—अनुबन्धलोप, वृद्धि आदेश, उरण् रपरः—सार् अथि—सु।

(534) खर्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ [4.91]

पद०—खर्जिपिञ्जादिभ्यः 5.3, ऊरोलचौ 1.2

सं०—खर्जादिभ्य ऊरप्रत्ययः, पिञ्जादिभ्य ऊलच्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—खर्ज् च पिञ्ज् च—खर्ज्पिञ्जौ—यहाँ द्वन्द्व समास है। इसके प्रत्येक पद के साथ 'आदि' शब्द अन्वित होकर 'खर्जिपिञ्जादिभ्यः' का विग्रह इस प्रकार होता है—खर्जादिभ्यः पिञ्जादिभ्यः। दो प्रकृतियाँ (यथा—खर्जादि, पिञ्जादि) तथा दो ही प्रत्यय (यथा—ऊर, ऊलच्) हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—खर्ज् आदि और पिञ्ज् आदि धातुओं से यथासंख्य ऊर तथा ऊलच् प्रत्यय होते हैं। भाव यह है कि खर्ज् आदि धातुओं से 'ऊर' प्रत्यय तथा पिञ्ज् आदि धातुओं से ऊलच् प्रत्यय होता है। ऊलच् का 'च्' इत्सञ्ज्ञक है। 'च्' अनुबन्ध 'चितः' (पा० 6.1.162) से अन्तोदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—खर्ज्यादिभ्य ऊरः—खर्जति मार्जयतीति **खर्जूरः**, वृक्षभेदो रजतं वा; स्त्रियां **गौरादित्वात्** [अ० 4.1.41] ङीष्—**'खर्जूरी'**। कल्पते समर्थो भवतीति **कर्पूरः**, सुगन्धिद्रव्यं वा। बाहुलकादत्र लत्वाभावः। धुनोति कम्पयतीति **धुस्तूरः**, कनकाह्वयः [वा] , 'धतूरा' इति प्रसिद्धः। [धातोः स्तुगागमः।] वल्लते संवृणोतीति **बल्लूरम्**, शुष्कमांसं वा। शालयति गमयतीति **शालूरः**, मण्डूको वा। मल्लते धरतीति **मल्लूरः**। कस्ते गच्छति प्राप्नोति शास्ति वा स **कस्तूरः**; स्त्रियां **'कस्तूरी'** प्रसिद्धा, सुगन्धिभेदः।

पिञ्जादिभ्य ऊलः—पिङ्क्ते वर्णयतीति **पिञ्जूलम्**, कुशवर्तिर्वा। कञ्चते दीप्यतेऽसौ **कञ्चूलः**, स्त्रीगात्राभरणं वा। लङ्गति गच्छतीति **लाङ्गूलम्**, पुच्छं वा। धातोर्वृद्धिः। ताम्यति काङ्क्षति यत्तत् **ताम्बूलम्**, 'पान' इति प्रसिद्धम्। धातोर्बुक् दीर्घत्वं च। शृणाति हिनस्तीति **शार्दूलः**, व्याघ्रो वा। धातोर्दुक् वृद्धिश्च। दुनोत्युपतापयतीति **दुकूलम्**, स्त्रिया उत्तरीयं वस्त्रम्। धातोः कुक्। कुस्यति श्लिष्यतीति **कुसूलः**, धान्यपत्रं वा।

उदा०—(1) खर्जूरः (= एक वृक्ष, चाँदी)—खर्जति मार्जयति। खर्ज पूजने। खर्ज् ऊर—सु।

(2) खर्जूरी—गौरादित्वात् ङीष्।

(3) कर्पूरः (= सुगन्धि द्रव्य)—क्लृपू सामर्थ्ये। क्लृप् ऊर—बाहुलकात् धातु की उपधा के स्थान पर अत् आदेश—कपूर सु। 'कृपो रोलः' (पा० 8.2.18) से रेफ के स्थान पर लकार विहित था। बाहुलकात् निषेध हुआ।

(4) धुस्तूरः (= धतूरा)—धुनोति कम्पयति। धुञ् कम्पने। धु स्तुक् ऊर—धातु को स्तुक् आगम, 'क्' की इत्सञ्ज्ञा, उकार उच्चारणार्थ—धुस्त् ऊर—सु।

(5) वल्लूरम् (= शुष्कमांस)—वल्लते संवृणोति। वल्ल संवरणे। वल्ल् ऊर—सु।

(6) शालूरः (= मेंढक)—शालयति गमयति। शल चलनसंवरणयोः। शल् णिच् ऊर—'अत उपधायाः' से वृद्धि, णि का लोप—शाल् ऊर—सु।

(7) मल्लूरः—मल्लते धरति। मल्ल धारणे। मल्ल् ऊर—सु।

(8) कर्जूरः (= मलिन)—कर्ज व्यथने।

(9) कस्तूरः (= स्त्रीलिंग में कस्तूरी)—कस्ते गच्छति प्राप्नोति शास्ति। कस गतिशासनयोः। कस् तुक् ऊर—तुक् आगम, अनुबन्धलोप—कस्तूर—सु।

(10) पिञ्जूलम् (= कुशा की बत्ती)—पिङ्क्ते वर्णयति। पिजि वर्णे। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम्—पि नुम् ज्—अनुबन्धलोप, अनुस्वार, परसवर्ण—पिञ्ज् ऊलच्—सु।

(11) कञ्चूलः (= स्त्रीगात्र का आभूषण)—कञ्चते दीप्यतेऽसौ। कचि दीप्तिबन्धनयोः। पूर्ववत् नुम् आदि—कञ्च् ऊलच्—सु।

(12) वधूलः (= घातक)—हन्ति, हन्यतेऽनेन। वध आदेश।

(13) लाङ्गूलम् (= पूँछ)—लङ्गति यत्। लगि गतौ। पूर्ववत् नुम् आदि—ल नुम् ग्—लंग्—लङ्ग्—धातु को दीर्घ आदेश—लाङ्ग् ऊलच्—सु।

(14) ताम्बूलम् (= पान)—ताम्यति काङ्क्षति यत्। तमु काङ्क्षायाम्। धातु को दीर्घ आदेश—ताम् ऊलच्—बुक् आगम, क् की इत्सञ्ज्ञा, उकार उच्चारणार्थ—ताम् ब् ऊलच्—सु।

(15) शार्दूलः (= बाघ)—शृणाति हिनस्ति। शॄ हिंसायाम्। शॄ ऊलच्—धातु को वृद्धि आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—शार् ऊलच्—धातु को दुक् आगम—शार् द् ऊल—अनुबन्धलोप, सु।

(16) दुकूलम् (= दुपट्टा)—दुनोत्युपतापयति। दु उपतापे। दु ऊलच्—धातु को कुक् आगम—दुक् ऊल—अनुबन्धलोप, आद्यन्तौ टकितौ, सु।

(17) कुसूलः (= कोठा, धान्य का पात्र)—कुस्यति श्लिष्यति। कुस संश्लेषणे। कुस् ऊलच्—सु।

(535) कुवश्चट् दीर्घश्च [4.92]

पद०—कुवः 5.1, चट् 1.1, दीर्घः 1.1, च—अव्य०।

सं०—कुधातोश् चट्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च दीर्घादेशः स्यात्।

व्याख्या—कुवः पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'कुवः' पद को पञ्चम्यन्त

मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'कुवः' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर धातु को दीर्घ आदेश किया जाता है। अर्थ—कु धातु से परे चट् प्रत्यय होता है तथा धातु को दीर्घ आदेश होता है। यह दीर्घ आदेश धातु के अच् वर्ण (उकार) के स्थान पर होता है। चट् के 'ट्' की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। टित् करने का प्रयोजन स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टिड्ढाऽणञ्०' (पा० 4.1.4) से ङीप् प्रत्यय करना है।

स्वा०द०वृ०—कौति शब्दयतीति **कूचः**, स्तनं हस्ती वा; स्त्रियां '**कूची**' चित्रलेखनी।

उदा०—(1) कूचः (= चित्रलेखनी, स्तन, हाथी)—कौति शब्दयति। कु शब्दे। कुङ् अव्यक्ते शब्दे। कवते, कुवते। कु चट्—धातु को दीर्घ आदेश—कूच—धातु को दीर्घ आदेश विधान के सामर्थ्य से आर्धधातुकलक्षण गुण नहीं होता है। सु।

(2) कूची—कूच ङीप्—लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम्—कूच ई—यचि भम्, 'यस्येति च' से अकारलोप—कूच् ई—सु, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घा०' से अपृक्त सकार का लोप।

(536) समीणः [4.93]

पद०—समि 7.1, इणः 5.1

अनु०— 'कुवश्चट् दीर्घश्च' (उ०सू० 4.92) से 'चट्' तथा 'दीर्घः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सम्युपपदे इण्धातोश् चट्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च दीर्घाऽऽदेशो भवति।

व्याख्या—'सम्' शब्द के उपपद रहते इण् धातु से परे चट् प्रत्यय होता है तथा धातु को दीर्घ आदेश होता है। दीर्घ विधान के सामर्थ्य से आर्धधातुकलक्षण गुण नहीं होता है। चट् को टित् करने का प्रयोजन स्त्रीत्व में ङीप् प्रत्यय करना है। द्रष्टव्य—टिड्ढाऽण० (पा० 4.1.7)

स्वा०द०वृ०—सम्यगेति गच्छतीति **समीचः**, समुद्रो वा; समीची हरिणी।

उदा०—(1) समीचः (= समुद्र)—सम्यग् एति गच्छति। सम् इ चट्—सम् ई च—सु।

(2) समीची (= मृगी)—स्त्रियाम्, टिड्ढाऽण०, सु, अपृक्त सकार का लोप।

(537) सिवेष्टेरू च [4.94]

पद०—सिवेः 5.1, टेः 6.1, ऊ 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'कुवश्चट् दीर्घश्च' (उ०सू० 4.92) से 'चट्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सिव्धातोश् चट्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च यष् टिसञ्ज्ञको भागस्तस्य स्थाने 'ऊ' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—सिव् धातु से परे चट् प्रत्यय होता है तथा धातु का जो टिसञ्ज्ञक भाग, उसके स्थान पर 'ऊ' आदेश होता है। 'अचोऽन्त्यादि टि' से टिसञ्ज्ञा होती है। सिव् धातु का 'इव्' टिसञ्ज्ञक है। चट् को पूर्ववत् टित् ङीप् प्रत्यय के लिए किया गया है। द्रष्टव्य—'ड्ढाऽणञ०' (पा० 4.1.7)। पूर्वशास्त्र (उ०सू० 4.92) से 'दीर्घः' का अनुवर्तन सुलभ होने पर भी 'उः' का पाठ न करके दीर्घ ऊकार (ऊ) आदेश किया है।

स्वा०द०वृ०—इव्भागस्य टेरू आदेशः। सीव्यति येन स **सूचः**, दर्भाङ्कुरो वा; [स्त्रियाम्] **सूची** इति प्रसिद्धा [एव]।

उदा०—(1) सूचः (= कुशांकुर, पिशुन)—सीव्यति येन। षिवु तन्तुसन्ताने। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—सिव् चट्—टि (इव्) को 'ऊ' आदेश—सू च—सु।
(2) सूची (= सुई, तालिका)—सूच ङीप्—अनुबन्धलोप, सु, विभक्तिकार्य।

(538) शमेर्बन् [4.95]

पद०—शमेः 5.1, बन् 1.1
सं०—शम्धातोर् बन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—शम् धातु से परे बन् प्रत्यय होता है। 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। कुछ पुस्तकों में वकारादि (अर्थात् वन्) प्रत्यय का विधान है। 'वबयोरभेदः' के अनुसार प्राच्य आचार्यों के मत में यह मान्य है। दशपादीवृत्ति में 'शपेर्वन्' पाठ है। तदनु—'शप्वः' (= आक्रोश) प्रयोग बनता है। द्रष्टव्य—द०वृ० 8.131

स्वा०द०वृ०—शाम्यतीति **शम्बः**, मुसलस्य लोहमुखं वा, 'शामी' इति प्रसिद्धा।

उदा०—(1) शम्बः (= मूसल का लोह का बना अगला भाग)—शाम्यति। शमु उपशमे। शम् बन्—'नश्चाऽपदान्त०' से अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि०' से परसवर्ण, सु।

(539) उल्बादयश्च [4.96]

पद०—उल्बादयः 1.3, च—अव्य०।
सं०—उल्बादयश्शब्दा बन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—बन् प्रत्यय का प्रकरण चल रहा है। अर्थ—उल्ब आदि शब्द बन् प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—वन्प्रत्ययान्ता निपाताः। उच्यति समवैतीति **उल्बः**, गर्भो वा। चकारस्य लत्वं गुणाभावश्च। शोचतीति **शुल्बम्**, ताम्रं वा। पूर्ववत् सर्वम्। नयति प्रापयति शुभगुणानिति **निम्बः**, वृक्षभेदो वा। वीयते काम्यते तत् **बिम्बम्**, मण्डलमोषधिविशेषो वा। अत्रोभयत्र 'नी वी' धातोर्नुमागमो ह्रस्वत्वं [वीयतेर्बत्वं] च। स्त्रियां **गौरादित्वाद्** [अ० 4.1.41] **बिम्बी**। बिम्बफलमिवोष्ठौ यस्याः सा **'बिम्बोष्ठी'** कन्या। दधाति धान्यहेतुर्भवतीति **धन्वम्**, धनुर्वा; तद्योगाद् **'धन्वी'** जनः। जमति भक्षयतीति **जम्बः**, पङ्को वा।

उदा०—(1) उल्बम् (= गर्भ)—उच्यति समवैति। उच समवाये। उच् बन्—धातु को लकार अन्तादेश—उल्ब—सु, अतोऽम्। दशपादीवृत्तिकार ने उद्पूर्वक ली श्लेषणे एवं ला आदाने धातु से वन् प्रत्यय किया है। उद्ली वन्—धातु के अच् और उपसर्ग के अन्त्य अल् का लोप—उल् व-सु। उल्लीयते, उल्लाति। (द०वृ० 8.131)

(2) शुल्बम् (= ताम्बा)—शोचतीति। शुच् बन्—पूर्ववत् अन्तादेश। दशपादी-वृत्तिकार ने 'शल श्वल आशुगमने' धातु से वन् प्रत्यय किया है। यथा—शलति शल्यते वा। शल् वन्—उपधा को उकार आदेश—शुल्व-गुणनिषेध।

(3) निम्बः (= नीम का वृक्ष)—नयति प्रापयति। णीञ् प्रापणे। 'णो नः' से नकार—नी बन्—धातु को ह्रस्व आदेश, मुक् आगम—नि मुक् बन्—अनुबन्धलोप—निम्ब—अनुस्वार, परसवर्ण, सु।

(4) बिम्बम् (= मण्डल, एक ओषधि)—वीयते काम्यते। वि मुक् बन्—पूर्ववत् ह्रस्व आदेश, मुक् आगम, धातु के वकार को बकार—बिम्ब सु।

(5) बिम्बी—स्त्रियाम्, गौरादिगण में पाठ होने से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (पा० 4.1.41) से ङीष्। दशपादीवृत्तिकार ने 'विदि अवयवे अथवा रूपबिम्बे' धातु से बन् प्रत्यय किया है। यथा—विन्द्यते। विन्द् बन्—इदितो नुम् धातोः, अनुस्वार, परसवर्ण, धातु का अन्त्यलोप, वि न् ब—अनुस्वार, परसवर्ण—विम् ब—'वबयोरभेदः' से वकार को बकार, सु। रूप्यते। रूप् बन्—धातु को 'वि' सर्वादेश—वि बन्—मुम् आगम, बत्व, सु।

(6) धन्वम् (= धनुष)—दधाति धान्यहेतुर्भवति। डुधाञ् वन्—धातु को ह्रस्व आदेश, नुक् आगम—ध न् व—सु।

(7) जम्बः (= पंक)—जमति भक्षयति। जम् बन्—सु।

(540) स्थः स्तोऽम्बजवकौ [4.97]

पद०—स्थः 5.1, स्तः 1.1

सं०—स्थाधातोर् अम्बच्-अवक् इत्येतौ प्रत्ययौ पर्यायेण भवतः, धातोश्च स्थाने 'स्त' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'स्थः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'स्थः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'स्थः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—स्था धातु से परे पर्यायेण अम्बच् और अवक प्रत्यय होते हैं तथा धातु के स्थान पर 'स्त' आदेश होता है। तकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। स्त् अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' (पा० 1.1.54) से सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् स्था धातु) के स्थान पर आदेश होता है। अवक अकारान्त प्रत्यय है।

स्वा०द०वृ०—अम्बच् अवक इत्येतौ प्रत्ययौ। तिष्ठतीति **स्तम्बः**, शाखाशून्यो व्रीह्यादेर्गुच्छो वा। **स्तवकः**, पुष्पगुच्छो वा।

उदा०—(1) स्तम्बः (= व्रीहि आदि का गुच्छा)—तिष्ठतीति। ष्ठा गतिनिवृत्तौ। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—स् ठा—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' से थकार—स्था अम्बच्—'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है। स्त् अम्ब—सु।

(2) स्तवकः (= पुष्पगुच्छ)—ष्ठा—स्था—स्त् अवक—सु। 'वबयोरभेदः' से 'स्तबक' भी बनता है।

(541) शाशपिभ्यां ददनौ [4.98]

पद०—शाशपिभ्याम् 5.2, ददनौ 1.2

सं०—शो शप् इत्येताभ्यां धातुभ्यां द दन् इत्येतौ प्रत्ययौ पर्यायेण भवतः।

व्याख्या—शो तथा शप्—इन धातुओं से परे क्रमशः द और दन् प्रत्यय होते हैं। दो प्रकृतियाँ (यथा—शो, शप्) हैं तथा दो ही प्रत्यय (यथा—द, दन्) हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' की प्रवृत्ति होकर 'शो' धातु से 'द' तथा 'शप्' धातु से 'दन्' प्रत्यय होता है। दन् के 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—श्यति सूक्ष्मं करोतीति **शादः**, कर्दमो बालतृणं वा। शप्यत आहूयतेऽनेन स **शब्दो** नादः। पस्य बः।

उदा०—(1) शादः (= लघु तृण)—श्यति। शो तनूकरणे। शो—शा 'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० 6.1.44) से आत्व—श् आ द—सु।

(2) शब्दः (= नाद)—शप्यत आहूयते अनेन। शप आक्रोशे। शप् दन्—धातु के 'प्' को 'ब्' आदेश—शब् द—सु। 'झलां जश् झशि' (पा० 8.4.53)।

(542) अब्दादयश्च [4.99]

पद०—अब्दादय: 1.3, च—अव्य० ।

सं०—अब्दादयश्शब्दा दप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ।

व्याख्या—अब्द आदि शब्द द या दन् प्रत्ययान्त निपातित हैं ।

स्वा०द०वृ०—ददन्प्रत्ययान्ता निपाता: । अवति रक्षणादिकं करोतीति **अब्दः** संवत्सरोऽवसरो मेघो वा । कौति शब्दयतीति **कुन्दः**, पुष्पजातिर्वा । धातोर्नुम् । वृणोतीति **वृन्दम्**, समूहो वा । नुम् गुणाभावश्च । कनति दीप्यतेऽसौ **कन्दः**, सस्यमूलं सूकरो वा । तुदति व्यथतीति **तुन्दः**, स्थूलमुदरं वा; '**तुन्दी**' स्थूलोदरी । धातोर्नुम् ।

उदा०—(1) अब्द: (= वर्ष, बादल)—अवति रक्षति । अव् द—'ब्' अन्तादेश, सु । दशपादीवृत्ति (द०वृ० 6.49) में 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से दन् प्रत्यय करके 'अब्द' शब्द निष्पन्न किया गया है । यथा—आप् दन्—धातु को ह्रस्व आदेश—अप् द—धातु को बकार अन्तादेश, सु । आप्नोत्यसौ ।

(2) कुन्द: (= एक पुष्प)—कौति शब्दयति । कु शब्दे । कु नुक् द—नुक् आगम, अनुबन्धलोप ।

(3) वृन्दम् (= समूह)—वृणोतीति । वृ द—नुम् आगम, अनुबन्धलोप—वृ न् द्—आर्धधातुकलक्षण गुण का निषेध, सु । दशपादीवृत्ति (6.49) में 'वृहि वृद्धौ' धातु से 'द' प्रत्यय किया है । 'इदितो नुम् धातो:' से नुम्, हकारलोप—वृ न् द—सु । वृंहति, वृह्यते । इसी प्रकार कमु कान्तौ से 'कुन्द' शब्द की निष्पत्ति दर्शाई गई है । काम्यत इति । कम् द—उपधा को उकार, अनुस्वार, परसवर्ण ।

(4) कन्द: (= मूलविशेष, सूअर)—कनति दीप्यते । कन् द—सु ।

(5) तुन्द: (= तोंद)—तुदति व्यथति । तुद् द—'न्' अन्तादेश ।

(5) मन्द: (= मूर्ख)—मनुते मन्यते । मनु अवबोधने, मन ज्ञाने । मन् द—सु ।

(543) वलिमलितनिभ्यः कयन् [4.100]

पद०—वलिमलितनिभ्य: 5.3, कयन् 1.1

सं०—वल् मल् तन्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य: कयन्प्रत्यय: स्यात् ।

व्याख्या—वल्, मल् और तन्—इन धातुओं से परे कयन् प्रत्यय होता है । 'न्' की 'हलन्त्यम्' (पा० 1.3.3) से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.7) से इत्सञ्ज्ञा है । 'अय' शेष रहता है ।

स्वा०द०वृ०—वलते संवृणोतीति **वलयम्**, करभूषणं वा । मलते धरतीति **मलयः**, पर्वतो वा । तनोति सुखमिति **तनयः**, पुत्रो वा ।

बाहुलकात्—आमयति पीडयतीति **आमयः**, रोगो वा।

उदा०—(1) वलयम् (= कंगण)—वलते संवृणोति। वल संवरणे। वल् कयन्—'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। वलय सु—अतोऽम्।

(2) मलयः (= एक पर्वत)—मलते धरति। मल धारणे। मल् कयन्—सु।

(3) तनयः (= पुत्र)—तनोति सुखम्। तनु विस्तारे। तन् कयन्—सु।

(4) आमयः (= रोग)—आमयति पीडयति। आम् कयन्—सु।

(544) वृह्रोः षुक्दुकौ च [4.101]

पद०—वृह्रोः 6.2, षुक्दुकौ 1.2, च—अव्य०।

अनु०—'वलिमलितनिभ्यः कयन्' (उ०सू० 4.100) से 'कयन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वृ हृ—इत्येताभ्यां धातुभ्यां कयन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च षुक्-दुकौ इत्येतावागमौ क्रमशः स्याताम्।

व्याख्या—'वृह्रोः' षष्ठ्यन्त पद है। इसे विभक्तिविपरिणाम से पञ्चम्यन्त (यथा—वृहृभ्याम्) बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' (पा० 1.1.67) की प्रवृत्ति होती है। 'वृह्रोः' षष्ठ्यन्त पद को आगम किया जाता है। दो प्रकृतियाँ (यथा—वृ, हृ) हैं तथा दो ही आगम (यथा—षुक्, दुक्) हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—वृ और हृ—इन धातुओं से परे कयन् प्रत्यय होता है तथा दोनों धातुओं को यथासंख्य षुक् और दुक् आगम होते हैं। भाव यह है कि वृ धातु को षुक् आगम तथा हृ धातु को दुक् आगम होता है। 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। षुक् का 'ष्' तथा दुक् का 'द्' शेष रहता है। दोनों आगम कित् हैं। अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' (पा० 1.1.46) से आगम धातु का अन्ताऽवयव होता है।

स्वा०द०वृ०—वृणोतीति **वृषयः**, आश्रयो वा। षुक्। हरति विषयानिति **हृदयम्**, मनो वा। दुक्।

उदा०—(1) वृषयः (= आश्रय)—वृणोति। वृञ् वरणे। वृ षुक् कयन्—अनुबन्धलोप। वृ ष् अय—प्रत्यय कित् है, प्राप्त लघूपधगुण का निषेध, सु।

(2) हृदयम् (= हृदय)—हरति विषयान्। हृ हरणे। हृ दुक् कयन्—अनुबन्धलोप। हृद् अय—पूर्ववत्, सु, अतोऽम्।

(545) मीपीभ्यां रुः [4.102]

पद०—मीपीभ्याम् 5.2, रुः 1.1

सं०—मी-पी इत्येताभ्यां धातुभ्यां 'रु'प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—मी तथा पी—इन धातुओं से परे 'रु' प्रत्यय होता है। प्रत्यय की 'आर्धधातुकं शेषः' (पा० 3.4.114) से आर्धधातुक सञ्ज्ञा है। इसके परे रहते 'सार्वधातुकार्धधातुक०' (पा० 7.3.84) से गुण आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—मिनोति प्रक्षिपतीति **मेरुः**, सुमेरुः पर्वतो वा। पीयते पिबतीति वा **पेरुः**, आदित्यो वा।

बाहुलकात्—पिबतीति **पारुः**, स एव।

उदा०—(1) मेरुः (= एक पर्वत)—मिनोति प्रक्षिपति। डुमिञ् प्रक्षेपणे। मि रु—गुण, सु।

(2) पेरुः (= सूर्य)—पीयते पिबति। पीङ् पाने पी रु—गुण, सु।

(3) पारुः—पा पाने। पा रु—बाहुलकात् प्रत्यय।

विशेष—दशपादीवृत्तिकार 'मा' तथा 'पा' धातुओं से 'रु' प्रत्यय तथा 'ई' अन्तादेश करते हैं। द्रष्टव्य—द०वृ० 1.157—मापो रुरी च। यथा—माति मिनोति (मिमीते) मीयते। मा माने। माङ् माने। माङ् शब्दे। मा—म् ई रु—अन्तादेश, आर्धधातुकलक्षण गुण। इसी प्रकार पा पाने (—पिबति यः) अथवा पा रक्षणे (—पातीति) धातु से 'रु' प्रत्यय। 'ई' अन्तादेश, गुण, सु।

(546) जत्र्वादयश्च [4.103]

पद०—जत्र्वादयः 1.3, च—अव्य०।

सं०—जत्र्वादयश्शब्दा रुप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—'रु' का प्रकरण है। जत्रु आदि शब्द रुप्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—जायते तत् **जत्रु**, स्कन्धसन्धिर्वा। नस्य तः। **जत्रुणी, जत्रूणि**। शेतेऽसौ **शिग्रुः**, शोभाञ्जनस्तरुः 'सहिंजना' इति प्रसिद्धः, शाकं वा, मनुष्यविशेषो वा। तत्र शिग्रोरपत्यं **शैग्रवः**। विशेषेण तनोतीति **वितद्रुः**, नदी वा। नकारस्य दः। कबतेऽसौ **कद्रुः**, वर्णभेदो वा। बस्य दः। अस्यति प्रक्षिपति जलमिति **अस्रुः**। बहुलवचनात् शकारभेदे **अश्रुः**, नेत्रजलं वा।

उदा०—(1) जत्रु (= स्कन्ध की हड्डी)—जायते तत्। जन् रु—धातु को 'त्' अन्तादेश। जत्रु सु—लुक्।

(2) शिग्रु (= वृक्षविशेष)—शेतेऽसौ। शीङ् रु—धातु को ह्रस्वादेश—शि गुक् रु—गुक् आगम—अनुबन्धलोप—शिग्रु सु—लुक्।

(3) वितद्रुः (= एक नदी)—विशेषेण तनोति। वितन् रु—धातु को दकार अन्तादेश, सु।

(4) अश्रु (= आँसू)—अस्यति प्रक्षिपति जलम्। असु क्षेपणे। अस् रु—अस्रु सु—लुक्। बहुलवचनात् सकार को शकार—अश्रु।

(5) कद्रुः (= एक वर्ण)—कबतेऽसौ। कब् रु—दकार अन्तादेश, सु।

(6) शत्रुः—शृणातीति। शृ हिंसायाम्। धातु को तुक् आगम, अत् अन्तादेश—श् अ तुक् रु—अनुबन्धलोप—शतृ रु—सु।

(7) अत्रुः (= क्षुद्र जन्तु)—ऋच्छतीति। ऋ गतौ। इयर्त्तीति। ऋ सृ गतौ। गुण किये जाने पर (यथा—अर्) को तकार आदेश निपातन से—अत् रु—सु।

(8) हत्रुः (= हिंसक)—हन्तीति। हन हिंसागत्योः। हन् रु—'त्' अन्तादेश—हत् रु—सु।

(547) रुशातिभ्यां क्रुन् [4.104]

पद०—रुशातिभ्याम् 5.2, क्रुन् 1.1

सं०—रु ण्यन्त शद्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्रुन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'शदेरगतौ तः' (पा० 7.3.42) से शद् धातु को 'त्' आदेश होता है। यथा शद् णिच्—'अत उपधायाः' से वृद्धि आदेश—शात् इ। लट् उत्पत्ति। शातयति। दशपादीवृत्तिकार (8.40) के मत में 'बहुलमन्यत्राऽपि सञ्ज्ञाछन्दसोः' (उ०सू० 2.23) से णि का लुक् है। 'लुग्लोपे न प्रत्ययकृतम्' इस वचन से वृद्धि का अभाव होकर 'शत्' बनता है। प्रकृत में इसी ण्यन्त शद् धातु का ग्रहण है। अर्थ—रु तथा ण्यन्त शद्—इन धातुओं से परे क्रुन् प्रत्यय होता है। 'न्' की 'हलन्त्यम्' (पा० 1.3.3) से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.7) से इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—रौति शब्दं करोतीति **रुरुः**, मृगभेदो वा। शीयते शातयतीति **शत्रुः**। प्रज्ञादित्वाद् (अ० 5.4.38) अण्। **'शात्रवः'** वैरी।

उदा०—(1) रुरुः (= मृगविशेष)—रौति शब्दं करोति। रु शब्दे। रु क्रुन्—अनुबन्धलोप, सु।

(2) शत्रुः (= शत्रु)—शातयतीति। क्षीयत इति। शतृ क्रुन्—शत्रु सु।

(548) जनिदाच्युसृवृमदिषमिनमिभृञ्भ्य इत्वन्त्वन्त्लण्क्निन्-शक्स्यढडटाटचः [4.105]

पद०—जनिदाच्युसृवृमदिषमिनमिभृञ्भ्यः 5.3, इत्वन्त्वन्त्लण्क्निन्शक्स्यढ-डटाटचः 1.3

सं०—जन् दा च्यु सृ वृ मद् सम् नम् भृ—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्रमेण इत्वन्-त्वन्-त्लण्-क्निन्-शक्-स्य-ढ-डट-अटच् इत्येते प्रत्यया: स्युः।

व्याख्या—जन् आदि नौ प्रकृतियाँ हैं तथा इत्वन् आदि नौ ही प्रत्यय हैं। 'यथा-सङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (पा० 1.3.9) से यथासंख्य नियम प्रवृत्त होता है। **अर्थ**—जन्, दा, च्यु, सृ, वृ, मद्, सम्, नम् और भृ इन धातुओं से परे क्रमशः इत्वन्, त्वन्, त्लण्, क्निन्, शक्, स्य, ढ, डट और अटच्—ये प्रत्यय होते हैं। भाव यह है कि जन् धातु से इत्वन्, दा धातु से त्वन्, च्यु से त्लण्, सृ धातु से क्निन्, वृ धातु से शक्, मद् धातु से स्य, सम् धातु से ढ, नम् धातु से डट तथा भृ धातु से अटच् प्रत्यय होता है।

इत्विन् के 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। इसी प्रकार त्वन् का 'न्' इत्सञ्ज्ञक है। त्लण् का 'ण्' इत्सञ्ज्ञक है। णित् होने से 'अचो ञ्णिति' (पा० 7.2.115) से वृद्धि आदेश होता है। क्निन् के अन्त्य 'न्' की 'हलन्त्यम्' (पा० 1.3.3) से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.8) से इत्सञ्ज्ञा है। 'नि' शेष रहता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है। शक् के 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। शक् को कित् गुणनिषेध के लिए किया है। 'ढ्' को 'आयनेयीनीयियः' (पा० 7.1.2) से 'एय्' आदेश प्राप्त है। बाहुलकात् निषेध हुआ। डट के 'ड्' की 'चुटू' (पा० 1.3.7) से इत्सञ्ज्ञा है। 'ड्' अनुबन्ध टिलोप के लिए है। अटच् का 'च्' इत्सञ्ज्ञक है। 'च्' अनुबन्ध 'चितः' (पा० 6.1.161) से अन्तोदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—जायते जनयति वा स **जनित्वः**, मातापितरौ वा। यो ददाति यत्र वा स **दात्वः**, यज्ञकर्म वा। च्यवते गच्छतीति **च्यौलम्**, बलं वा। सरतीति **सृणिः**, चन्द्रोऽङ्कुशो वा। वृणोतीति **वृशः**, ओषधिर्वा। माद्यतीति **मत्स्यः**, मीनो वा; स्त्रियां **'मत्सी, मत्स्या'**। समतीति **षण्ढः**, अकृतदारो वा। [बाहुलकात् सकारादेशो (अ० 6.1.62) न। नमतीति **नटः**, वंशावरोहीति प्रसिद्धः। डित्वाट्टिलोपः। बिभर्तीति **भरटः**, कुलालो वा।

उदा०—(1) जनित्वः (= माता, पिता)—जायते जनयति। जनी प्रादुर्भावे। जन् इत्वन्—जनित्व सु।

(2) दात्वः (= यज्ञक्रिया)—यो ददाति (यत्र वा)। डुदाञ् त्वन्—दा त्व सु।

(3) च्यौत्नः (= शक्ति)—च्यवते गच्छति। च्युङ् गतौ। च्यु त्नण्—वृद्धि—च्यौत्न सु। दशपादीवृत्तिकार 'क्तन्' प्रत्यय करते हैं। च्यु क्त—आर्धधातुक गुण।

(4) चोक्तः (= अण्डज)।

(4) सृणिः (= चन्द्र, अंकुश)—सरतीति। सृ गतौ। सृ क्निन्—अनुबन्धलोप—सृ नि—गुणनिषेध—'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से णत्व—सृणि—सु। दशपादीवृत्ति में—निक्।

(5) वृशः (= ओषधि, अदरक)—वृणोतीति। वृञ् वरणे। वृ शक्—गुणनिषेध, सु।

(6) मत्स्यः (= मछली)—माद्यतीति। मदी हर्षे। मदस्य—'खरि च' (पा० 8.4.54) से चर्त्व (तकार)। मत् स्य—सु।

(7) मच्छः (= मत्त पुरुष)—दशपादीवृत्ति में 'छ' प्रत्यय किया है। मद् छ—'खरि च' से चर्त्व—मत् छ—'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व, सु।

(8) मच्छा—स्त्रियाम्, 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० 4.1.3) से टाप्, सु, लोप।

(9) षण्ढः (= नपुंसक)—समतीति। षम धातु से प्रत्यय हुआ 'धात्वादेः षः सः' (पा० 6.1.62) से धातु के आदि में स्थित षकार को सकार प्राप्त है। बाहुलकात् निषेध—षम् ढ—'नश्चाऽपदान्त०' से अनुस्वार—षंढ—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से परसवर्ण। षण्ढ सु।

(10) शण्ढः। दशपादीवृत्ति में 'शमु उपशमे' धातु से प्रत्यय।

(11) नटः (= नट)—नमतीति। णम प्रह्वत्वे शब्दे च। 'णो नः' (पा० 6.1.63) से नकार—नम् डट—नम् अट टिलोप, अचोऽन्त्यादि टि—न् अट—सु।

(12) भरटः (= कुलाल)—बिभर्त्तीति। भृञ् भरणे। भृ अटच्—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (पा० 7.3.84) से गुण, 'उरण् रपरः' (पा० 1.1.50) से रपरत्व—भर् अट—सु।

(549) अन्येभ्योऽपि दृश्यते [4.106]

पद०—अन्येभ्यः 5.3, अपि—अव्य०, दृश्यते—तिङन्तपदम्।

अनु०—'जनिदाच्युसृ······शक्स्यढडटाटचः' (उ०सू० 4.105) से 'इत्वन्-त्वन्······टाटचः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—पूर्वशास्त्र उक्तेभ्योऽन्येभ्यो धातुभ्योऽपि इत्वन्नादयः प्रत्यया दृश्यन्ते (अर्थात् उपलभ्यन्ते)।

व्याख्या—'अन्य' का अर्थ है—पूर्वशास्त्र में कथित से अतिरिक्त। अर्थ—पूर्वशास्त्र में कथित (जन् आदि) धातुओं से अतिरिक्त धातुओं से भी इत्वन् आदि प्रत्यय देखे जाते हैं।

स्वा०द०वृ०—इत्वनादय इति शेषः। पीयते तत् **पेत्वम्**, अमृतं वा। कच्यते बध्यतेऽसौ **कच्छः**, शाकमूलं वा। सरतीति **सरटः**, वायुर्वा। ध्यायते तद् **ध्यात्वम्**, चिन्ता वा। जुहोतीति **हौत्नः**, यजमानो वा। लूयतेऽसौ **लूनिः**, व्रीहिर्वा इत्यादि।

उदा०—(1) पेत्वम् (= अमृत)—पीयते तत्। पा पाने इत्वन्—प इत्व—सु। अतोऽम्।

(2) मेत्वम् (= मेयद्रव्य)। मा इत्वन्।

(3) कच्छः (= शाकमूल)—कच्यते बध्यतेऽसौ। कच बन्धने। कच् शक्—कच् छ—शकार को छकार। 'शश्छोऽटि' (पा० 8.4.62)। कच्छ सु।

(4) प्यात्वम् (= समुद्र, चन्द्रमा)—ओप्यायी वृद्धौ। प्यायत इति।

(5) सरटः (= वायु)—सरतीति। सृ गतौ अटच्। 'सार्वधातुकार्धधातुक०' (पा० 7.3.84) से गुण, 'उरण् रपरः' (पा० 1.1.51) से रपरत्व। सर् अट—सु।

(6) ध्यात्वम् (= चिन्ता)—ध्यायते तद्। ध्यै चिन्तायाम्। ध्यै त्वन्—'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० 6.1.44) से आत्व—ध्य् आ त्वन्—सु, अतोऽम्।

(7) हौत्नः (= यजमान)—जुहोतीति। हु दानाऽऽदनयोः त्नण्—हु त्न—अनुबन्धलोप, 'अचो ञ्णिति' (पा० 7.2.115) से वृद्धि—हौ त्न—सु, विभक्तिकार्य।

(8) लूनिः (= व्रीहि)—लूयतेऽसौ। लूञ् छेदने। लू क्निन्—अनुबन्धलोप—लू नि—आर्धधातुकलक्षण गुण का निषेध, सु।

(9) कृशः (= कमजोर)—क्रियत इति। डुकृञ् करणे। कृ श सु—'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० 3.1.135) इत्यनेन कृशधातोः कप्रत्यये कृतेऽपि कृशशब्दः सिध्यति।

(10) भृशम् (= अत्यधिक)—बिभर्त्ति भ्रियते। डुभृञ् धारणपोषणयोः। भृश—सु।

(550) कुसेरुम्भोमेदेताः [4.107]

पद०—कुसेः 5.1, उम्भोमेदेताः 1.3

सं०—कुस्धातोर् उम्भ–उम–ईद–इत इत्येते प्रत्ययाः स्युः।

व्याख्या—कुस् धातु से उम्भ, उम, ईद और इत—ये प्रत्यय क्रमशः होते हैं। दशपादीवृत्ति में पूर्वोक्त चार प्रत्ययों से अतिरिक्त ऊल, उण्व—इन दो अधिक प्रत्ययों का पाठ मिलता है। द्रष्टव्य—'कुसेरूलोम्भोण्वोमेदेताः' (द०वृ० 10.14)।

स्वा०द०वृ०—कुस्यति श्लिष्यतीति **कुसुम्भम्**, महारजनं वा। **कुसुमम्**, पुष्पं वा। **कुसीदम्**, वृद्धिजीविका वा। **कुसितः**, देशो वा।

उदा०—(1) कुसुम्भम् (= महारजन)—कुस्यति श्लिष्यति। कुस संश्लेषणे। कुस् उम्भ—प्रत्यय के कित् होने से लघूपध गुण का निषेध, सु, अतोऽम्।

(2) कुसुमम् (= पुष्प)—कुस् उम—सु, अतोऽम्। पूर्ववत् गुणनिषेध।

(3) कुसीदम् (= ब्याज)—कुस् ईद—पूर्ववत्।

(4) कुसितः (= देश)—कुस् इत—पूर्ववत्।

(5) कुसूलः—कुस् ऊल—सु।

(6) कुसुण्वः—कुस् उण्व।

(7) कुसिदः—कुस् इद।

(8) कुसुत्वः—बाहुलकात् त्वन्।

(9) कुसीतः—ईत प्रत्यय।

(551) सानसिवर्णसिपर्णसितण्डुलाऽङ्कुशचषाले-ल्वलपल्वलधिष्ण्यशल्याः [4.108]

पद०—सानसि-वर्णसि-पर्णसि-तण्डुल-अङ्कुश-चषाल-इत्वल-पल्वल-धिष्ण्य-शल्य इत्येते शब्दा निपात्यन्ते।

व्याख्या—सानसि, वर्णसि, पर्णसि, तण्डुल, अङ्कुश, चषाल, इल्वल, पल्वल, धिष्ण्य और शल्य—ये शब्द निपातन से सिद्ध हैं।

स्वा०द०वृ०—सनोति ददाति सन्यते वा स **सानसिः**, हिरण्यं वा। असिप्रत्यय उपधावृद्धिश्च। वृणोतीति **वर्णसिः**, जलं वा। धातोर्नुक्। पिपर्तीति **पर्णसिः**, जलगृहं वा। पूर्ववत्सर्वम्। तण्डति ताडयति ताड्यते वा स **तण्डुलः**, तुषरहितो व्रीहिर्वा। उलच्। अङ्क्ते लक्षयति येन स **अङ्कुशः**, शस्त्रभेदो वा। उशच्। चषति भक्षयतीति **चषालः**, यूपकङ्कणं वा। [आलच्।] इलति स्वपितीति **इल्वलः**, नक्षत्रविशेषो वा। पलति गच्छतीति **पल्वलम्**, अल्पसरो वा। अत्रोभयत्र वलच्, [पूर्वत्र] गुणाभावश्च। धृष्णोति प्रगल्भो भवतीति **धिष्ण्यः**, स्थानमृक्षोऽग्निरालयो वा। ऋकारस्येकारो वा ण्यप्रत्ययश्च। शलति गच्छतीति **शल्यम्**, शस्त्रविशेषो बाणाग्रभागो वा। [यत्]।

उदा०—(1) सानसिः (= सोना)—सनोति ददाति। सन्यते सनोति। षण सम्भक्तौ। 'धात्वादेः षः सः' (पा० 6.1.62) से सकार—सण्—नकार—सन् असि—धातु की उपधा को वृद्धि आदेश—सानसि सु।

(2) वर्णसिः (= जल)—वृणोतीति। वृञ् वरणे। वृ नुक् असि—नुक् आगम, 'क्' की इत्सञ्ज्ञा, उकार उच्चारणार्थ। 'आद्यन्तौ टकितौ' (पा० 1.1.46) से अन्ताऽवयव—वृन् असि—अनुबन्धलोप, गुण, रपरत्व—वर्न् असि—'रषाभ्यां नो णः समान०' (पा० 8.4.1) से णत्व, सु।

(3) धर्णसिः (= लोकपाल)—दशपादी में 'वर्णसि' के स्थान पर 'धर्णसि' पाठ है। ध्रियत इति।

(4) पर्णसिः (= जलसदन)—पिपर्त्ति। पृ पालनपूरणयोः। पृ असि—नुक् आगम, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—पर् न् असि—पूर्ववत् णत्व, सु। दशपादीवृत्ति में नुम् आगम किया है (द्रष्टव्य—द०वृ०10.17)।

(5) तण्डुलः (= चावल)—तण्डति ताडयति, ताड्यते। तड ताडने। तड् उलच्—नुम् आगम, 'मिदचोऽन्त्यात् परः' (पा० 1.1.47) से नुम् आगम तकारस्थ अकार से परे हुआ—त नुम् ड् उलच्—अनुबन्धलोप—तन् ड् उल—'नश्चाऽपदान्तस्य०' (पा० 8.3.24) से अनुस्वार—तंड् उल—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (पा० 8.4.57) से परसवर्ण—तण्ड् उल—सु। दशपादीवृत्ति में 'उल' प्रत्यय कहा है।

(6) अङ्कुशः (= शस्त्रविशेष)—अङ्कते लक्षयति येन। अङ्क लक्षणे। अङ्क् उशच्—सु। दशपादीवृत्ति में 'उशन्' प्रत्यय का निपातन किया है।

(7) चषालः (= यूपकंकण)—चषति भक्षयति। चष भक्षणे। चष् आलच्—सु। दशपादीवृत्ति में 'आल' प्रत्यय का निपातन किया है।

(8) इल्वलः (= नक्षत्रविशेष)—इलति स्वपिति। इल स्वप्ने। इल् वलच्—प्राप्त लघूपध गुण का निपातन से निषेध, सु। अथवा 'इण् गतौ' से वलच्, 'लुक्' आगम—इ लुक् वलच्—अनुबन्धलोप, गुण का निषेध। एतीति।

(9) पल्वलम् (= छोटा तालाब)—पलति गच्छति। पल गतौ। पल् वलच्—सु। अथवा पिबन्ति तस्मिन्। पा पाने। पा वलच्—धातु को ह्रस्व आदेश, 'लुक्' आगम।

(10) धिष्ण्यः (= स्थान, रीछ, अग्नि)—धृष्णोति प्रगल्भो भवति। धृष प्रागल्भ्ये। धृष् ण्य—'चुटू' (पा० 1.3.7) से णकार की इत्सञ्ज्ञा प्राप्त, निपातन से निषेध, धातु के ऋकार को इकार आदेश, रपरत्व का अभाव—धिष् ण्य—सु। अथवा धिष शब्दे। धिष् यक्—नुक् आगम—धिष् न् य—सु, णत्व।

(11) शल्यम् (= शस्त्रविशेष)—शलति गच्छति । शल गतौ । शल् यत्—सु । दशपादीवृत्ति में यक् प्रत्यय का निपातन है ।

(552) मूशक्यबिभ्यः क्लः [4.109]

पद०—मूशक्यबिभ्यः 5.3, क्लः 1.1

सं०—मू-शक्-अम्ब्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्लप्रत्ययो भवति ।

व्याख्या—मू, शक्, अम्ब्—इन धातुओं से परे क्ल प्रत्यय होता है। 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.8) से 'क्' इत्सञ्ज्ञक है। 'क्' अनुबन्ध का प्रयोजन गुणनिषेध है ।

स्वा०द०वृ०—मवते बध्नातीति **मूलम्,** [**मूली**] इति प्रसिद्धम् । शक्नोतीति **शक्लः**, प्रियंवदो वा । अम्बते शब्दं करोतीति **अम्ब्लः** ।

बाहुलकात्—अमति गच्छतीति **अम्लः**, रसविशेषो वा ।

उदा०—(1) मूलम् (= जड़)—मवते बध्नाति । मूङ् बन्धने । मू क्ल—मूल—आर्धधातुक गुणनिषेध, सु, अतोऽम् ।

(2) शक्लः (= प्रियंवद)—शक्नोति । शक्लृ शक्तौ । शक् क्ल—सु ।

(3) अम्बलः (= शब्दकर)—अम्बते शब्दं करोति । अबि शब्दे । 'इदितो नुम् धातोः' (पा० 7.1.58) से नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण—अम्ब् क्ल—सु ।

(4) अम्लः (= रसभेद)—अमति गच्छति । बाहुलकात् प्रत्यय । अम् क्ल—सु ।

(553) माछाशसिभ्यो यः [4.110]

पद०—माछाशसिभ्यः 5.3, यः 1.1

सं०—मा छो शस—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो यप्रत्ययः स्यात् ।

व्याख्या—मा, छो और शस्—इन धातुओं से परे 'य' प्रत्यय होता है। 'य' प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा है ।

स्वा०द०वृ०—मात्यन्तर्भवतीति **माया,** छलं मिथ्याजालो वा। छ्यति प्रकाशमिति **छाया**, प्रकाशावरणमुत्कोचकप्रतिबिम्बो वा। शस्यते यत्तत् **शस्यम्,** क्षेत्रपक्वमन्नं गुणो वा ।

बाहुलकात्—अनिति जीवयतीति **अन्यः**, इतरो वा ।

उदा०—(1) माया (= छल)—मात्यन्तर्भवति। मा माने। मा य—'स्त्रियाम्' (पा० 4.1.2) के अधिकार में 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० 4.1.4) से 'टाप्'। मा य टाप्—अनुबन्धलोप—माय आ—'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ, सु।

(2) छाया (= छाया)—छ्यति नाशयति प्रकाशम्। छो तनूकरणे। छो—'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० 6.1.44) से आत्व। छ् आ य—पूर्ववत् टाप्।

(3) शस्यम् (= शस्य)—शस्यते यत् तत्। शस हिंसायाम्। शस् य—सु।

(4) अन्यः (= इतर)—अनिति जीवयति। अन प्राणने। बाहुलकात् प्रत्यय हुआ। अन् य—सु।

(5) सस्यम्—दशपादीवृत्ति में 'शसि' के स्थान पर 'ससि' पाठ है। सस्तीति। षस स्वप्ने—धात्वादेः षः सः।

(6) सव्यम् (= वाम) सूते सूयते सुवति। षूङ् प्राणिगर्भविमोचने से 'य'। सू—धात्वादेः षः सः। 'वान्तो यि प्रत्यये' (पा० 6.1.80) तथा 'धातोस्तन्निमित्तस्य' (पा० 6.1.81) से अव्।

(554) सुनोतेश्च [4.111]

पद०—सुनोतेः 5.1, च—अव्य०।

अनु०—'माछाशसिभ्यो यः' (उ०सू० 4.110) से 'यः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सुधातोर् यप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'सु' धातु से परे 'य' प्रत्यय होता है। 'आर्धधातुकं शेषः' (पा० 3.4.114) से 'य' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—सुनोत्यभिषवतीति **सव्यम्**, वामभागो वा।

उदा०—(1) सव्यम् (= बायाँ)—सुनोत्यभिषवति। षुञ् अभिषवे। 'धात्वादेः षः सः' (पा० 6.1.62) से सकार—सु य—आर्धधातुक गुण—सो य—'वान्तो यि प्रत्यये' (पा० 6.1.80) से वान्त (= अव्) आदेश। सव् य—सु।

(555) जनेर्यक् [4.112]

पद०—जनेः 5.1, यक् 1.1

सं०—जन्धातोर् यक्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—जन् धातु से परे यक् प्रत्यय होता है। 'क्' इत्सञ्ज्ञक है। 'आर्धधातुकं शेषः' से यक् आर्धधातुक है।

स्वा०द०वृ०—या जायते यस्यां वा सा **जाया**, पत्नी। ये विभाषा

[6.4.43] इति व्यवस्थितविभाषया पत्न्यां जाया, नित्यमात्वम्, अन्यत्र—**जन्यम्,** निर्वादो युद्धं वा।

उदा०—(1) जन्यम् (= युद्ध)—या जायते (यस्यां वा)। जनी प्रादुर्भावे। जन्य—सु, अतोऽम्।

(2) जाया (= पत्नी)—जन् यक्—'ये विभाषा' (पा० 6.4.43) से व्यवस्थित विभाषा के द्वारा आकार आदेश होकर ज आ य—टाप्, सवर्णदीर्घ, सु, लोप। दशपादीवृत्ति (8.13) में 'जनसनखनां०' (पा० 6.4.42) से आत्व किया है, जो उचित नहीं है।

(556) अघ्न्यादयश्च [4.113]

पद०—अघ्न्यादयः 1.3, च—अव्य०।

सं०—अघ्न्यादयश्शब्दा यक्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—अघ्न्यादि यक्प्रत्ययान्त शब्द निपातन से सिद्ध हैं। यक् प्रत्यय कित् है। कित्करण उपधालोप, घकारादेश आदि कार्यों के लिए है।

स्वा०द०वृ०—यगन्ता निपाताः। यो न हन्यते न हन्तीति वा स **अघ्न्यः**, प्रजापालको वा, 'अघ्न्या' गौर्वा। धातोरुपधालोपो हस्य घत्वं च। सन्दधाति यस्यां वेलायां सा **सन्ध्या**, सायङ्कालः प्रतिज्ञा वा। आतो लोपः। सम्यग् ध्यायन्ति परं ब्रह्म यस्यां सा **सन्ध्या**, इति तु **स्त्रियां क्तिन्** [अ० 3.3.94] इत्यधिकारे **आतश्चोपसर्गे** [3.3.106] इत्यङ्। कन्यते दीप्यते काम्यते गच्छति वा सा **कन्या,** कुमारी वा। बध्यतेऽसौ **बन्ध्या**, अप्रसूता वा।

[**बाहुलकात्**—] कौति शब्दयतीति **कुड्यम्,** भित्तिर्वा। धातोर्डुक्। मन्यते येन तत् **मध्यम्,** द्वयोरन्तरालं वा। नस्य धः। उह्यते यत्तद् **वह्यम्,** मनुष्य[वाहन]-विशेषो वा। अहति व्याप्नोतीति **अहल्या,** रात्रिर्वा। अहलीयतेऽस्यामिति व्युत्पत्त्यन्तरम्। पूर्वत्र धातोरलुगागमः। ऋषति गच्छतीति **ऋष्यः**, मृगभेदो वा। कष्टे गच्छति शास्ति वा स **कश्यः**, मद्यं वा इत्यादि।

उदा०—(1) अघ्न्यः (= प्रजापालक, गाय)—यो न हन्यते। न हन्ति। नञ् हन हिंसागत्योः से यक्—अ हन् य—'नलोपो नञः' (पा० 6.3.73) से नलोप। निपातन से धातु की उपधा का लोप तथा हकार को घकार—अ ह् न् य—अघ्न्य—सु। 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (पा० 7.3.54) से घकार आदेश होता है—अघ्न्य सु—विभक्तिकार्य।

(2) सन्ध्या (= सायंकाल, प्रतिज्ञा)—सन्दधाति यस्यां वेलायाम्। सम् डुधाञ् धारणपोषणयोः। सम् धा—आकारलोप, यक् प्रत्यय—सम् ध्या—'मोऽनुस्वारः' (पा० 8.3.23) से अनुस्वार—संध्या—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (पा० 8.4.57) से परसवर्ण—सन्ध्या सु—'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (पा० 6.1.66) से अपृक्त सकार का लोप। अथवा—सम्यग् ध्यायते परं ब्रह्मं यस्मिन् काले सः सन्ध्या। सम् ध्यै—'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० 6.1.44) से आत्व। सम् ध्या—'स्त्रियां क्तिन्' (पा० 3.3.94) के अधिकार में 'आतश्चोपसर्गे' (पा० 3.3.106) से 'अङ्'। सम् ध्या अ—अनुबन्ध-लोप, 'आतो लोप इटि च' (पा० 6.4.64) से आकारलोप—सम् ध्य् अ—पूर्ववत् टाप् आदि।

(3) कन्या (= कन्या)—कन्यते दीप्यते। काम्यते। कम् यक्—पूर्ववत् टाप् आदि—धातु को 'न्' अन्तादेश।

(4) बन्ध्या (= बाँझ)—बध्यतेऽसौ। बन्ध् यक्—टाप् आदि। अथवा 'हन हिंसागत्योः' से यक्। हतम् अस्या वाजम्। हन् यक्—धातु को वध आदेश, नुम् आगम। ब न् ध् य—टाप् आदि पूर्ववत्।

(5) कुड्यम् (= दीवार)—कौति शब्दयति। कु शब्दे। डुक् आगम, अनुबन्ध-लोप—कु ड् यक्—सु, अतोऽम्।

(6) अहल्या (= ज्ञात)—अहति व्याप्नोति। अह् यक्—धातु को अलुक् आगम, अनुबन्धलोप—अह् अल् य—टाप् आदि अथवा अहर्लीयते यस्याम्। अहन् ली यक्।

(7) ऋष्यः (= एक मृग)—ऋषति गच्छति। ऋष् गतौ। ऋष् यक्—प्राप्त गुण का निषेध।

(8) ईर्ष्या (= ईर्ष्या)—ईर्ष्यतीति। ईर्ष्य ईर्ष्यार्थे। ईर्ष्य् यक्—धातु का अन्त्य लोप—ईष् य—टाप् आदि।

(9) कश्यः (= शराब)—कष्टे गच्छति (शास्ति वा)। कश् यक्—सु।

(10) मध्यम् (= मध्य)—मन्यते येन। मन् यक्—धातु को 'ध्' अन्तादेश, सु, अतोऽम्।

(557) स्नामदिपद्यर्त्तिपृशकिभ्यो वनिप् [4.114]

पद०—स्नामदिपद्यर्त्तिपृशकिभ्यः 5.3, वनिप् 1.1

सं०—स्ना, मद्, पद्, ऋ, पृ, शक्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो वनिप्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—स्ना, मद्, पद्, ऋ, पृ और शक्—इन धातुओं से परे वनिप् प्रत्यय

होता है। 'प्' की इत्सञ्ज्ञा है। नकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है। 'वन्' शेष रहता है। पित्करण अनुदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा० 3.1.4)।

स्वा०द०वृ०—स्नाति शुच्यतीति **स्नावा**, रसिको वा। **स्नावानौ, स्नावानः**। माद्यतीति **मद्वा**, कल्याणदातेश्वरो वा। पद्यन्ते यत्र स **पद्वा**, पन्था वा। ऋच्छतीति **अर्वा**, अश्वो निन्द्यो वा। पिपर्तीति **पर्व**, ग्रन्थिर्वा। शक्नोतीति **शक्वा**, हस्ती वा। स्त्रियां ङीब्रेफौ—**शक्वरी**, नदी छन्दोभेदो वा।

उदा०—(1) स्नावा (= रसिक)—स्नातीति। ष्णा शौचे। 'धात्वादेः षः सः' (पा० 6.1.62) से षकार को सकार—स्णा—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' से णकार को नकार—स्ना वनिप्—अनुबन्धलोप—स्नावन् सु—'हल्ङ्याब्भ्यो०' (पा० 6.1.66) से अपृक्त सकार का लोप तथा 'सर्वनामस्थाने चा०' (पा० 6.4.8) से उपधादीर्घ युगपत् प्राप्त होते हैं। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (पा० 1.4.2) से परकार्य (उपधादीर्घ) हुआ—स्नावान् स्—सकारलोप—स्नावान् 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकारलोप।

(2) मद्वा (= ईश्वर)—माद्यतीति। मदी हर्षे। मद् वनिप्। मद्वन् सु—पूर्ववत्।

(3) मृद्वा। (4) मृद्वरी।

(5) पद्वा (= मार्ग)—पद्यन्ते यत्र। पद गतौ। पद् वनिप्—पूर्ववत्।

(6) अर्वा (= अश्व)—ऋच्छति। ऋ गतौ। ऋ वनिप्—आर्धधातुक गुण, रपरत्व, सु।

(7) पर्व (= ग्रन्थि)—पिपर्त्तीति। पॄ पालनपूरणयोः। पॄ वनिप्—गुण, रपरत्व। पर्वन् सु—विभक्ति का लुक्। 'नलोपो प्रातिपदिकान्तस्य' (पा० 8.2.7)।

(8) शक्वा (= हाथ)—शक्नोति। शक्लृ शक्तौ। शक् वनिप्—सु, विभक्ति-कार्य।

(9) शक्वरी (= एक नदी)—शक्वन् ङीप्—'स्त्रियाम्' (पा० 4.1.3) के अधिकार में 'वनो र च' (पा० 4.1.7) से ङीप् प्रत्यय तथा रेफ अन्तादेश होता है। शक्वर् ङीप्—अनुबन्धलोप, सु, लोप।

(558) शीङ्क्रुशिरुहिजिक्षिसृधृभ्यः क्वनिप् [4.115]

पद०—शीङ्क्रुशिरुहिजिक्षिसृधृभ्यः 5.3, क्वनिप् 1.1

सं०—शी क्रुश् रुह् जि क्षि सृ धृ—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्वनिप्प्रत्ययः स्यात्। कपावितौ।

व्याख्या—शी, क्रुश्, रुह्, जि, क्षि, सृ और धृ—इन धातुओं से परे क्वनिप्

प्रत्यय होता है। 'प्' की 'हलन्त्यम्' (पा० 1.3.3) से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.8) से इत्सञ्ज्ञा है। इकार उच्चारणार्थ है। कित्करण गुणनिषेध के लिए तथा पित्करण अनुदात्त स्वर के लिए है। इगन्त अङ्ग को गुण व लघूपध को गुण यहाँ प्राप्त है।

स्वा०द०वृ०—शेतेऽसौ **शीवा**, अजगरो वा। क्रोशतीति **क्रुश्वा**, शृगालो वा। रोहति बीजादुत्पद्यत इति **रुह्वा**, वृक्षो वा। जयतीति **जित्वा**, जयशीलः। क्षंयति नाशयति क्षियति निवसति गच्छति वा स **क्षित्वा**, वायुर्वा। सरतीति **सृत्वा**, प्रजापतिर्वा। धारयतीति **धृत्वा**, व्यापको जगदीश्वरो वा। स्त्रियां—**जित्वरी** इत्यादि बोध्यम्।

उदा०—(1) शीवा (= अजगर)—शेत इति। शीङ् शयने। शी क्वनिप्—अनुबन्धलोप, आर्धधातुक गुण का निषेध—शीवन् सु—सर्वनामस्थाने चा०, हल्ङ्याब्भ्यो०, नलोपः प्रातिपदि०। शीवरी—'वनो र च' से रेफ।

(2) क्रुश्वा (= गीदड़)—क्रोशतीति। क्रुश आह्वाने रोदने च। क्रुश् क्वनिप्—लघूपध गुण का निषेध, सु।

(3) रुह्वा (= वृक्ष)—रोहति। बीजाद् उत्पद्यते। रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च। रुह् क्वनिप्—लघूपध गुण का निषेध।

(4) जित्वा (= जेता)—जयतीति। जि जये। जि क्वनिप्—आर्धधातुकलक्षण गुण का निषेध, सु।

(5) क्षित्वा (= वायु)—क्षयति नाशयति। क्षियति निवसति गच्छति। क्षि क्षये, निवासगत्योः। पूर्ववत्।

(6) सृत्वा (= ब्रह्मा, कुम्हार)—सरति। सृ गतौ। सृ क्वनिप्—आर्धधातुक लक्षण गुण का निषेध।

(7) धृत्वा (= ईश्वर)—धारयति। धृ धारणे। पूर्ववत्।

(8) धृत्वरी—'वनो र च' से रेफ।

(559) ध्याप्योः सम्प्रसारणं च [4.116]

पद०—ध्याप्योः 6.2, सम्प्रसारणम् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'शीङ्क्रुशि·····क्वनिप्' (उ० 4.115) से 'क्वनिप्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—ध्यै प्याय् इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्वनिप्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—ध्यै तथा प्याय्—इन धातुओं से परे क्वनिप् प्रत्यय तथा सम्प्रसारण होता है।

स्वा०द०वृ०—ध्यायतीति **धीवा**, कर्मकरो वा। स्त्रियां—**धीवरी,** मत्स्याधानं पात्रम्। प्यायते वर्द्धतेऽसौ **पीवा**, स्थूलो वा। **पीवरी** तरुणी।

उदा०—(1) धीवा (= कर्मकार)—ध्यायति। ध्यै चिन्तायाम्। ध्यै क्वनिप्—अनुबन्धलोप—ध् इ ऐ वन्—सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (पा० 6.1.104) से पूर्वरूप। धि वन्—धीवन्—स्त्रीत्व की विवक्षा में 'वनो र च' से ङीप् तथा रेफ अन्तादेश—धीवरी सु—लोप।

(2) पीवा (= स्थूल)—प्यायते वर्द्धतेऽसौ। ओप्यायी वृद्धौ। प्याय् क्वनिप्—प्या वन्—सम्प्रसारण—प् इ आ वन्—'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप 'हल:' (पा० 6.4.2) से दीर्घ आदेश—पीवन् सु—पीवा (पूर्ववत्)।

(3) पीवरी—स्त्रीलिङ्ग में ङीप् और रेफ अन्तादेश।

(560) अदेर्ध च [4.117]

पद०—अदे: 5.1, ध 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'शीङ्क्रुशि······क्वनिप्' (उ०सू० 4.115) से 'क्वनिप्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अद्धातो: क्वनिप्प्रत्यय: स्यात् धातोश्च धकारादेशो भवति।

व्याख्या—अद् धातु से परे क्वनिप् प्रत्यय होता है तथा धातु को धकार अन्तादेश होता है। 'ध सु'—इस दशा में 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण०' (पा० 7.1.39) से विभक्ति का लुक्। 'ध' लुप्तप्रथमान्त रूप है। धकार में स्थित अकार उच्चारणार्थ है।

'अदे:' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। प्रथम 'अदे:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'अदे:' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से धकार धातु के अन्त्य अल् (दकार) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—अत्ति भक्षयतीति **अध्वा**, मार्गो वा।

उदा०—अध्वा (= मार्ग)—अत्ति भक्षयति। अद भक्षणे। अद् → अध् क्वनिप्—अध् वन् सु।

(561) प्र ईरशदोस्तुट् च [4.118]

पद०—प्रे 7.1, ईरशदो: 6.2, तुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'शीङ्क्रुशि······क्वनिप्' (पा० 4.115) से 'क्वनिप्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—'प्र' शब्द उपपद ईर शद् इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्वनिप्प्रत्यय: स्यात्, प्रत्ययस्य 'तुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—'ईरशदोः' षष्ठ्यन्त पद है। विभक्तिविपरिणाम से इसे पञ्चम्यन्त (यथा—ईरशद्भ्याम्) बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—'प्र' शब्द के उपपद रहते ईर् तथा शद् धातुओं से परे क्वनिप् प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को तुट् आगम होता है। तुट् के टकार की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'त्' शेष रहता है। तुट टित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' (पा० 1.1.45) से आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—प्रेर्तेऽसौ **प्रेर्त्वा**, सागरो वा। [स्त्रियाम्—] **प्रेर्त्वरी**। प्रशीयतेऽसौ **प्रशत्वा**, समुद्रो वा। [स्त्रियाम्—] **प्रशत्वरी**, नदी।

उदा०—(1) प्रेर्त्वा (= समुद्र)—प्र ईर्तेऽसौ। ईर गतौ। ईर् क्वनिप्—अनुबन्धलोप—प्र ईर् वन्—'आद् गुणः' से गुण एकादेश, प्रेर् वन्—सुः पूर्ववत्।

(2) प्रशत्वा (= सागर)—प्र शीयतेऽसौ। प्र शद्लृ शातने। प्र शद् क्वनिप्—प्रशत्वन् सु—उपधादीर्घ—प्रशत्वान् स्—अपृक्त सकार का लोप—प्रशत्वान्—नलोप।

(3) प्रसद्वा (= मूढ)—प्रसीदति प्रसद्यते। प्रषद्लृ विशरणादिषु। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—प्रसद् क्वनिप्—पूर्ववत्।

(562) सर्वधातुभ्य इन् [4.119]

पद०—सर्वधातुभ्यः 5.3, इन् 1.1
सं०—सर्वेभ्यो धातुभ्य इन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—सभी धातुओं से इन् प्रत्यय होता है। नकार की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। नित्करण आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)।

स्वा०द०वृ०—पचति येन स **पचिः**, अग्निर्वा। तुण्डति छिनत्तीति **तुण्डिः**। वलते संवृणोतीति **वलिः**, महाराजो वा। वाटयति ग्रथ्नाति स **वटिः**, विभाजको वा। मणति शब्दयतीति **मणिः**, बहुमूल्यः पाषाणो वा। प्रशंसितो मणिर्मणिकः। तदेव 'माणिक्यम्'। वल्हते प्रधानो भवतीति **वल्हिः**, **वल्हिका** नाम क्षत्रिया जनपदो वा। यजतीति **यजिः**, सङ्गन्ता होता वा। गण्डति स **गण्डिः**, वदनैकदेशो वा। ताडयतीति **तडिः**, पीडकः। ध्राडते विशेषेण हिनस्तीति **ध्राडिः**, पुष्पचयो वा। काश्यते दीप्यतेऽसौ **काशिः**, देशभेदो वा। तद्देशान्तर्गतत्वाद् वाराणसी नगरी **काशिः; काशी**। तस्य देशस्य राजा **'काश्य'**। वाश्यते शब्दयतीति **वाशिः**, काष्ठभेदिनी वा। घटतेऽसौ **घटिः; घटी**। यततेऽसौ **यतिः**, नियमधारी संन्यासी वा। केलति चलती यस्यां सा

केलिः, क्रीडा वा। मस्यति परिणमते स **मसिः मसी**, पात्राञ्जनं वा। कुटतीति **कोटिः**, सङ्ख्यावरणमग्रभागो वा। बाहुलकाद् गुणः। जटति सङ्घातं करोतीति **जटिः**, जटाधारी वा। कटतीति **कटिः, कटी**, शरीरमध्यं वा। हलति येन विलिखतीति **हलिः**, कृषीवलः कृषिसाधनं वा। हेलति विरुद्धं बहु भाषत इति **हेलिः**, प्रहेलिः। यः पणायति व्यवहरति स **पणिः**, [वाणिग्वा।] **विपणिः**, वाणिजां वीथी वा। कलन्ते स्पर्द्धमाना भाषन्ते यत्र स **कलिः**, कलहो विग्रहो वा। नन्दति यत्रेति **नन्दिः**, वृद्धिर्वा। इत्यादीन्यनेकान्युदाहरणानि सन्ति।

उदा०—(1) पचिः (= अग्नि)—पचति येन। पच् इन्—पचि सु।

(2) तुण्डिः (महाराज)—तुण्डति छिनत्ति। तुडि → 'इदितो नुम् धातोः' से नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण—तुण्ड् इन्—सु।

(3) वलिः (= महाराज)—वलते संवृणोति। वल् इन्—सु।

(4) वटिः (= विभाजक)—वाटयति ग्रथ्नाति। णिलोप—वट् इन्—सु।

(5) मणिः (= मणि)—मणयति शब्दयति। मण् इन्—मणि सु।

(6) मणिकः—सञ्ज्ञायां कन् (पा० 5.3.88) से कन् हुआ। आचार्य उज्ज्वलदत्त के अनुसार 'मणि' शब्द का स्थूलादि में पाठ होने से 'स्थूलादिभ्यः प्रकार०' (पा० 5.4.3) से 'कन्' हुआ है। सु।

(7) माणिक्यम्—मणिक ष्यञ्—स्वार्थ में प्रत्यय। द्रष्टव्य—'चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थ उपसङ्ख्यानम्' (पा० 5.1.124 वा०), 'तद्धितेष्वचामादेः' (पा० 7.2.117) से आदिवृद्धि—माणिक य—अकारलोप, सु।

(8) वल्हिः (= वल्हिका नामक क्षत्रिया जनपद है)—वल्हते प्रधानो भवति। वह्ल् इन्—सु।

(9) यजिः (= यजमान)—यजतीति। यज् इन्—सु।

(10) गण्डिः (= गाल)—गण्डति। गडि—'इदितो नुम् धातोः' (पा० 7.1.58) से नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण—गण्ड् इन्—सु।

(11) तडिः (= पीडक)—ताडयति। तड् इन्—सु। 'बहुलमन्यत्राऽपि०' (उ०सू० 2.23) से णि का लुक्। लुक् होने से वृद्धि न हुई।

(12) ध्राडि; (= पुष्पचय)—ध्राडते, विशेषेण हिनस्ति। ध्राड् इन्—सु।

(13) काशिः (= एक देश)—काश्यते दीप्यते। काश् इन्—सु।

(14) वाशिः (= काष्ठभेदिनी)—वाश्यते शब्दयति। वाश् इन्—सु।

(15) घटिः (= घटिका), 'घटी' भी। घटतेऽसौ। घट् इन्—सु।

(16) यतिः (= संन्यासी)—यततेऽसौ। यत् इन्—सु।

(17) केलिः (= क्रीडा)—केलति यस्याम्। केल् इन्—सु।

(18) मसिः, मसी (= स्याही)—मस्यति परिणमति। मस् इन्—सु।

(19) कोटिः (= करोड़ की संख्या, किनारा)—कुटतीति। कुट् इन्—बाहुलकात् लघूपध गुण। 'गाङ्कुटादिभ्यो०' (पा० 1.2.1) से प्रत्यय के ङित् होने से गुणप्रतिषेध प्राप्त था।

(20) जटिः (= ज़टाधारी)—जटति। जट् इन्—सु।

(21) कटिः (= कमर)—'कटी' भी। कटतीति। कट् इन्—सु।

(22) हलिः (= कृषक)—हलति येन विलिखति। हल् इन्—सु।

(23) हेलिः (= पहेली)—हेलति विरुद्धं बहु भाषते। हेल् इन्—सु।

(24) पणिः (= व्यापारियों की गली, साहूकार)—पणायति व्यवहरति। पण् इन्—सु।

(25) कलिः (= कलह)—कलन्ते स्पर्धमाना भाषन्ते यत्र। कल् इन्—सु।

(26) नन्दिः (= वृद्धि)—नन्दति यत्र। नदि—'इदितो नुम् धातोः' से नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण—नन्द् इन्—सु।

(27) कविः (= कवि)—कौति। कवते। कूयते। कु शब्दे। कुङ् अव्यक्ते शब्दे। कु इन् सु।

(28) पदिः (= मोक्षमार्ग)—पद्यत इति। पद् इन्।

(29) चेटिः (= दासी)—चिट परप्रैष्ये। चिट् इन्—लघूपध गुण।

(30) रविः (= सूर्य)—रौति। रूयते। रु शब्दे।

(31) पविः (= वज्र)—पुनाति। पूयते। पूञ् पवने। पू इन्—आर्धधातुक गुण।

(563) हृपिषिरुहिवृतिविदिछिदिकीर्त्तिभ्यश्च [4.120]

पद०—हृपिषिरुहिवृतिविदिछिदिकीर्तिभ्यः 5.3, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्य इन्' (उ०सू० 4.119) से 'इन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—हृ पिष् रुह् वृत् विद् छिद् कृत्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य इन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—हृ, पिष्, रुह्, वृत्, विद्, छिद् और कृत्—इन धातुओं से परे इन् प्रत्यय होता है। 'आर्धधातुकं शेषः' से 'इन्' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—हरतीति **हरिः**, सर्पो मण्डूकोऽश्वः सिंहः सूर्यो वा। **इगुपधात् कित्** [उ० 4.121] इति वक्ष्यते तद्बाधनार्थं पिष्यादीनां ग्रहणम्। तत्र हि कित्त्वाद् गुणनिषेधः प्राप्तः, स न स्यात्। पिनष्टि येन स **पेषिः**, वज्रो वा। रोहतीति **रोहिः**, व्रतो

वा। वर्त्तते सा **वर्त्तिः**, दीपोपकरणं वा। विद्यते या सा **वेदिः**, यज्ञभूमिर्वा। छिनत्तीति **छेदिः**, वर्धकिश्छेत्ता वा। कीर्त्यते संशब्द्यते सा **कीर्त्तिः**, पुण्यं यशो वा।

उदा०—(1) हरिः (= बन्दर, सिंह, सर्प, सूर्य)—हरतीति। हृ हरणे। हृ इन्—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (पा० 7.3.84) से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—हर् इन्—सु। इन्प्रत्ययान्त 'हरि' शब्द आद्युदात्त है। 'अच इः' (उ०सू० 4.141) से निष्पन्न 'हरि' शब्द अन्तोदात्त है।

(2) पेषिः (= वज्र)—पिनष्टि येन। पिष्लृ पेषणे। पिष् इन्—लघूपध गुण, सु।

(3) रोहिः (= व्रत)—रोहतीति। रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च। रुह् इन्—'पुगन्तलघूपध०' (पा० 7.3.86) से गुण।

(4) वर्त्तिः (= बाती)—वर्त्तते सा। वृतु वर्त्तने। वृत् इन्—लघूपध गुण, रपरत्व—वर्त् इन्—'अचो रहाभ्यां द्वे' (पा० 8.4.45) से द्वित्व, सु।

(5) वेदिः (= यज्ञभूमि)—विद्यते या सा। विद सत्तायाम्। विद् इन्—लघूपध गुण, सु।

(6) छेदिः (= छेदकर्त्ता)—छिनत्ति। छिदिर् द्वैधीकरणे। छिद् इन्—पूर्ववत्।

(7) कीर्तिः (= यश)—कीर्त्यत इति। कृत संशब्दने। कृत् इन्—प्राप्त लघूपधगुण को बाधकर इत्व आदेश, रपरत्व—किर्त् इन्—दीर्घ आदेश—कीर्ति सु।

विशेष—प्रकृत सूत्र में पठित पिष्, रुह्, वृत्, विद्, छिद् आदि धातु इगुपध हैं। 'इगुपधात् कित्' (उ०सू० 4.121) से इन धातुओं से परे 'इन्' प्रत्यय प्राप्त ही है। अतः प्रकृत में पिष् आदि धातुओं का ग्रहण व्यर्थ है। समा०—'इगुपधात् कित्' से विहित 'इन्' कित्सञ्ज्ञक है। प्राप्त लघूपध गुण के निषेध के लिए प्रत्यय को कित् किया गया है। पिष् आदि पूर्वोक्त इगुपध धातु से गुण इष्ट है। अतः आचार्य ने इन धातुओं का पाठ प्रकृत सूत्र में किया है।

(564) इगुपधात् कित् [4.121]

पद०—इगुपधात् 5.1, कित् 1.1

अनु०—'सर्वधातुभ्य इन्' (उ०सू० 4.119) से 'इन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—इगुपधाद्धातोर् इन्प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—इगुपध धातु से परे इन् प्रत्यय होता है तथा वह कित्सञ्ज्ञक होता है। इगुपध—जिसकी उपधा में इक् वर्ण है। 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' (पा० 1.164) से उपधा सञ्ज्ञा होती है। 'इक्' एक प्रत्याहार है। इसमें चार अक्षर (= इ, उ, ऋ तथा ऌ) हैं। 'इन्' आर्धधातुकसञ्ज्ञक प्रत्यय है। इसके परे रहते इगुपध धातु को लघूपध गुण प्राप्त है। इसके निषेध के लिए प्रत्यय को कित् अतिदेश किया गया है।

स्वा०द०वृ०—कृष्यते विलिख्यते या सा **कृषिः**, 'खेती' इति प्रसिद्धा। ऋषति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा स **ऋषिः**, मन्त्रार्थद्रष्टा वा। रुच्यते सा **रुचिः**, दीप्तिर्वा। शुच्यतीति **शुचिः**, शुद्धिर्वा। लिम्पतीति **लिपिः**, लेखो वा। बाहुलकात् बत्वे **लिबिः**, इत्यपि लिप्यर्थ एव। लिबिं करोतीति '**लिबिकरः**'। तूलते निष्कर्षतीति **तूलिः**, **तूली**; कूर्चिका, दध्यादिना सह पक्वः क्षीरविकारो वा।

उदा०—(1) कृषिः (= कृषि)—कृष्यते विलिख्यते या सा। कृष् इन्—गुणनिषेध, सु।

(2) ऋषिः (= मन्त्रद्रष्टा)—ऋषति गच्छति। ऋष् इन्—पूर्ववत्।

(3) रुचिः (= रुचि)—रुच्यते सा। रुच् इन्—बाहुलकात् गुणनिषेध।

(4) शुचिः (= पवित्र)—शुच्यतीति। शुच् इन्—पूर्ववत्।

(5) लिपिः (= लेख)—लिम्पतीति। लिप्—पूर्ववत्।

(6) लिबिः (= लेख)—धातु को बकार अन्तादेश। लिप् → लिब् इन्—सु।

(7) तूलिः (= कूची, लेखनी)—तूलते निष्कर्षति। तूल् इन्—सु।

(8) तूली—पूर्वोक्त अर्थ में ही दीर्घ ईकारान्त भी। 'कृदिकारादक्तिनः' (पा० 4.1.45) ग०सू० से ङीष्।

(9) भिदिः (= वज्र)—भिनत्तीति। भिदिर् विदारणे।

(10) छिदिः (= परशु)—छिनत्तीति। छिदिर् द्वैधीकरणे। छिद् इन्—सु।

(565) भ्रमेः सम्प्रसारणं च [4.122]

पद०—भ्रमेः 5.1, सम्प्रसारणम् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्य इन्' (उ०सू० 4.119) से 'इन्' का तथा 'इगुधात् कित्' (उ०सू० 4.121) से 'कित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—भ्रम्धातोर् इन्प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः, धातोश्च सम्प्रसारणं स्यात्।

व्याख्या—भ्रम् धातु से परे इन् प्रत्यय होता है, वह कित्सञ्ज्ञक होता है तथा धातु को सम्प्रसारण होता है। 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' (पा० 1.1.44) से भ्रम् धातु के यण् (रेफ) के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से इक् वर्ण (ऋ) होता है।

स्वा०द०वृ०—भ्राम्यतीति **भृमिः**, वायुर्वा। बाहुलकात् **भ्रमिः**, इत्यपि सिद्धम्।

उदा०—(1) भृमिः (= वायु)—भ्राम्यतीति। भ्रमु चलने। भ्रम् इन्—

सम्प्रसारण—भ् ऋ अम् इन्—'सम्प्रसारणाच्च' (पा० 6.1.104) से पूर्वरूप—भृम् इ—सु।

(2) भ्रमिः—बाहुलकात् सम्प्रसारण का अभाव।

(566) क्रमितमिशतिस्तम्भामत इच्च [4.123]

पद०—क्रमितमिशतिस्तम्भाम् 6.3, अतः 6.1, इत् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्य इन्' (उ०सू० 4.119) से 'इन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—क्रम् तम् शत् स्तम्भ् इत्येतेभ्यो धातुभ्य इन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च योऽकारस् तस्य स्थाने 'इत्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'क्रमि·····स्तम्भाम्' षष्ठ्यन्त पद है। विभक्तिविपरिणाम से इसे पञ्चम्यन्त (यथा—क्रमितमिशतिस्तम्भूभ्यः) बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। 'क्रमि·····स्तम्भाम्' इस षष्ठ्यन्त पद का 'अतः' इस षष्ठ्यन्त पद के साथ अन्वय होता है। अर्थ—क्रम्, तम्, शत् और स्तम्भ्—इन धातुओं से परे इन् प्रत्यय होता है और धातु में स्थित जो अकार, उसके स्थान पर इकार आदेश होता है। इत् में तकार उच्चारणार्थ है। इत् = ह्रस्व इकार। अत् में भी तकार उच्चारणार्थ है। अत् = ह्रस्व अकार।

स्वा०द०वृ०—क्राम्यति पादान् विक्षिपतीति **क्रिमिः**, क्षुद्रजन्तुर्वा। सम्प्रसारणानुवृत्तेः **कृमिः** इत्यपि। ताम्यत्याकाङ्क्षतीति **तिमिः**, मत्स्यभेदो वा। शितिस्तम्भौ सौत्रौ धातू। [शेतति वर्णयुक्तो भवतीति] **शितिः**, कृष्णः शुक्लो वा। स्तभ्नातीति **स्तिभिः**, समुद्रो वा।

उदा०—(1) क्रिमिः (= कीट)—क्राम्यति। पादान् विक्षिपति। क्रमु पादविक्षेपे। क्रम् इन्—क्रिम् इ—सु।

(2) तिमिः (= एक मछली)—ताम्यत्याकाङ्क्षति। तमु काङ्क्षायाम्। तम् इन्—तिम् इ—सु।

(3) शितिः (= कृष्ण, शुक्ल)—शेततीति। शित् इ—सु। शति सौत्र धातु।

(4) स्तिभिः (= समुद्र)—स्तभ्नातीति। स्तम्भ सौत्र धातु। स्तम्भ् इन्—बाहुलकात् अनुनासिकलोप—स्तम्भ् → स्तिभ् इन्—सु।

(567) मनेरुच्च [4.124]

पद०—मनेः 5.1, उत् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'क्रमितमि·····इच्च' (उ०सू० 4.123) से 'अतः' का तथा 'सर्वधातुभ्य इन्' (उ०सू० 4.119) से 'इन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—मन्धातोर् इन्प्रत्यय : स्याद् धातोश्च योऽकारस्तस्य स्थाने 'उत्' इत्यादेशो भवति ।

व्याख्या—'मनेः' पद की आवृत्ति की जाती है । प्रथम 'मनेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है । द्वितीय 'मनेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर उसका 'अतः' इस अनुवृत्त पद के साथ अन्वय किया जाता है । 'उत्' का तकार इत्सञ्ज्ञक है । उत् = ह्रस्व उकार । अर्थ—मन् धातु से परे इन् प्रत्यय होता है तथा धातु में स्थित जो ह्रस्व अकार, उसके स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश होता है ।

स्वा०द०वृ०—किदित्येव । मन्यते जानातीति **मुनिः**, मननशीलः । मुनिरियं **ब्राह्मणी** । **बह्वादित्वात्** मुनी । मुनेर्भावः कर्म वा मौनम् ।

उदा०—(1) मुनिः (= मुनि)—मन्यते जानाति । मन ज्ञाने । मन् → मुन् इन्—सु । महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यहाँ 'इगुपधात् कित्' (उ०सू० 4.121) से 'कित्' पद का अनुवर्त्तन किया है । ताकि 'मुन् इ' इस दशा में प्राप्त लघूपध गुण का निषेध हो जाय । हमारे मत में उत्त्वविधान सामर्थ्य से लघूपध गुण का बाध हो जाता है । अतः 'कित्' पद के अनुवर्त्तन की आवश्यकता नहीं है ।

(568) वर्णेर्वलिश्चाऽहिरण्ये [4.125]

पद०—वर्णेः 5.1, वलिः 1.1, च—अव्य०, अहिरण्ये 7.1

अनु०—'सर्वधातुभ्य इन्' (उ०सू० 4.119) से 'इन्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—वर्णधातोर् इन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'वल्' इत्यादेशो भवति, न तु हिरण्ये वाच्ये ।

व्याख्या—'वर्णेः' पद की पूर्ववत् आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है । अर्थ—वर्ण् धातु से परे इन् प्रत्यय होता है और धातु के स्थान पर 'वल्' आदेश होता है, परन्तु 'हिरण्य' शब्द के वाच्य होने पर यह आदेश नहीं होता है । 'वल्' अनेकाल् है । 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से वल् आदेश सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् वर्ण) के स्थान पर होता है ।

स्वा०द०वृ०—वर्णिः सौत्रो धातुः । वर्णयति स **वलिः**, राजकरः सत्कारसामग्री शरीराङ्गं वा । हिरण्ये तु **वर्णिः**, सुवर्णम् ।

उदा०—(1) वलिः (= राजकर)—वर्णयति । वर्ण् इन् → वल् इ—सु ।
(2) वर्णिः (= स्वर्ण)—यहाँ 'हिरण्य' अर्थ गम्यमान है । वल् आदेश न हुआ । इन् प्रत्यय ।

(569) वसिवपियजिराजिव्रजिसदिहनिवाशिवादिवारिभ्य इञ् [4.126]

पद०—वसिवपियजिराजिव्रजिसदिहनिवाशिवादिवारिभ्यः 5.3, इच् 1.1

सं०—वस् वप् यज् राज् व्रज् व्रज् सद् हन् वाश् वादि वारि—इत्येतेभ्यो धातुभ्य इञ्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वस्, वप्, यज्, राज्, व्रज्, सद्, हन्, वाश्, णिच्प्रत्ययान्त वद्, णिच्प्रत्ययान्त वृ—इन धातुओं से परे इञ् प्रत्यय होता है। 'ञ्' इत्सञ्ज्ञक है। ञित् करने का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर करना है। द्रष्टव्य—ञ्नित्यादिर्नित्यम् (पा० 6.1.196)।

स्वा०द०वृ०—वस्त आच्छादयति वसति वा स **वासिः**, छेदनवस्तु वा। वपन्ति यत्रेति **वापिः, वापी**; जलाशयभेदो वा। यजतीति **याजिः**, यष्टा वा। राजते दीप्यतेऽसौ **राजिः, राजी**, पङ्क्तिर्वा। **'राजीवं'** पद्मम्। व्रजतीति **व्राजिः**, वायुसमूहो वा। सीदतीति **सादिः**, सारथिर्वा। हन्ति यया सा **घातिः**। **निघातिः** लोहघाताऽऽधारा। वाश्यते शब्दयतीति **वाशिः**, अग्निर्वा। वादयति व्यक्तमुच्चारयति स **वादिः**, विद्वान् वा। वारयति निवारयतीति **वारिः**, गजबन्धनी शृङ्खला वा। जले नपुंसकम्—वारि।

बाहुलकात्—हरतीति **हारिः**, पथिकसंसृतिर्वा। **'सम्प्रहारिः'** योद्धा। खटति काङ्क्षतीति **खाटिः**, शुष्कव्रणस्थानं वा।

उदा०—(1) वासिः (= छेदन वस्तु)—वसति। आच्छादयति। वस निवासे। वस् इञ्—वासि सु। 'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि।

(2) वापिः (= जलाशय)—वपन्ति यत्र। वप बीजजन्मनि। वप् इञ्—पूर्ववत्।

(3) वापी—इसी अर्थ में।

(4) याजिः (= यजनकर्त्ता)—यजतीति। यज् इञ्—पूर्ववत्।

(5) राजिः (= पंक्ति)—राजते दीप्यते। राजृ दीप्तौ। राज् इञ्—सु।

(6) राजी—इसी अर्थ में। 'कृदिकारादक्तिनः' (पा० 4.1.45 ग०सू०) से ङीष् विकल्प से।

(7) राजीवम् (= कमल)—राजी शब्द से परे 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (पा० 5.2.108) से 'व' प्रत्यय, सु, अतोऽम्।

(8) व्राजिः (= वायुसमूह)—व्रजतीति। व्रज् इञ्—पूर्ववत्।

(9) सादिः (= सारथी)—सीदतीति। षद्लृ—'धात्वादेः षः सः' से सकार। सद् इञ्। 'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि, सु।

(10) घातिः (= शस्त्रविशेष)—निघातिः। नितरां हन्ति यया सा। नि हन् इञ्—नि हान् इ—उपधा को वृद्धि आदेश—निहात् इ—तकार आदेश—निघात् इ—हकार को घकार हुआ, सु। हेमचन्द्र के अनुसार प्रकृत में बाहुलकात् घत्व, तत्व का निषेध होता है—हानिः।

(11) वाशिः (= अग्नि)—वाश्यते शब्दयति। वाशृ शब्दे। वाश् इञ्—सु।

(12) वादिः (= विद्वान्)—वादयति व्यक्तम् उच्चारयति। वद् णिच्—'अत उपधायाः' (पा० 7.2.116) से उपधावृद्धि—वाद् इ इञ्—सु।

(13) वारिः (= हाथी को बाँधने की जंजीर)—वारयति निवारयति। वृ इञ्—'अचो ञ्णिति' से वृद्धि आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—वार् इञ्—सु।

(14) हारिः (= पथिक)—हरतीति। हृ हरणे। पूर्ववत्। बाहुलकात् प्रत्यय। इसी प्रकार—

(15) सम्प्रहारिः (= योद्धा)।

(16) खाटिः (= सूखा घाव का स्थान)—खटति काङ्क्षति। बाहुलकात् प्रत्यय। खाट् इञ्।

(17) ध्वाजिः (= अश्व)—ध्वजतीति। ध्वज गतौ। ध्वज् इञ्—'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि, सु।

(570) नहो भश्च [4.127]

पद०—नहः 5.1, भः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'वसिवपि····इञ्' (उ०सू० 4.126) से 'इञ्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—नह्धातोर् इञ्प्रत्ययः स्यात्, धातोश्च भकारोऽन्तादेशः स्यात्।

व्याख्या—'नहः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'नहः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'नहः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—नह् धातु से परे इञ् प्रत्यय होता है तथा धातु के अन्त्य अल् (अर्थात् हकार) के स्थान पर भकार आदेश होता है। भकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'अलोऽन्त्यस्य' से 'भ्' आदेश धातु के अन्त्य अल् के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—नह्यति दुष्टं नाँडीर्वा बध्नातीति **नाभिः**, क्षत्रियः प्राण्यङ्गं वा। **नाभी**—ङीष्।

उदा०—(1) नाभिः, नाभी (= शरीर का एक अंग, केन्द्र)—नह्यति दुष्टनाडीं बध्नाति। णह बन्धने। 'णो नः' (पा० 6.1.63) से णकार को नकार—नह् → नभ्—भकार अन्तादेश—नाभ् इञ्—सु।

(571) कृषेर्वृद्धिश्छन्दसि [4.128]

पद०—कृषे: 5.1, वृद्धि: 1.1, छन्दसि 7.1

अनु०—'वसिवपि·····इञ्' (उ०सू० 4.126) से 'इञ्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—कृष्धातोर् इञ्प्रत्यय: स्याद् धातोश्च वृद्धि: स्याच्छन्दसि विषये।

व्याख्या—'कृषे:' पद की पूर्ववत् आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—कृष् धातु से परे इञ् प्रत्यय होता है तथा धातु को वृद्धि आदेश होता है, वेद के विषय में। वृद्धि आदेश 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य अल् (षकार) के स्थान पर प्राप्त हुआ। इसे बाधकर 'इको गुणवृद्धी' (पा० 1.1.3) से धातु के इक् वर्ण (ऋकार) के स्थान पर वृद्धि आदेश प्राप्त हुआ। 'उरण् रपर:' से रपरत्व होकर 'आर्' के रूप में वृद्धि आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—कर्षत्याकर्षतीति **कार्षि:**, अग्निर्वा। लोके तु—**'कृषि:'**।

उदा०—(1) कार्षि: (= पालक, अग्नि)—कर्षत्याकर्षति। कृष विलेखने। कृष्—वृद्धि आदेश—कार्ष् इञ्। लोक में वृद्धि आदेश नहीं होता है।

(2) कृषि:।

(572) श्र: शकुनौ [4.129]

पद०—श्र: 5.1, शकुनौ 7.1

अनु०—'वसिवपि·····इञ्' (उ०सू० 4.126) से 'इञ्' का तथा 'कृषेर्वृद्धिश्छन्दसि' (उ०सू० 4.128) से 'वृद्धि:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—शृधातोर् इञ्प्रत्यय: स्याच्छकुनौ गम्यमाने, धातोश्च वृद्धि: स्यात्।

व्याख्या—'श्र:' पद की पूर्ववत् आवृत्ति करके सूत्रार्थ इस प्रकार किया जाता है। अर्थ—यदि 'शकुनि' अर्थ गम्य हो तो शृ धातु से परे इञ् प्रत्यय होता है तथा धातु को वृद्धि आदेश होता है। यह आदेश ऋकार के स्थान पर 'आर्' के रूप में होता है।

स्वा०द०वृ०—शृणाति हिनस्तीति **शारि:**, पक्षी। स्त्री—**शारिका। शुकशारिकम्** इति पक्ष एकवद्भाव:। [परिणायेन] शारीन् हन्तीति **शारिका,** वा। शकुनेरन्यत्र **शरि:** हिंस्र:। **कपिलकादित्वाद्** [द्रष्टव्य—अ० 8.2.18 वा०] लत्वम्—**शलि:, अपिशलि**र्मुनिविशेष:, तस्यापत्य**मापिशलि:**। **बाह्वादित्वाद्** [द्रष्टव्य—अ० 4.1.96] इञ्।

उदा०—(1) शारि: (= मैना, एक पक्षी)—शृणाति हिनस्ति। शृ हिंसायाम्। शृ → शार्—वृद्धि आदेश, इञ् प्रत्यय—शारि सु।

(2) शारिका—स्त्रीलिङ्ग में।

(3) शरिः (= हिंसक, शूल)—'शकुनि' अर्थ वाच्य न हो तो वृद्धि आदेश नहीं होता है।

(4) शलिः—कपिलकादि में पाठ होने से पक्ष में लत्व (पा० 8.2.18 वा०)।

(573) कृञ उदीचां कारुषु [4.130]

पद०—कृञः 5.1, उदीचाम् 6.3, कारुषु 7.3

अनु०—'वसिवपि·····इञ्' (उ०सू० 4.126) से 'इञ्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—कृधातोर् इञ्प्रत्ययः स्याद् उदीचां मते, कारुषु गम्यमानेषु।

व्याख्या—यदि 'शिल्पी' अर्थ वाच्य हो तो कृ धातु से परे इञ् प्रत्यय होता है, उदीच्य आचार्यों के मत में।

स्वा०द०वृ०—करोतीति **कारिः**, शिल्पी। शिल्पिनोऽन्यत्र—**करिः**, [हस्ती]।

उदा०—(1) कारिः (= शिल्पी)—करोतीति। डुकृञ् इञ्—अनुबन्धलोप—कृ इ—'अचो ञ्णिति' से वृद्धि आदेश, रपरत्व—कार् इ—सु।

(2) करिः (= हाथी)—'शिल्पी' अर्थ वाच्य नहीं है।

(574) जनिघसिभ्यामिण् [4.131]

पद०—जनिघसिभ्याम् 5.2, इण् 1.1

सं०—'जन् घस् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् इण्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—जन् और घस्—इन धातुओं से परे इण् प्रत्यय होता है। पूर्वशास्त्र से इञ् प्रत्यय की अनुवृत्ति होने पर इण् प्रत्यय का विधान स्वर के लिए है। इण् का 'ण्' इत्सञ्ज्ञक है।

स्वा०द०वृ०—जायतेऽसौ **जनिः**, जननं वा। [**जनिवध्योश्च** (अ० 7.3.35) इति वृद्ध्यभावः।] घसति भक्षयतीति **घासिः**, अग्निर्वा। प्रत्ययान्तकरणं स्वरार्थम्।

बाहुलकात्—शल्यते प्राप्यतेऽसौ **शालिः**, व्रीहयो वा। पलति गच्छतीति **पालिः**, खड्गादेरग्रभागो वा।

उदा०—(1) जनिः (= जन्म)—जायतेऽसौ। जनी प्रादुर्भावे। जन् इण्—'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि प्राप्त, 'जनिवध्योश्च' (पा० 7.3.35) से निषेध—जनि सु। बाहुलकात् 'जानिः' भी बनता है।

(2) घासि: (= अग्नि)—घसति भक्षयति। घस अदने। घस् इञ्—उपधावृद्धि, सु।

(3) शालि: (= व्रीहि)—शल्यते प्राप्यते। शल प्राप्तौ। शल् इञ्—उपधावृद्धि, सु।

(4) पालि: (= तलवार का अगला हिस्सा)—पलति गच्छति। पल् इञ्—पूर्ववत्।

(575) अज्यतिभ्यां च [4.132]

पद०—अज्यतिभ्याम् 5.2, च—अव्य०।

अनु०—'जनिघसिभ्यामिण्' (उ०सू० 4.131) से 'इण्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अज् अत्—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् इणप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—अज् और अत्—इन धातुओं से परे इण् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—अजन्ति क्षिपन्ति शस्त्रादिकं यत्र स **आजिः**, संग्रामो वा। अतति निरन्तरं गच्छतीति **आतिः**, तित्तिरिभेदो वा। शोभना आती '**स्वाती**' नक्षत्रम्।

उदा०—(1) आजि: (= युद्ध)—अजन्ति क्षिपन्ति शस्त्रादिकं यत्र। अज गतिक्षेपणयोः। अज् इण्—'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि—आज् इ—सु।

(2) आति: (= तित्तिरविशेष)—अतति निरन्तरं गच्छति। अत सातत्यगमने। अत् इण्।

(576) पादे च [4.133]

पद०—पादे 7.1, च—अव्य०।

अनु०—'अज्यतिभ्यां च' (उ०सू० 4.132) से 'अज्यतिभ्याम्' का तथा 'जनिघसिभ्यामिण्' (उ०सू० 4.131) से 'इण्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—'पाद' इत्युपपद अज् अत् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् इणप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'पादे' सप्तम्यन्त पद है। 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' (पा० 3.1.92) से उपपद सञ्ज्ञा है। अर्थ—'पाद' शब्द के उपपद रहते अज् और अत्—इन धातुओं से परे इण् प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—पद्भ्यामजत्यतति वा स **पदाजिः, पदातिः** पद्गः। **'पादस्य पदाज्याति०'** [6.3.51] इति सूत्रेण पदादेशः।

उदा०—(1) पदाजि: (= पैदल यात्री)—पद्भ्याम् अजति। पाद अज् इण्—'पादस्य पदाज्या०' (पा० 6.3.51) से 'पद्' आदेश—पद् आज् इ—सु।

(2) पदाति (= पैदल यात्री)—पद्भ्याम् अतति। पाद अत् इण्—पूर्ववत्।

(577) अशिपणाय्योरुडायलुकौ च [4.134]

पद०—अशिपणाय्योः 6.2, रुडायलुकौ 1.2, च—अव्य०।

अनु०—'जनिघसिभ्यामिण्' (उ०सू० 4.131) से 'इण्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अश् पणाय—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् इण्प्रत्ययो भवति, धातुभ्यां च क्रमेण रुट् आगम आयस्य लुक् च भवतः।

व्याख्या—'अशिपणाय्योः' षष्ठ्यन्त पद है। विभक्तिविपरिणाम से इसे पञ्चम्यन्त (यथा—अशिपणायिभ्याम्) बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। प्रकृत सूत्र इण् प्रत्यय के विधान से अतिरिक्त दो अन्य कार्यों (= रुट् आगम और आय का लुक्) का भी विधान करता है। दो प्रकृतियाँ (यथा—अश्, पणाय) तथा दो ही कार्य (यथा—आगम व लुक्) हैं। अतः 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—अश् तथा पणाय धातुओं से परे इण् प्रत्यय होता है तथा धातुओं को क्रमशः रुट् आगम और आय प्रत्यय का लुक् होते हैं। सार यह है कि अश् धातु को रुट् आगम तथा पणाय धातु के आय प्रत्यय का लुक् होता है। आगम का टकार इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। 'र्' शेष बचता है। रुट् आगम टित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से रुट् आगम अश् धातु का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—अशेरुट्, पणायतेरायलुक्। अश्नुते व्याप्नोतीति **राशिः**, समूहो वा। पणायति व्यवहरति येन स **पाणिः**, हस्तो वा।

उदा०—(1) राशिः (= समूह)-अश्नुते व्याप्नोति। अशूङ् व्याप्तौ। अश् इण्—उपधावृद्धि, रुट् आगम—र् आश् इ—सु।

(2) पाणिः (= हाथ)—पणायति व्यवहरति येन। पणाय इञ्—आय प्रत्यय का लुक्—पाण् इञ्—उपधावृद्धि, सु।

(578) वातेर्डिच्च [4.135]

पद०—वातेः 5.1, डित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'जनिघसिभ्यामिण्' (उ०सू० 4.131) से 'इण्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वाधातोर् इण्प्रत्ययः स्यात्, स च डित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—वा धातु से परे इण् प्रत्यय होता है तथा वह डित्सञ्ज्ञक होता है। डित्करण टिलोप के लिए है।

स्वा०द०वृ०—वाति वायुवद् गच्छतीति **विः**, पक्षी वा। डित्त्वादाकारलोपः। अटन्ति वयोऽस्यामिति **अटविः**, नगरी। पदस्य विः [**पदविः** । स्त्रियां—] **पदवी**।

उदा०—(1) विः (= पक्षी)—वाति वायुवत् गच्छति। वा गतिगन्धनयोः। वा इण्—टिलोप—व् इ—सु। दशपादीवृत्तिकार वेञ् धातु से परे इण् प्रत्यय को डित् करते हैं। 'वेञो डित्' (द०वृ० 1.62)। तदनु—'वेञ् तन्तुसन्ताने' धातु से इण्, टि-लोप—व् इ—सु। विः (= तन्तुवाय)।

(2) अटविः (= नगरी, अरण्य)—अटन्ति वयोऽस्याम्। अट वि सु।

(3) पदविः—पदस्य विः।

(4) पदवी—'कृदिकारादक्तिनः' इस गणसूत्र से पाक्षिक ङीष्।

(579) प्रे हरतेः कूपे [4.136]

पद०—प्रे 7.1, हरतेः 5.1, कूपे 7.1

अनु०—'जनिघसिभ्यामिण्' (उ०सू० 4.131) से 'इण्' का तथा 'वातेर्डिच्च' (उ०सू० 4.135) से 'डित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—'प्र' इत्युपपदे हृधातोर् इण्प्रत्ययः स्याद्, कूपे गम्यमाने।

व्याख्या—यदि 'कूप' अर्थ वाच्य हो तो 'प्र' शब्द के उपपद रहते हृ धातु से परे इण् प्रत्यय होता है और वह डित्सञ्ज्ञक होता है।

स्वा०द०वृ०—इण्—डित्। प्रहरन्ति जलमस्मात् स प्रहिः, कूपो वा। कूपादन्यत्र—**प्रहरिः**।

उदा०—(1) प्रहिः (= कूप)—प्रकृष्टरूपेण हरतीति जलमस्मात्। हृञ् हरणे। प्र हृ इण्—प्र ह् इ—सु।

(2) प्रहरिः (=)—यहाँ 'कूप' अर्थ वाच्य नहीं है।

(580) नौ व्यो यलोपः पूर्वस्य च दीर्घः [4.137]

पद०—नौ 7.1, व्यः 5.1, यलोपः 1.1, पूर्वस्य 6.1, च—अव्य०, दीर्घः 1.1

अनु०—'जनिघसिभ्यामिण्' (उ०सू० 4.131) से 'इण्' का तथा 'वातेर्डिच्च' (उ०सू० 4.135) से 'डित्' का अनुवर्त्तन है। उज्ज्वलदत्त के अनुसार प्रकृत में 'जनिघसिभ्यामिण्' (उ०सू० 4.131) से 'इण्' का अनुवर्त्तन नहीं होता है, प्रत्युत 'वसिवपि····इञ्' (उ०सू० 4.126) से मण्डूकप्लुति न्याय से 'इञ्' का अनुवर्त्तन है। इसमें उत्तरसूत्र 'समाने ख्यः स चोदात्तः' (उ०सू० 4.138) में 'उदात्त' ग्रहण प्रमाण है।

सं०—'नि' शब्द उपपदे व्येधातोर् इण्प्रत्ययः स्याद्, धातोर् यलोप उपसर्गस्य च दीर्घाऽऽदेशो भवति।

व्याख्या—'नौ' सप्तम्यन्त पद है। 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' से उपपद सञ्ज्ञा होती है। 'पूर्वस्य' के द्वारा 'उपसर्गस्य' अर्थ गृहीत होता है। 'यलोपः' पद का 'व्यः' पद के साथ अन्वय होता है। अर्थ—'नि' शब्द के उपपद रहते 'व्ये' धातु से परे 'इण्' प्रत्यय होता है, धातु के यकार का लोप होता है तथा उपसर्ग को दीर्घ आदेश होता है। ह्रस्वादि सञ्ज्ञाएँ अच् वर्ण की हुआ करती हैं। अतः दीर्घ आदेश 'नि' शब्द के इकार के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—पूर्वस्योपसर्गस्य दीर्घः। निवीयते संव्रियते सा **नीविः, नीवी**; मूलधनं दुकूलबन्धनं वा।

उदा०—(1) नीविः (= ग्रन्थि)—निवीयते संव्रियते सा। नि व्ये इण्—नी व्ये इ—नी व् इ—टि का लोप—नीवि—सु।

(581) समाने ख्यः स चोदात्तः [4.138]

पद०—समाने 7.1, ख्यः 5.1, सः 1.1, च—अव्य०—उदात्तः 1.1

अनु०—'जनिघसिभ्यामिण्' (उ०सू० 4.131) से 'इण्' का, 'वातेर्डिच्च' (उ०सू० 4.135) से 'डित्' का तथा 'नौ व्यो यलोपः पूर्वस्य०' (उ०सू० 4.137) से 'यलोपः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—समान उपपदे ख्याधातोर् इण्प्रत्ययः स्यात्, स च डित्सञ्ज्ञकः, धातोर् यकारस्य लोपः, समानस्य स्थाने 'स' इत्यादेशो भवति, स चोदात्तः।

व्याख्या—'समाने' अर्थात् 'समान' शब्द के उपपद रहते। 'समाने' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बना लिया जाता है। 'समानस्य' का 'स' इस लुप्तप्रथमान्त रूप के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—'समान' शब्द के उपपद रहते 'ख्या' धातु से परे इण् प्रत्यय होता है, वह (प्रत्यय) डित्सञ्ज्ञक होता है। धातु के यकार का लोप होता है तथा 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होता है, जो उदात्त होता है। 'स' से परे 'सु' विभक्ति का 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण०' (पा० 7.1.39) से लुक् होकर 'स' लुप्तप्रथमान्त रूप है। 'स' को उदात्त स्वर का विधान किये जाने से सूचित होता है कि अकारयुक्त सकार ही आदेश के रूप में होता है। 'स' अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से 'स' आदेश सम्पूर्ण स्थानी ('समान' शब्द) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—समानं ख्यातीति **सखा, मित्रं सहायो वा**। सखायौ, सखायः।

उदा०—(1) सखा (= मित्र)—समानं ख्यातीति। समान ख्या इण्—स ख्या इ—'स' आदेश—स ख्य् इ—धातु की टि का लोप—स ख् इ—यकारलोप, सु।

सखि सु—'अनङ् सौ' (पा० 7.1.93) से 'अनङ्' आदेश—सखनङ् स्—अनुबन्धलोप—सखन् स्—'सर्वनामस्थाने चाऽस०' (पा० 6.4.8) से उपधादीर्घ—सखान् स्—अपृक्त सकार का लोप—सखान्—'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (पा० 8.2.7) से नकारलोप।

(582) आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च [4.139]

पद०—आङि 7.1, श्रिहनिभ्याम् 5.2, ह्रस्वः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'जनिघसिभ्यामिण्' (उ०सू० 4.131) से 'इण्' का, 'वातेर्डिच्च' (उ०सू० 4.135) से 'डित्' का, 'नौ व्यो यलोपः पूर्वस्य०' (उ०सू० 4.137) से 'पूर्वस्य' का तथा 'समाने ख्यः स चोदात्तः' (उ०सू० 4.138) से 'उदात्तः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—आङ्युपपदे श्रि हन् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् इण्प्रत्ययः स्यात्, स च डित्सञ्ज्ञकः। उपसर्गस्य स्थाने ह्रस्वाऽऽदेशो भवति। ह्रस्वादेश उदात्तो भवति।

व्याख्या—आङ् शब्द के उपपद रहते श्रि तथा हन् धातुओं से परे इण् प्रत्यय होता है, वह (प्रत्यय) डित्सञ्ज्ञक होता है तथा उपसर्ग के स्थान पर उदात्त व ह्रस्व आदेश होता है। आकार के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' (पा० 1.1.49) से अकार ह्रस्वादेश होता है। प्रत्यय को डित्करण से धातु की टि का लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—आश्रयति तत्रेति **अश्रिः**, कोणो वा। आहन्तीति **अहि**, मेघः सर्पो वा। अत्राङुपसर्गस्यैव ह्रस्वत्वम् [डिदनुवर्तनाट्टिलोपः, 'स चोदात्तः' इत्यनुवर्तनाद् ह्रस्वीभूतस्याङ उदात्तत्वं च]।

उदा०—(1) अश्रिः (= कोण)—आश्रयति तत्र। आङ् श्रिञ् सेवायाम्। ह्रस्व आदेश—अ श्रि इ—टिलोप—अ श्र् इ—सु।

(2) अहिः (= सर्प, मेघ)—आहन्ति। हन हिंसागत्योः। आ हन् इण्—टिलोप—आ ह् इ—ह्रस्व आदेश—अहि—सु।

(583) अच इः [4.140]

पद०—अचः 5.1, इः 1.1

सं०—अजन्ताद् धातोर् इप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'अचः' पद अध्याहत 'धातोः' पद का विशेषण है। विशेषण से तदन्त विधि होती है। 'अचः' के द्वारा 'अजन्तात्' अर्थ गृहीत होता है। अजन्त धातु से परे 'इ' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—अजन्ताद्धातोरिः प्रत्ययः। लुनाति छिनत्तीति **लविः**, छेदको लोहो वा। पुनातीति **पविः**, वज्रं हीरकं वा। तरति येन स **तरिः**, वस्त्रादिस्थापनभाण्डं [नौका] वा; स्त्रियां **तरी**। रौतीति **रविः**, सूर्यो वा। कौति शब्दयत्युपदिशति स **कविः**, मेधावी विद्वान् क्रान्तदर्शनो वा; स्त्रियां **कवी**। ऋच्छति प्राप्नोति परपदार्थानिति **अरिः**, शत्रुर्वा। **कपिलकादित्वात्** [द्रष्टव्य—अ० 8.2.18 वा०] लत्वे **अलिः**, भ्रमरो वा। नखेनातिक्रामतीति नखयति, तस्मात् **नखिः**। सूचयतीति **सूचिः**, [स्त्रियां **सूची**] इत्यादि।

उदा०—(1) रविः (= सूर्य)—रौतीति। रु इ—'आर्धधातुकं शेषः'. (पा० 3.4.114) से 'इ' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (पा० 7.3.84) से गुण—रो इ—'एचोऽयवायावः' से अव् आदेश, सु।

(2) लविः (= छेदक)—लुनाति छिनत्ति। लूञ् छेदने। लू इ—पूर्ववत्।

(3) कविः (= विद्वान्)—कौत्युपदिशति।

(4) पविः (= वज्र, हीरा)—पुनातीति। पू इ—पूर्ववत्।

(5) अरिः (= शत्रु)—ऋच्छति प्राप्नोति परपदार्थान्। ऋ इ—पूर्ववत्।

(6) अलिः (= भ्रमर)—कपिलकादि होने से 'अरि' के रेफ कों लकार आदेश।

(7) तरिः (= नौका)—तरति येन। तॄ प्लवनसन्तरणयोः। पूर्ववत् गुण आदि।

(8) सूचिः (= सुई, सूची)—सूचयतीति। सूच् इ—सु।

(9) सूची—'कृदिकारादक्तिनः' (ग०सू०) से पाक्षिक ङीष्।

(10) नखिः—नखेनाऽतिक्रामति···नखयति। तस्मात्।

(11) भरिः (= पृथ्वी)—बिभर्त्ति भ्रियते। डुभृञ् धारणपोषणयोः। भृ इ—आर्धधातुक गुण, रपरत्व—भर् इ—सु।

(584) खनिकष्यज्यसिवसिवनिसनिध्वनिग्रन्थिचरिभ्यश्च [4.141]

पद०—खनिकष्यज्यसिवसिवनिसनिध्वनिग्रन्थिचरिभ्यः 5.3, च—अव्य०।

अनु०—'अच इः' (उ०सू० 4.140) से 'इः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—खन् कष् अञ्ज् अस् वस् वन् सन् ध्वन् ग्रन्थ् चर् इत्येतेभ्यो धातुभ्य 'इ'प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—खन्, कष्, अञ्ज्, अस्, वस्, वन्, सन्, ध्वन्, ग्रन्थ् और चर्—इन धातुओं से परे 'इ' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—खनति येन खन्यते यत्रेति वा स **खनिः**, [कुद्दालो] धनस्थानं वा। बाहुलकाद्दीर्घत्वे **खानिः** इत्यपि। कषति हिनस्तीति **कषिः**, हिंसको वा। अनक्ति

व्यनक्ति कार्यमिति **अञ्जिः**, प्रेषणकर्ता। [स्त्रियाम्] ङीष्—'**अञ्जी**' मङ्गलार्थः। अस्यति क्षिपत्यनेनेति **असिः**, खड्गो वा। वस्त आच्छादयत्यनेनेति **वसिः**, वस्त्रं वा। वनति सम्भजतीति **वनिः**, अग्निर्वा। **धान्यवनिः** धान्यराशिः। वन्यते माच्यत इति **वनिः**, तं वनिं याचनमिच्छतीति वनीयति, तदन्ताण्ण्वुल् '**वनीयकः**' प्रार्थकः। सनोति ददातीति **सनिः**, अध्येषणं वा। ध्वन्यत उच्चार्यते स **ध्वनिः**, शब्दो वा। यं ग्रथ्नाति समुदेति स **ग्रन्थिः** पर्व। चरतीति **चरिः**, पशुर्वा।

उदा०—(1) खनिः (= खान), खानिः—खनति येन। खन्यते यत्र। खनु अवदारणे—खन् इ। पक्षे बाहुलकात् दीर्घ।

(2) कषिः (= पीडक)—कषति हिनस्ति। कष हिंसायाम्। कष् इ—सु।

(3) अञ्जिः (= प्रेषक, तेज)—अनक्ति व्यनक्ति कार्यम्। अञ्जू गत्यादिषु। अञ्ज् इ—सु।

(4) अञ्जी—मङ्गलार्थ। पाक्षिक ङीष्।

(5) असिः (= तलवार)—अस्यति क्षिपत्यनेन। असु क्षेपणे। अस् इ—सु।

(6) वसिः (= वस्त्र, शय्या, रात्रि)—वस्त आच्छादयति अनेन। वस आच्छादने—वस् इ—सु। वसन्त्यस्याम् इति वसिः शय्या।

(7) वनिः (=अग्नि)—वन्यते याच्यते। वनु याचने—वन् इ।

(8) वनीयकः (= प्रार्थक)—वनिं याचनामिच्छति—वनीयति। वनीय धातु से ण्वुल् प्रत्यय।

(9) सनिः (= अध्येषण)—सनोति ददाति। षणु दाने। 'धात्वादेः षः सः' (पा० 6.1.62) से सकार। सण्—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' से णकार को नकार—सन् इ—सु। षण सम्भक्तौ से 'इ' प्रत्यय।

(10) ध्वनिः (= शब्द)—ध्वन्यत उच्चार्यते। ध्वन शब्दे। ध्वन् इ—सु।

(11) ग्रन्थिः (= गाँठ)—यं ग्रथ्नाति समुदेति। ग्रन्थ सन्दर्भे। ग्रन्थ् इ—सु।

(12) चरिः (= पशु)—चरतीति। चर गतिभक्षणयोः। चर् इ—सु।

(585) वृतेश्छन्दसि [4.142]

पद०—वृतेः 5.1, छन्दसि 7.1

अनु०—'अच इः' (उ०सू० 4.140) से 'इः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—छन्दसि विषये वृत्धातोर् 'इ'प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वेद के विषय में वृत् धातु से 'इ' प्रत्यय होता है। 'आर्धधातुकं शेषः' (पा० 3.4.114) से 'इ' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—वर्त्तते तत्र येन वा स **वर्त्तिः**, योगक्रिया साधनद्रव्यं मार्गो वा।

उदा०—(1) वर्त्तिः (= बाती)—वर्त्तते तत्र येन वा। वृतु वर्त्तने। वृत् इ—'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से लघूपध गुण प्राप्त, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—वर्त् इ—'अचो रहाभ्यां द्वे' (पा० 8.4.45) से तकार को द्वित्व, सु।

(586) भुजेः किच्च [4.143]

पद०—भुजेः 5.1, कित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'अच इः' (उ०सू० 4.140) से 'इः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—भुज्धातोर् 'इ'प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—भुज् धातु से परे 'इ' प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन लघूपध गुण का निषेध करना है। 'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से गुण प्राप्त था।

स्वा०द०वृ०—भुनक्ति पालयति भक्षयति वा स **भुजिः**, अग्निर्वा।

उदा०—(1) भुजिः (= अग्नि, पिता)—भुनक्ति पालयति भक्षयति। भुज पालनाऽभ्यवहारयोः। भुज् इ—गुणनिषेध, सु। दशपादीवृत्ति में 'भुज कौटिल्ये' से प्रत्यय किया है। भुनक्ति भुजति भुज्यते वा।

(587) कॄगॄशॄपॄकुटिभिदिछिदिभ्यश्च [4.144]

पद०—कॄगॄशॄपॄकुटिभिदिछिदिभ्यः 5.3, च—अव्य०।

अनु०—'अच इः' (उ०सू० 4.140) से 'इः' का तथा 'भुजेः किच्च' (उ०सू० 4.143) से 'कित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—कॄ गॄ शॄ पॄ कुट् भिद् छिद्—इत्येतेभ्यो धातुभ्य इप्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—कॄ, गॄ, शॄ, पॄ, कुट्, भिद् और छिद्—इन धातुओं से परे 'इ' प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन आर्धधातुकलक्षण गुण अथवा लघूपध गुण का निषेध करना है।

स्वा०द०वृ०—किदिति वर्तते। किरतीति **किरिः**, वराहो वा। गिरति गृणाति वा स **गिरिः**, गोत्रम् अक्षिरोगः पर्वतो मेघो वा। शृणातीति **शिरिः** हन्ता। पिपर्त्तीति **पुरिः**, नगरं नदी वा। कुटतीति **कुटिः**; **कुटी**, शाला वा। भिनत्ति येन स **भिदिः**, वज्रं वा। छिनत्त्यनेन स **छिदिः**, परशुर्वा।

बहुलवचनात्—तरति प्लवतेऽसौ **तित्तिरि:**, पक्षिभेदो वा। 'तॄ'धातोरि: प्रत्यय:, स च कित्, सन्वत्कार्यमभ्यासस्य तुगागमश्च।

उदा०—(1) किरि: (= सूअर, मूषक)—किरतीति। कॄ विक्षेपे। कॄ इ—'सार्वधातुकार्धधातुकयो:' (पा० 7.3.84) से प्राप्त गुण का निषेध, 'ॠत इद् धातो:' (पा० 7.1.100) से इकार आदेश, 'उरण् रपर:' (पा० 1.1.50) से रपरत्व—किर् इ—सु।

(2) गिरि: (= पर्वत, जलद)—गिरति गृणाति। गॄ निगरणे। गॄ शब्दे। पूर्ववत् गुणनिषेध, इत्त्व, रपरत्व—गिर् इ—सु।

(3) शिरि: (= मारक)—शृणाति हिनस्ति। शॄ हिंसायाम्। पूर्ववत् सभी कार्य—शिर् इ—सु।

(4) पुरि: (= नगर, नदी)—पिपर्त्तीति। पॄ पालनपूरणयो। पृणाति। प्राप्त गुण का निषेध, 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (पा० 7.1.102) से 'उत्' आदेश, रपरत्व—पुर् इ—सु। 'उरण् रपर:' से रपरत्व होता है।

(5) कुटि:, कुटी (= शाला)—कुटतीति। कुटि कौटिल्ये। कुट् इ—'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से प्राप्त गुण का निषेध—कुट् इ सु। 'कृदिकारादक्तिन:' ग०सू०) से ङीष् का विकल्प। कुटी सु—'हलङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप।

(6) भिदि: (= वज्र)—भिनत्ति येन। भिदिर् विदारणे। भिद् इ—पूर्ववत् लघूपध गुण का निषेध, सु।

(7) छिदि: (= कुल्हाड़ा)—छिनत्ति येन। छिदिर् द्वैधीकरणे। पूर्ववत्। बाहुलकात्—

(8) तित्तिरि: (= एक पक्षी, तीतर)—तरति प्लवतेऽसौ। तॄ प्लवनसन्तरणयो:। तॄ इ—आर्धधातुक गुण का निषेध, निपातन से धातु को द्वित्व—तॄ तॄ इ—पूर्वोऽभ्यास:, 'उरत्' (पा० 7.4.66) से तथा 'उरण् रपर:' (पा० 1.1.50) से अर् आदेश—तर् तॄ इ—हलादि शेष:—त तॄ इ—अभ्यास को निपातन से इत् (= ह्रस्व इकार) आदेश तथा तुक् आगम—ति त् तॄ इ—अनुबन्धलोप, ॠत इद् धातो:, उरण् रपर:—तित् तिर् इ—सु।

(588) कुण्ठिकम्प्योर्नलोपश्च [4.145]

पद०—कुण्ठिकम्प्यो: 6.2, नलोप: 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'अच इ:' (उ०सू० 4.140) से 'इ' का अनुवर्त्तन है।

सं०—कुण्ठ्—कम्प् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् 'इ'प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च नकारस्य लोपः स्यात्।

व्याख्या—कुण्ठ् और कम्प् धातु से परे 'इ' प्रत्यय होता है तथा धातु के नकार का लोप होता है। कण्ठ् में नकार को णकार होता है। कम्प् में नकार को मकार हो जाता है। अतः क्रमशः इनके णकार और मकार का लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—कुण्ठति गतिं प्रतिहन्तीति **कुठिः**, पर्वतो वृक्षो वा। कम्पतेऽसौ **कपिः**, वानरो वर्णभेदो वा। कपिवर्णमस्यास्तीति **'कपिशः'** कपिलवर्णः। **लोमादिपाठाद्** [द्रष्टव्य—अ० 5.2.100] अत्र मत्वर्थीयः शप्रत्ययः।

उदा०—(1) कुठिः (= पर्वत, वृक्ष)—कुण्ठति गतिं प्रतिहन्ति। कुठि प्रतिघाते। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम्—कु न् ठ्—अनुबन्धलोप—कु ठ् इ—नकारलोप, सु। दशपादीवृत्ति (द०वृ० 1.73) में 'कुण्ठि' के स्थान पर 'कुडि' धातु का पाठ है। तब 'कुडिः' (= शरीर) रूप बनता है।

(2) कपिः (= वानर)—कम्पतेऽसौ। कम्प चलने। कम्प्—नलोप—कप् इ—सु। इसी प्रकार—

(3) कपिशः—कपिवर्णम् अस्याऽस्ति। लोमादि में पाठ होने से 'लोमादिपामादिपिच्छा०' (पा० 5.2.100) से मत्वर्थीय 'श' प्रत्यय, सु।

(589) सर्वधातुभ्यो मनिन् [4.146]

पद०—सर्वधातुभ्यः 5.3, मनिन् 1.1

सं०—सर्वधातुभ्यो मनिन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—सभी धातुओं से परे मनिन् प्रत्यय होता है। अन्त्य नकार की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। नकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है। 'मन्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—क्रियते तत् **कर्म**, क्रिया वा। **अर्द्धर्चादित्वाद्** [द्रष्टव्य—अ० 2.4.31] उभयलिङ्गः कर्मशब्दः—**कर्माणं कुरुते शुभम्**। चरति गच्छति येन तत् **चर्म** प्रसिद्धम्। भसितं दीपितमिति यत्तद् **भस्म**। जायते यत्र तत् **जन्म** उत्पत्तिः। शृणातीति **शर्म**, सुखं गृहं वा। हिनोति वर्धते येन तत् **हेम**, सुवर्णं वा। श्लिष्यतीति **श्लेष्मा**, कफोद्‍द्रावो वा। श्लेष्माऽस्यास्तीति **पामादित्वाद्** [द्रष्टव्य—अ० 5.2.100] मत्वर्थे नः प्रत्ययः **'श्लेष्मणः'**। **सिध्मादित्वात्** [(द्रष्टव्य—अ० 5.2.97) लः] **'श्लेष्मलः'**। तरतीति **तर्म**, यूपाग्रं वा, **तर्मणी; तर्माणि**। तिष्ठति येन तत् **स्थाम**, बलं

वा, **स्थामनी**। ददादीति **दाम**, स्रग्वा। छादयतीति **छद्म**, माया वा। **इस्मन्०** [अ० 6.4.97] इति ह्रस्वत्वम्। सुष्ठु त्रायत इति **सुत्रामा**। ओषति दहतीति **उष्म**, **'अन्येषामपि०'** [अ० 6.3.136] इति दीर्घे **ऊष्मा**, ग्रीष्मर्त्तुर्वाष्पो वा।

उदा०—(1) कर्म (= कार्य)—क्रियते तत्। कृ मनिन्—प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, गुण—कर्मन् सु—'स्वमोर्नपुंसकात्' (पा० 7.1.23) से सु का लुक्—कर्मन्—नलोप।

(2) चर्म (= चमड़ी)—चरति गच्छति येन तत्। चर् मनिन्। चर्मन् सु—पूर्ववत् सुलुक्। 'नलोप: प्रातिपदिकान्तस्य' से नकारलोप।

(3) भस्म (= राख)—भसितं दीपितम्। भस् मनिन्—भस्मन् सु—पूर्ववत् सुलुक् तथा नकारलोप।

(4) जन्म (= जनन)—जायते यत्र तत्। जनी प्रादुर्भावे। जन् मनिन्—अनुबन्धलोप—जन्मन् सु—पूर्ववत्।

(5) शर्म (= सुख)—शृणाति। हिनस्ति। शॄ हिंसायाम्। शॄ मनिन्—शॄ मन्—आर्धधातुक गुण, रपरत्व—शर्मन् सु—पूर्ववत्।

(6) हेम (= सोना)—हिनोति वर्धते येन तत्। हि मनिन्—अनुबन्धलोप—हि मन्—आर्धधातुक गुण—हेमन् सु—पूर्ववत्।

(7) श्लेष्मा (= कफ)—शिलष्यति। शिलष् मनिन्—अनुबन्धलोप, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण, सु, उपधादीर्घ, अपृक्त सकारलोप, नलोप।

(8) तर्म (= यूप का अगला भाग)—तरतीति। तॄ प्लवनसन्तरणयो:। तॄ मनिन्—गुण, रपरत्व—तर्मन् सु—पूर्ववत्।

(9) स्थाम (= बल)—तिष्ठति येन तत्। ष्ठा गतिनिवृत्तौ। 'धात्वादे: ष: स:' से सकार—स्ठा—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्या०' से थकार—स्था मन् सु—पूर्ववत्।

(10) दाम (= रस्सी)—ददाति। दा मनिन्—दामन् सु—पूर्ववत्।

(11) छद्म (= कपट, ब्याज)—छादयतीति। छद् मनिन्—पूर्ववत्।

(12) सुत्रामा (= सुरक्षक)—सुष्ठु त्रायते। सु त्रै मनिन्—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आकार—सु त्रा मनिन्—सुत्रामन् सु—उपधादीर्घ, अपृक्त सकारलोप, नलोप।

(13) ऊष्मा (= वाष्प), ऊष्म। ओषति दहति। उष दाहे। उष्मन् सु—उष्म—'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० 6.3.137) से दीर्घ आदेश—ऊष्म—बाहुलकात् गुण का निषेध होता है, सु, उपधावृद्धि, स्लोप, न्लोप।

(14) वर्म (= आवरण)—वृणोतीति। व्रियते वा। वृञ् वरणे। वृ मनिन्—अनुबन्धलोप—वृ मन्—आर्धधातुक गुण, रपरत्व, सु—वर्मन् सु—पूर्ववत्।

(590) बृंहेर्नोऽच्च [4.147]

पद०—बृंहेः 5.1, नः 6.1, अत् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्यो मनिन्' (उ०सू० 4.147) से 'मनिन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—बृंह्धातोर् मनिन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च यो नकारस्तस्य स्थाने 'अत्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'बृंहेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'बृंहेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'बृंहेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'नः' के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—बृंह् धातु से परे मनिन् प्रत्यय होता है तथा धातु में स्थित जो नकार, उसके स्थान पर अकार आदेश होता है। अत् में तकार उच्चारणार्थ है। अत् = ह्रस्व अकार। बृंह् धातु में जो अनुस्वार है, वह नकार के स्थान पर हुआ है। अतः इस अनुस्वार के स्थान पर ह्रस्व अकार आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—बृंहति वर्धते तद् **ब्रह्म**, ईश्वरो वेदस्तत्त्वं तपो वा।

उदा०—(1) ब्रह्म (= ईश्वर)—बृंहति वर्धते। बृंह् → बृ अ ह् मनिन्—मनिन् प्रत्यय, अत् आदेश—ब्र ह् मन्—'इको यणचि' से यण् आदेश, सु, अपृक्त सकार का लोप, नलोप।

(591) अशिशकिभ्यां छन्दसि [4.148]

पद०—अशिशकिभ्याम् 5.2, छन्दसि 7.1

अनु०—'सर्वधातुभ्यो मनिन्' (उ०सू० 4.147) से 'मनिन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अश् शक्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां मनिन्प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये।

व्याख्या—वेद के विषय में अश् और शक् धातुओं से परे मनिन् प्रत्यय होता है। मनिन् का 'मन्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—अश्नात्यश्नुते व्याप्नोति वा स **अश्मा**, मेघः पाषाणो वा। भाषायामपि दृश्यते—**अश्मानं दृषदं मन्ये**। शक्नोतीति **शक्मा**, सूर्यो वा।

उदा०—(1) अश्मा (= पत्थर, बादल)—अश्नात्यश्नुते। अशूङ् व्याप्तौ। अश् मनिन्—अश्मन् सु—'सर्वनामस्थाने चाऽस०' से उपधादीर्घ, सलोप, नलोप।

(2) शक्मा (= सूर्य)—शक्नोति। शक्लृ शक्तौ। शक् मनिन्—शक् मन् सु—पूर्ववत्।

(592) हृभृधृसृस्तृशृभ्य इमनिच् [4.149]

पद०—हृभृधृसृस्तृशृभ्यः 5.3, इमनिच् 1.1

सं०—'हृ भृ धृ सृ स्तृ शृ—इत्येतेभ्यो धातुभ्य इमनिच्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—हृ, भृ, धृ, सृ, स्तृ तथा शृ—इन धातुओं से परे इमनिच् प्रत्यय होता है। 'च्' की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा होती है। नकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है। 'इमन्' शेष रहता है।

इमनिच् प्रत्ययान्त शब्द पुँल्लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। प्रत्यय को चित् करने का प्रयोजन अन्तोदात्त स्वर करना है। नारायण, श्वेतवनवासी तथा दशपादीवृत्तिकार आदि आचार्य 'ईमनिन्' प्रत्यय मानते हैं। आचार्य भट्टोजि ने भी प्रौढ़ मनोरमा में 'ईमनिन्' प्रत्यय को ही उचित माना है। आचार्य सायण (द्रष्टव्य—ऋ० 1.12.2, 1.22.13 का सायण भाष्य) भी 'ईमनिन्' प्रत्यय मानते हैं। परन्तु महर्षि दयानन्द पूर्वोक्त दोनों स्थलों पर स्वकीय भाष्य में 'मनिन्' प्रत्यय को 'बहुलं छन्दसि' (पा० 7.3.97) से 'ईट्' आगम करके 'इमनिन्' पाठ का समर्थन करते हैं। पूर्वोक्त सभी मत-मतान्तरों का विश्लेषण करने पर सिद्ध होता है कि प्रकृत में 'इमनिच्' पाठ ही युक्तियुक्त है। इसमें निम्नलिखित दो प्रमाण हैं—(i) वेद (ऋ० 1.50.11-12) में 'हरिमाणम्' शब्द प्राप्त होता है तथा (ii) उणादिकोश (4.150) में उत्तरसूत्र में 'इमनिन्' प्रत्यय का निर्देश है। परन्तु वैदिक साहित्य में ह्रस्वादि (अर्थात् इमन्) तथा दीर्घादि (अर्थात् ईमन्) प्रत्ययघटित रूप प्राप्त होते हैं। छलारि टीका, भाग एक में नरसिंहाचार्य लिखते हैं कि 'ईमन्' प्रत्यय ही उचित है। द्रष्टव्य—'यद्यपि पञ्चपाद्यां ह्रस्वेकारादिः प्रत्ययः पठ्यते, तथापि दशपाद्यां दीर्घादिपाठादयं शब्दः साधुः'। प्रकृत में प्रत्यय को चित् मानने में दो दोष हैं—(i) सवीमन् (यजु० 4.25) आदि शब्द वैदिक साहित्य में आद्युदात्त उपलब्ध होते हैं। चिद् लक्षण से अन्तोदात्त स्वर होता है। (ii) उत्तर सूत्र में 'इमनिन्' के स्थान पर प्रत्यय को नित्त्व करने में लाघव होता है। यथा—'जनीहृभ्यां नित्'।

स्वा०द०वृ०—छन्दसीति वर्तते। हरति स **हरिमा**, कालो वा। भर्तुं योग्यो **भरिमा**, कुटुम्बं वा। ध्रियत इति **धरिमा,** रूपं वा। सरतीति **सरिमा**, वायुर्वा। स्तीर्यत आच्छाद्यत इति **स्तरिमा**, तल्पं वा। शृणातीति **शरिमा**, प्रसवो वा।

उदा०—(1) हरिमा (= काल)—हरत्यसौ। हृञ् हरणे। हृ इमनिच्—'आर्धधातुकं शेषः' से 'इमनिच्' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, रपरत्व, सु।

(2) भरिमा (= कुटुम्ब)—भर्त्तुं योग्यः। भृञ् भरणे। पूर्ववत् गुण आदि। भरिमन् सु—पूर्ववत्।

(3) धरिमा (= रूप)—ध्रियत इति। धृञ् धारणे। धृ इमनिच्—धरिमन् सु—पूर्ववत् विभक्तिकार्य।

(4) सरिमा (= वायु)—सरतीति। सृ गतौ। सृ इमनिच्—सरिमन् सु—पूर्ववत्।

(5) स्तरिमा (= तल्प)—स्तीर्यत इति। आच्छाद्यत इति। स्तृञ् आच्छादने। पूर्ववत्।

(6) शरिमा (= प्रसव)—शृणाति। हिनस्ति। शॄ हिंसायाम्। पूर्ववत्।

(593) जनिमृङ्भ्याम् इमनिन् [4.150]

पद०—जनिमृङ्भ्याम् 5.2, इमनिन् 1.1

सं०—जन् मृ—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् इमनिन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—जन् और मृ—इन धातुओं से परे इमनिन् प्रत्यय होता है, वेद के विषय में। प्रत्यय के अन्त्य हल् वर्ण (नकार) की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। नकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है। 'इमन्' शेष रहता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)। पूर्वसूत्र (उ०सू० 4.148) से 'छन्दसि' का अनुवर्त्तन है।

स्वा०द०वृ०—छन्दसीत्यनुवर्त्तते। जायत इति **जनिमा**, जन्म। म्रियत इति **मरिमा,** मृत्युः।

उदा०—(1) जनिमा (= जन्म)—जायत इति। जनी इमनिन्—जनिमन् सु—उपधादीर्घ, अपृक्त सकार का लोप—जनिमान्—नकारलोप।

(2) मरिमा (= मृत्यु)—म्रियत इति। मृ इमनिन्—पूर्ववत्।

(594) वेञः सर्वत्र [4.151]

पद०—वेञः 5.1, सर्वत्र—अव्य०।

अनु०—'जनिमृङ्भ्याम् इमनिन्' (उ०सू० 4.150) से 'इमनिन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सर्वत्र अर्थाद् लोके वेदे च 'वे'धातोर् इमनिन्प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—सर्वत्र अर्थात् लोक तथा वेद में 'वे' धातु से परे इमनिन् प्रत्यय होता है। इमनिन् का 'इमन्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—वयति वस्त्राणि येन स **वेमा**, तन्तुवायदण्डः वस्त्रनिर्माणसामग्री वा। सर्वत्र वचनाच्छन्दसीति निवृत्तम्।

उदा०—(1) वेमा (= जुलाहा का दण्ड)—वयति वस्त्राणि येन। वेञ् तन्तुसन्ताने। वे इमनिन्—वे इमन्—वेमन् सु—उपधादीर्घ, अपृक्त सकारलोप, नकार-लोप।

(595) नामन्सीमन्व्योमन्रोमन्लोमन्पाप्मन्ध्यामन् [4.152]

पद०—नामन् सीमन् व्योमन् रोमन् लोमन् पाप्मन् ध्यामन् 1.1

अनु०—'जनिमृङ्भ्यांमिमनिन्' (उ०सू० 4.150) से 'इमनिन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—नामन् सीमन् व्योमन् रोमन् लोमन् पाप्मन् ध्यामन्—इत्येते शब्दा मनिन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—'इमनिन्' का प्रकरण है। नामन्, सीमन्, व्योमन्, रोमन्, लोमन्, पाप्मन् और ध्यामन्—ये शब्द इमनिन् प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—सप्तमी मनिनन्ता निपात्यन्ते। म्नायतेऽभ्यस्यते येन तत् **नाम**, संज्ञा। [निपातनाद् धातोर् 'ना' आदेशः, मकारलोपो वा।] स्वार्थे वार्तिकेन धेयट्, नामैव **'नामधेयम्'**। सिनोति बध्नातीति **सीमा**, अवधिर्वा। [धातोर्दीर्घत्वम्।] व्ययति संवृणोतीति **व्योम**, अन्तरिक्षं वा। [धातोरेकारस्योत्त्वम्।] रौति शब्दयतीति **रोम**। लूयते छिद्यते तत् **लोम**, गात्रकेशा वा। पिबतीति **पाप्मा**, किल्बिषं वा। धातोः पुक्। ध्यायते स **ध्यामा**, परिमाणं तेजो वा।

बाहुलकात्—यक्षयति पूजयतीति **यक्ष्मा,** राजरोगो वा। सुवति प्रेरयतीति **सोमा**, चन्द्रो वा। हूयतेऽसौ **होमा**, आहुतिर्वा। दधाति तद्यत्र वेति **धाम**, स्थानं तेजो वा।

उदा०—(1) नाम (= नाम)—म्नायतेऽभ्यस्यते येन। म्नाऽभ्यासे। निपातन से धातु को 'ना' सर्वादेश—नामन् सु—'स्वमोर्नपुंसकात्' से सुलोप—नामन्—'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नलोप। 'भागरूपनामभ्यो धेयट्' (पा० 5.4.25 वा०) से स्वार्थ में धेयट् प्रत्यय विकल्प से होता है—नामधेयम्। 'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'टिड्ढाऽण०' से ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सु—भागधेयी।

(2) सीमा (= सीमा)—सिनोति बध्नाति। षिञ् बन्धने। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—सि इमनिन्—धातु को दीर्घ आदेश निपातन से—सीमन् सु—उपधादीर्घ, अपृक्त सकारलोप—सीमान्—नलोप।

(3) व्योम (= आकाश)—व्ययति संवृणोति। व्येञ् संवरणे। व्ये मनिन्—धातु

के एकार के स्थान पर ओकार आदेश—व्योमन् सु। वीयते तद् वायुना घनैश्चेति—इति दशपाद्यां व्युत्पत्त्यन्तरम्।

(4) रोम (= बाल)—रौतीति। रु शब्दे। रु इमनिन्—गुण, सु। श्वेतवनवासी के ग्रन्थ के किसी-किसी संस्करण में निम्नलिखित कारिका प्राप्त होती है—

'रुहे रुचेश्च रौतेश्च रुदिरुध्यो रुषेरपि।
षण्णामेव च धातूनां रोमशब्दं निपातयेत्' ॥

(5) लोम (= बाल)—लूयते छिद्यते। लूञ् छेदने। लू मनिन्—पूर्ववत्। दशपादीवृत्ति (6.79) में लूञ् धातु के लकार को विकल्प से रेफ आदेश करके पक्ष में 'रोम' शब्द भी व्युत्पादित किया है।

(6) पाप्मा (= पाप)—पिबतीति। पा पाने। पा पुक् मनिन्—निपातनात् पुक् आगम, अनुबन्धलोप—पाप्मन् सु। दशपादीवृत्ति में 'पा रक्षणे' से यह शब्द सिद्ध किया है। यथा—पान्त्यस्माद् आत्मानम्। पाप्मा = राक्षस।

(7) ध्यामा (= तेज)—ध्यायतेऽसौ। ध्यै मनिन्—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व—ध्यामन् सु—विभक्तिकार्य।

(8) यक्ष्मा (= राजरोग)—यक्षयति। यक्ष् मनिन्। बाहुलकात् प्रत्यय। विभक्ति-कार्य।

(9) सोमा (= चन्द्र)—सुवति प्रेरयति सुनोति। षु प्रेरणे धातु। बाहुलकात् प्रत्यय।

(10) होमा (= आहुति)—हूयतेऽसौ। हु दानाऽऽदनयोः। हु धातु से बाहुलकात् प्रत्यय, गुण सु, विभक्तिकार्य।

(11) दशपादीवृत्ति में 'होम' शब्द है।

(12) धाम (= स्थान, तेज)—दधाति यत् (यत्र वा)। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' से बाहुलकात् प्रत्यय।

(13) साम (= साममन्त्र)—दशपादीवृत्ति में 'सामन्' पाठ अधिक है। सिनोति स्वरान् इति। षिञ् बन्धने मनिन्। धात्वादेः षः सः—सि मनिन्—आकार अन्तादेश—स् आ मन् सु—पूर्ववत्।

(14) सोम—षु धातु। गुण आदि कार्य '

(15) व्येम (= संसार)—दशपादी वृत्ति में अधिक पाठ है। व्ययत इति।

आचार्य श्वेत वनवासी लिखते हैं कि 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' (उ०सू० 4.146) से भी पूर्वोक्त सभी शब्द साध्य हैं, तदपि प्रपञ्चार्थ प्रकृत में इनका पाठ है।

प्रकृत में इमनिच् (अथवा इमनिन्) का प्रकरण चल रहा है, परन्तु सभी वृत्तिकारों ने नामन् आदि शब्दों में 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' (उ०सू० 4.146) से 'मनिन्' का अनुवर्त्तन मण्डूकप्लुति न्याय से करके मनिन् का निपातन स्वीकार किया है। इसमें दो दोष हैं—(i) मनिन् प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त होता है। नामन् आदि शब्द अन्तोदात्त हैं। (ii) मनिन् निपातन से प्रकरण का विरोध होता है। इसमें गौरव भी है। अत: पूर्वोक्त दोनों दोषों के निरासार्थ प्रकृत में इमनिच् का निपातन करके उसके इकार का लोप कहना चाहिए। इस प्रकार न तो प्रकरण का विरोध होता है और न ही स्वरव्यत्यय प्रसक्त होता है।

(596) मिथुने मनिः [4.153]

पद०—मिथुने 7.1, मनि: 1.1
सं०—मिथुने सति पूर्वोक्तेभ्यो धातुभ्यो मनिप्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—जहाँ धातु क्रिया के साथ उपसर्ग सम्बद्ध होता है, वह 'मिथुन' कहलाता है। उस 'मिथुन' के वाच्य रहते पूर्वोक्त धातुओं से परे 'मनि' प्रत्यय कहलाता है। पूर्वसूत्र (उ०सू० 4.152) के द्वारा म्ना आदि धातुओं से नामन् आदि शब्दों का निपातन किया है। 'पूर्वोक्त' शब्द के द्वारा 'म्ना' आदि धातुओं का ग्रहण होता है। उपसर्गपूर्वक म्ना आदि धातुओं से 'मनि' प्रत्यय होता है। मनिन् आद्युदात्त स्वर के लिए है। मनिन् और मनि में स्वर का अन्तर है। मनि का इकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—यत्रोपसर्गो धातुक्रियया सम्बद्धस्तन् मिथुनम्, तस्मिन् सत्युक्तेभ्यो वक्ष्यमाणेभ्यश्च धातुभ्यो मनि: प्रत्यय: स्यात्, न तु मनिन्। स्वरभेदार्थो नियम:। सुष्ठु शृणातीति **सुशर्म्मा,** राजविशेषो वा। सुधरतीति **सुधर्मा** इत्यादि।

उदा०—(1) सुशर्मा (= राजविशेष)—सुष्ठु शृणाति। सु शॄ मनि—आर्ध-धातुक गुण, रपरत्व, सु।
(2) सुधर्मा (= श्रेष्ठ धर्मशाली)—सुष्ठु धरतीति। सु धृ मनि—पूर्ववत्।

(597) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ [4.154]

पद०—सातिभ्याम् 5.2, मनिन्मनिणौ 1.2
सं०—सो अत् इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्रमेण मनिन् मनिण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवत:।

व्याख्या—दो प्रकृतियाँ (यथा—सो, अत्) हैं तथा दो ही प्रत्यय (यथा—मनिन्, मनिण्) हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेश: समानाम्' (पा० 1.3.9) की प्रवृत्ति होती है।

अर्थ—सो तथा अत्—इन धातुओं से परे मनिन् और मनिण् प्रत्यय क्रमेण होते हैं। सार यह है कि 'सो' धातु से मनिन् प्रत्यय और अत् धातु से मनिण् प्रत्यय होता है। मनिन् के अन्त्य अल् (नकार) की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। नकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है। 'मन्' शेष रहता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। मनिण् के 'ण्' की इत्सञ्ज्ञा है। नकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है। 'मन्' शेष रहता है। 'ण्' अनुबन्ध उपधावृद्धि के लिए है।

स्वा०द०वृ०—स्यति कर्माणि समापयतीति **साम**, वेदभेदो वा। अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति वा स **आत्मा**। आत्मने हितम् **'आत्मनीनम्'**।

उदा०—(1) साम (= सामवेद का मन्त्र)—स्यति कर्माणि समापयतीति। षो अन्तकर्मणि। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—सो मनिन्—अनुबन्धलोप—सो → सा मन्—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व—सामन् सु—'स्वमोर्नपुंसकात्' से सुलोप—सामन्—नलोप। दशपादी वृत्ति में 'सामन्' को पुँल्लिङ्ग मान कर 'सामा' रूप सिद्ध किया है।

(2) आत्मा (= जीव)—अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति। अत सातत्यगमने। अतति गच्छति शरीरान्तरम्। अत् मनिण्—अनुबन्ध लोप—अत्मन्—'अत उपधायाः' (पा० 7.2.118) से उपधावृद्धि—आत् मन् सु—उपधावृद्धि—आत्मान् स्—अपृक्त सकार का लोप, नलोप। आत्मने हितम्—आत्मनीनम्। आत्मन् ख—'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः' (पा० 5.1.9) से 'ख' प्रत्यय। 'आयनेयी-नीयियः०' से 'ईन्' आदेश, सु।

(598) हनिमशिभ्यां सिकन् [4.155]

पद०—हनिमशिभ्याम् 5.2, सिकन् 1.1

सं०—हन् मश्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां सिकन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—हन् और मश्—इन धातुओं से परे सिकन् प्रत्यय होता है। 'न्' इत्सञ्ज्ञक है। 'सिक' शेष रहता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—हन्तीति **हंसिका**, हंसस्त्री वा। मशति शब्दयति रोषं करोति वा सा **मक्षिका**, प्रसिद्धा जातिर्वा।

उदा०—(1) हंसिका (= हंसिनी)—हन्तीति। हन हिंसागत्योः। हन् सिकन्—हन् सिक—'नश्चाऽपदान्त०' (पा० 8.3.24) से अनुस्वार—हंसिक—'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० 4.1.4) से टाप्, अनुबन्ध लोप, हलन्त्यम्, चुटू—

हंसिक आ—'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ—हंसिका सु—'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप।

(2) मक्षिका (= मक्खी)—मशति शब्दयति। मश शब्दे। मश् सिकन्—मश् सिक—'व्रश्चभ्रस्जसृज०' (पा० 8.2.36) से शकार को षकार आदेश—मष् सिक—'षढोः कः सि' (पा० 8.2.41) से षकार को ककार—मक् सिक—'आदेशप्रत्यययोः' (पा० 8.3.50) से सकार को मूर्धन्य आदेश—मक्षिक—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्, अकः सवर्णे दीर्घः, सु, हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०।

(599) कोरन् [4.156]

पद०—कोः 5.1 अरन् 1.1

सं०—कुधातोर् अरन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कु धातु से परे अरन् प्रत्यय होता है। 'न्' इत्सञ्ज्ञक है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—कौत्युपदिशतीति **कबरः**, पाठको वा। केशविन्यासः **'कबरी'**। अन्यत्र **'कबरा'** कन्या पाठिकेत्यर्थः।

उदा०—(1) कवरः (= पाठक)—कौत्युपदिशति। कु शब्दे। कु अरन्—'आर्धधातुकं शेषः' से प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा—कु अर—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण—को अर—'एचोऽयवायावः' से अव् आदेश, सु।

(600) गिर उडच् [4.157]

पद०—गिरः 5.1, उडच् 1.1

सं०—गृधातोर् उड़च्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—गृ धातु से परे उडच् प्रत्यय होता है। 'च्' इत्सञ्ज्ञक है। 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है। 'आर्धधातुकं शेषः' से उडच् की आर्धधातुक सञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—गिरति निगलतीति **गरुडः**, पक्षिभेदो वा।

उदा०—(1) गरुडः (= एक पक्षी)—गिरति निगलति। गृ निगरणे। गृ उडच्—'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—गर् उड—सु।

(601) इन्देः कमिन् नलोपश्च [4.158]

पद०—इन्देः 5.1, कमिन् 1.1, नलोपः 1.1, च—अव्य०।

सं०—इन्द्धातोः कमिन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च यो नकारस्तस्य लोपो भवति।

व्याख्या—'इन्देः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'इन्देः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'इन्देः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'नलोपः' के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—इन्द् धातु से परे कमिन् प्रत्यय होता है तथा धातु में स्थित नकार का लोप होता है। प्रत्यय के 'न्' की 'हलन्त्यम्' (पा० 1.3.3) से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.8) से इत्संज्ञा है। मकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है। 'अम्' शेष रहता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। 'कमिर्नलोपश्च' पाठान्तर प्राप्त होता है। इदम् शब्द अन्तोदात्त प्राप्त होता है। अतः पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने द्वितीय न्यास को उचित माना है।

स्वा०द०वृ०—इन्दति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति **इदम्**, प्रत्यक्षविषयबोधकः सर्वनामसंज्ञको वा।

उदा०—(1) इदम् (= एक सर्वनाम)—इन्दतीति। इदि परमैश्वर्ये। इन्द् कमिन्—अनुबन्धलोप—इन्द् अम्—नकारलोप—इद् अम् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(602) कायतेर्डिमिः [4.159]

पद०—कायतेः 5.1, डिमिः 1.1
सं०—कैधातोर् डिमिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कै धातु से परे डिमि प्रत्यय होता है। मकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है। डकार की 'चुटू' (पा० 1.3.7) से इत्सञ्ज्ञा है। 'इम्' शेष रहता है। 'ड्' अनुबन्ध टिलोप के लिए है।

स्वा०द०वृ०—कायति शब्दयतीति **किम्**, प्रश्नाद्यर्थे वा।

उदा०—(1) किँम् (= एक सर्वनाम)—कायति। कै शब्दे। कै डिमि—अनुबन्धलोप। कै इम्—टिलोप। क् इम् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(603) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् [4.160]

पद०—सर्वधातुभ्यः 5.3, ष्ट्रन् 1.1
सं०—सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—सभी धातुओं से ष्ट्रन् प्रत्यय होता है। 'न्' की 'हलन्त्यम्' (पा० 1.3.3) से तथा 'ष्' की 'षः प्रत्ययस्य' (पा० 1.3.6) से इत्सञ्ज्ञा है। 'तस्य लोपः' (पा० 1.3.9) से 'न्' और 'ष्' का लोप होता है। 'ट्र' शेष रहता है। 'निमित्ताऽपाये

नैमित्तिकस्याऽप्यपाय:' के द्वारा निमित्त (षकार) की निवृत्ति हो जाने पर नैमित्तिक (टकार) की भी निवृत्ति होकर टकार अपने मूल स्वरूप (तकार) को प्राप्त कर लेता है। ष्ट्रन्—ट्र—त्र। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)। 'ष्' अनुबन्ध स्त्रीत्व की विवक्षा में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (पा० 4.1.41) से ङीष् करने के लिए है।

स्वा०द०वृ०—वस्त आच्छाद्यत इति **वस्त्रम्**। अस्यति क्षिपतीति **अस्त्रम्**। छादयति धर्मादिकमपवारयतीति **छत्रम्** इति प्रसिद्धम्। **'इस्मन्त्रन्०'** [अ० 6.4.97] इति सूत्रेण ह्रस्वादेश:। पतति यो गच्छति येन वा तत् **पत्रम्**, वाहनं वा। राजतेऽसौ **राष्ट्र:**; राष्ट्रं, राज्यं देशो वा जातिविशेषो वा।

अन्येऽपि—गच्छत्यनया सा **गन्त्री**, महच्छकटं वा। पिबत्यनेन तत् **पात्रम्**। पाति रक्षतीति **पात्र:**, सज्जनो वा। [**पात्री** ब्राह्मणी।] दशति यया सा **दंष्ट्रा**, दन्तो वा इत्यादि।

उदा०—(1) वस्त्रम् (= वस्त्र)—वस्त आच्छाद्यते। वस आच्छादने। वस् ष्ट्रन्—वस् त्र—सु, अतोऽम्।

(2) अस्त्रम् (= अस्त्र)—अस्यते प्रक्षिप्यते। असु क्षेपणे। अस् ष्ट्रन्—पूर्ववत्।

(3) छत्रम् (= छत्र)—छादयति कष्टम् अपवारयति। छाद् इ ष्ट्रन्—इलोप—छाद् त्र—'इस्मन्त्रन्......' (पा० 6.4.97) से ह्रस्व आदेश—छद् त्र—'खरि च' (पा० 8.4.54) से चर्त्व—छत् त्र—सु।

(4) पत्रम् (= पत्ता)—पततीति। पतॢ गतौ। पत् ष्ट्रन्—पत् त्र—सु।

(5) राष्ट्रम् (= राज्य)—राजतेऽसौ। राजृ दीप्तौ। राज् ष्ट्रन्—राज् त्र—'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराज०' (पा० 8.2.36) से षकार—राष् त्र—'ष्टुना ष्टु:' से तकार को टकार—राष्ट्र सु—अतोऽम्। 'राष्ट्र' शब्द का अर्धर्चादिगण में पाठ होने से यह शब्द पुन्नपुंसकलिङ्ग है। राष्ट्र:।

(6) गन्त्री (= बड़ी गाड़ी)—गच्छत्यनया। गम्ॡ गतौ। गम् ष्ट्रन्—गम् त्र—'नश्चाऽपदान्त०' (पा० 8.3.24) से अनुस्वार—गंत्र—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण:' (पा० 8.4.57) से परसवर्ण—गन्त्र—'षिद्गौरादिभ्यश्च' (पा० 4.1.41) से ङीष्—गन्त्र ई—अनुबन्धलोप। 'यचि भम्' (पा० 1.4.8) से भसञ्ज्ञा, 'यस्येति च' (पा० 6.4.148) से अकारलोप—गन्त् ई—सु।

(7) पात्रम् (= पात्र)— पिबत्यनेन। पा पाने। पा ष्ट्रन्—पात्र—सु। पाति रक्षति—

(8) पात्रः (= ब्राह्मण)।

(9) पात्री (= ब्राह्मण)—स्त्रीलिङ्ग में।

(10) दंष्ट्रा (= दाढ)—दशत्यनया। दश धातु से प्रत्यय। दंश् ष्ट्रन्—दंश् त्र—'व्रश्चभ्रस्जसृज०' (पा० 8.2.36) से शकार को षकार—दंष् त्र—'ष्टुना ष्टुः' (पा० 8.4.40) से तकार को टकार—दंष् ट्र—स्त्रियाम्' के अधिकार में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (पा० 4.1.41) से ङीष् प्राप्त है। दंष्ट्र शब्द का अजादिगण में पाठ होने से 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' प्रत्यय होता है।

(604) भ्रस्जिगमिनमिहनिविश्यशां वृद्धिश्च [4.161]

पद०—भ्रस्जिगमिनमिहनिविश्यशाम् 6.3, वृद्धिः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' (उ०सू० 4.160) से 'ष्ट्रन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—भ्रस्ज् गम् नम् हन् विश् अश्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः ष्ट्रन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च वृद्धिरादेशः।

व्याख्या—'भ्रस्जि·····श्यशाम्' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—भ्रस्ज्, गम्, नम्, हन्, विश् और अश्—इन धातुओं से परे ष्ट्रन् प्रत्यय होता है और धातु को वृद्धि आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—भृज्जति यत्रेति **भ्राष्ट्रः**, अम्बरीषो वा। गच्छति येन तत् **गान्त्रम्**, शकटं वा। नमति येन तत् **नान्त्रम्**, स्तोत्रं वा। हन्यते तत् **हान्त्रम्**, मरणं वा। विशन्ति यत्रेति **वैष्ट्रम्**, लोको वा। अश्नुते व्याप्नोतीति **आष्ट्रम्**, आकाशो वा। [**तितुत्रतथ०** अ० 7.2.9 इतीण्णिषेधः ॥]।

उदा०—(1) भ्राष्ट्रम् (= भाड़)—भृज्जति यत्र। भ्रस्ज पाके। भ्रस्ज् ष्ट्रन्—अनुबन्धलोप—भ्रस्ज् त्र—वृद्धि आदेश, अकार को आकार—भ्रास्ज् त्र—'स्कोः संयोगाद्योः०' (पा० 8.2.29) से सकारलोप तथा 'व्रश्चभ्रस्जसृज०' (पा० 8.2.36) से जकार को षकार—भ्राष् त्र—'ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार, सु, अतोऽम्।

(2) गान्त्रम् (= शकट)—गच्छति येन तत्। गम्लृ गतौ। गम् ष्ट्रन्—गम् त्र—वृद्धि आदेश—गाम् त्र—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार—गांत्र—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से परसवर्ण—गान्त्र सु—अतोऽम्।

(3) नान्त्रम् (= स्तोत्र)—नमति येन तत्। णम प्रह्वत्वे शब्दे च। 'णो नः' (पा० 6.1.63) से णकार को नकार—नम् ष्ट्रन्—नम् त्र—नाम् त्र—नांत्र—नान्त्र सु पूर्ववत्।

(4) हान्त्रम् (= मृत्यु)—हन्यते तत्। हन हिंसागत्योः। हन् ष्ट्रन्—पूर्ववत्।

(5) वैष्ट्रम् (= लोक)—विशन्ति यत्र। विश प्रवेशने। विश् ष्ट्रन्—अनुबन्ध-लोप—विश् त्र—वृद्धि आदेश—वैश् त्र—'व्रश्चभ्रस्जसृज०' (पा० 8.2.36) से शकार को षकार—वैष् त्र—'ष्टुना ष्टुः' (पा० 8.4.40) से ष्टुत्व—वैष्ट्र सु—अतोऽम्।

(6) आष्ट्रम् (= आकाश)—अश्नुते व्याप्नोति। अशूङ् व्याप्तौ। अश् ष्ट्रन्—पूर्ववत् षत्व, ष्टुत्व। ध्यातव्य है कि 'त्र' प्रत्यय के परे रहते 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (पा० 7.2.35) से प्रत्यय को इट् आगम प्राप्त है। 'तितुत्रतथ०' (पा० 7.2.9) से इट् का निषेध होता है।

(605) दिवेर्द्युश्च [4.162]

पद०—दिवेः 5.1, द्युः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' (उ०सू० 4.160) से 'ष्ट्रन्' का तथा 'भ्रस्जिगमि-नमि······वृद्धिश्च' (उ०सू० 4.161) से 'वृद्धिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—दिव्धातोस् ष्ट्रन्-प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च वृद्धिरादेशो भवति, धातोः स्थाने 'द्यु' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'दिवेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'दिवेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'दिवेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—दिव् धातु से परे ष्ट्रन् प्रत्यय होता है, धातु को 'द्यु' आदेश होता है तथा धातु के स्थान पर वृद्धि आदेश होता है। 'द्यु' अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से 'द्यु' आदेश सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् दिव्) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—वृद्धिरित्यनुवर्त्तते। दीव्यति द्योतते प्रकाशते तद् **द्यौत्रम्**, [ज्योतिर्वा]।

उदा०—(1) द्यौत्रम् (= अन्तरिक्ष, प्रकाश)—दीव्यति प्रकाशते तत्। दिव् → द्युत् ष्ट्रन्—अनुबन्धलोप—द्यु त्र—'इको गुणवृद्धी' (पा० 1.1.3) से उकार के स्थान पर वृद्धि आदेश—द्यौ त्र—सु, अतोऽम्, अमि पूर्वः।

(606) उषिखनिभ्यां कित् [4.163]

पद०—उषिखनिभ्याम् 5.2, कित् 1.1

अनु०—'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' (उ०सू० 4.160) से 'ष्ट्रन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—उष् खन् इत्येताभ्यां धातुभ्यां ष्ट्रन्प्रत्ययः स्यात् स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—उष् और खन्—इन धातुओं से परे ष्ट्रन् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन लघूपध गुण का निषेध करना है तथा आत्व आदेश करना है। 'जनसनखनां सञ्झलोः' (पा० 6.4.42) से 'खन्' को आकार अन्तादेश होता है।

स्वा०द०वृ०—ओषति दहतीति **उष्ट्रः,** पशुजातिभेदो वा। खन्यते तत् **खात्रम्,** खनित्रं जलाधारविशेषो वा। **'जनसनखनां०'** [अ० 6.4.42] इत्यात्त्वम्।

उदा०—(1) उष्ट्रः (= ऊँट)—ओषति दहति। उष दाहे। उष् ष्ट्रन्—अनुबन्धलोप—उष् त्र—'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व, सु।

(2) खात्रम् (= गड्ढा, कुद्दाली)—खन्यते तत्। खनु अवदारणे। खन् ष्ट्रन्—अनुबन्धलोप—खन् त्र—जनसनखनां०' से नकार को आकार—ख आ त्र—सवर्ण-दीर्घ—खात्र सु—अतोऽम्।

(607) सिविमुच्योष्टेरू च [4.164]

पद०—सिविमुच्योः 6.2, टेः 6.1, ऊ 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' (उ०सू० 4.160) से 'ष्ट्रन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सिव् मुच्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां ष्ट्रन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च टि-सञ्ज्ञकस्य स्थाने 'ऊ' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'सिविमुच्योः' इस षष्ठ्यन्त पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा पञ्चम्यन्त (यथा—सिविमुचिभ्याम्) बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। 'सिविमुच्योः' पद का 'टेः' पद के साथ अन्वय होता है। 'अचोऽन्त्यादि टि' से टिसञ्ज्ञा होती है। सिव् धातु के 'इव्' अंश की तथा मुच् धातु के 'उच्' अंश की टिसञ्ज्ञा है। अर्थ—सिव् तथा मुच्—इन धातुओं से परे 'ष्ट्रन्' प्रत्यय होता है तथा धातु की टि के स्थान पर 'ऊ' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—सीव्यति येन यदर्थं बध्नाति वा तत् **सूत्रम्,** तन्तुः शास्त्रैकदेशो वा। मुच्यते यत्तत् **मूत्रम्,** प्रस्रावो वा।

उदा०—(1) सूत्रम् (= धागा)—सीव्यति येन। षिवु तन्तुसन्ताने। 'धात्वादेः षः सः' से सकार आदेश—सिव् ष्ट्रन्—अनुबन्धलोप—सिव् त्र—टि के स्थान पर 'ऊ' आदेश—सूत्र—सु, अतोऽम्।

(2) मूत्रम् (= मूत्र)—मुच्यते यत् तत्। मुचि कल्कने। मुच् ष्ट्रन्—अनुबन्ध-लोप—मू त्र—टि के स्थान पर 'ऊ' आदेश, सु, अतोऽम्।

(608) अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः [4.165]

पद॰—अमिचिमिशसिभ्यः 5.3, क्त्रः 1.1

सं॰—अम् चि मि शस् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्त्रप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—अम्, चि, मि तथा शस्—इन धातुओं से परे क्त्र प्रत्यय होता है। 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' (पा॰ 1.3.8) से इत्सञ्ज्ञा है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है। प्रश्न—प्रकृत सूत्रोक्त अम् आदि धातुओं का पाठ 'उषिखनिभ्यां कित्' के साथ (यथा—उषिखन्यमिचिमिशसिभ्यः कित्) करने में लाघव होता है। समा॰—'उषिखनिभ्यां कित्' से कित्सञ्ज्ञक ष्ट्रन् प्रत्यय होता है। ष्ट्रन् और क्त्र में स्वर का अन्तर है। अतः योगविभाग किया गया है। योग की दशा में अन्त्र आदि शब्दों को भी आद्युदात्त स्वर प्राप्त होगा।

स्वा॰द॰वृ॰—अमति जानाति प्राप्नोति येन तत् **अन्त्रम्,** उदरनाडी वा। चीयते तत् **चित्रम्** [आलेख्यं वा] ; **चित्रा** नक्षत्रं वा; **चैत्रो** मासः। मिनोति मान्यं करोतीति **मित्रम्,** सुहृद्वा। नित्यन्नपुंसकम्—अयं मित्रम्। इयम् मित्रम्। क्वचित् पुंल्लिङ्गो वा—**'शं नो मित्रः'** इत्यादिषु। शोभनानि मित्राण्यस्याः सन्तीति **'सुमित्रा'**, तस्या अपत्यं **'सौमित्रिः'**। **बाह्वादित्वाद्** [द्रष्टव्य—अ॰ 4.1.96] इञ्। शसति हिनस्ति येन तत् **शस्त्रम्,** आयुधं वा।

उदा॰—(1) अन्त्रम् (= आँत)—अमति गच्छति। अम गतौ। अम् क्त्र—अनुबन्धलोप—अम् त्र—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (पा॰ 8.3.24) से अनुस्वार—अंत्र—'अनुस्वारस्य ययि परस॰' (पा॰ 8.4.57) से परसवर्ण—अन्त्र सु—अतोऽम्। कुछ व्याख्याकार 'आन्त्रम्' ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यथा—'अनुनासिकस्य क्विझलोः' (पा॰ 6.4.15) से दीर्घ आदेश होकर 'आन्त्र' बनता है। श्वेतवनवासी प्रकृत में छान्दस दीर्घत्व स्वीकार करते हैं।

(2) चित्रम् (= चित्र)—चीयते तत्। चिञ् चयने। चि क्त्र—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (पा॰ 7.3.84) से गुण प्राप्त, गुणनिषेध, सु, अतोऽम्।

(3) मित्रम् (= मित्र)—मिनोति। डुमिञ् प्रक्षेपणे। मि क्त्र—पूर्ववत्।

(4) शस्त्रम् (= शस्त्र)—शसति हिनस्ति येन। शसु हिंसायाम्। शस् क्त्र—सु।

विशेष—श्वेतवनवासी तथा अन्य कई व्याख्याकार प्रकृत में 'त्रन्' प्रत्यय का विधान मानते हैं तथा प्रत्यय को कित्त्व अतिदेश करते हैं। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए होता है, परन्तु सूत्रघटित 'अन्त्र' आदि सभी शब्द वैदिक साहित्य में अन्तोदात्त प्राप्त होते हैं। अतः 'न्' अनुबन्ध का उपदेश चिन्तनीय है। ऋग्वेद में 'चित्र' शब्द

केवल एक स्थल (8.21.18) पर आद्युदात्त प्राप्त होता है। इसकी साधुता के लिए स्वरव्यत्यय अथवा प्रत्ययान्तर की कल्पना कर लेनी चाहिए। आचार्य भट्टोजि दीक्षित ने स्पष्ट शब्दों में 'क्त्र' प्रत्यय को उचित माना है। द्रष्टव्य—प्रौ०म०पृ० 801—'प्रत्ययस्वरेणैतेऽन्तोदात्ताः'।

(609) पुवो ह्रस्वश्च [4.166]

पद०—पुवः 5.1, ह्रस्वः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'अमिचिमिशसिभ्यः क्त्र' (उ०सू० 4.165) से 'क्त्र' का अनुवर्त्तन है।

सं०—पूधातोः क्त्रप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च योऽच्, तस्य स्थाने ह्रस्वाऽऽदेशो भवति।

व्याख्या—'पुवः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'पुवः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'पुवः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को ह्रस्व आदेश किया जाता है। अर्थ—पू धातु से परे क्त्र प्रत्यय होता है और धातु को ह्रस्व आदेश होता है। ह्रस्वादि सञ्ज्ञाएँ अच् वर्ण की होती है। अतः 'पू' धातु के अच् वर्ण (ऊ) के स्थान पर ह्रस्वादेश (उकार) होता है। 'स्थानेऽन्तरतमः' की प्रवृत्ति होती है।

स्वा०द०वृ०—पुनाति पवित्रं करोतीति **पुत्रः**, आत्मजो वा।

उदा०—(1) पुत्रः (= पुत्र)—पुनाति पवित्रं करोति। पूञ् पवने। पू क्त्र—आर्धधातुक गुण का निषेध—पू त्र—ह्रस्वादेश—पुत्र सु।

(610) स्त्यायतेर्ड्रट् [4.167]

पद०—स्त्यायतेः 5.1, ड्रट् 1.1

सं०—स्त्यैधातोर् ड्रट्-प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—स्त्यै धातु से परे ड्रट् प्रत्यय होता है। 'ट्' की 'हलन्त्यम्' (पा० 1.3.3) से तथा 'ड्' की 'चुटू' (पा० 1.3.7) से इत्सञ्ज्ञा है। 'र' शेष बचता है। 'ट्' अनुबन्ध ङीप् प्रत्यय के लिए है। 'ड्' अनुबन्ध टिलोप के लिए है। दशपादीवृत्ति में स्त्यै धातु से 'त्र' प्रत्यय करके 'स्त्री' शब्द को निपातित किया है। द्रष्टव्य—द०वृ० 8.88 **स्त्री**। 'स्त्री' इत्ययं शब्दो निपात्यते त्रप्रत्यये। ष्ट्यै स्त्यै शब्दसङ्घातयोः (भौ०)। स्त्यायतेस्तकारयकारलोपौ निपात्येते प्रत्ययस्य च ईत्वम्।

स्वा०द०वृ०—स्त्यायति शब्दयति गुणान् गृह्णाति वा सा **स्त्री**, प्रसिद्धा भार्य्या वा।

उदा०—(1) स्त्री (= भार्या)—स्त्यायति शब्दयति गुणान्। स्त्यै शब्दसङ्घाते। स्त्यै ड्रट्—अनुबन्धलोप—स्त्यै र—टिलोप—स्त्य् र—'लोपो व्योर्वलि' (पा० 6.1.65) से यकार लोप—स्त्र्—'स्त्रियाम्' (पा० 4.1.3) के अधिकार में 'टिड्ढाऽणञ्०' (पा० 4.1.15) से 'ङीप्' प्रत्यय—स्त्र ई—अनुबन्धलोप, 'यचि भम्' (पा० 1.4.18) से भसञ्ज्ञा, 'यस्येति च' (पा० 6.1.148) से अकारलोप। स्त्र् ई सु—'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (पा० 6.1.66) से अपृक्त सकार का लोप।

(611) गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः [4.168]

पद०—गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यः 5.3, त्रः 1.1

सं०—गु-धृ-वी-पच्-वच्-यम्-सद्-क्षद् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः त्रप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—गु, धृ, वी, पच्, वच्, यम्, सद् और क्षद्—इन धातुओं से परे 'त्र' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—गवते शब्द्यत इति **गोत्रम्,** नाम वंशो वा; **गोत्रा** पृथिवी। धरतीति **धर्त्रम्,** गृहं वा। वेति गच्छतीति **वेत्रम्,** लताविशेषो वा। पचति येन यत्र वा तत् **पक्त्रम्,** गार्हपत्यं वा। वक्ति येन तद् **वक्त्रम्,** मुखं वा। यच्छति उपरमति येन तद् **यन्त्रम्,** कलाविशेषो वा। सीदन्ति यत्रेति **सत्रम्,** यज्ञो वा; सतः सत्पुरुषान् त्रायते तत् **सत्रम्** इति व्युत्पत्त्यन्तरम्। 'क्षद' सौत्रो धातुः, क्षदति रक्षतीति **क्षत्रम्,** वर्णभेदो वा; क्षतात्त्रायत इत्यपि।

उदा०—(1) गोत्रम् (= वंश, नाम)—गवते शब्द्यते। गु शब्दे। गु त्र—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण—गोत्र सु—अतोऽम्।

(2) गोत्रा—(= पृथिवी)—गोत्र टाप्—अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ, सु, लोप।

(3) धर्त्रम् (= सदन, यज्ञ)—धरतीति। धृ धारणे। धृ त्र—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधा०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—धर् त्र—सु।

(4) वेत्रम् (= यष्टिका, एक लता)—वेति गच्छति। वी गत्यादिषु। वी त्र—पूर्ववत् गुण—वेत्र सु—अतोऽम्।

(5) पक्त्रम् (= गार्हपत्य)—पचति येन (यत्र वा)। डुपचष् पाके। पच् त्र—'चोः कुः' (पा० 8.2.30) से कुत्व, सु।

(6) वक्त्रम् (= मुख)—वक्ति येन तत्। वच परिभाषणे। वच् त्र—अनुबन्धलोप—वच् त्र—पूर्ववत् कुत्व, सु।

(7) यन्त्रम् (= कलाविशेष)—यच्छत्युपरमति। यम उपरमे। यम् त्र—'नश्चाऽपदान्तस्य०' से अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि०' से परसवर्ण, सु, अतोऽम्।

(8) सत्त्रम् (= यज्ञ, आश्रम)—सीदन्ति यत्र। षद्लृ विशरणादिषु। 'धात्वादेः षः सः' से सकार—सद् ष्ट्रन्—सद् त्र—'खरि च' (पा० 8.4.54) से चर्त्व, सु, अतोऽम्।

(9) क्षत्त्रम् (= क्षत्रिय का एक वर्ण)—क्षदति रक्षति। क्षद सौत्र धातु। क्षद् त्र—'खरि च' से चर्त्व—क्षत्त्र सु—अतोऽम्।

(10) तन्त्रम् (= शास्त्रसंग्रह)—दशपादीवृत्ति में 'तनि' का पाठ अधिक है। तनोति तन्यते वा। तन् त्र—सु।

(612) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् [4.169]

पद०—हुयामाश्रुभसिभ्यः 5.3, त्रन् 1.1

सं०—हु या मा श्रु भस्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यस् त्रन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—हु, या, मा, श्रु, भस्—इन धातुओं से परे त्रन् प्रत्यय होता है। 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—हूयत इति **होत्रम्** होमः। ययात इति **यात्रा**, गमनं वा। मातीति **मात्रा**, मानं भूषणं वा। श्रूयतेऽनेन तत् **श्रोत्रम्**, करणं वा। बभस्ति दीप्यते यया सा **भस्त्रा**, अग्निज्वजनी वा।

उदा०—(1) होत्रम् (= होम, आहुति)—हूयते। हु दानाऽऽदनयोः। हु त्रन्—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण—हो त्र—सु।

(2) यात्रा (= गमन)—याति। या प्रापणे। या त्रन्—यात्र—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्, अनुबन्धलोप—यात्र आ—सवर्णदीर्घ, सु, लोप।

(3) मात्रा (= मान, भूषण, अंश)—माति। मा माने। मा त्रन्—पूर्ववत्।

(4) श्रोत्रम् (= कान)—श्रूयतेऽनेन। श्रु श्रवणे। श्रु त्रन्—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, सु, अतोऽम्।

(5) भस्त्रा (= धौंकनी)—बभस्ति। दीप्यते। भस भर्त्सनदीप्त्योः। भस् त्रन्—'मात्रा' शब्द की तरह।

(613) गमेरा च [4.170]

पद०—गमेः 5.1, आ 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'हुयामाश्रु······त्रन्' (उ०सू० 4.169) से 'त्रन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—गम्धातोर् त्रन् इति प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च 'आ' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'गमेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'गमेः' पद को पञ्चम्यन्त

मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'गमे:' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—गम् धातु से परे 'त्रन्' प्रत्यय होता है तथा धातु को 'आ' आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से 'आ' आदेश धातु के अन्त्य अल् (म्) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—गच्छति चेष्टतेऽनेनेति **गात्रम्,** अवयव: शरीरं वा।

उदा०—(1) गात्रम् (शरीर)—गम्यते चेष्ट्यतेऽनेन। गम्लृ गतौ। गम् त्रन्—ग आ त्र—सवर्णदीर्घ, सु—गात्र अम्—अतोऽम्। इण् धातु को 'गा' आदेश करके 'त्र' प्रत्यय से भी 'गात्र' शब्द निष्पन्न होता है। द्रष्टव्य—'बहुलं सञ्ज्ञाछन्दसोरिति वक्तव्यम् अन्नवधकगात्रविचक्षणाऽजिराद्यर्थम्' (पा० 2.4.54 वा०)।

(614) दादिभ्यश्छन्दसि [4.171]

पद०—दाऽऽदिभ्य: 5.3, छन्दसि 7.1

अनु०—'हुयामा····त्रन्' (उ०सू० 4.169) से 'त्रन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वेदविषये दाऽऽदिभ्यो धातुभ्यस् त्रन्प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—दा आदि धातुओं से परे त्रन् प्रत्यय होता है। त्रन् का 'त्र' शेष रहता है। 'आर्धधातुकं शेष:' (पा० 3.4.114) से त्रन् की आर्धधातुक सञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—दाति लुनाति तत् **दात्रम्,** धान्यादिछेदनसाधनं वा। पिबत्यनेनेति **पात्रम्,** योग्यो भाजनं वा। पूर्वत्रापि **'पात्रम्'** इति साधितम्, तत्र प्रत्ययस्य षित्त्वात् **पात्री** ब्राह्मणीत्यपि साधितम्। क्षयति नश्यति निवासहेतुर्भवतीति **क्षेत्रम्,** केदार: कलत्रं वा। एवमन्येऽपि शब्दा द्रष्टव्या:।

उदा०—(1) दात्रम् (= धान्य काटने का औजार)—दाति लुनाति तत्। डुदाञ् दाने। दा त्रन्—दात्र सु 'दाप् लवने' धातु से—दान्त्यनेनेति दात्रम् (छेदनम्)।

(2) पात्रम् (= भाजन, जलाशय)—पिबत्यनेन। पा पाने। पा त्रन्—पूर्ववत्।

(3) क्षेत्रम् (= खेत, कलत्र)—क्षयति नश्यति निवासहेतुर्भवति। क्षि त्रन्—'सार्वधातुकार्धधातुकयो:' से गुण—क्षेत्र—सु।

(4) लोत्रम् (= शरीर)—लुनाति लूयते वा। लूञ् छेदने, गुण, सु।

(5) पोत्रम् (= हल का अग्रभाग, सुअर का थूथन)—पूयतेऽनेन। पूञ् पवने, गुण, सु।

(615) भूवादिगृभ्यो णित्रन् [4.172]

पद०—भूवादिगृभ्य: 5.3, णित्रन् 1.1

सं०—भू वादि गृ—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो णित्रन् प्रत्ययः स्यात्। णनावितौ।

व्याख्या—भू, वादि तथा गृ–इन धतुाओं से परे णित्रन् प्रत्यय होता है। वद् णिच्—इस दशा में 'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि होकर 'वादि' बनता है। सूत्र में इसी का ग्रहण है। णित्रन् के नकार की 'हलन्त्यम्' (पा० 1.3.3) से तथा णकार की 'चुटू' (पा० 1.3.7) से इत्सञ्ज्ञा है। 'इत्र' शेष रहता है। 'आर्धधातुकं शेषः' से 'णित्रन्' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। 'ण्' अनुबन्ध वृद्धि-कार्य के लिए है।

स्वा०द०वृ०—भवतीति **भावित्रम्,** लोकत्रयी वा। वाद्यते तद् **वादित्रम्,** तूर्यादिर्वा। गीर्य्यते भक्ष्यते तद् **गारित्रम्,** ओदनो वा।

उदा०—(1) भावित्रम् (= त्रिभुवन)—भवतीति। भू णित्रन्—अनुबन्धलोप। भू इत्र—'अचो ञ्णिति' से वृद्धि—भौ इत्र—'एचोऽयवायावः' से आव् आदेश—भाव् इत्र—सु, अतोऽम्।

(2) वादित्रम् (= वाद्यविशेष)—वाद्यते तत्। वद् णिच्—वाद् इ—'अत उपधायाः' (पा० 7.2.116) से उपधावृद्धि—वाद् इ णित्रन्—अनुबन्धलोप—वाद इत्र—'णेरनिटि' (पा० 6.4.51) से णिलोप—वादित्र सु—अतोऽम्।

(3) गारित्रम् (= ओदन)—गीर्य्यते भक्ष्यते तत्। गृ निगरणे। गृ णित्रन्—'अचो ञ्णिति' से वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—गार् इत्र—सु।

(616) चरेर्वृत्ते [4.173]

पद०—चरेः 5.1, वृत्ते 7.1

अनु०—'भूवादिगृभ्यो णित्रन्' (उ०सू० 4.172) से 'णित्रन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वृत्ते गम्यमाने चर्धातोर् णित्रन् प्रत्ययगो भवति। वृत्तं वर्त्तनं व्यवहारः।

व्याख्या—यदि 'वृत्त' अर्थ वाच्य हो तो चर् धातु से परे णित्रन् प्रत्यय होता है। 'ण्' और 'न्' इत्सञ्ज्ञक हैं। 'इत्र' शेष रहता है। धातु की उपधा को 'अत उपधायाः' से वृद्धि आदेश होता है। दशपादीवृत्ति में धातु को विकल्प से ह्रस्वादेश किया है। द्रष्टव्य—वृ० 8.92 'चरेर्वृत्ते ह्रस्वश्च वा'। तब पक्ष में 'चरित्र' शब्द बनता है।

स्वा०द०वृ०—चरतीति **चारित्रम्,** वृत्तान्तं समाचारो वा। इत्रप्रत्यये **'चरित्रम्'** सुशीलम्।

उदा०—(1) चारित्रम् (= व्यवहार)—चरति। चर गतिभक्षणयोः। चर् णित्रन्—अनुबन्धलोप। चर् इत्र—उपधावृद्धि—चारित्र सु। अत उपधायाः।

(2) चरित्रम्—इत्र प्रत्यय करने पर रूप बनता है।

(617) अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ [4.174]

पद०—अशित्रादिभ्यः 5.3, इत्रोत्रौ 1.2

सं०—अश्आदिभ्यो धातुभ्य 'इत्र'प्रत्ययः, त्रादिभ्यो धातुभ्य 'उत्र'प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—अश् च त्रै च। द्वन्द्व समास है। द्वन्द्व समस्तपद के अन्त में प्रयुक्त 'आदि' शब्द समस्तपद के प्रत्येक पद के साथ अन्वित होता है। 'अशित्रादिभ्यः' का अर्थ है—अश् आदि से तथा त्रै आदि से। दो कार्यी हैं तथा दो ही कार्य हैं। 'यथा सङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—अश् आदि धातुओं से परे 'इत्र' प्रत्यय तथा त्रै आदि धातुओं से परे 'उत्र' प्रत्यय होता है। इत्र और इत्रन् में स्वर का अन्तर है।

स्वा०द०वृ०—अश्यादिभ्य इत्रः—अश्नुते व्याप्नोतीति **अशित्रम्,** चरुर्वा। कटतीति **कटित्रम्,** कवचभेदो वा। वहति येन तद् **वहित्रम्,** वाहनं वा। बध्नातीति **बधित्रम्,** कामो वा। धरतीति **धरित्री**, पृथिवी वा। **त्रादिभ्य उत्रः**—त्रायते येन तत् **त्रोत्रम्,** प्रहारो वा। लुनाति छिनत्ति येन तत् **लोत्रम्,** चोरचिह्नं वा। वृणोतीति **वरुत्रम्,** प्रावरणं वा।

उदा०—(1) अशित्रम् (= चरु)—अश्नुते व्याप्नोति अश्नाति। अशूङ् व्याप्तौ। अश भोजने। अश् इत्र—सु।

(2) वहित्रम् (= यान)—वहति येन। वह् इत्र—सु।

(3) बधित्रम् (= काम)—बध्नातीति। बन्ध् इत्र—बाहुलकात् नलोप, सु।

(4) कटित्रम् (= कवचविशेष)—कटतीति। कट् इत्र—सु।

(5) धरित्री (= पृथिवी)—धरतीति। धृ इत्र—'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—धरित्र—स्त्रीत्व की विवक्षा में—धरित्र ई—अकारलोप, सु, लोप।

(6) त्रोत्रम् (= प्रहार)—त्रायते येन। त्रै → त्रा 'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व—त्रा उत्र—'आद् गुणः' से गुण एकादेश, सु।

(7) लोत्रम् (= चोर का चिह्न)—लुनाति छिनत्ति येन। लू उत्र—बाहुलकात् धातु को आकार आदेश, गुण, पूर्ववत्।

(8) वरुत्रम् (= प्रावरण)—वृणोति। वृ उत्र—सार्वधातुकार्धधातु०, उरण् रपरः—वर् उत्र—सु।

(9) तरुत्रम् (= प्लव)—तरन्त्यनेनेति। तृ प्लवनसन्तरणयोः। गुण, सु।

(618) अमेर्द्विषति चित् [4.175]

पद०—अमेः 5.1, द्विषति 7.1, चित् 1.1

अनु०—'अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ' (उ०सू० 4.174) से 'इत्र' का अनुवर्त्तन है।

सं०—द्विषति गम्यमाने अम्धातोर् इत्रप्रत्ययः स्यात्, स च चित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—अम् धातु से परे 'इत्र' प्रत्यय होता है और वह चित्सञ्ज्ञक होता है, यदि 'शत्रु' अर्थ वाच्य हो। चित्करण अन्तोदात्त स्वर के लिए है। यहाँ केवल 'इत्र' इस एकदेश का अनुवर्त्तन होता है। द्रष्टव्य—'स्वरितत्वादित्रप्रत्ययः केवलोऽनुवर्त्तते' (श्वेतवनवासी वृत्ति)।

स्वा०द०वृ०—शत्रौ वाच्येऽमेरित्रः [चित्] अमति गच्छतीति **अमित्रः** शत्रुः।

उदा०—(1) अमित्रः (= शत्रु)—अमति गच्छति। अम गतौ। अम् इत्र—सु।

(619) आः समिण्निकषिभ्याम् [4.176]

पद०—आः 1.1, समिण्निकषिभ्याम् 5.2

सं०—सम्युपपदे इण्धातोर् नावुपपदे कष्धातोर् 'आ' इति प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—सम्पूर्वक इण् धातु तथा निपूर्वक कष् धातु से परे 'आ' प्रत्यय होता है। 'आर्धधातुकं शेषः' से 'आ' प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा है। 'आ' के परे रहते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से इगन्त अङ्ग को गुण आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—समेतीति **समया**। निकषति हिनस्तीति **निकषा,** समीपवाचकौ वा। **स्वरादिपाठाद्** (द्रष्टव्य—अ० 1.1.36) अनयोरव्ययत्वम्।

बाहुलकाद्—दीव्यतीति **दिवा**, दिनं वा। [धातोर्गुणाभावः।] दुष्यतीति **दोषा,** रात्रिर्वा। अनयोरपि तत्रैव पाठादव्ययत्वम्। स्वदते स्वादुक्रियते या सा **स्वधा,** न्यायेनैश्वर्यक्रिया तृप्तिर्वा। धातोर्दस्य धः।

उदा०—(1) समया (= निकट)—सम्यग् एति। सम् इण् आ—सम् इ आ—आर्धधातुक गुण—सम् ए आ—'एचोऽयवायावः' से अय् आदेश, सु, अव्ययादाप्-सुपः।

(2) निकषा (= निकट)—नितरां कषति हिनस्ति। नि कष हिंसायाम्। नि कष् आ—सु—पूर्ववत्।

(3) दिवा (= दिन)—दीव्यतीति। बाहुलकात् प्रत्यय, गुणनिषेध।

(4) दोषा—दुष्यतीति। दुष् आ—गुण, सु, लुक्। बाहुलकात् प्रत्यय।

(5) स्वधा—स्वदते स्वादु क्रियते या। स्वद् आ—धातु को धकार अन्तादेश—स्वधा सु—लुक्। बाहुलकात् प्रत्यय।

(620) चितेः कणः कश्च [4.177]

पद०—चितेः 5.1; कणः 1.1, कः 1.1, च—अव्य०।

सं०—चित्धातोः कणप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च 'क्' इत्यन्तादेशः स्यात्।

व्याख्या—'चितेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'चितेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जताा है। द्वितीय 'चितेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—चित् धातु से परे 'कण' प्रत्यय होता है तथा धातु को 'क्' आदेश होता है। ककारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'अलोऽन्त्यस्य' से 'क्' आदेश धातु के अन्त्य अल् (तकार) के स्थान पर होता है। 'कण' के ककार की 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.8) से इत्सञ्ज्ञा प्राप्त है। बहुलवचन से इत्सञ्ज्ञा का निषेध।

स्वा०द०वृ०—चेतसि जानाति येन तत् **चिक्कणम्**, स्निग्धं वा। [बाहुलकात् ककारस्येत्संज्ञा न भवति]।

उदा०—(1) चिक्कणम् (= चिकना)—चेतति जानाति। चिती सञ्ज्ञाने। चित् कण—अन्तादेश—चिक्कण सु।

(621) सूचेः स्मन् [4.178]

पद०—सूचेः 5.1, स्मन् 1.1

सं०—सूच्धातोः स्मन्प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—सूच् धातु से स्मन् प्रत्यय हाता है। 'न्' की 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा है। 'स्म' शेष रहता है। 'आर्धधातुकं शेषः' से 'स्म' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)।

स्वा०द०वृ०—सूचयति पैशुन्यं करोतीति **सूक्ष्मम्**, अत्यल्पं वा।

उदा०—(1) सूक्ष्मम् (= सूक्ष्म)—सूचयति पैशुन्यं करोति। सूच पैशुन्ये। सूच् स्मन्—सूच् स्म—'चोः कुः' (पा० 8.2.30) से कुत्व—सूक् स्म—'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य आदेश—सूक् ष्म—सु—अतोऽम्। कुछ पुस्तकों में 'क्ष्मन्' प्रत्यय प्राप्त होता है।

(622) पातेर्डुम्सुन् [4.179]

पद०—पातेः 5.1, डुम्सुन् 1.1

सं०—पाधातोर् डुम्सुन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'पा' धातु से डुम्सुन् प्रत्यय होता है। 'न्' की 'हलन्त्यम्' से तथा 'ड्' की 'चुटू' से इत्सञ्ज्ञा है। सकारस्थ उकार उच्चारणार्थ है। 'उम्स्' शेष रहता है। प्रत्यय को डित् करने से धातु की टि का लोप होता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। ध्यातव्य है कि 'उणादयो बहुलम्' में बहुलग्रहणसामर्थ्य से 'आदिर्ञिटुडवः' से प्राप्त 'डु' की इत्सञ्ज्ञा का निषेध होता है।

स्वा०द०वृ०—पाति रक्षतीति **पुमान्, पुमांसौ, पुमांसः**। असुङादिकार्य्यम्; शोभनः पुमान् यस्याः सा **'सुपुंसी'**। डुम्सुन उगितत्वान् ङीप्।

उदा०—(1) पुमान् (= पुरुष)—पाति रक्षति। पा रक्षणे। पा डुम्सुन्—अनुबन्धलोप—प् उम्स्—टि का लोप। पुम्स्—'नश्चाऽपदान्त०' से अनुस्वार—पुंस् सु—'सु' इस सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक करने की विवक्षा में प्रत्यय से पूर्व ही 'पुंसोऽसुङ्' (पा० 7.1.89) से सकार को 'असुङ्' आदेश—पुं असुङ् सु—अनुबन्धों (उकार तथा ङकार) का लोप। 'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्या०' परिभाषा से निमित्त (सकार) के निवृत्त हो जाने पर नैमित्तिक (अनुस्वार) की भी निवृत्ति हो गई—पुम् अस् सु—'उगिदचां सर्वनामस्थाने०' (पा० 7.1.70) से नुम् आगम, मिदचोऽन्त्यात् परः—पुम नुम् स् स्—अनुबन्धलोप, पुमन् स् स्—'सान्तमहतः संयोगस्य' (पा० 6.4.10) से दीर्घ आदेश—पुमान् स् स्—अपृक्त सकार का लोप—पुमान् स्—'संयोगान्तस्य लोपः' से सकार लोप—पुमान्।

(623) रुचिभुजिभ्यां किष्यन् [4.180]

पद०—रुचिभुजिभ्याम् 5.2, किष्यन् 1.1

सं०—रुच् भुज् इत्येताभ्यां किष्यन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—रुच् तथा भुज् धातुओं से परे किष्यन् प्रत्यय होता है। 'न्' की 'हलन्त्यम्' से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.8) से इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। 'क्' अनुबन्ध लघूपध गुण के निषेध के लिए है। 'इष्य' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—रोचते तत् **रुचिष्यम्**, इष्टं वा। भुनक्तीति **भुजिष्यः**, दासो वा।

उदा०—(1) रुचिष्यम् (= प्रिय)—रोचते तत्। रुच दीप्तौ। रुच् किष्यन्—अनुबन्धलोप—रुच् इष्य—सु, अतोऽम्।

(2) भुजिष्य: (= सेवक, मित्र)—भुनक्ति। भुज पालनाऽभ्यवहारयो:। भुज् किष्यन्—पूर्ववत्।

(3) भुजिष्या (दासी)—भुजिष्य टाप्—स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप्।

(624) वसेस्ति: [4.181]

पद०—वसे: 5.1, ति: 1.1

सं०—वस्धातोस् तिप्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—वस् धातु से परे 'ति' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—वस्त आच्छादयति सा **वस्ति:**, वसनस्य दशा कोणो नाभेरधोभागो वा।

बाहुलकात्—शास्ति शिक्षत इति **शास्ति:**, राजदण्डो वा। यजतीति **यष्टि:; यष्टी** वा, काष्ठदण्डो वा। अस्यते क्षिप्यते या सा **अस्ति:**। अगं वृक्षमस्यत्युत्पाटयति स **अगस्ति:**, मुनिर्वा; तस्यापत्यम् **'आगस्त्य:'**। **शकन्ध्वादित्वाद्** (अ० 6.1.91 वा०) अत्र पररूपम्। पुलं महत्त्वमसते गच्छति प्राप्नोतीति **पुलस्ति:**, ऋषिर्वा; तस्यापत्यं **पौलस्त्य:**। गभमन्धकारमस्यतीति **गभस्ति:**, किरणो वा। दूयते परितापयतीति **दूति:; दूती** वा, इतस्तत: समाचारज्ञापिका स्त्री वा।

उदा०—(1) वस्ति: (= नाभि से नीचे शरीरावयव, उदर)—वस्त आच्छादयति सा। वस आच्छादने। वस् ति—सु। बाहुलकात्—

(2) शास्ति: (= राजदण्ड)—शास्ति शिक्षते। शास् धातु से प्रत्यय। शास् ति—सु।

(3) यष्टि: (= लाठी)—यजतीति। यज धातु से प्रत्यय। यज् ति—'व्रश्चभ्रस्जसृज०' (पा० 8.2.36) से जकार को षकार—यष् ति—'ष्टुना ष्टु:' (पा० 8.4.40) से ष्टुत्व—यष् टि सु।

(4) अस्ति:—अस्यते क्षिप्यते। असु क्षेपणे। अस् ति। इसी प्रकार—

(5) अगस्ति: (= एक मुनि)—अगं (वृक्षम्) अस्यत्युत्पाटयति। अग अस् ति—'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' (पा० 6.1.92 वा०) से टि को पररूप आदेश।

(6) आगस्त्य: (= अगस्ति ऋषि का पुत्र)—अगस्तेरपत्यम्। 'तस्याऽपत्यम्' के अधिकार में यञ् प्रत्यय—अगस्ति य—आदिवृद्धि—आगस्ति य—इकारलोप, सु।

(7) पुलस्तिः (= एक ऋषि)—पुलं महत्त्वमसते गच्छति—पुल अस् ति—सु। इसी प्रकार—

(8) पौलस्त्यः (= पुलस्ति का पुत्र)—पुलस्तेर् अपत्यम्। पूर्ववत्।

(9) गभस्तिः (= किरण)—गभम् अन्धकारम् अस्यति। गभ अस् ति—सु।

(10) दूतिः, दूती (= दूती)—दूयते परितापयति। दूङ् परितापे। दू ति सु। 'कृदिकारादक्तिनः' (ग०सू०) से पाक्षिक ङीष्। दूती सु—अपृक्त सकार का लोप।

(625) सावसेः [4.182]

पद०—सौ 7.1, असेः 5.1

अनु०—'वसेस्तिः' (उ०सू० 4.181) से 'तिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—सावुपपदे अस्धातोस् तिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'सु' शब्द के उपपद रहते अस् धातु से परे 'ति' प्रत्यय होता है। 'ति' प्रत्यय की 'आर्धधातुकं शेषः' (पा०) से आर्धधातुक सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—सुष्ठु अस्ति वर्त्तत इति **स्वस्ति**, कल्याणं वा। बहुलवचनाद् भूभावनिषेधः, **स्वरादित्वाद्** (द्रष्टव्य—अ० 1.1.36) अव्ययत्वं च।

उदा०—(1) स्वस्ति (= कल्याण)—सुष्ठु अस्ति वर्त्तते। सु अस् ति—'अस भुवि' धातु से ति प्रत्यय, 'इको यणचि' (पा० 6.1.75) से यण् आदेश, सु, लुक्। 'ति' की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा। 'अस्तेर्भूः' (पा० 2.4.52) से अस् के स्थान पर 'भू' आदेश प्राप्त है। बहुलवचन से इसका निषेध होता है।

(626) वौ तसेः [4.183]

पद०—वौ 7.1, तसेः 5.1

अनु०—'वसेस्तिः' (उ०सू० 4.181) से 'तिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वावुपपदे वस्धातोस् तिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'वि' शब्द के उपपद रहते तस् धातु से परे 'ति' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—विशेषेण तस्यत्युपक्षिपति वा सा **वितस्तिः**, द्वादशाङ्गुलं परिमाणं वा।

उदा०—(1) वितस्तिः (= बारह अंगुल का प्रमाण)—विशेषेण तस्यत्युपक्षिपति। तसु उपक्षये। वि तस् ति—सु।

(627) पदिप्रथिभ्यां नित् [4.184]

पद०—पदिप्रथिभ्याम् 5.2, नित् 1.1

अनु०—'वसेस्तिः' (उ०सू० 4.181) से 'तिः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—पद् प्रथ्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां तिप्रत्ययः स्यात्, स च नित्सञ्ज्ञकः।

व्याख्या—पद् और प्रथ्—इन धातुओं से परे 'ति' प्रत्यय होता है और वह नित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को नित् करने का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—पद्यते गच्छत्यसौ **पत्तिः**, पदातिः पुरुषो वा। प्रथ्यते या सा **प्रथितिः**, प्रख्यातिर्वा। **तितुत्र०** [अ० 7.2.9] इति सूत्रेऽग्रहादीनामिति वार्तिकेनेट्।

उदा०—(1) पत्तिः (= पैदल)—पद्यते गच्छत्यसौ। पद गतौ। पद् ति—'खरि च' से चर्त्व—पत् ति—सु।

(2) प्रथितिः (= प्रसिद्धि)—प्रथ्यते या सा। प्रथ विस्तारे। प्रथ् ति—'तितुत्रतथसिसु०' (पा० 7.2.9) से आर्धधातुक वलादिक इट् का निषेध। 'तितुत्रतथेष्व-ग्रहादीनामिति वाच्यम्' (पा० 7.2.9 वा०) से इट् हुआ।

(628) दृणातेर्ह्रस्वः [4.185]

पद०—दृणातेः 5.1, ह्रस्वः 1.1
अनु०—'वसेस्तिः' (उ०सू० 4.181) से 'तिः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—दॄधातोस् तिप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च ह्रस्वादेशः स्यात्।

व्याख्या—'दृणातेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'दृणातेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'दृणातेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर धातु को ह्रस्वादेश किया जाता है। अर्थ—दॄ धातु से परे 'ति' प्रत्यय होता है और धातु को ह्रस्व आदेश होता है। यह ह्रस्व आदेश धातु में स्थित अच् वर्ण (ॠकार) के स्थान पर प्राप्त है। 'स्थानेऽन्तरतमः' से ॠकार के स्थान पर ऋकार होता है।

स्वा०द०वृ०—दीर्यतेऽसौ **दृतिः**, चर्ममयं पात्रं वा।

उदा०—(1) दृतिः (= चमड़े से बना थैला)—दीर्यतेऽसौ। दॄ विदारणे—दॄ ति—ह्रस्व आदेश, सु। दशपादीवृत्ति (1.76) में अनुवृत्त 'तिः' को कित् अतिदेश किया है। कित्करण से धातु को प्राप्त आर्धधातुक गुण का निषेध होता है। दशपादीवृत्ति में 'दॄ भये' धातु से 'ति' प्रत्यय किया है। कुछ वृत्तिकार कित्त्व अतिदेश को व्यर्थ मानते हैं। ॠकार को ह्रस्वविधान सामर्थ्य से गुण का निषेध हो जाने से कित्करण व्यर्थ है, परन्तु कुछ व्याख्याकार लिखते हैं कि प्रकृत में किद्ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि अन्य धातुओं से भी कहीं-कहीं 'ति' प्रत्यय कित् होता है। यथा—पीतिः।

(629) कृतृकृपिभ्यः कीटन् [4.186]

पद०—कृतृकृपिभ्यः 5.3, कीटन् 1.1
सं०—कृ तृ कृप् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कीटन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कृ, तृ और कृप्—इन धातुओं से परे कीटन् प्रत्यय होता है। 'न्' की 'हलन्त्यम्' से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—किरति विक्षिपतीति **किरीटम्,** मुकुटं शिरोवेष्टनं वा। तरतीति **तीरीटम्,** शिरोवेष्टनं लोध्रो वा। कल्पतेऽसौ **कृपीटम्,** कुक्षिरुदकं वा। बाहुलकादत्र लत्वाभावः।

उदा०—(1) किरीटम् (= मुकुट)—किरति विक्षिपति। कॄ विक्षेपे। कॄ कीटन्—अनुबन्धलोप—कॄ ईट—गुणनिषेध, 'ॠत इद् धातोः' (पा० 7.1.100) से इकार आदेश प्राप्त, 'उरण् रपरः' (पा० 1.1.51) से रपर आदेश—किर् ईट—सु, अतोऽम्।

(2) तिरीटम् (= पगड़ी)—तरतीति। तॄ प्लवनसन्तरणयोः। तॄ कीटन्—पूर्ववत्।

(3) कृपीटम् (= उदक, कुक्षि)—कल्पतेऽसौ। कृपू सामर्थ्ये। कृप् कीटन्—अनुबन्धलोप, 'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से प्राप्त लघूपध गुण का निषेध। क्ङिति च। प्राप्त लत्व का बहुलवचनात् निषेध, सु।

(4) कम्पीटम् (= कम्पा)—दशपादीवृत्ति में 'कम्पि' धातु का पाठ अधिक है। कम्प् कीटन्—अनुबन्धलोप, सु।

(630) रुचिवचिकुचिकुटिभ्यः कितच् [4.187]

पद०—रुचिवचिकुचिकुटिभ्यः 5.3, कितच् 1.1
सं०—रुच् वच् कुच् कुट्—इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कितच्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—रुच्, वच्, कुच् और कुट्—इन धातुओं से परे कितच् प्रत्यय होता है। 'च्' की 'हलन्त्यम्' से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा है। 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है तथा 'क्' अनुबन्ध लघूपधगुण के निषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—रोचते तत् **रुचिरम्,** मिष्टं वा। वक्तुं योग्यं **उचितम्,** योग्यं वा। कोचति शब्दतारं करोतीति **कुचितम्,** परिमितं वा। कुटतीति **कुटितम्,** कुटिलं वा।

उदा०—(1) रुचितम् (= प्रिय)—रोचते तत्। रुच दीप्तौ। रुच् कितच्—अनुबन्धलोप—रुच् इत—लघूपध गुण का निषेध, सु, अतोऽम्।

(2) उचितम् (= उचित)—वक्तुं योग्यम्। वच परिभाषणे। दशपादीवृत्ति में 'उच समवाये' धातु से प्रत्यय किया है। उच्यतीति। वच् कितच्—अनुबन्धलोप—वच् इत—'वचिस्वपियजादीनां०' (पा० 6.1.15) से सम्प्रसारण, इग्यण: सम्प्रसारणम्—उ अच् इत—'सम्प्रसारणाच्च' (पा० 6.1.104) से पूर्वरूप—उच् इत सु।

(3) कुचितम् (= परिमित)—कोचति। कुच शब्दे तारे। कुच् कितच्—लघूपध गुणनिषेध।

(4) कुटितम् (= कुटिल)—कुटति। कुट कौटिल्ये। कुट् कितच्—पूर्ववत्।

(5) कुत्सितम् (= निन्दित)—दशपादीवृत्ति (6.21) में 'कुत्स श्लेषणादौ' तथा 'कुष निष्कर्षे' धातुओं से भी 'कित्' किया है। कुत्स्यत इति। कुत्स् इत—सु।

(6) कुषितम् (= निष्कृत)—कुष्यत इति।

(631) कुटिकुषिभ्यां क्मलन् [4.188]

पद०—कुटिकुषिभ्याम् 5.2, क्मलन् 1.1

सं०—कुट् कुष् इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्मलन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—कुट् और कुष्—इन धातुओं से परे क्मलन् प्रत्यय होता है। 'न्' की 'हलन्त्यम्' से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा है। 'मल' शेष रहता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। 'क्' अनुबन्ध लघूपध गुण के निषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—कुटतीति **कुड्मलम्** मुकुलम्='फूलती हुई कली' इति प्रसिद्धम्। कुष्णाति निष्कर्षतीति **कुष्मलम्**, पर्णं वा।

उदा०—(1) कुड्मलम् (= कली)—कुटतीति। कुट कौटिल्ये। कुट् क्मलन्—अनुबन्धलोप—कुट्मल—लघूपध गुणनिषेध, टकार को डकार—कुड्मल सु।

(2) कुष्मलम् (= पत्ता)—कुष्णाति निष्कर्षति। कुष निष्कर्षे। कुष् क्मलन्—पूर्ववत्।

(632) कुषेर्लश्च [4.189]

पद०—कुषेः 5.1, लः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'कुटिकुषिभ्यां क्मलन्' (उ०सू० 4.188) से 'क्मलन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—कुष्धातोः क्मलन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च लकारोऽन्तादेशः स्यात्।

व्याख्या—'कुषेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'कुषेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'कुषेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—कुष् धातु से परे क्मलन् प्रत्यय होता है तथा धातु को लकार आदेश होता है। लकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'अलोऽन्त्यस्य' से धातु के अन्त्य अल् (षकार) के स्थान पर लकार आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—कुष्णातीति **कुल्मलम्,** पापं वा।

उदा०—(1) कुल्मलम् (= पाप)—कुष्णाति। कुष निष्कर्षे। कुष् क्मलन्—अनुबन्धलोप—कुष्मल—लकार अन्तादेश—कुल्मल—सु।

(633) सर्वधातुभ्योऽसुन् [4.190]

पद०—सर्वधातुभ्यः 5.3, असुन् 1.1
सं०—सर्वधातुभ्योऽसुन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—सभी धातुओं से 'असुन्' प्रत्यय होता है। 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'अस्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—वर्चते दीप्यतेऽसौ **वर्चः**, तेजः पुरीषं वा। रक्षतीति **रक्षः**, पालको दुष्टो वा। **प्रज्ञादित्वाद्** (द्रष्टव्य—अ० 5.4.38) अणि स एव **'राक्षसः'**। रुणद्धि येन स **रोधः,** तटो वा। चेतति जानाति येन तत् **चेतः,** चित्तं वा। सरन्ति गच्छन्त्यापो यत्र तत् **सरः**, तडागो वा; स्त्रीत्वविवक्षायां **गौरादित्वात्** (द्रष्टव्य—अ० 4.1.41) **'सरसी'** महासरो वा; **'सरस्वान्'** समुद्रः; सरो विज्ञानमुदकं वा विद्यतेऽस्यां सा **'सरस्वती'**, वाक् नदी वा। रोदतीति **रोदः**; **गौरादित्वाद् 'रोदसी'**, द्यावापृथिव्यौ वा। वेति गच्छतीति **वयः**, कालकृताऽवस्था वा। अथवा वेति खादतीति **वयः**; वय एव **'वायसः'** काकः। **प्रज्ञादित्वाद्** (द्रष्टव्य—अ० 5.4.38) अण्। सीदन्त्यत्रेति **सदः**, सभा वा। एति प्राप्नोति **अयः**, लोहं वा; अयः कामयतेऽसौ **'अयस्कान्तः'** चुम्बकमणिः। अनिति जीवति येनेति **अनः,** ओदनं पक्वान्नं वा; अनो महत्सम्पद्यते यत्र तद् **'महानसम्'** पाकस्थानम्। समासान्तष्टच्। ताम्यति काङ्क्षति येन तत् **तमः**, गुणः क्लेशो रात्रिरन्धकारो वा। तमशब्दोऽच्प्रत्ययान्तोऽदन्तोऽपि दृश्यते। महति पूजयति पूज्यो भवति वेति **महः**, महद् वा, **महसी, महांसि**। अच्प्रत्ययेऽकारान्तोऽपि। सहते यत्रेति **सहः**, बलं मार्गशीर्षो वा; सहसा बलेन सह प्रवर्त्तते स **'साहसिकः'** दस्युर्दुष्टकर्मा वा; सहो बलं विद्यते यत्रेति **'सहस्यः'**, पौषो मासः। तपति दुःखीभवति तप्यते समर्थो वा भवति येन तत् **तपः**, घर्मसेवनं माघमासो वा। तपः घर्मसेवनं यत्रेति **'तपस्यः'**, फाल्गुनो मासः। ग्रीष्मेऽकारान्तस्तपशब्दः। मिमीते येन स **माः**, मासो वा इत्यादि।

उदा०—(1) चेत: (= मन)—चेतति जानाति। चिती सञ्ज्ञाने। चित् असुन्—अनुबन्धलोप—चित् अस्—'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से लघूपध गुण—चेतस् सु—'स्वमोर्नपुंसकात्' (पा० 7.1.33) से सुलुक्। प्रत्ययलक्षण से 'चेतस्' की पदसञ्ज्ञा। 'ससजुषो रुः' (पा० 8.2.66) से रुत्व आदि।

(2) सर: (= जलाशय)—सरन्ति गच्छन्त्यापो यत्र। सृ गतौ। सृ असुन्—गुण, रपरत्व—सर् अस् सु—पूर्ववत्।

(3) सद: (= सभा, आसन)—सीदन्त्यत्र। षद्लृ—सद्—'धात्वादे: ष: स:' से सकार—सद् असुन्—सदस् सु—पूर्ववत्।

(4) वर्च: (= तेज, पुरीष)—वर्चते दीप्यते। वर्च दीप्तौ। वर्च् असुन्—वर्चस् सु—पूर्ववत्।

(5) रक्ष: (= पालक, दुष्ट)—रक्षतीति। रक्ष रक्षणे। रक्ष् असुन्—रक्षस् सु—विभक्तिकार्य।

(6) रोध: (= तट)—रुणद्धि येन। रुधिर् धातु। रुध् असुन्—लघूपध गुण, सु, पूर्ववत्।

(7) रोद: (= अन्तरिक्ष)—रोदतीति। रुद् धातु से असुन्। लघूपध गुण, सु, पूर्ववत्।

(8) वय: (= अवस्था, कव्वा)—वेति गच्छति (अथवा खादति)। 'वय गतौ' से भी असुन्। वयते गच्छति। वय् असुन्—वयस् सु।

(9) वायस:—वय एव वायस:। 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पा० 5.4.38) से अण्, आदिवृद्धि, सु।

(10) अय: (= लोह)—एति प्राप्नोति। ईयत इति। इ असुन्—आर्धधातुक गुण—ए अस्—'एचोऽयवायाव:' से अय् आदेश—अयस् सु—पूर्ववत्।

(11) अन: (= ओदन)—अनिति जीवति येन। अन प्राणने। अन् असुन्—पूर्ववत्।

(12) महानसम्—अनो महत् सम्पद्यते यत्र तत्। महत् अनस्—'आन्महत:०' से आकार अन्तादेश—महा अनस्—सवर्णदीर्घ, 'अनोश्माय:सरसां०' (पा० 5.4.94) से 'टच्' समासान्त, चुटू, हलन्त्यम्—महानस् अ—सु, अतोऽम्।

(13) तम: (अन्धकार, रात्रि)—ताम्यति काङ्क्षति येन तत्। तम् असुन्—पूर्ववत्।

(14) मह: (= महान्)—महति पूजयति। मह् असुन्—पूर्ववत्।

(15) सह: (= बल)—सहते यत्र। सह् असुन्—पूर्ववत्। सहो विद्यते यत्र।

(16) सहस्यः (= पौषमास)। सहो (बलं) विद्यते यत्र।

(17) तपः (= माघमास, तप)—तपति तप्यते येन। तप सन्तापे। तप् असुन्—तपस् सु—पूर्ववत्।

(18) तपस्यः (= फाल्गुन मास)—तपो यत्र। तपस् य—सु।

(19) माः (= महीना)—मिमीते येन। मि असुन्।

(20) तेजः (= तेज)—तितिक्षत इति। तिज निशाने। तिज् असुन्—लघूपध गुण, सु।

(634) रपेरत एच्च [4.191]

पद०—रपेः 5.1, अतः 6.1, एत् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू०) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—रप्धातोर् असुन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च यो ह्रस्वोऽकारस् तस्य स्थाने 'एत्' आदेशः स्यात्।

व्याख्या—'रपेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'रपेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'रपेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'अतः' पद के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—रप् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है तथा धातु का जो ह्रस्व अकार, उसके स्थान पर एकार आदेश होता है। अत् मे तकार तपरकरण के लिए है। 'अत्' के द्वारा 'तपरस्तत्कालस्य' (पा० 1.1.7) से ह्रस्व अकार का ग्रहण होता है। 'एत्' में तकार उच्चारणार्थ है। एत् = एकार।

स्वा०द०वृ०—रप्यत उच्यत इति **रेपः**, अवद्यं वचो वा।

बहुलवचनादन्यत्रापि—पीयते तत् **पयः**, उदकं दुग्धं वा। धातोरीत्वम्, पुनर्गुणे सत्ययादेशः; पयोऽस्या अस्तीति **'पयस्विनी'** गौः; **'पयस्वी'** तडागः, विनिः।

उदा०—(1) रेपः (= निन्दनीय)—रप्यत उच्यत इति। रप व्यक्तायां वाचि। रप् असुन्—अनुबन्धलोप—रप् अस्—धातु में स्थित ह्रस्व अकार (जो रेफ से उत्तरवर्त्ती है) के स्थान पर एकार आदेश—र् एप् अस् सु—'स्वमोर्नपुंसकात्' से सु का लोप—रेपस्—रुत्व, विसर्ग।

(2) पयः (= दूध, जल)—पीयते तत्। पा पाने। पा असुन्—बहुलवचनात् प्रत्यय, इत्व, गुण—प् ए अस्—'एचोऽयवायावः' से अय् आदेश—पयस् सु—पूर्ववत्।

(3) पयस्विनी—पयोऽस्या अस्तीति।

(4) पयस्वी—पयस् विनि—'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (पा० 5.2.121) से विनि प्रत्यय।

(635) अशेर्देवने युट् च [4.192]

पद०—अशेः 5.1, देवने 7.1, युट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अश्धातोर् असुन्प्रत्ययो भवति, धातोश्च 'युट्' इत्यागमो भवति, देवने गम्यमाने।

व्याख्या—यदि 'देवन' अर्थ वाच्य हो तो अश् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है और धातु को 'युट्' आगम होता है। 'असुन्' का 'अस्' शेष रहता है। युट् के टकार की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'य्' शेष रहता है। युट् टित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से युट् आगम धातु का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—अश्यते दीव्यते क्रीडादि क्रियते येन तत् **यशः,** कीर्तिर्वा।

उदा०—(1) यशस् (= यश)—अश्यते दीव्यते येन—अश् असुन्—युट् आगम—युट् अश् असुन्—अनुबन्धलोप—य् अश् अस् सु।

(636) उब्जेर्बले बलोपश्च [4.193]

पद०—उब्जेः 5.1, बले 7.1, बलोपः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—उब्ज्धातोर् असुन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च यो बकारस् तस्य लोपो भवति, बले गम्यमाने।

व्याख्या—'उब्जेः' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—यदि 'बल' अर्थ वाच्य हो तो उब्ज् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है तथा धातु का जो बकार, उसका लोप होता है। 'असुन्' का 'अस्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—उब्जति कोमलो भवतीति **ओजः**, पराक्रमो वा; ओजसा वर्त्तते इति **'औजसिकः'**, ठक्।

उदा०—(1) ओजः (= बल, जल)—उब्जति कोमलो भवति। उब्ज आर्जवे। उब्ज् असुन्—अनुबन्धलोप—उब्ज् अस्—बकार का लोप—उज् अस्—

(637) श्वेः सम्प्रसारणं च [4.194]

पद०—श्वेः 5.1, सम्प्रसारणम् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—श्विधातोर् असुन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च सम्प्रसारणं स्यात्।

व्याख्या—'श्वेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'श्वेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'श्वेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को सम्प्रसारण कार्य किया जाता है। अर्थ—श्वि धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है और धातु को सम्प्रसारण होता है। 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से सम्प्रसारण होता है।

स्वा०द०वृ०—श्वयति गच्छतीति **शवः**, मृतकशरीरं वा।

बाहुलकात्—वहति यत् इति **ऊधः**, गवादेर्दुग्धस्थानं वा। धातोः सम्प्रसारणे कृते दीर्घत्वं धकारश्चान्तादेशः; घट इवोधो यस्याः सा **'घटोध्नी; कुण्डोध्नी'**, गौर्महिषी वा।

उदा०—(1) शवः (= मृतदेह)—श्वयति गच्छति। टुओश्वि गतिवृद्ध्योः। श्वि असुन्—अनुबन्धलोप—श्वि अस्—सम्प्रसारण—श् उ इ अस्—'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप—शु अस्—आर्धधातुक गुण—शो अस्—अव् आदेश—शवस् सु—

(2) ऊधः (= गाय आदि का दुग्ध स्थान)—वहति यत्। वह प्रापणे। वह् असुन्—बाहुलकात् असुन् प्रत्यय, सम्प्रसारण—उह् अस्—धातु को धकार अन्तादेश—उधस्—दीर्घ आदेश—ऊधस् सु—

(638) श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च [4.195]

पद०—श्रयतेः 5.1, स्वाङ्गे 7.1, शिरः 1.1, कित् 1.1, च—अव्य०।
अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—श्रिधातोर् असुन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'शिर्' इत्यादेशो भवति, प्रत्ययश्च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—'श्रयतेः' पद की पूर्ववत् आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—यदि 'शरीरावयव' अर्थ वाच्य हो तो श्रि धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है, धातु के स्थान पर 'शिर्' आदेश होता है तथा प्रत्यय की कित् सञ्ज्ञा होती है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन लघूपध गुण का निषेध करना है। 'शिर' के रेफ में स्थित अकार उच्चारणार्थ है।

व्याकरणशास्त्र में 'स्वाङ्ग' एक पारिभाषिक शब्द है। इसके निम्नलिखित लक्षण प्राप्त होते हैं—

(क) अद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम् अर्थात् जो तरल (यथा—कफ, स्वेद आदि) न हो, जो दृश्य (यथा—ज्ञान) न हो, प्राणियों में स्थित (यथा—केश, मुख, स्तन आदि) हो तथा विकार से उत्पन्न (यथा—शोथ आदि) न हो, वह 'स्वाङ्ग' कहलाता है।

(ख) अतत्स्थं तत्र दृष्टं च अर्थात् चाहे अब प्राणियों में स्थित न हो, परन्तु प्राणियों में देखा अवश्य गया हो। यथा—सुकेशा रथ्या। यद्यपि गली में पड़े हुए केश सम्प्रति प्राणी में स्थित नहीं हैं, तदपि वे पूर्वकाल में प्राणियों में अवश्य स्थित थे।

(ग) तेन चेत् तत् तथा युतम् अर्थात् जैसा यह (स्वाङ्ग) प्राणी में स्थित होता है, यदि वैसा अन्यत्र स्थित हो तो उसे 'स्वाङ्ग' कहा जाता है। यथा—प्रतिमा का हस्त आदि।

स्वा०द०वृ०—श्रीयत आश्रीयते तत् **शिरः**, मस्तकम् [वा], **शिरसी, शिरांसि**।

उदा०—(1) शिरः (= शिर)—श्रीयत आश्रीयते तत्। श्रिञ् सेवायाम्। श्रि असुन्—शिर् अस्—अनुबन्धलोप, धातु को 'शिर्' आदेश, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त लघूपध गुण का निषेध, सु

(639) अर्त्तेरुच्च [4.196]

पद०—अर्त्तेः 5.1, उत् 1.1 च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का तथा 'श्रयतेः स्वाङ्गे……किच्च' (उ०सू० 4.195) से 'स्वाङ्गे' व 'कित्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—ऋधातोर् असुन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'उत्' आदेशो भवति, प्रत्ययः कित्सञ्ज्ञः, स्वाङ्गेऽभिधेये।

व्याख्या—'अर्त्तेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'अर्त्तेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'अर्त्तेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—यदि 'स्वाङ्ग' अर्थ वाच्य हो तो ऋ धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है, धातु को उत् आदेश होता है और प्रत्यय की कित् सञ्ज्ञा होती है।

स्वा०द०वृ०—स्वाङ्ग इत्यनुवर्त्तते। ऋच्छति प्राप्नोति येन तत् **उरः**, हृदयस्थानं वा। **पिच्छादित्वाद्** (द्रष्टव्य—अ० 5.2.100) इलच्। बहूरोऽस्यास्तीति **'उरसिलः'**।

उदा०—(1) उरः (= हृदय)—ऋच्छति प्राप्नोति येन । ऋ गतौ । ऋ असुन्—उत् (अर्थात् ह्रस्व उकार) आदेश, 'उरण् रपरः' (पा० 1.1.51) से रपरत्व—उर् अस् सु ।

(2) उरसिलः—बहूरोऽस्याऽस्तीति । पा० 5.2.100 से इलच्—उरस् इल—सु ।

(640) व्याधौ शुट् च [4.197]

पद०—व्याधौ 7.1, शुट् 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'अर्त्तेरुच्च' (उ०सू० 4.196) से 'अर्त्तेः' का तथा 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—'व्याधौ' गम्यमाने ऋधातोर् असुन्प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य 'शुट्' इत्यागमो भवति ।

व्याख्या—यदि 'रोग' अर्थ वाच्य हो तो ऋ धातु से परे 'असुन्' प्रत्यय होता है और प्रत्यय को 'शुट्' आगम होता है । शुट् का टकार इत्सञ्ज्ञक है । उकार उच्चारणार्थ है । 'श्' शेष रहता है । शुट् टित् है । 'आद्यन्तौ टकितौ' से प्रत्यय का आद्यवयव बनता है ।

स्वा०द०वृ०—ऋच्छति प्राप्नोति दुःखं येन तत् **अर्शः**, गुदरोगो वा । अर्शोऽस्यास्तीति **अर्शसः** पुमान् । **'अर्शआदिभ्योऽच्'** [अ० 5.2.127] इत्यच् ।

उदा०—(1) अर्शः (= बवासीर)—ऋच्छति प्राप्नोति दुःखं येन तत् । ऋ गतौ । ऋ असुन्—अनुबन्धलोप—ऋ अस्—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—अर् शुट् अस्—शुट् आगम, अनुबन्धलोप—अर्शस् सु—'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप ।

(2) अर्शसः (= बवासीर से युक्त व्यक्ति)—अर्शोऽस्याऽस्तीति । अर्शस् अच्—'अर्शआदिभ्योऽच्' से अच्, सु ।

(641) उदके नुट् च [4.198]

पद०—उदके 7.1, नुट् 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'अर्त्तेरुच्च' (उ०सू० 4.196) से 'अर्त्तेः' का तथा 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—'उदके' गम्यमाने ऋधातोर् असुन्प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च 'नुट्' इत्यागमो भवति ।

व्याख्या—यदि 'उदक' अर्थ वाच्य हो तो ऋ धातु से परे 'असुन्' प्रत्यय होता है और प्रत्यय को 'नुट्' आगम होता है। आगम का टकार इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। 'न्' शेष रहता है। नुट् टित् है। अत: 'आद्यन्तौ टकितौ' से प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—अर्तेरित्येव। ऋच्छति गच्छतीति **अर्णः** जलम्। अर्णोऽस्मिन्नस्तीति **'अर्णवः'** समुद्रः। वप्रत्यये सलोपः।

उदा०—(1) अर्णः (= जल)—ऋच्छति गच्छति (समुद्रम्)। ऋ असुन्—नुट् आगम—ऋ नुट् असुन्—अनुबन्धलोप—ऋ न् अस्—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—अर्नस्—'रषाभ्यां नो णः समा०' (पा० 8.4.1) से णत्व—अर्णस् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(2) अर्णवः—अर्णोऽस्मिन्नस्तीति। 'अर्णसो लोपश्च' (पा० 5.2.109) वार्त्तिक से 'व' प्रत्यय तथा सकारलोप—अर्णव सु।

(642) इण आगसि [4.199]

पद०—इणः 5.1, आगसि 7.1

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का तथा 'उदके नुट् च' (उ०सू० 4.198) से 'नुट्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—'आगसि' गम्यमाने 'इ'धातोर् असुन्प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च 'नुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—'आगस् = पाप' अर्थ वाच्य हो तो 'इ' धातु से परे 'असुन्' प्रत्यय होता है और प्रत्यय को 'नुट्' आगम होता है। नुट् का 'न्' शेष रहता है। असुन् प्रत्यय का आद्यवयव नुट् आगम होता है।

स्वा०द०वृ०—ईयते प्राप्यते दुःखमनेन तद् **एनः**, पापं वा।

उदा०—(1) एनः (= पाप)—ईयते प्राप्यते दुःखम् अनेन तत्। इण् गतौ। इ असुन्—इ नुट् असुन्—नुट् आगम, अनुबन्धलोप—इ न् अस्—आर्धधातुक गुण—एनस् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(643) रिचेर्धने घिच्च [4.200]

पद०—रिचेः 5.1, धने 7.1, घित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का तथा 'उदके नुट् च' (उ०सू० 4.198) से 'नुट्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—रिच्धातोर् असुन्प्रत्ययः स्यात्, स च घित्संज्ञः, प्रत्ययस्य 'नुट्' इत्यागमो भवति, धने गम्यमाने।

व्याख्या—यदि 'धन' अर्थ वाच्य हो तो रिच् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है, प्रत्यय घित्सञ्ज्ञक होता है और प्रत्यय को 'नुट्' आगम होता है। 'नुट्' का 'न्' शेष रहता है। प्रत्यय को घित् करने का प्रयोजन 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (पा० 7.3.52) से कुत्व करना है। नुट् प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—रिणक्ति व्ययं करोति यत् तत् **रेक्णः**, सुवर्णं वा। घित्त्वात् कुत्वम्।

उदा०—(1) रेक्णः (= धन)—(द्रष्टव्य—ऋ० 8.4.18; 10.63.16) रिणक्ति व्ययं करोति यत्। रिचिर् विरेचने। रिच् नुट् असुन्—अनुबन्धलोप—रिच् नस्—चकार को कुत्व—रिक् नस्—'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण—रेक् नस्—'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व, सु—रेक्णस् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(644) चायतेरन्ने ह्रस्वश्च [4.201]

पद०—चायतेः 5.1, अन्ने 7.1, ह्रस्वः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का तथा 'उदके नुट् च' (उ०सू० 4.198) से 'नुट्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—चाय्धातोर् असुन्प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य 'नुट्' इत्यागमो भवति, धातोश्च ह्रस्वाऽऽदेशः स्यात्।

व्याख्या—'चायतेः' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—यदि 'अन्न' अर्थ वाच्य हो तो चाय् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है, प्रत्यय को नुट् आगम होता है। धातु को ह्रस्व आदेश होता है तथा (बहुलवचन से) यकार का लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—चाय्यते पूज्यतेऽनेन तत् **चनः**, भक्तम् [वा]। प्रत्ययस्य नुडागमे सति यलोपो ह्रस्वश्च।

उदा०—(1) चनः (= भक्त)—चाय्यते पूज्यतेऽनेन। चायृ पूजानिशामनयोः। चाय् नुट् असुन्—अनुबन्धलोप—चाय् न् अस्—'लोपो व्योर्वलि' (पा० 6.1.64) से यकारलोप, धातु को ह्रस्व आदेश—च नस् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(645) वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुट् च [4.202]

पद०—वृङ्शीङ्भ्याम् 5.2, रूपस्वाङ्गयोः 7.2, पुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वृ शी इत्येताभ्यां धातुभ्याम् असुन्प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च 'पुट्' इत्यागमो भवति, रूपस्वाङ्गयोर् गम्यमानयोः।

व्याख्या—यदि 'रूप' या 'स्वाङ्ग' अर्थ वाच्य हो तो वृ और शी—इन धातुओं से परे 'असुन्' प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को 'पुट्' आगम होता है। 'पुट्' के टकार की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'प्' शेष रहता है। 'पुट्' टित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' स प्रत्यय का आद्यवयव होता है। प्रकृत में दो अर्थ वाच्य हैं तथा दो प्रकृतियाँ (यथा—वृ, शी) हैं। अतः इनमें यथासङ्ख्य नियम प्रवृत्त होता है। 'यथासङ्ख्य-मनुदेशः समानाम्' की प्रवृत्ति होती है। सार यह है कि 'रूप' अर्थ वाच्य रहते 'वृ' धातु से असुन् प्रत्यय होता है और प्रत्यय को पुट् आगम होता है। 'स्वाङ्ग' अर्थ वाच्य रहते शी धातु से असुन् प्रत्यय होता है और प्रत्यय को पुट् आगम होता है।

स्वा०द०वृ०—व्रियते स्वीक्रियते तत् **वर्पः**, रूपम् [वा]। शेते येन तत् **शेपः**, लिङ्गेन्द्रियं वा। अकारान्तोऽपि मेढ्रवाची 'शेप'शब्दो दृश्यते। शुनः इव शेपोऽस्य स **'शुनःशेपः'** मुनिः। षष्ठ्या अलुक्।

बाहुलकात्—वर्णव्यत्यये **वर्फः; शेफः** इत्यपि सिद्धम्।

उदा०—(1) वर्पः (= रूप)—व्रियते स्वीक्रियते तत्। वृङ् सम्भक्तौ। वृ पुट् असुन्—अनुबन्धलोप। वृ प् अस्—आर्धधातुक गुण, रपरत्व—वर्पस् सु—लोप।

(2) शेपः (= उपस्थेन्द्रिय)—शेते येन तत्। शीङ् स्वप्ने। शी पुक् असुन्—अनुबन्धलोप—शीप् अस्—आर्धधातुक गुण—शेपस् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(3) शुनःशेपः (= एक मुनि)—मेढ्रवाची अकारान्त 'शेप' शब्द भी प्राप्त होता है। शुनः शेप इव शेपोऽस्य सः। 'शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः' सञ्ज्ञायां षष्ठ्या अलुग् वक्तव्यः' (पा० 6.3.20 वा०) से षष्ठी विभक्ति का अलुक्—शुनःशेप सु।

(4) वर्फः—वर्णव्यत्यय से पकार के स्थान पर फकार।

(5) शेफः—पूर्ववत् पकार को फकार।

(646) स्रुरीभ्यां तुट् च [4.203]

पद०—स्रुरीभ्याम् 5.2, तुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्तन है।

सं०—स्रु री इत्येताभ्यां धातुभ्याम् असुन्प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च 'तुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—स्रु तथा री—इन धातुओं से परे 'असुन्' प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय

को 'तुट्' आगम होता है। 'ट्' की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'त्' शेष रहता है। तुट् कित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से तुट् आगम प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—स्रवति चलतीति **स्रोतः**, स्वतो जलक्षरणं वा। रीयते स्रवतीति **रेतः**, वीर्यं वा।

उदा०—(1) स्रोतः (= स्रोत, झरना)—स्रवति चलति। स्रु गतौ। स्रु तुट् असुन्—अनुबन्धलोप—स्रु त् अस्—आर्धधातुक गुण, सु, अपृक्त सकार का लोप।
(2) रेतः (= वीर्य)—रीयते स्रवति। रीङ् प्रस्रवणे। री तुट् असुन्—पूर्ववत्।

(647) पातेर्बले जुट् च [4.204]

पद०—पातेः 5.1, बले 7.1, जुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—पाधातोर् असुन्प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य 'जुट्' इत्यागमो भवति, बले गम्यमाने।

व्याख्या—यदि 'बल' अर्थ वाच्य हो तो 'पा' धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है और प्रत्यय को 'जुट्' आगम होता है। टकार इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। 'ज्' शेष रहता है। जुट् टित् है। प्रत्यय का आद्यवयव बनता है। द्रष्टव्य—आद्यन्तौ टकितौ।

स्वा०द०वृ०—पाति रक्षतीति **पाजः**, बलं वा।

उदा०—(1) पाजः (= बल)—पाति रक्षति। पा रक्षणे। पा जुट् असुन्—अनुबन्धलोप, सु, लोप।

(648) उदके थुट् च [4.205]

पद०—उदके 7.1, थुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'पातेर्बले जुट् च' (उ०सू० 4.204) से 'पातेः' का तथा 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—उदके गम्यमाने पाधातोर् असुन्प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च 'थुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—यदि 'जल' अर्थ वाच्य हो तो 'पा' धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है और प्रत्यय को 'थुट्' आगम होता है। 'ट्' इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। 'थ्' शेष रहता है। थुट् टित् है। प्रत्यय का आद्यवयव बनता है। द्रष्टव्य—आद्यन्तौ टकितौ।

स्वा०द०वृ०—पातेरेव। पातीति **पाथः** जलम्।

उदा०—(1) पाथ: (= जल)—पातीति। पा रक्षणे। पा थुट् असुन्—पूर्ववत्।

(649) अन्ने च [4.206]

पद०—अन्ने 7.1, च—अव्य०।

अनु०—'उदके थुट् च' (उ०सू० 4.205) से 'थुट्' का, 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का तथा 'पातेर्बले जुट् च' (उ०सू० 4.204) से 'पातेः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अन्ने गम्यमाने पाधातोर् असुन्प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च 'थुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—यदि 'अन्न' अर्थ वाच्य हो तो 'पा' धातु से परे 'असुन्' प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को 'थुट्' आगम होता है। थुट् का 'थ्' शेष रहता है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से थुट् आगम प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—थुट्। पाति रक्षतीति **पाथः** भक्तम्।

उदा०—(1) पाथ: (= भक्त)—पाति रक्षति। पा थुट् असुन्—पूर्ववत्।

(650) अदेर्नुम्धौ च [4.207]

पद०—अदे: 5.1, नुम्धौ 1.2, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का, 'अन्ने च' (उ०सू० 4.206) से 'अन्ने' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अद्धातोर् असुन्प्रत्ययः स्यात्, धातोश्च धकारोऽन्तादेशो भवति, धातोर् 'नुम्' आगमो भवति।

व्याख्या—'अदे:' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'अदे:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'अदे:' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—'अन्न' अर्थ वाच्य हो तो धातु से परे 'असुन्' प्रत्यय होता है, धातु को 'नुम्' आगम तथा धकार आदेश होते हैं। धकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। अथवा धकार का हल् रूप में निर्देश है। 'अलोऽन्त्यस्य' से धकार आदेश अद् धातु के अन्त्य अल् (दकार) के स्थान पर होता है। नुम् के मकार की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'न्' शेष रहता है। नुम् मित् है। 'मिदचोऽन्त्यात् परः' से नुम् अन्त्य अच् से परे होता है।

स्वा०द०वृ०—'अन्ने' इत्यनुवर्त्तते। अद्यते भक्ष्यते तद् **अन्धः**, अन्नमोदनो वा।

उदा०—(1) अन्धः (= अन्न)—अद्यते भक्ष्यते। अद भक्षणे। अद् असुन्—धकार अन्तादेश—अध् अस्—नुम् आगम—अन् ध् अस्—अनुबन्धलोप, सु, सकारलोप।

(651) स्कन्देश्च स्वाङ्गे [4.208]

पद०—स्कन्देः 5.1, च—अव्य०, स्वाङ्गे 7.1

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का तथा 'अदेर्नुम्धौ च' (उ०सू० 4.207) से 'धः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—स्कन्द्धातोर् असुन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च धकारान्ताऽऽदेशः स्यात्।

व्याख्या—'स्कन्देः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'स्कन्देः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'स्कन्देः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—स्कन्द् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है तथा धातु को धकार आदेश होता है। धकार आदेश 'अलोऽन्त्यस्य' से धातु के अन्त्य अल् (दकार) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—स्कन्दते गच्छति चेष्टते शुष्यति वा येन तत् **स्कन्धः**, बाहुमूलं वृक्षावयवो वा। अकारान्तोऽप्ययम्।

उदा०—(1) स्कन्धः (= कन्धा)—स्कन्दते गच्छति येन। स्कन्दिर् गति-शोषणयोः। स्कन्द् असुन्—अनुबन्धलोप, धकार अन्तादेश—स्कन्ध् अस्—सु—अपृक्त सकार का लोप।

(2) स्कन्धः—अकारान्त रूप भी प्राप्त होता है।

(652) आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा [4.209]

पद०—आपः 5.1, कर्माख्यायाम् 7.1, ह्रस्वः 1.1, नुट् 1.1, च—अव्य०, वा—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—आप्धातोर् असुन्प्रत्ययो भवति, धातोश्च ह्रस्वाऽऽदेशो विभाषया भवति, प्रत्ययस्य नुट् आगमश्च विभाषया भवति।

व्याख्या—'आपः' पद की पूर्ववत् आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—यदि 'कर्म' अर्थ वाच्य हो तो आप् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है तथा धातु को ह्रस्व आदेश विकल्प से होता है तथा प्रत्यय को नुट् आगम विकल्प से होता है।

नुट् का टकार इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। 'न्' शेष रहता है। नुट् टित् है। प्रत्यय का आद्यवयव बनता है। 'आद्यन्तौ टकितौ'। ह्रस्वादि सञ्ज्ञाएँ अच् वर्णों की हुआ करती हैं। अतः आप् धातु के आकार के स्थान पर ह्रस्व आदेश प्राप्त है। 'स्थानेऽन्तरतमः' से आकार के स्थान पर अकार ह्रस्व आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—आप्यते सुखं येन तत् **अप्नः**; **अपः**, अपत्यं सुकर्म वा। ह्रस्वस्यापि विकल्पे—**'आपः'** इत्यपि भवति। **'आपोभिर्मार्जनं कृत्वा'** इत्यादिसत्प्रयोगदर्शनात्।

उदा०—(1) अप्नः (= अपत्य, सुकर्म)—आप्यते सुखं येन। आप्लृ व्याप्तौ। आप् असुन्—अनुबन्धलोप—आप् अस्—नुट् आगम, धातु को ह्रस्व आदेश—अप् न् अस्—सु, अपृक्त सकार का लोप।

(2) अपः—नुट् अभाव पक्ष, ह्रस्व आदेश पक्ष—आप्—अप् अस् सु।

(3) आपः—नुट् आगम अभाव पक्ष, ह्रस्व आदेश अभाव पक्ष, सु।

(653) रूपे जुट् च [4.210]

पद०—रूपे 7.1, जुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का तथा 'आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो०' (उ०सू० 4.209) से 'आपः' और 'ह्रस्वः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—आप्धातोः असुन्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च ह्रस्वादेशः स्यात्, प्रत्ययस्य 'जुट्' इत्यागमो भवति रूपे गम्यमाने।

व्याख्या—यदि 'रूप' अर्थ वाच्य हो तो आप् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है, धातु को ह्रस्व आदेश होता है तथा प्रत्यय को 'जुट्' आगम होता है। 'ट्' इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। 'ज्' शेष रहता है। जुट् टित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से 'जुट्' आगम प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—आप इत्येव। आप्यते यत् तद् **अब्जः** रूपम्; अद्भ्यो जात इति निर्वचने **अब्जः** कमलं वा।

उदा०—(1) अब्जः (= रूप, कमल)—आप्यते यत्। आप् असुन्—आप् जुट् असुन्—अनुबन्धलोप—आप् ज् अस्—ह्रस्व आदेश—अप् जस्—पकार को बकार—अब् जस् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(654) उदके नुम्भौ च [4.211]

पद०—उदके 7.1, नुम्भौ 1.2, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुकेऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का तथा 'आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च' (उ०सू० 4.208) से 'आपः' और 'ह्रस्वः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—उदके गम्यमाने आप्धातोर् असुन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च भकारा-ऽन्तादेशो ह्रस्वादेशः नुमागमश्च भवन्ति।

व्याख्या—'उदक' अर्थ वाच्य हो तो आप् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है तथा धातु को नुम् आगम, ह्रस्व आदेश और भकार आदेश होते हैं। 'अलोऽन्त्यस्य' से भकार आदेश धातु के अन्त्य अल् (पकार) के स्थान पर होता है। नुम् का 'न्' शेष रहता है। 'मिदचोऽन्त्यात् परः' से नुम् आगम अन्त्य अच् से परे होता है।

स्वा०द०वृ०—आप इत्येव। आप्यते तत् **अम्भः** उदकम्। अम्भसा वर्त्तते इति **'आम्भसिकः'** मत्स्यः।

उदा०—(1) अम्भः (= जल)—आप्यते तत्। आप् → अप् ह्रस्वादेश—अन् भ्—नुम् आगम, 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार—अंभ् अस्—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से परसवर्ण—अम्भस् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(2) आम्भसिकः—अम्भसा वर्त्तते। अम्भस् इक—आदिवृद्धि, सु। 'ओजः-सहोम्भसा वर्त्तते' (पा० 4.4.27) से ठक्।

(655) नहेर्दिवि भश्च [4.212]

पद०—नहेः 5.1, दिवि 7.1, भः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—दिवि गम्यमाने नह्धातोर् असुन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च भकारोऽन्तादेशः स्यात्।

व्याख्या—यदि 'अन्तरिक्ष' अर्थ वाच्य हो तो नह् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है तथा धातु को भकार आदेश होता है। भकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'अलोऽन्त्यस्य' से भकार आदेश धातु के अन्त्य अल् (हकार) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—नह्यति घर्मं बध्नातीति **नभः**, मेघधूल्यादियुक्त आकाशः श्रावणमासो वा; नभोऽस्मिन् शुद्धमस्तीति **'नभस्यः'** भाद्रो मासः।

उदा०—(1) नभः (= अन्तरिक्ष, श्रावण मास)—नह्यति धर्मं बध्नाति। णह बन्धने। 'णो नः' (पा० 6.1.62) से णकार के स्थान पर नकार होता है—नह् असुन्—अनुबन्धलोप, धातु को भकार अन्तादेश—नभ् अस् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(2) नभस्यः (= भाद्रपद मास)—'मत्वर्थे मासतन्वोः' (पा० 4.4.128)।

(656) इण आगोऽपराधे च [4.213]

पद०—इणः 5.1, आगः 1.1, अपराधे 7.1, च—अव्य० ।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अपराधे गम्यमाने 'इ'धातोर् असुन्प्रत्ययो भवति, धातोश्च स्थाने 'आग' इत्यादेशो भवति ।

व्याख्या—'इणः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'इणः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'इणः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—'इ' धातु से परे 'असुन्' प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर 'आग' आदेश होता है, यदि 'अपराध' अर्थ वाच्य हो। 'आग' अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से 'आग' आदेश समग्र स्थानी (अर्थात् इ) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—ईयते प्राप्यते ज्ञायते वा तत् **आगः**, अपराधो दण्डो वा ।

उदा०—(1) आगः (= अपराध, पाप, दण्ड)—ईयते प्राप्यते (दुःखं येन) तत्। इण् गतौ। इ—आग असुन्—'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यं तच्च टेः' (वा०) से पररूप—आगस् सु—'स्वमोर्नपुंसकात्' से सुलुक्—आगस्—रु, विसर्ग।

(657) अमेर्हुक् च [4.214]

पद०—अमेः 5.1, हुक् 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अम्धातोर् असुन्प्रत्ययो भवति, धातोश्च 'हुक्' इत्यागमो भवति ।

व्याख्या—अम् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है तथा धातु को हुक् आगम होता है। 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'ह्' शेष रहता है। हुक् कित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से धातु का अन्ताऽवयव बनता है। असुन् का 'अस्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—अमन्ति प्राप्नुवन्ति दुःखं येन तत् **अंहः**, पापं वा ।

उदा०—(1) अंहः (= पाप)—अमन्ति प्राप्नुवन्ति (दुःखं येन)। अम गतौ। अम् हुक् असुन्—अनुबन्धलोप—अम् ह् अस्—'नश्चाऽपदान्तस्य०' (पा० 8.3.24) से अनुस्वार—अंहस् सु—'स्वमोर्नपुंसकात्' (पा० 7.1.33) से सुलुक्, रुत्व, विसर्ग।

(658) रमेश्च [4.215]

पद०—रमेः 5.1, च—अव्य० ।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का तथा 'अमेर्हुक् च' (उ०सू० 4.214) से 'हुक्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—रम्धातोर् असुन्प्रत्ययः स्यात्, धातोश्च 'हुक्' इत्यागमः स्यात्।

व्याख्या—रम् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है तथा धातु को 'हुक्' आगम होता है। 'ह्' शेष रहता है। 'हुक्' आगम धातु का अन्ताऽवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—चात् हुक्। रमते येन तत् **रंहः**, वेगो वा।

उदा०—(1) रंहः (= वेग)—रमते येन तत्। रमु क्रीडायाम्। रम् हुक् असुन्—अनुबन्धलोप—रम् ह् अस्—'नश्चाऽपदान्तस्य०' से अनुस्वार—रंहस् सु—'स्वमोर्नपुंसकात्' से सुलुक्—रंहस्—रुत्व, विसर्ग।

(659) देशे ह च [4.216]

पद०—देशे 7.1, ह 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का तथा 'रमेश्च' (उ०सू० 4.215) से 'रमेः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—देशे गम्यमाने रम्धातोर् असुन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च हकाराऽऽदेशः स्यात्।

व्याख्या—यदि 'देश' अर्थ वाच्य हो तो रम् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है तथा धातु को हकार आदेश होता है। हकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'ह' यह लुप्तप्रथमान्त पद है। 'ह सु' इस दशा में 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण०' (पा० 7.1.39) से सुप् विभक्ति का लुक् होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से हकार आदेश रम् धातु के अन्त्य अल् (मकार) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—चाद् रमेरसुन् [हकारश्चान्तादेशः]। रमन्तेऽस्मिन्निति **रहः**, एकान्तो विश्वासदेशो वा; रह एकान्ते भवं **'रहस्यम्'** वेदान्तं वा। देशादन्यत्र **'रहः'** अव्ययं शब्दान्तरं वास्ति। **रहो** मैथुनसमयस्तत्र भवं **'रहस्यम्'** मैथुनम्। **दिगादित्वाद्** (द्रष्टव्य—अ० 4.3.54) यत्।

उदा०—(1) रहः (= एकान्त)—रमन्तेऽस्मिन्। रम् → रह् असुन्—अनुबन्धलोप—रहस् सु—'स्वमोर्नपुंसकात्' से सुलुक्, रुत्व, विसर्ग।

(2) रहस्यम्—रहसि भवो—रहस् यत् (द्रष्टव्य—दिगादिभ्यो यत्—पा० 4.3.54)।

(660) अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्यः कुश्च [4.217]

पद०—अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्यः 5.3, कुः 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अञ्च् अञ्ज् युज् भृज्—इत्येतेभ्यो धातुभ्योऽसुन् स्याद् धातोश्च कुत्वं स्यात्।

व्याख्या—अञ्च्, अञ्ज्, युज् और भृज्—इन धातुओं से परे असुन् प्रत्यय होता है तथा धातु को 'कु' आदेश होता है। कु = कवर्गीय वर्ण, जो पाँच हैं। यथा—क्, ख्, ग्, घ् और ङ्। 'अलोऽन्त्यस्य' से धातु के अन्त्य अल् के स्थान पर कुत्व आदेश होता है। 'असुन्' का 'अस्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—अञ्चति गच्छति येन तत् **अङ्कः**, सङ्ख्याद्योतकं चिह्नं वा। अनक्ति व्यक्तीकरोतीति **अङ्गः** पक्षी वा। अवयवे **'अङ्ग'**शब्दोऽदन्तः। युज्यते स **योगः**, समाधिः कालो वा। भर्जति पक्वं भवतीति **भर्गः**, प्रजापतिः तेजो वा।

बाहुलकात्—उच्यते यत्र तत् **ओकः**, स्थानं वा। **न्यङ्क्वादित्वात्** कुत्वम्।

उदा०—(1) अङ्कः (= अङ्क)—अञ्चति गच्छति। अञ्चु गतौ। अञ्च् असुन्—कुत्व—अञ् क् अस्—'स्थानेऽन्तरतमः' (पा० 1.1.50) से चकार के स्थान पर कवर्गीय ककार आदेश हुआ, 'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' से निमित्त (चकार) के हट जाने पर नैमित्तिक (ञकार) की निवृत्ति हुई, ञकार अपने मूल स्वरूप (अनुस्वार) को प्राप्त हुआ, 'अनुस्वारस्य ययि०' (पा० 8.4.57) से परसवर्ण—अङ्कस् सु—सुलुक्, रुत्व, विसर्ग।

(2) अङ्गः (= पक्षी)—अनक्ति व्यक्तीकरोति। अञ्जु व्यक्तीकरणादिषु। अञ्ज् असुन्—अञ्ज् अस्—अञ्ग् अस्—अंग् अस्—अङ्ग् अस् सु—पूर्ववत्।

(3) योगः (= मेलन)—युज्यत इति। युजिर् योगे। युज् असुन्—'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से लघूपध गुण—योज् अस्—कुत्व, सु, विभक्तिकार्य।

(4) भर्गः (= तेज)—भर्जतीति। भृजी भर्जने। भृज् असुन्—लघूपध गुण, रपरत्व—भर्ज् अस्—कुत्व—भर्गस् सु—विभक्ति कार्य।

(5) ओकः (= घर)—उच्यते यत्र। बाहुलकात् असुन् प्रत्यय। न्यङ्क्वादि होने से कुत्व—ओक् असुन् सु—विभक्तिकार्य। (द्रष्टव्य—'न्यङ्क्वादीनां च' पा० 7.3.53)

(661) भूरञ्जिभ्यां कित् [4.218]

पद०—भूरञ्जिभ्याम् 5.2, कित् 1.1

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—भू रञ्ज्—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् असुन्प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः स्यात्।

व्याख्या—भू तथा रञ्ज्—इन धातुओं से परे असुन् प्रत्यय होता है तथा वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने के दो प्रयोजन हैं—(i) आर्धधातुक गुण का निषेध तथा (ii) अनुनासिकलोप।

स्वा०द०वृ०—भवन्ति यस्मिन्निति **भुवः**, अन्तरिक्षं वा। रजति तत् **रजः**, लोकः सूक्ष्मधूलिः स्त्रीपुष्पं गुणो वा। अकारान्तश्च ['रज' शब्दः]।

उदा०—(1) भुवः (= अन्तरिक्ष)—भवन्ति यस्मिन्। भू सत्तायाम्। भू असुन्—अनुबन्धलोप—भू अस्—गुणनिषेध, 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' (पा० 6.4.77) से उवङ् आदेश—भुवस् सु—सुलोप, रुत्व, विसर्ग।

(2) रजः (= धूल, स्त्रीपुष्प)—रजति तत्। रञ्ज रागे। रञ्ज् असुन्—'अनिदितां हल उपधाया०' (पा० 6.4.24) से अनुनासिकलोप—रजस् सु—पूर्ववत्। 'रजस्' शब्द का भीमादिगण में पाठ है। द्रष्टव्य—'भीमादयोऽपा०' (पा० 3.4.74)। अतः अपादान में प्रत्यय होता है। अकारान्त 'रज' शब्द भी होता है।

(662) वसेर्णित् [4.219]

पद०—वसेः 5.1, णित् 1.1

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से **'असुन्'** का अनुवर्त्तन है।

सं०—वस्धातोर् असुन्प्रत्ययः स्यात्, स च णित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—वस् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है और वह णित्सञ्ज्ञक होता है। णित्करण वृद्धि आदेश के लिए है।

स्वा०द०वृ०—वस्त आच्छादयति शरीरादिकमनेन तत् **वासः**, वस्त्रं वा। असुनो णिद्वद्भावाद् वृद्धिः।

उदा०—(1) वासः (= वस्त्र)—वस्त आच्छादयति। वस आच्छादने। वस् असुन्—अनुबन्धलोप—वस् अस्—'अत उपधायाः' (पा० 7.2.116) से उपधा-वृद्धि—वासस् सु—'स्वमोर्नपुंसकात्' (पा० 7.1.23) से सुलुक्, रुत्व, विसर्ग।

(663) चन्देरादेश्च छः [4.220]

पद०—चन्देः 5.1, आदेः 6.1, च—अव्य०। छः 1.1

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से **'असुन्'** का अनुवर्त्तन है।

सं०—चन्द्धातोर् असुन्प्रत्ययो भवति, धातोश्च आदेः छकाराऽऽदेशः स्यात्।

व्याख्या—'चन्देः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'चन्देः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'चन्देः' पद को विभक्ति

विपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—चन्द् धातु से परे 'असुन्' प्रत्यय होता है तथा धातु के आदि वर्ण के स्थान पर छकार आदेश होता है। छकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—चन्दति ह्रष्यति येन दीप्यते वा तत् **छन्दः**, गायत्र्यादि कपटमिच्छाऽभिप्रायो वशो वा। **'छन्दानुवृत्तिः'** इत्यादिप्रयोगदर्शनादकारान्तोऽप्ययं शब्द इति मन्तव्यम्।

उदा०—(1) छन्द: (= छन्द, छल)—चन्दति ह्रष्यति येन। चदि आह्लादने। 'इदितो नुम् धातो:' (पा० 7.1.58) से नुम् आगम—च न् द्—'नश्चाऽपदान्तस्य०' (पा० 8.3.24) से अनुस्वार—चंद्—'अनुस्वारस्य ययि०' (पा० 8.4.57) से परसवर्ण—चन्द् → छन्द्—आदि वर्ण (चकार) को छकार आदेश—छन्द् असुन् सु—पूर्ववत्।

यदि सूत्र में 'आदे:' पद का ग्रहण न करते तो छकार आदेश 'अलोऽन्त्यस्य' से दकार के स्थान पर प्राप्त होता जो इष्ट नहीं है।

(664) पचिवचिभ्यां सुट् च [4.221]

पद०—पचिवचिभ्याम् 5.2, सुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—पच् वच्—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् असुन्प्रत्यय: स्यात्, प्रत्ययस्य च 'सुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—पच् तथा वच् धातु से परे असुन् प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को 'सुट्' आगम होता है। टकार इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। 'स्' शेष रहता है। 'सुट्' टित् आगम है। अत: 'आद्यन्तौ टकितौ' से यह प्रत्यय असुन् का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—पचतीति **पक्षः**, पूर्वोत्तरपक्षो वा। वक्ति येन तद् **वक्षः**, हृदयं वा।

उदा०—(1) पक्ष: (= पक्ष, इन्धन)—पचतीति। डुपचष्—हलन्त्यम्, आदिर्ञिटुडव:—पच् सुट् असुन्—अनुबन्धलोप—पच् स् अस्—'चो: कु:' (पा० 8.2.30) से चकार को ककार—पक् स् अस्—'आदेशप्रत्यययो:' से सकार को मूर्धन्य आदेश—पक् ष् अस् सु—विभक्तिकार्य।

(2) वक्ष: (= छाती)—वक्ति येन। वच परिभाषणे। वच् सुट् असुन्—पूर्ववत्।

(665) वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि [4.222]

पद०—वहिहाधाञ्भ्यः 5.3, छन्दसि 7.1

अनु०—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ०सू० 4.190) से 'असुन्' का तथा 'पचिवचिभ्यां सुट् च' (उ०सू० 4.221) से 'सुट्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वह् हा धा—इत्येतेभ्यो धातुभ्योऽसुन्प्रत्ययः स्याच्छन्दसि विषये।

व्याख्या—वेद के विषय में वह्, हा तथा धा—इन धातुओं से परे 'असुन्' प्रत्यय होता है, प्रत्यय को 'सुट्' आगम होता है। 'असुन्' का 'अस्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—सुट्। वहति भारमिति **वक्षाः**, अनड्वान् वा। हीयते हीनो भवतीति **हासाः**, चन्द्रमा वा। दधातीति **धासाः**, पर्वतो वा।

उदा०—(1) वक्षाः (= बैल)—वहति भारम्। वह प्रापणे। वह् सुट् असुन्—अनुबन्धलोप—वह् स् अस्—'हो ढः' (पा० 8.2.31) से ढकार—वढ् स् अस्—'षढोः कः सि' (पा० 8.2.41) से ककार—वक् स् अस्—'आदेशप्रत्यययोः' (पा० 8.3.59) से सकार को मूर्धन्य आदेश—वक्षस् सु—'सान्तमहतः संयोग०' (पा० 6.4.10) से उपधादीर्घ, अपृक्त सकार का लोप—व क्षास् स्—वक्षास्—रुत्व, विसर्ग।

(2) हासाः (= चन्द्र)—हीयत इति। ओहाक् त्यागे। हा सुट् असुन्—पूर्ववत्।

(3) धासाः (= अचल)—दधातीति। डुधाञ् धारणपोषणयोः। धा सुट् असुन्—पूर्ववत्।

विशेष—वेदभाष्यकार प्रकृत सूत्र में 'सुट्' पद की अनुवृत्ति के पक्षधर नहीं हैं। यथा—'विश्वधायाः' शब्द को धा धातु से असुन् प्रत्यय तथा युक् आगम करके निष्पन्न किया गया है। 'यज्ञवाहसः' प्रयोग की सिद्धि में आचार्य सायण (द्रष्टव्य—ऋ०भा० सायण, 1.16.11) ने सुट् आगम नहीं किया है। उन्होंने यहाँ णित् का अनुवर्त्तन करते हुए 'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि की है। प्रकृत में सुट् आगम के बिना धायः, वाहः, हायः आदि रूप निष्पन्न होते हैं।

(666) इणश्चासिः [4.223]

पद०—इणः 5.1, च—अव्य०, आसिः 1.1

सं०—इधातोर् आसिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'इ' धातु से परे 'आसि' प्रत्यय होता है। सकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—एति प्राप्नोतीति **अया:**, अग्निर्वा। **स्वरादित्वात्** (द्रष्टव्य—अ० 1.1.36) अव्ययम्। अत एव दीर्घादिरासि: प्रत्यय:।

उदा०—(1) अया: (= अग्नि)—एतीति। इण् गतौ। इ आसि—'आर्धधातुकं शेष:' (पा० 3.4.114) से आर्धधातुक सञ्ज्ञा। ए आस्—'सार्वधातुकार्धधातु०' (पा० 7.3.84) से गुण—अय् आस्—'एचोऽयवायाव:' से अय् आदेश—अयास् सु—अव्यय होने से 'अव्ययादाप्सुप:' (पा० 2.4.82) से सुलुक्, रुत्व, विसर्ग।

(667) मिथुनेऽसि: [4.224]

पद०—मिथुने 7.1, असि: 1.1

सं०—सोपसर्गेभ्यो धातुभ्योऽसिप्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—उपसर्गयुक्त धातु से परे 'असि' प्रत्यय होता है। सकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—यत्रोपसर्गो धातुक्रियया संयुक्तस्तन्मिथुनम्। तत्र सति येभ्यो धातुभ्योऽसुन् विधीयते तेभ्य: सर्वेभ्योऽसिरेव स्यात्। [पूर्ववच्च सर्वमिति वचनात् प्रकृतिप्रत्यययोगआगमादेशाश्च पूर्ववदेव द्रष्टव्या:।] स्वरभेदार्थं सूत्रमिदम्। **सुपया:, सुतपा:, सुयशा:, न्योजा:, सुजवा:, सुस्रोता:** इत्यादयो द्रष्टव्या:।

उदा०—(1) सुपया: (= सुजल)—सु पा असि—सु पी अस्—सु पे अस्—अय् आदेश—सुपेयस् सु—'सान्तमहत: संयोग०' से उपधादीर्घ, अपृक्त सकारलोप।

(2) सुतपा: (= सुद्वन्द्व)—सुष्ठु तपतीति। सु तप् असि—सुतपस् सु—विभक्तिकार्य।

(3) सुयशा: (= सुन्दर यश)—शोभनम् अश्नुते। 'अशेर्धने युट् च'। धातु को युट् आगम, असि प्रत्यय।

(4) सुपेशा: (= सुरूप)—सु पेशस् सु—पूर्ववत्।

(5) न्योजा: (= सुवर्चा)—न्योजस् सु—पूर्ववत्।

(6) सुजवा: (= सुवेग)—सुजवस् सु—पूर्ववत्।

(7) सुस्रोता: (= सुनिर्झर)—शोभनं स्रवतीति। 'स्रुरीभ्यां तुट् च' से तुट् आगम।

(8) सुवर्चा:—सुष्ठु वर्चते। सु वर्च दीप्तौ असि।

(668) नञि हन एह च [4.225]

पद०—नञि 7.1, हन: 5.1, एह 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'मिथुनेऽसि:' (उ०सू० 4.224) से 'असि:' का अनुवर्त्तन है।

सं०—नञि उपपदे हन्धातोर् असिप्रत्ययः स्याद् धातोश्च स्थाने 'एह' इत्यादेशः स्यात्।

व्याख्या—'हनः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'हनः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'हनः' पद को विभक्तिविपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त बना लिया जाता है। इसका 'एह' के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—यदि 'नञ्' उपपद हो तो हंन् धातु से परे 'असि' प्रत्यय होता है और धातु के स्थान पर 'एह' आदेश होता है। 'एह' लुप्तप्रथमान्त पद है। 'एह सु'—इस दशा में 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण०' (पा० 7.1.39) से 'सु' विभक्ति का लुक् है। 'एह' अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से 'एह' आदेश सम्पूर्ण स्थानी (हन् धातु) के स्थान पर होता है। हकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—न हन्यते विच्छिन्नो न भवतीति **अनेहाः**, कालो वा; **अनेहसौ, अनेहसः**।

उदा०—(1) अनेहाः (= काल)—न हन्यते। नञ् हन हिंसागत्योः। नञ् हन्—एह असि—अनुबन्धलोप—न एह् अस्—'नलोपो नञः' (पा० 6.3.73) से नकारलोप—अ एह् अस्—'तस्मान्नुड् अचि' (पा० 6.3.75) से 'नुट्' आगम—अनुट् एह् अस्—अनुबन्धलोप—अनेहस् सु—'सान्तमहतः संयोग०' (पा० 6.4.10) से उपधादीर्घ। अनेहास् स्—अपृक्त सकार का लोप—अनेहास्—रुत्व, विसर्ग।

(669) विधाञो वेध च [4.226]

पद०—विधाञः 5.1, वेध 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'मिथुनेऽसिः' (उ०सू० 4.224) से 'असिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वौ उपपदे धाधातोर् असिप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च 'वेध' इत्यादेशः स्यात्।

व्याख्या—'विधाञः' पद की आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। वि पूर्वक धा धातु से परे असि प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर 'वेध' आदेश होता है। 'वेध' अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से 'वेध' आदेश सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् विपूर्वक धा) के स्थान पर होता है। 'वेध' लुप्तप्रथमान्त रूप है। 'वेध' के धकार में स्थित अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—विशेषेण दधातीति **वेधाः**, विद्वान् विधाता जगदीश्वरो वा; **वेधसौ; वेधसः; वेधसम्**।

उदा०—(1) वेधाः (= विद्वान्, ब्रह्मा)—विशेषेण दधातीति। वि डुधाञ् असि—वेध् असि—वेधस् सु।

(670) नुवो धुट् च [4.227]

पद०—नुवः 5.1, धुट् 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'मिथुनेऽसिः' (उ०सू० 4.224) से 'असिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—नुधातोर् असिप्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य 'धुट्' इत्यागमः स्यात्।

व्याख्या—'नु' धातु से परे असि प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को 'धुट्' आगम होता है। टकार 'हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। 'ध्' शेष रहता है। 'धुट्' आगम टित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से धुट् आगम प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—नौति स्तौति नूंयते स्तूयते वा स **नोधाः**, ऋषिर्वा।

उदा०—(1) नोधाः (= ऋषि)—नौति स्तौति स्तूयते वा। णु स्तुतौ। 'णो नः' से नकार—नु धुट् अस्—अनुबन्धलोप—नु ध स्—'सार्वधातुकार्धधातुक०' से गुण। नोधस् सु—विभक्तिकार्य।

(671) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरत्वं च [4.228]

पद०—गतिकारकोपपदयोः 7.2, पूर्वपदम् 1.1, प्रकृतिस्वरत्वम् 1.1, च—अव्य०।

अनु०—'मिथुनेऽसिः' (उ०सू० 4.224) से 'असिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—गतिकारकयोर् उपपदयोर् धातोर् असिप्रत्ययः स्यात्, तस्मिन् सति गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं स्यात्।

व्याख्या—गतिसञ्ज्ञक अथवा कारक शब्द के उपपद रहते धातु से परे प्रत्यय होता है तथा इनके (अर्थात् गति और कारक के) उपपद रहते प्रकृतिस्वर होता है। यह 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (पा० 6.2.138) से प्राप्त उत्तरपद प्रकृतिस्वर का अपवाद है।

स्वा०द०वृ०—गतिकारकोपपदाद्धातोरसिः प्रत्ययो भवति, तस्मिन् सति गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। उत्तरपदप्रकृतिस्वरस्यापवादः। गतौ—**सुतपाः, सुतेजाः, सुवक्षाः**। कारके—**उग्रतेजाः, हिरण्यरेताः, जातवेदाः, सर्ववेदाः, विश्ववेदाः**। वृद्धेभ्यः शृणोतीति **वृद्धश्रवाः**। विष्टर आसने शृणोतीति **विष्टरश्रवाः** इत्यादि।

उदा०—(1) सुतपाः (= सम्यक् तप्त)—सुष्ठु तपतीति। सु तप् अस्—सुतपस् सु—'सान्तमहतः०' से उपधादीर्घ—सुतपास् सु—अपृक्त सकारलोप।

(2) सुतेजाः (= वर्चस्वी)—सुतेजस् सु—पूर्ववत्।

(3) सुवक्षाः (= चौड़ी व सुन्दर छाती वाला)—सुवक्षस् सु—पूर्ववत्।
(4) उग्रतेजाः (= प्रचण्ड तेज वाला)—उग्रतेजस् सु—पूर्ववत्।
(5) हिरण्यरेताः (= ब्रह्मा) हिरण्यरेतस् सु—पूर्ववत्।
(6) जातवेदाः (= ईश्वर)—जातवेदस् सु—पूर्ववत्।
(7) सर्ववेदाः (= ईश्वर)—सर्ववेदस् सु—पूर्ववत्।
(8) विश्ववेदाः (= ईश्वर)—विश्ववेदस् सु—पूर्ववत्।
(9) वृद्धश्रवाः—वृद्धश्रवस् सु—पूर्ववत्।
(10) विष्टरश्रवाः—विष्टरश्रवस्—सु। पूर्ववत्।

(672) चन्द्रे मो डित् [4.229]

पद॰—चन्द्रे 7.1, मः 5.1, डित् 1.1

अनु॰—'मिथुनेऽसिः' (उ॰सू॰ 4.224) से 'असिः' का अनुवर्त्तन है।

सं॰—चन्द्र उपपदे माधातोर् असिप्रत्ययः स्यात्, स च डित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—'चन्द्र' शब्द के उपपद रहते मा धातु से परे असि प्रत्यय होता है तथा वह डित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को डित् करने का प्रयोजन टिलोप करना है।

स्वा॰द॰वृ॰—चन्द्रमानन्दं मिमीतेऽसौ **चन्द्रमाः**, सोमो वा; **चन्द्रमसौ, चन्द्रमसः**।

उदा॰—(1) चन्द्रमाः (= चन्द्रमा)—चन्द्रं मिमीतेऽसौ। माङ् माने। चन्द्र मा असि—टि का लोप—चन्द्र म् अस् सु—'अत्वसन्तस्य चाऽधातोः' (पा॰ 6.4.14) से उपधादीर्घ—चन्द्रमास् स्—अपृक्त सकार का लोप—चन्द्रमास्—रुत्व, विसर्ग।

(673) वयसि धाञः [4.230]

पद॰—वयसि 7.1, धाञः 5.1

अनु॰—'मिथुनेऽसिः' (उ॰सू॰ 4.224) से 'असिः' का अनुवर्त्तन है।

सं॰—वयस्युपपदे धाधातोर् असिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'वयस्' शब्द के उपपद रहते धा धातु से परे असि प्रत्यय होता है। असि के इकार का लोप होता है। 'अस्' शेष रहता है।

स्वा॰द॰वृ॰—वयो दधातीति **वयोधाः**, तरुणो वा।

उदा॰—(1) वयोधाः (= युवा)—वयो दधातीति। वयस् डुधाञ् असि—आदिर्ञिटुडवः, हलन्त्यम्, अनुबन्धलोप—वयस् धास्—ससजुषो रुः, हशि च—वयोधास् सु।

(674) पयसि च [4.231]

पद०—पयसि 7.1, च—अव्य० ।

अनु०—'मिथुनेऽसिः' (उ०सू० 4.224) से 'असिः' का तथा 'वयसि धाञः' (उ०सू० 4.230) से 'धाञः' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—पयस्युपपदे धाधातोर् असिप्रत्ययः स्यात् ।

व्याख्या—'पयस्' शब्द के उपपद रहते धा धातु से परे असि प्रत्यय होता है । प्रत्यय का 'अस्' शेष रहता है । 'पयस्' शब्द के दो अर्थ हैं—(i) जल तथा (ii) दूध ।

स्वा०द०वृ०—धाञ इत्येव । पयो दधातीति **पयोधाः**, समुद्रो वा मेघविशेषः स्तनो वा ।

उदा०—(1) पयोधाः (= सागर, स्तन)—पयो दधातीति । पयस् डुधाञ् असि—सभी कार्य पूर्ववत् । पयो दुग्धं दधाति—स्तनम् । पयो जलं दधातीति = सागरः ।

(675) पुरसि च [4.232]

पद०—पुरसि 7.1, च—अव्य० ।

अनु०—'मिथुनेऽसिः' (उ०सू० 4.224) से 'असिः' का तथा 'वयसि धाञः' (उ०सू० 4.230) से 'धाञः' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—पुरस्युपपदे धाधातोर् असिप्रत्ययः स्यात् ।

व्याख्या—'पुरस्' शब्द के उपपद रहते 'धा' धातु से परे असि प्रत्यय होता है । 'असि' का 'अस्' शेष रहता है । 'पुरस्' का अर्थ है—अग्रभाग ।

स्वा०द०वृ०—धाञ इत्येव । पुरोऽग्रे यजमानं दधातीति **पुरोधाः**, पुरोहितो वा ।

उदा०—(1) पुरोधाः (= पुरोहित)—पुरोऽग्रे दधातीति । पुरस् डुधाञ् असि—शेष पूर्ववत्

(676) पुरूरवाः [4.233]

पद०—पुरूरवाः 1.1

सं०—'पुरूरवस्'शब्दोऽसिप्रत्ययान्तो निपात्यते ।

व्याख्या—'पुरूरवस्' शब्द असि प्रत्ययान्त निपातित है । पुरूपूर्वक 'रु' धातु से 'असि' प्रत्यय का निपातन है ।

स्वा०द०वृ०—पुरू बहु रौत्युपदिशति ब्रवीति वा स **पुरूरवाः**, राजर्षिर्वा ।

उदा०—(1) पुरूरवाः (= राजर्षि)—पुरू बहु रौत्युपदिशति । पुरू अस्—आर्धधातुकं शेषः, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण—पुरू रो अस्—'एचोऽयवायावः' से अय् आदेश, सु ।

(677) चक्षेर्बहुलं शिच्च [4.234]

पद०—चक्षेः 5.1, बहुलम् 2.1, शित् 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'मिथुनेऽसिः' (उ०सू० 4.224) से सम्पूर्ण सूत्र का अविकल अनुवर्त्तन है ।

सं०—उपपदे भूते चक्ष्धातोर् असिप्रत्ययः बहुलं स्यात्, स चं शित्सञ्ज्ञः ।

व्याख्या—उपपदपूर्वक चक्ष् धातु से असि प्रत्यय बहुलता से होता है और वह शित्सञ्ज्ञक होता है । 'असि' प्रत्यय 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुकसञ्ज्ञक होता है । आर्धधातुकसञ्ज्ञक प्रत्यय के परे रहते 'चक्षिङः ख्याञ्' (पा० 2.4.54) से चक्ष् धातु के स्थान पर 'ख्या' आदेश होता है । 'ख्या' आदेश के बाध के लिए 'असि' प्रत्यय को प्रकृत सूत्र के द्वारा शित् किया गया है । शित् करने से 'असि' प्रत्यय की सार्वधातुक सञ्ज्ञा हो जाती है । (द्रष्टव्य—'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' पा० 3.4.113) ।

स्वा०द०वृ०—विशेषेण चष्टेऽसौ **विचक्षाः**, उपाध्यायो वा । नॄन् चष्टे पश्यति ख्याति वा स **नृचक्षाः**, ईश्वरो दुष्टो वा । शित्त्वाभावपक्षे—आचष्टेऽसौ **'आख्याः; प्रख्याः'**, प्रजापतिर्वा ।

उदा०—(1) विचक्षाः (= उपाध्याय)—विशेषेण चष्टेऽसौ । वि चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि असि—वि चक्ष् अस्—विचक्षस् सु—'अत्वसन्तस्य०' से उपधादीर्घ—विचक्षास् स्—अपृक्त सकार का लोप—विचक्षास्—रुत्व, विसर्ग ।

(2) नृचक्षाः (= ईश्वर, खल)—नॄन् चष्टे । नृ चक्ष् असि—पूर्ववत् ।

(3) आख्याः (= प्रजापति)—आचष्टेऽसौ । आ चक्षिङ् असि—अनुबन्ध-लोप—आ चक्ष् अस्—असि प्रत्यय बहुलता से शित् होता है, शित्त्व अभाव पक्ष में असि प्रत्यय की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, चक्ष् के स्थान पर ख्या आदेश—आ ख्या अस् सु—पूर्ववत् ।

(4) प्रख्याः (= प्रजापति)—प्रकृष्टरूपेण चष्टेऽसौ । प्र चक्ष् असि—पूर्ववत् ।

(678) उषः किच्च [4.235]

पद०—उषः 5.1, कित् 1.1, च—अव्य० ।

अनु०—'मिथुनेऽसिः' (उ०सू० 4.224) से 'असिः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—उष्धातोर् असिप्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—उष् धातु से परे असि प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन लघूपध गुण का निषेध करना है। दशपादीवृत्ति (9.94) में 'वस निवासे' धातु से असि प्रत्यय किया है। यथा—वसति तस्याम्। वस् असि—सम्प्रसारण—उस् अस्—मूर्धन्य आदेश—उषस् सु।

स्वा०द०वृ०—असिः। ओषति दहतीति **उषः**, कर्णछिद्रं पर्वतभेदः [वा]; स्त्रियां सूर्योदयात् प्राक् प्रभातप्रकाशः **उषाः** वा। उषःकाले बुध्यते इति **'उषर्बुधः'**, अग्निर्बालः संयमी वा। कप्रत्ययान्ताट्टापि कृते **उषा** रात्रिरित्यपि भवति।

उदा०—(1) उषः (= प्रातःवेला, कर्णविल)—ओषति दहति। उष दाहे। उष् असि—अनुबन्धलोप—उष् अस्—'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से लघूपध गुण प्राप्त, निषेध, सु।

(2) उषा (= रात्रि)—'क' प्रत्यय, 'लशक्वतद्धिते' से 'क्' इत्सञ्ज्ञक—उष् अ—उष—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्—उषा सु—अपृक्त सकार का लोप।

(679) दमेरुनसिः [4.236]

पद०—दमेः 5.1, उनसिः 1.1
सं०—दम्धातोर् उनसिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—दम् धातु से परे 'उनसि' प्रत्यय होता है। सकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है। दशपादीवृत्ति (9.95) में 'ऊनसि' प्रत्यय का विधान है।

स्वा०द०वृ०—दाम्यत्युपशमयतीति **दमुनाः**, अग्निर्वा।

उदा०—(1) दमुनाः (= अग्नि)—दाम्यत्युपशमयति। दमु उपशमे। दम् उनसि—दम् उनस् सु—'चन्द्रमाः' की तरह।

(2) दमूनाः—दम् ऊनस् सु—पूर्ववत्।

(680) अङ्गेरसि [4.237]

पद०—अङ्गेः 5.1, असि 1.1
सं०—अङ्ग्धातोर् असिप्रत्ययः स्यात्। प्रत्ययस्य रुडागमो बहुलवचनाद् भवति।

व्याख्या—'अङ्ग्' धातु से परे असि प्रत्यय होता है तथा बहुलवचनात् प्रत्यय

को रुट् आगम होता है। असि का 'अस्' शेष रहता है। रुट् का टकार इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। रेफ शेष रहता है। रुट् टित् है, अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' से प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—अङ्गति प्राप्नोति जानाति वा स **अङ्गिराः**, ईश्वरोऽग्निः ऋषिभेदो वा; तस्यापत्यम् **'आङ्गिरसः'**। असिप्रत्ययस्य इरुडागमः।

उदा०—(1) अङ्गिराः (= एक ऋषि, अग्नि, ईश्वर)—अङ्गति प्राप्नोति। अगि—अ नुम् ग्—'इदितो नुम् धातोः' से नुम् आगम—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार। अंग्—'अनुस्वारस्य ययि०' से परसवर्ण। अङ्ग् रुट् असि—अनुबन्धलोप—अङ्ग् इ र् अस् सु—विभक्तिकार्य।

(2) आङ्गिरसः (= अङ्गिरा ऋषि का पुत्र)—'तस्याऽपत्यम्' के अधिकार में अण् प्रत्यय—अङ्गिरस् अ—आदिवृद्धि, सु।

(681) सर्त्तेरप्पूर्वपदादसिः [4.238]

पद०—सर्त्तेः 5.1, अप् पूर्वपदात् 5.1, असिः 1.1

सं०—अप्पूर्वपदात् सृधातोर् असिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'अप्' शब्द के पूर्वपद रहते सृ धातु से परे 'असि' प्रत्यय होता है। असि का 'अस्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—अपसरति विरुद्धं गच्छतीति **अप्सराः** [विद्युत्]। उपसर्गान्त्यलोपः। अथवाऽप्सु जलेषु प्राणेषु वा सरन्तीति **अप्सरसः**, किरणा वा; अथवा न प्सान्ति भक्षयन्ति रक्षां कुर्वन्तीति **अप्सरसः**, प्रत्ययस्य रुट् [धातोर्ह्रस्वत्वं च]। नित्यबहुवचनान्तः स्त्रीलिङ्गश्च।

उदा०—(1) अप्सरसः (= किरण), अप्सराः (= विद्युत्)—अपसरति विरुद्धं गच्छति अप्सराः (= विद्युत्)। अप सृ गतौ असि—उपसर्ग के अन्त्य अल् का लोप बहुलता से। अप् सर् अस्—आर्धधातुक गुण, रपरत्व, सु—विभक्तिकार्य। अथवा अप्सु जलेषु (प्राणेषु वा) सरन्तीति—अप्सरसः (किरणाः)। अथवा न प्सान्ति भक्षयन्ति। नञ् प्सा रुट् अस्—धातु को ह्रस्व आदेश। अ प्सर् अस् सु।

(682) विदिभुजिभ्यां विश्वेऽसिः [4.239]

पद०—विदिभुजिभ्याम् 5.2, विश्वे 7.1, असिः 1.1

सं०—विश्वशब्द उपपदे विद् भुज्—इत्येताभ्यां धातुभ्याम् असिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'विश्व' शब्द के उपपद रहते विद् और भुज्—इन धातुओं से परे असि प्रत्यय होता है। 'अस्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—विश्वं सर्वं वेत्ति जानातीति **विश्ववेदाः**, जगदीश्वरो वा; विश्वे विद्यते विश्वं वा विन्दति स **विश्ववेदाः**, अग्निर्वा। विश्वं भुनक्ति प्रलयसमये कारणरूपेण स्वात्मनि स्थापयति वा विश्वं पालयतीति **विश्वभोजाः**, ईश्वरो राजा वा।

उदा०—(1) विश्ववेदाः (= अग्नि, ईश्वर)—विश्वं सर्वं वेत्ति जानाति। विश्व विद् असि—आर्धधातुक गुण, सु।

(2) विश्वभोजाः (= राजा, स्वामी)—विश्वं भुनक्ति। विश्व भुज् असि—लघूपध गुण। विश्वभोजस् सु—पूर्ववत् विभक्तिकार्य।

(683) वशेः कनसिः [4.240]

पद०—वशेः 5.1, कनसिः 1.1

सं०—वश्धातोः कनसिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—वश् धातु से परे कनसि प्रत्यय होता है। 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.8) से 'क्' इत्सञ्ज्ञक है। सकारस्थ इकार उच्चारणार्थ है। 'कनसि' का 'अनस्' शेष रहता है। 'क्' अनुबन्ध सम्प्रसारण कार्य के लिए है।

स्वा०द०वृ०—वष्टि कामयते स **उशनाः**, शुक्रः वारो वा। सम्प्रसारणादि-कार्यम्।

उदा०—(1) उशनाः (= शुक्रवार, भृगु का पुत्र)—वष्टि कामयते। वश कान्तौ। वश् कनसि—अनुबन्धलोप—वश् अनस्—'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' (पा० 6.1.16) से वकार के स्थान पर सम्प्रसारण प्राप्त, 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' (पा० 1.1.45) तथा 'स्थानेऽन्तरतमः' (पा० 1.1.50) से वकार के स्थान पर उकार, उ अश् अनस्—'सम्प्रसारणाच्च' (पा० 6.1.104) से पूर्वरूप—उशनस् सु—'अत्व-सन्तस्य०' से उपधादीर्घ—उशनास् स्—अपृक्त सकार का लोप।

॥ इति 'पीयूष'संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याद्वयोपेतोणादिकोषे चतुर्थः पादः ॥



पञ्चमः पादः

(684) अदि भुवो डुतच् [5.1]

पद०—अदि 7.1, भुवः 5.1, डुतच् 1.1

सं०—अदि उपपदे भूधातोर् डुतच्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'अद्' शब्द के उपपद रहते भू धातु से परे 'डुतच्' प्रत्यय होता है। डुतच् के डकार की 'चुटू' (पा० 1.3.7) से इत्सञ्ज्ञा है। 'च्' की 'हलन्त्यम्' (पा० 1.3.3) से इत्सञ्ज्ञा है। 'उत' शेष रहता है। प्रत्यय को डित् करने का प्रयोजन टिलोप करना है! 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'चितः' (पा० 6.1.162)। 'अद्' एक अव्यय है। अद्=कदाचित्।

स्वा०द०वृ०—अदित्यव्ययं कदाचिदर्थे। अद् भवतीति **अद्भुतम्** आश्चर्यम्। अद्भुतमधीते, अद्भुताध्यापकः।

उदा०—(1) अद्भुतम् (=विचित्र)—अद् भवति। अद् भू डुतच्—अनुबन्धलोप—अद् भू उत—टिलोप—अद् भ् उत सु—अतोऽम्, अमि पूर्वः।

(685) गुधेरूमः [5.2]

पद०—गुधेः 5.1, ऊमः 1.1

सं०—गुध्धातोर् ऊमप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—गुध् धातु से परे 'ऊम' प्रत्यय होता है। 'आर्धधातुकं शेषः' (पा० 3.4.114) से प्रत्यय आर्धधातुकसञ्ज्ञक है।

स्वा०द०वृ०—गुध्यति वेष्टयतीति **गोधूमः,** अन्नविशेषो वा। गोधूमस्य विकारो **'गोधूममयः'**।

उदा०—(1) गोधूमः (= अनाजविशेष)—गुध्यति वेष्टयति। गुध परिवेष्टने। गुध् ऊम—'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से लघूपध गुण—गोधूम सु।
(2) गोधूममयः—गोधूमस्य विकारः—गोधूम मयट्—'ट्' का लोप, सु।

(686) मसेरूरन् [5.3]

पद०—मसेः 5.1, ऊरन् 1.1

सं०—मस्धातोर् ऊरन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—मस् धातु से परे 'ऊरन्' प्रत्यय होता है। 'न्' इत्सञ्ज्ञक है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—ञ्नित्यादिर्नित्यम्।

स्वा०द०वृ०—मस्यति परिणमतेऽसौ **मसूरः**, व्रीहिभेदो [वा; स्त्रियां टाप्—**मसूरा**] वेश्या वा।

उदा०—(1) मसूरः (= अन्नविशेष)—मस्यति परिणमते। मसी परिणामे। मस् ऊरन्—मसूर सु।

(2) मसूरा (= वेश्या)—मसूर टाप्—अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ, सु, लोप।

(687) स्थः किच्च [5.4]

पद०—स्थः 5.1, कित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'मसेरूरन्' (उ०सू० 5.3) से 'ऊरन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—स्थाधातोर् ऊरन्प्रत्ययः स्यात्, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—स्था धातु से परे ऊरन् प्रत्यय होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। 'ऊरन्' का 'ऊर' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—तिष्ठतीति **स्थूरः**, मनुष्यो वा; तस्यापत्यं **'स्थौर्य्यः'**।

उदा०—(1) स्थूरः (= मनुष्य, बैल)—तिष्ठतीति। ष्ठा गतिनिवृत्तौ। 'धात्वादेः षः सः' से षकार को सकार—सठा—'निमित्ताऽपाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' से ठकार को थकार—स्था ऊरन्—स्था ऊर—स्थ् ऊर—बाहुलकात् धातु के आकार का लोप, सु।

(688) पातेरतिः [5.5]

पद०—वसतेः 5.1, अतिः 1.1

सं०—पाधातोर् अतिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—पा धातु से परे अति प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—पाति रक्षतीति **पातिः** स्वामी; **'सम्पातिः'** पक्षिराजो वा।

उदा०—(1) पातिः (= स्वामी)—पाति रक्षति। पा रक्षणे। पा अति सु। इसी प्रकार—

(2) सम्पातिः (= एक पक्षी)।

(689) वातेर्नित् [5.6]

पद०—वातेः 5.1, नित् 1.1

अनु०—'पातेरतिः' (उ०सू० 5.5) से 'अतिः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—वाधातोर् अतिप्रत्ययः स्यात्, स च नित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—'वा' धातु से परे 'अति' प्रत्यय होता है और वह नित्सञ्ज्ञक होता है। प्रत्यय को नित् करने का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—वाति गच्छतीति **वातिः**, सूर्यश्चन्द्रो वा।

उदा०—(1) वातिः (= सूर्य, चन्द्र, वायु)—वाति गच्छति। वा गतिगन्धनयोः। वा अति—सु।

(690) अर्त्तेश्च [5.7]

पद०—अर्त्तेः 5.1, च—अव्य०।
अनु०— 'पातेरतिः' (उ०सू० 5.5) से 'अतिः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—ऋधातोर् अतिप्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—ऋ धातु से परे 'अति' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—अर्यते गम्यते सा **अरतिः**, उद्वेगो वा।

उदा०—(1) अरतिः (= पीड़ा)—अर्यते गम्यते सा। ऋ गतौ।

(691) तृहेः क्नो हलोपश्च [5.8]

पद०—तृहेः 5.1, क्नः 1.1, हलोपः 1.1, च—अव्य०।
सं०—तृह्धातोः क्नप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च हकारस्य लोपः स्यात्।

व्याख्या—'तृहेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'तृहेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से 'क्न' प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'तृहेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु के अन्त्य अल् का लोप किया जाता है। अर्थ—तृह् धातु से परे 'क्न' प्रत्यय होता है तथा धातु का जो हकार, उसका लोप होता है। 'क्न' के ककार की 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.8) से इत्सञ्ज्ञा होती है। प्रत्यय को कित् करने का प्रयोजन गुणनिषेध करना है।

स्वा०द०वृ०—तृह्यते हन्यते तत् **तृणम्** प्रसिद्धमेव।

उदा०—(1) तृणम् (= तृण)—तृह्यते हन्यते तत्। तृह हिंसायाम्। तृह् क्न—अनुबन्धलोप, हकारलोप। तृ न—'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा०) से णत्व, सु, अतोऽम्।

(692) वृञ्लुठितनिताडिभ्य उलच् तण्डश्च [5.9]

पद०—वृञ्लुठितनिताडिभ्यः 5.3, उलच् 1.1, तण्डः 1.1, च—अव्य०।
सं०—वृञ् लुठ् तन् ताडि—इत्येतेभ्यो धातुभ्य उलच्प्रत्ययः स्याद् धातोश्च स्थाने 'तण्ड' इत्यादेशः स्यात्।

व्याख्या—वृञ्, लुठ्, तन् तथा ताडि—इन धातुओं से परे उलच् प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर 'तण्ड' आदेश होता है। उलच् का 'च्' इत्सञ्ज्ञक है। 'च्' अनुबन्ध का प्रयोजन अन्तोदात्त स्वर करना है। 'तण्ड' में डकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'तण्ड्' अनेकाल् है। 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' से सर्वादेश होता है। अतः वृ आदि प्रकृतियों के स्थान पर 'तण्ड्' आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—व्रियन्ते लुठ्यन्ते तन्यन्ते ताड्यन्ते वा ते **तण्डुलाः**, प्रसिद्धा वा। वृञादीनां स्थाने तण्डादेशः।

उदा०—(1) तण्डुलः (= चावल)—व्रियन्ते। वृञ् वरणे। वृ उलच्—तण्ड् उल—सु।
(2) लुठ्यन्ते। लुठ उपघाते। लुठ् उलच्—तण्ड् उल—सु।
(3) तन्यन्ते। तन विस्तारे। तन् उलच्—तण्ड् उल—सु।
(4) ताड्यन्ते। 'तड आघाते' धातु से स्वार्थ में णिच् होकर 'ताडि' रूप बनता है। सूत्र में इसी का ग्रहण है। ताड् इ उलच्—तण्ड् उल—सु।

(693) दंसेष्टटनौ न आ च [5.10]

पद०—दंसेः 5.1, टटनौ 1.2, नः 6.1, आ 1.1, च—अव्य०।
सं०—दंस्धातोष् टटनौ प्रत्ययौ भवतो धातोश्च यो नकारस्तस्य स्थाने 'आ' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'दंसेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'दंसेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'दंसेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'नः' इस षष्ठ्यन्त पद के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—दंस् धातु से परे 'ट' तथा 'टन्' प्रत्यय होते हैं तथा धातु का जो नकार, उसके स्थान पर 'आ' आदेश होता है। दन् स्—इस दशा में नकार को अनुस्वार होकर 'दंस्' बनता है। प्रकृत में नकार के द्वारा इस अनुस्वार का ही ग्रहण है। 'ट' और 'टन्' के 'ट्' की 'चुटू' (पा० 1.3.7) से इत्सञ्ज्ञा होती है। टन् के 'न्' की 'हलन्त्यम्' (पा० 1.3.3) से इत्सञ्ज्ञा होती है। 'ट्' अनुबन्ध स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टिड्ढाऽणञ्०' (पा० 4.1.15) से 'ङीप्' प्रत्यय के लिए है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6.1.196)। 'ट' और 'टन्' में स्वर का अन्तर है।

स्वा०द०वृ०—दंसयति दशति पश्यति वा स **दासः**, सेवकः शूद्रो वा। टित्त्वान् [द्रष्टव्य—अ० 4.1.45] ङीप् **'दासी'**। नकारस्याकारः। नित्करणं पक्ष आद्युदात्तार्थम्।

उदा०—(1) दासः (= सेवक)—दंसयति। दसि भाषार्थे। 'इदितो नुम् धातोः' (पा० 7.1.58) से नुम् आगम—द नुम् स्—अनुबन्धलोप, ट प्रत्यय, अनुबन्धलोप। दन् स् अ—नकार के स्थान पर आकार आदेश—द आ स् अ—सवर्णदीर्घ, सु।

(2) दासी—दास ङीप्—'स्त्रियाम्' (पा० 4.1.3), 'टिड्ढाऽण०', लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम्—दास ई—'यचि भम्' (पा० 1.4.18) से 'भ' सञ्ज्ञा, 'यस्येति च' (पा० 6.4.148) से अकारलोप—दास् ई सु—'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप।

दासः—ट प्रत्यय पक्ष में। दासः—टन् प्रत्यय पक्ष में।

(694) दंशेश्च [5.11]

पद०—दंशेः 5.1, च—अव्य०।

अनु०— 'दंसेष्टटनौ न आ च' (उ०सू० 5.10) से 'टटनौ', 'नः' और 'आ'—इनका अनुवर्त्तन है।

सं०—दंश्धातोष् टटनौ प्रत्ययौ भवतो धातोश्च यो नकारस्तस्य स्थाने 'आ' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—'दंशेः' पद की पूर्ववत् आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। दंश् धातु से परे 'ट' और 'टन्' प्रत्यय होते हैं और धातु का जो नकार, उसके स्थान पर 'आ' आदेश होता है। 'ट' का टकार और 'टन्' के टकार-नकार इत्सञ्ज्ञक हैं।

स्वा०द०वृ०—टटनौ नकारस्य चात्त्वम्। दशति मत्स्यादिकमिति **दाशः** धीवरः। स्त्रियां **'दाशी'** धीवरी।

उदा०—(1) दाशः (= धीवर), दाशः—दशति जलचरान्। दंश दशने। दंश् ट (अथवा टन्)। द आश् अ—अनुबन्धलोप, नकार के स्थान पर आकार। दाश् अ-सवर्ण दीर्घ। ट प्रत्ययान्त अन्तोदात्त। टन् प्रत्ययान्त आद्युदात्त।

(2) दाशी (= धीवरी)—दाश ङीप्—'टिड्ढाऽणञ्०' से ङीप्। पूर्ववत्।

(695) उदि चेर्डैसिः[5.12]

पद०—उदि 7.1, चेः 5.1, डैसिः 1.1

सं०—उद्युपपदे चिधातोर् डैसिप्रत्ययो भवति।

व्याख्या—'उद्' शब्द के उपपद रहते 'चि' धातु से परे 'डैसि' प्रत्यय होता है। 'डैसि' में सकार से उत्तरवर्ती इकार उच्चारणार्थ है। डकार की 'चुटू' (पा० 1.3.7) से इत्सञ्ज्ञा होती है। प्रत्यय को डित् करने का प्रयोजन टिलोप करना है। प्रत्यय का 'ऐस्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—उच्चीयते वर्ध्यतेऽसौ **उच्चैः**, महान् वा। **स्वरादित्वाद्** (अ० 1.1.36) अव्ययम्।

उदा०—(1) उच्चैः (= ऊँचा, उपरि)—उच्चीयते वर्ध्यतेऽसौ। उद् चिञ् चयने। उद् चि डैसि—अनुबन्धलोप—उद् चि ऐस्—'स्तोः श्चुना श्चुः' (पा० 8.4.39) से दकार के स्थान पर श्चुत्व प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से जकार हुआ—उज् चि ऐस्—'खरि च' (पा० 8.4.54) से जकार चर्त्व आदेश—उच् चि ऐस्—टिलोप—उच् च् ऐस् सु—अव्ययसञ्ज्ञा, 'अव्ययादाप्सुपः' (पा० 2.4.82) से सु का लुक्।

(696) नौ दीर्घश्च[5.13]

पद०—नौ 7.1, दीर्घः 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'उदि चेर्डैसिः' (उ०सू० 5.12) से 'चेर्डैसिः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—नावुपपदे चिधातोर् डैसिप्रत्ययः स्याद्, उपपदस्य च दीर्घ आदेशो भवति।

व्याख्या—'दीर्घः' पद का विभक्तिविपरिणाम से प्राप्त षष्ठ्यन्त 'नेः' पद के साथ अन्वय होता है। अर्थ—'नि' शब्द के उपपद रहते 'चि' धातु से परे 'डैसि' प्रत्यय होता है और उपपद 'नि' को दीर्घ आदेश होता है। 'डैसि' का 'ऐस्' शेष रहता है। ह्रस्व-दीर्घ आदि सञ्ज्ञाएँ अच् वर्ण की ही होती हैं। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा विहित दीर्घ आदेश 'नि' के अच् (अर्थात् इकार) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—चेरित्येव। निचीयत इति **नीचैः**, अधोऽधमो वा। अस्यापि **स्वरादित्वात्** (अ० 1.1.36) एवाव्ययत्वम्।

उदा०—(1) नीचैः (= नीचे, वामन)—निचीयत इति। नि चिञ् चयने। नि चि डैसि—अनुबन्धलोप, टि का लोप—नि च् ऐस्—उपपद को दीर्घ आदेश—नीचैस् सु—अव्ययसञ्ज्ञा, 'अव्ययादाप्सुपः' से सुलुक्, रुत्व, विसर्ग।

(697) सौ रमेः क्तो दमे पूर्वपदस्य च दीर्घः[5.14]

पद०—सौ 7.1, रमेः 5.1, क्तः 1.1, दमे 7.1, पूर्वपदस्य 6.1, च—अव्य०, दीर्घः 1.1

सं०—दमे गम्यमाने सावुपपदे रम्‌धातोः क्तप्रत्ययः स्यात्, पूर्वपदस्य च दीर्घ आदेशः स्यात्।

व्याख्या—यदि 'दमन' अर्थ वाच्य हो और 'सु' शब्द उपपद हो तो रम् धातु से परे 'क्त' प्रत्यय होता है तथा पूर्वपद को दीर्घ आदेश होता है। 'क्त' के 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा है। 'त' शेष रहता है। दीर्घ आदेश पूर्वपद (सु) में स्थित अच् वर्ण (उकार) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—सुष्ठु रमत इति **सूरतः**, उपशान्तः कृपालुर्वा। दमार्थादन्यत्र **'सुरतः'** क्रीडायुक्तः।

उदा०—(1) सूरतः (= कृपालु, शान्त, कोमल)—सुष्ठु रमत इति। सु रमु क्रीडायाम् क्त। अनुबन्धलोप—सु रम् त—पूर्वपद को दीर्घ आदेश—सू रम् त—'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्या०' (पा० 6.4.37) से अनुनासिकलोप—सूरत सु।

(2) सुरतः (= क्रीडा में लीन)—'दमन' अर्थ वाच्य न हो तो पूर्वपद को दीर्घ आदेश नहीं होता है—सु रम् क्त—अनुनासिकलोप, पूर्ववत्।

(698) पूञो यण् णुग्ह्रस्वश्च [5.15]

पद०—पूञः 5.1, यत् 1.1, णुक् 1.1, ह्रस्वः 1.1, च—अव्य०।

सं०—पूधातोर् यत्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च ह्रस्वाऽऽदेशो 'णुक्' इत्यागमो भवतः।

व्याख्या—'पू' धातु से परे 'यत्' प्रत्यय होता है तथा धातु को ह्रस्व आदेश एवं 'णुक्' आगम होते हैं। 'यत्' का 'त्' इत्सञ्ज्ञक है। 'त्' अनुबन्ध स्वरित स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—तित् स्वरितम्। णुक् के ककार की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'ण्' शेष रहता है। णुक् कित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' (पा० 1.1.45) से धातु का अन्ताऽवयव बनता है। ह्रस्वादि सञ्ज्ञाएँ अच् वर्ण की हुआ करती हैं। अतः (पू) धातु में स्थित अच् वर्ण (ऊकार) के स्थान पर ह्रस्व आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—पवते पवित्रो भवति येन तत् **पुण्यम्**, सुकृतो धर्मो वा।

उदा०—(1) पुण्यम् (= सुकृत)—पवते पवित्रो भवति येन तत्। पूञ् पवने 'यत्'। पू—पु ह्रस्व आदेश—पु णुक् यत्—अनुबन्धलोप—पुण् य सु—अतोऽम्, अमि पूर्वः। पू यत्—प्रकृत सूत्र से ह्रस्व आदेश हुआ—पु य—पुनः वृद्धि आदेश प्राप्त हुआ, परन्तु ह्रस्वादेश सामर्थ्य से वृद्धि आदेश का निषेध होता है।

(699) स्रंसेः शिः कुट् किच्च [5.16]

पद०—स्रंसेः 5.1, शिः 1.1, कुट् 1.1, कित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'पूञो यण् णुगह्रस्वश्च' (उ०सू० 5.15) से 'यण्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—स्रंस्धातोर् यण्प्रत्ययः स्याद्, धातोः स्थाने 'शि' इत्यादेशो भवति, 'कुट्' इत्यागमो भवति, स च कित्सञ्ज्ञः।

व्याख्या—स्रंस् धातु से परे 'यत्' प्रत्यय होता है, धातु को 'शि' आदेश होता है, प्रत्यय को 'कुट्' आगम होता है और वह कित्सञ्ज्ञक होता है। 'यत्' का 'य' शेष रहता है। 'शि' अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से 'शि' आदेश सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् स्रंस् धातु) के स्थान पर होता है। कुट् के टकार की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'क्' शेष रहता है। कुट् टित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—स्रंसते गच्छतीति **शिक्यम्**, काचः छींका इति प्रसिद्धः। तत्र धृतं वस्तु **'शैक्यम्'**।

उदा०—(1) शिक्यम् (= काच)—स्रंसते गच्छति। स्रंसु अवस्रंसने। स्रंस् शि—धातु को 'शि' आदेश, यत्, कुट् आगम, अनुबन्धलोप—शिक् य सु—अतोऽम्, अमि पूर्वः।

(700) अर्त्तेः क्युरुच्च [5.17]

पद०—अर्त्तेः 5.1, क्युः 1.1, उत् 1.1, च—अव्य०।

सं०—ऋधातोः क्युप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च—उकारादेशो भवति।

व्याख्या—'अर्त्तेः' पद की आवृत्ति की जाती है। 'अर्त्तेः' प्रथम पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'अर्त्तेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—ऋ धातु से परे 'क्यु' प्रत्यय होता है तथा धातु को 'उत्' आदेश होता है। 'उत्' में तकार उच्चारणार्थ है। उत्=ह्रस्व उकार। 'अलोऽन्त्यस्य' से 'उत्' आदेश धातु के अन्त्य अल् के स्थान पर प्राप्त है। व्यपदेशिवद्भाव से उकार आदेश ऋकार को होता है। 'उरण् रपरः' (पा० 1.1.51) से उकार आदेश रपर (उर्) होता है। क्यु के 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.8) से इत्सञ्ज्ञा है। 'यु' शेष रहता है। 'युवोरनाकौ' (पा० 7.1.1) से 'यु' के स्थान पर 'अन' आदेश होता है। दशपादीवृत्ति में 'क्युन्' प्रत्यय का विधान है।

स्वा०द०वृ०—ऋच्छति गच्छतीति **उरणः**, मेषो वा।

उदा॰—(1) उरणः (= मेष, एक राक्षस)—ऋच्छति गच्छति। ऋ गतौ। ऋ क्यु—अनुबन्धलोप—ऋ यु—उकार आदेश—उर् यु—प्रत्यय को 'अन' आदेश—उरन—'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये॰' (पा॰ 8.4.2) से णत्व, सु।

(701) हिंसेरीरनीरचौ [5.18]

पद॰—हिंसेः 5.1, ईरनीरचौ 1.2

सं॰—हिंस्धातोर् ईरन्ईरचौ प्रत्ययौ भवतः।

व्याख्या—हिंस् धातु से परे ईरन् और ईरच् प्रत्यय होते हैं। 'ईरन्' ने 'न्' की तथा 'ईरच्' के 'च्' की इत्सञ्ज्ञा है। दोनों का 'ईर' शेष रहता है। 'न्' अनुबन्ध 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा॰ 6.1.196) से आद्युदात्त स्वर के लिए है। 'च्' अनुबन्ध 'चितः' (पा॰ 6.1.162) से अन्तोदात्त स्वर के लिए है। इस प्रकार ईरन् और ईरच् में स्वर का अन्तर है।

स्वा॰द॰वृ॰—हिनस्तीति **हिंसीरः**, व्याघ्रो दुष्टो वा। [ईरन्; ईरच्] प्रत्ययद्वयं स्वरभेदार्थम्।

उदा॰—(1) हिंसीरः (= बाघ, दुष्ट, पक्षी)—हिनस्तीति। हिसि हिंसायाम्। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम् आगम—हि नुम् स—अनुबन्धलोप, 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (पा॰ 8.3.24) से अनुस्वार—हिंस् ईरन् (या ईरच्)—हिं सीर सु। 'ईरन् पक्ष में आद्युदात्त (यथा—हिं सीरः) तथा ईरच् पक्ष में अन्तोदात्त (यथा—हिंसितः) होता है।

(702) उदि दृणातेरजलौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च [5.19]

पद॰—उदि 7.1, दृणातेः 5.1, अच्-अलौ 1.2, पूर्वपदान्त्यलोपः 1.1, च—अव्य॰।

सं॰—उद्युपपदे दृधातोर् अच्-अलौ प्रत्ययौ भवतः, पूर्वपदस्य अन्त्यवर्णस्य लोपो भवति।

व्याख्या—उद् शब्द के पूर्वपद में रहते दृ धातु से परे अच् और अल् प्रत्यय होते हैं तथा पूर्वपद के अन्त्य वर्ण का लोप होता है। 'अल्' के 'ल्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'अ' शेष रहता है। 'अच्' के 'च्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'अच्' का 'अ' शेष रहता है। 'ल्' अनुबन्ध 'लिति' (पा॰ 6.1.193) से, 'च्' अनुबन्ध 'चितः' (पा॰ 6.1.161) से अन्तोदात्त स्वर के लिए है। अल् और अच् में स्वर का अन्तर है। 'आर्धधातुकं शेषः' (पा॰ 3.4.114) से अल् और अच् की आर्धधातुक सञ्ज्ञा है।

स्वा॰द॰वृ॰—उद् दृणाति येनान्नमिति **उदरम्**, कुक्षिस्थानम्। प्रत्यभेदोऽत्रापि स्वरभेदार्थः।

उदा०—(1) उदरम् (= उदर, गड्ढा, तालाब)—उद् दृणाति येनाऽन्नम्। दॄ विदारणे। उद् दॄ अल् (या अच्)—उद् दर् अ—'सार्वधातुकार्धधातु०' (पा० 7.3.84) से गुण प्राप्त, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—उद् दर् अ—उद् के अन्त्य वर्ण (द्) का लोप, सु।

(703) डित् खनेर्मुट् चोदात्तः [5.20]

पद०—डित् 1.1, खनेः 5.1, मुट् 1.1, च—अव्य०, उदात्तः 1.1

अनु०— 'उदि दृणातेरलचौ०' (उ०सू० 5.19) से 'अजलौ' का अनुवर्त्तन है। खन्धातोर् अच्-अलौ प्रत्ययौ भवतस् तौ च डित्सञ्ज्ञकौ। धातोश्च 'मुट्' इत्यागमः स्यात्, स चोदात्तः।

व्याख्या—वचनविपरिणाम से 'डित्' को द्विवचनान्त (यथा—डितौ) बनाकर इसका 'अलचौ' के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—खन् धातु से परे अल् और अच् प्रत्यय होते हैं, जो डित्सञ्ज्ञक हैं तथा धातु को 'मुट्' आगम होता है और वह उदात्त होता है। 'मुट्' का टकार इत्सञ्ज्ञक है। 'मु' शेष रहता है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से 'मुट्' धातु का आद्यवयव बनता है। प्रत्यय को डित् टिलोप के लिए किया है। 'अर्थवतो ह्यागमस्तद्गुणीभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते'—इस परिभाषा से खन् को उदात्तस्वर का कथन होने से 'मुट्' के उकार को उदात्त स्वर होता है। श्वेतवनवासी लिखते हैं कि मुट् को उदात्त स्वर होता है। उदात्तविधान सामर्थ्य से मकारस्थ उकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती है। दशपादीवृत्ति में पूर्वशास्त्र से 'अजलौ' का अनुवर्त्तन न करके डस्/ डन्/ डच् (भिन्न-भिन्न संस्करणों में) प्रत्ययों का विधान किया है। द्रष्टव्य—द०वृ० 3.51

स्वा०द०वृ०—खनेरलचौ। तयोर्डित्त्वं धातोर्मुडागमश्च। तस्योदात्तत्वम्। खनत्यन्नादिकमनेनेति **मुखम्** आस्यम्; मुखे भवो **'मुख्यः'** रोगः, **शरीरावयवाद्यत्** [अ० 5.1.6]। मुखमिवोत्तमं **मुख्यम्, शाखादित्वात्** [द्रष्टव्य—अ० 5.3.103] इवार्थे यत्।

उदा०—(1) मुखम् (= मुख)—खनत्यन्नादिकम् अनेन। खनु अवदारणे। खन् अल् (या अच्)—मुट् खन् अल् (या अच्)—अनुबन्धलोप। मुखन् अ—धातु की टि का—लोप—मुख् अ सु—अतोऽम्। मुखम्—उदात्त, शेष सर्वाऽनुदात्त। मुखम्—'उदात्तादनुदात्त०' (पा० 8.4.65) से अनुदात्त को स्वरित आदेश।

(2) मुख्यः (= मुख में होने वाला)—'मुखे भवः' इस अर्थ में 'तत्र भवः' (पा० 4.3.53) के अधिकार में 'शरीराऽवयवाद् यत्' (पा० 5.1.6) से 'यत्' प्रत्यय। मुख यत्—'यचि भम्' (पा० 1.4.18) से भसञ्ज्ञा। 'यस्येति च' (पा० 6.4.148) से

अकारलोप—मुख् य सु। इसी प्रकार 'मुखम् इवोत्तमम्' इस अर्थ में 'शाखादिभ्यो यत्' पा० 5.3.103 से इव अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होकर 'मुख्यम्' बनता है।

(704) अमेः सन् [5.21]

पद०—अमे: 5.1, सन् 1.1
सं०—अम्धातो: सन्प्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—अम् धातु से परे 'सन्' प्रत्यय होता है। सन् का 'न्' इत्सञ्ज्ञक है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—अमति गच्छति प्राप्नोति येन स **अंसः**, स्कन्धो विभागो वा, अंसोऽस्यास्तीति **'अंसलः'**।

उदा०—(1) अंसः (=कन्धा)—अमति गच्छति येन। अम गतौ। अम् सन्—हलन्त्यम्—अम् स-'नश्चाऽपदान्तस्य०' (पा० 8.3.24) से अनुस्वार—अंस सु।

(2) अंसल:—अंसोऽस्याऽस्तीति इस अर्थ में।

(705) मुहेः खो मूर्च [5.22]

पद०—मुहे: 5.1, खु: 1.1, मुर् 1.1, च—अव्य०।
सं०—मुह्धातो: खप्रत्यय: स्याद् धातोश्च 'मूर्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'मुहे:' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'मुहे:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'मुहे:' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—मुह् धातु से परे 'ख' प्रत्यय होता है और धातु को 'मूर्' आदेश होता है। 'मूर्' अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' (पा० 1.1.55) से 'मूर्' आदेश सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् मुह् धातु) के स्थान पर होता है। 'ख' के खकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा प्राप्त है। इसे बाधकर 'आयनेयीनीयियः फढखछघां०' (पा० 7.1.2) से खकार को 'ईन्' आदेश प्राप्त हुआ। बाहुलकात् इसका निषेध हुआ। कुछ व्याख्याकारों के अनुसार 'ऋतेरीयङ्' (पा० 3.1.29) सूत्र में 'ईयङ्' के स्थान पर 'छङ्' ऐसा न्यास करना चाहिए था। 'आयनेयीनीयिय०' (पा० 7.1.2) से छकार को 'ईय्' आदेश होकर यहाँ 'ईयङ्' ही उपलब्ध होता है। अतः प्रकृत सूत्र में 'ईयङ्' पाठ व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि आचार्य को धातु से विहित प्रत्ययों में 'आयन्' आदि आदेश इष्ट नहीं हैं। अतः प्रकृत सूत्र (उ०सू० 5.22) में 'ख' प्रत्यय को 'ईन्' आदेश नहीं होता है।

स्वा०द०वृ०—मुह्यति विक्षिप्त इव भवतीति **मूर्खः**; मूर्खस्य भावो **'मौर्ख्यं; मूर्खिमा'** वा। बाहुलकात् खस्येनादेशाभावः।

उदा०—(1) मूर्खः (= मूर्ख)—मुह्यति। मुह वैचित्ये। मुह् ख—मूर् ख—सर्वादेश, सु।

(706) नहेर्हलोपश्च [5.23]

पद०—नहेः 5.1, हलोपः 1.1, च—अव्य०।
अनु०— 'मुहेः खो मूर्च' (उ०सू० 5.22) से 'खः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—नह्धातोः खप्रत्ययः स्याद् धातोश्च यो हकारस्तस्य लोपः स्यात्।

व्याख्या—'नहेः' पद की पूर्ववत् आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—नह् धातु से परे 'ख' प्रत्यय होता है और धातु का जो हकार, उसका लोप होता है।

स्वा०द०वृ०—नह्यति बध्नाति रुधिरादिकमिति **नखः**, प्राण्यङ्गं वा।

उदा०—(1) नखः (= नाखून)—नह्यति बध्नाति। णह बन्धने। 'णो नः' से णकार को नकार—नह् ख—हकार लोप—नख सु।

(707) शीङो ह्रस्वश्च [5.24]

पद०—शीङः 5.1, ह्रस्वः 1.1, च—अव्य०।
अनु०— 'मुहेः खो मूर्च' (उ०सू० 5.22) से 'खः' का अनुवर्त्तन है।
सं०—शीधातोः खप्रत्ययः स्याद् धातोश्च ह्रस्वाऽऽदेशः।

व्याख्या—'शीङः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'शीङः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जात्ता है। द्वितीय 'शीङः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को ह्रस्वादेश किया जाता है। अर्थ—शी धातु से परे 'ख' प्रत्यय होता है तथा धातु को ह्रस्व आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से ह्रस्व आदेश धातु के अन्त्य अल् (ईकार) के स्थान पर प्राप्त है। ह्रस्वादि सञ्ज्ञाएँ अच् वर्ण की ही होती हैं। अतः प्रकृत में ह्रस्व आदेश शी धातु में स्थित अच् वर्ण (ई) के स्थान पर ही होता है। दशपादीवृत्ति (द्रष्टव्य द०वृ० 3.55) में 'ख' प्रत्यय को नित् किया है।

स्वा०द०वृ०—खः। शेतेऽसौ **शिखा**, चूडा केशभेदो ज्वाला वा। ह्रस्वविधानसामर्थ्याद् गुणाऽभावः।

उदा०—(1) शिखा (= शिखा, सींग)—शेतेऽसौ। शीङ् स्वप्ने। शी ख—ह्रस्व आदेश—शि ख—'आर्धधातुकं शेषः' से 'ख' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातु०' (पा० 7.3.84) से गुण आदेश प्राप्त, ह्रस्वविधान सामर्थ्य से

गुण आदेश का निषेध, स्त्रियाम्, टाप्, अनुबन्धलोप—शिख आ—सवर्णदीर्घ—शिखा सु—अपृक्त सकार का लोप।

(708) माङ ऊखो मय च [5.25]

पद०—माङः 5.1, ऊखः 1.1, मय 1.1, च—अव्य०।

सं०—माधातोर् ऊखप्रत्ययः स्याद् धातोश्च 'मय' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'माङः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'माङः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'माङः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—मा धातु से परे 'ऊख' प्रत्यय होता है और धातु को 'मय' आदेश होता है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से 'मय' आदेश सम्पूर्ण स्थानी (मा धातु) के स्थान पर होता है। यकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—मिमीते मान्यहेतुर्भवतीति **मयूखः**, किरणः कान्तिः करो ज्वाला वा।

उदा०—(1) मयूखः (= किरण)—माङ् ऊख—'मय' आदेश—मय् ऊख—सु।

(709) कलिगलिभ्यां फगस्योच्च [5.26]

पद०—कलिगलिभ्याम् 5.2, फक् 1.1, अस्य 6.1, उत् 1.1, च—अव्य।

सं०—कल् गल्—इत्येताभ्यां धातुभ्यां फक्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च योऽकारः तस्य स्थाने 'उत्' आदेशः स्यात्।

व्याख्या—'कलिगलिभ्याम्' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त (यथा—कलिगल्योः) बना लिया जाता है तथा इसका 'अस्य' पद के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—कल् और गल्—इन धातुओं से परे फक् प्रत्यय होता है तथा धातु में स्थित जो अकार, उसके स्थान पर उत् अर्थात् ह्रस्व उकार आदेश होता है। उत् में तकार उच्चारणार्थ है। उत्=ह्रस्व उकार। फक् के 'क्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'फ्' के स्थान पर 'आयनेयीनीयियः फढख०' (पा० 7.1.2) से 'आयन्' आदेश प्राप्त है। बहुलवचन से इसका बाध होता है।

स्वा०द०वृ०—कलति संख्यातीति **कुल्फः**, शरीरावयवो रोगो वा। गलति भक्षयतीति **गुल्फः**, पादग्रन्थिर्वा।

उदा०—(1) कुल्फः (= शरीर का भाग, रोग)—कलति सङ्ख्याति। कल सङ्ख्याने। कल् फक्—उकार आदेश—कुल् फ सु।

(2) गुल्फः (= शरीर का अंग)—गलति भक्षयति। गल् फक्—गुल् फ सु।

(710) स्पशेः श्वण्शुनौ पृ च [5.27]

पद०—स्पृशेः 5.1, श्वण्शुनौ 1.2, पृ. 1.1, च—अव्य०।

सं०—स्पृशधातोश् श्वण्शुनौ प्रत्ययौ भवतो, धातोश्च 'पृ' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—स्पृश् धातु से परे श्वण् और शुन् प्रत्यय होते हैं तथा धातु के स्थान पर 'पृ' आदेश होता है। 'पृ' अनेकाल् है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से 'पृ' आदेश सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् स्पृश् धातु) के स्थान पर होता है। 'श्वण्' के णकार की इत्सञ्ज्ञा है। 'ण्' अनुबन्ध वृद्धि आदेश के लिए है। 'शुन्' के नकार की इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—स्पृशति येन स **पार्श्वः**, कक्षयोरधोभागो वा। **पर्शुः**, आयुधं वा।

उदा०—(1) पार्श्वः (= कोख)—स्पृशति येन। स्पृश संस्पर्शे। स्पृश् श्वण्—'पृ' आदेश, अनुबन्धलोप। पृ श्व—'अचो ञ्णिति' (पा० 7.2.115) से वृद्धि आदेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—पार् श्व सु।

(2) पर्शुः (= कुल्हाड़ा, आयुध)—स्पृश् श्वन्—'आर्धधातुकं शेषः' (पा०3.4.114) से आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातु०' (पा० 7.3.84)।

(711) श्मनि श्रयतेर्डुन् [5.28]

पद०—श्मनि 7.1, श्रयतेः 5.1, डुन् 1.1

सं०—श्मन्युपपदे श्रिधातोर् डुन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—'श्मन्' शब्द के उपपद रहते श्रि धातु से परे 'डुन्' प्रत्यय होता है। डुन् के नकार की 'हलन्त्यम्' से तथा डकार की 'चुटू' से इत्सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए हैं तथा 'ड्' अनुबन्ध टिलोप के लिए है। 'उ' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—श्मनि मुखे श्रयतीति **श्मश्रुः**, पुरुषमुखरोमाणि वा; **श्मश्रुणी, श्मश्रूणि**।

उदा०—(1) श्मश्रुः (= मूँछ)—श्मनि (= मुखे) श्रयति। श्मन् श्रि डुन्—अनुबन्धलोप, 'नलोपः प्रातिपदि०' (पा० 8.2.7) से 'न्' का लोप—श्म श्रि उ—टिलोप, सु।

(712) अश्र्वादयश्च [5.29]

पद०—अश्र्वादयः 1.3, च—अव्य०।

सं०—अश्र्वादयशश्शब्दा डुन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—अश्रु आदि शब्द डुन् प्रत्ययान्त निपातित हैं। यहाँ कार्य के अनुसार प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना कर लेनी चाहिए।

स्वा०द०वृ०—अश्नुते व्याप्नोतीति **अश्रु**, नेत्रजलं वा। डुन्प्रत्ययो रुडागमश्च। एवमन्येऽपि यथायोग्यं द्रष्टव्याः॥29॥

उदा०—(1) अश्रु (= आँसू)—अश्नुते व्याप्नोति। अशूङ् व्याप्तौ। अश् रुट् डुन्—रुट् आगम्, प्रत्यय का आद्यवयव, अनुबन्धलोप—अश् र् उ सु—'स्वमोर्नपुंसकात्' (पा० 7.1.23) से सुलुक्। दशपादीवृत्ति (1.162) में नञ्पूर्वक 'श्रिञ् सेवायाम्' धातु से डुन् प्रत्यय किया है। नञ् श्रिञ् डुन्—अनुबन्धलोप, टिलोप। न श्रयति।

(713) जनेष्टन् नलोपश्च [5.30]

पद०—जनेः 5.1, टन् 1.1, नलोपः 1.1, च—अव्य०।

सं०—जन्धातोष् टन्प्रत्ययः स्यात्, धातोर्यो नकारस्तस्य लोपः स्यात्।

व्याख्या—'जनेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'जनेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'जनेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'नलोपः' के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—जन् धातु से परे टन् प्रत्यय होता है तथा धातु में स्थित नकार का लोप होता है। 'टन्' के 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। टकार की 'चुटू' से इत्सञ्ज्ञा प्राप्त है, परन्तु बहुलवचनात् इत्सञ्ज्ञा का निषेध होता है। 'न्' अनुबन्ध का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर है।

स्वा०द०वृ०—जायतेऽसौ **जटा**, दीर्घाः केशा वा; जटा अस्य सन्तीति **'जटालः', सिध्मादित्वाद्** [द्रष्टव्य—अ० 5.2.97] लच्; **'जटिलः' पिच्छादित्वाद्** [द्रष्टव्य—अ० 5.2.100] इलच्।

उदा०—(1) जटा (= दीर्घ केश)—जायतेऽसौ। जन् टन्—अनुबन्धलोप—ज ट—नलोप, स्त्रियाम्, 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप्, अनुबन्धलोप—जट आ—'अकः सवर्णे दीर्घः' (पा० 6.1.97) से सवर्णदीर्घ—जटा सु—अपृक्त सकार का लोप।

(2) जटालः (= जटाओं वाला)—जटा अस्य सन्ति। जटा लच्—'सिध्मादिभ्यश्च' (पा० 5.2.97) से लच्—जटाल सु।

(714) अच् तस्य जङ्घ च [5.31]

पद०—अच् 1.1, तस्य 6.1, जङ्घ 1.1, च—अव्य० ।
अनु०— 'जनेष्टन् नलोपश्च' (उ०सू० 5.30) से 'जने:' का अनुवर्त्तन है ।
सं०—जन्धातोर् अच्प्रत्ययो भवति, धातोश्च जङ्घ इत्यादेशो भवति ।

व्याख्या—'तस्य' पद के द्वारा 'जने:' इस षष्ठ्यन्त पद का ग्रहण होता है । 'जङ्घ' में घकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है । अर्थ—जन् धातु से परे अच् प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर 'जङ्घ्' आदेश होता है । अच् के 'च्' की इत्सञ्ज्ञा है । 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है ।

विशेष—दशपादीवृत्ति (3.70) में जन् धातु से अधिकरण अर्थ में 'क' प्रत्यय किया है । द्रष्टव्य—'जने: को जङ्घ च' ।..........जायन्तेऽस्याम् अतिशयेन रोमाणि । जङ्घ् क—धातु को 'जङ्घ्' आदेश, 'लशक्वतद्धिते' से 'क्' इत्सञ्ज्ञक है । स्त्रीत्व में टाप् होकर 'जङ्घा' शब्द बनता है ।

स्वा०द०वृ०—तस्य जने: । जायतेऽसौ **जङ्घा**, जानोरधोभागो वा ।

उदा०—(1) जङ्घा (= जाँघ)—जायतेऽसौ । जनी प्रादुर्भावे । जन्—जङ्घ् अच्—स्त्रियाम्, 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप्, सवर्णदीर्घ, सु, अपृक्त सकार का लोप ।

(715) हन्तेः शरीरावयवे द्वे च [5.32]

पद०—हन्ते: 5.1, शरीराऽवयवे 7.1, द्वे 1.2, च—अव्य० ।
अनु०—'अच् तस्य..........' (उ०सू० 5.31) से 'अच्' का अनुवर्त्तन है ।
सं०—शरीराऽवयवे गम्यमाने हन्धातोर् अच्प्रत्यय: स्याद्, धातोश्च द्वे भवत: ।

व्याख्या—'हन्ते:' पद की आवृत्ति की जाती है । प्रथम 'हन्ते:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है । द्वितीय 'हन्ते:' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु को द्वित्व किया जाता है । अर्थ—हन् धातु से परे अच् प्रत्यय होता है और धातु को द्वित्व होता है, यदि 'शरीर का अवयव' अर्थ वाच्य हो । अच् के 'च्' की इत्सञ्ज्ञा है । 'अ' शेष रहता है । 'अ' प्रत्यय 'आर्धधातुकं शेष:' (पा० 3.4.114) से आर्धधातुकसञ्ज्ञक है । धातु को द्वित्व करने के पश्चात् अभ्यासकार्य किया जाता है ।

स्वा०द०वृ०—हन्ति येन यद् वा हन्यते तत् **जघनम्,** जानोरुपरिभागो वा । इवार्थे **शाखादित्वाद्** [द्रष्टव्य—अ० 5.3.103] यत्—जघनमिव **'जघन्यं'** नीचम् ।

उदा०—(1) जघनम् (= जंघा)—हन्ति येन। हन हिंसागत्योः। हन् अच्—द्वित्व—हन् हन् अ—'पूर्वोऽभ्यासः' (पा० 6.1.4) से पूर्व खण्ड (हन्) की अभ्यास सञ्ज्ञा, 'हलादिः शेषः' (पा० 7.4.60) से हलादि शेष—ह हन् अ—'कुहोश्चुः' (पा० 7.4.62) से हकार को झकार—झ हन—'अभ्यासे चर्च' (पा० 8.4.53) से जश्त्व—जहन—हकार को घकार बाहुलकात्, सु, अतोऽम्।

(716) क्लिशेरन् लो लोपश्च [5.33]

पद०—क्लिशेः 5.1, अन् 1.1, लः 6.1, लोपः 1.1, च—अव्य०।

सं०—क्लिश्धातोर् अन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च यो लकारस्तस्य लोपः स्यात्।

व्याख्या—'क्लिशेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'क्लिशेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'क्लिशेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम के द्वारा षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'लः' इस षष्ठ्यन्त पद के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—क्लिश् धातु से परे अन् प्रत्यय होता है तथा धातु में स्थित जो लकार, उसका लोप होता है। 'अन्' के 'न्' की 'हलन्त्यम्' से इत् सञ्ज्ञा है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—ञ्नित्यादिर्नित्यम् (पा० 6.1.197)। 'आर्धधातुकं शेषः' से 'अन्' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा है। आर्धधातुक प्रत्यय 'अन्' के परे रहते 'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से लघूपध गुण होता है।

स्वा०द०वृ०—क्लिश्यति येन स **केशः**, शिरलोमानि वा; केशा अस्य सन्तीति **'केशवः; केशिकः; केशी'**।

उदा०—(1) केशः (= बाल)—क्लिश्यति येन। क्लिश उपतापे। क्लिश् अन्—अनुबन्धलोप, धातु के लकार का लोप—किश् अ—लघूपध गुण—केश सु।

(2) केशवः—केशा अस्य सन्ति। अथवा प्रशस्ताः केशा अस्य सन्ति। 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' (पा० 5.2.109) से विकल्प से 'व' प्रत्यय।

(3) केशी—पक्ष में 'अत इनिठनौ' (पा० 5.2.115) से इन् व ठन् होते हैं। केश इन्—अकारलोप, सु, विभक्तिकार्य।

(4) केशिकः—पक्ष में ठन्। केश इक—'ठस्येकः' (पा० 7.3.50) से इक—केशिक सु।

(717) फलेरितजादेश्च पः [5.34]

पद०—फलेः 5.1, इतच् 1.1, आदेः 6.1, च—अव्य०, पः 1.1

सं०—फल्धातोर् इतच्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च य आदिवर्णस्तस्य स्थाने पकार आदेशः स्यात्।

व्याख्या—'फलेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'फलेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'फलेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर इसका 'आदेः' पद के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—फल् धातु से परे 'इतच्' प्रत्यय होता है और धातु का जो आदि वर्ण, उसके स्थान पर पकार आदेश होता है। पकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। इतच् के 'च्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है। इतच् की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—फलति निष्पन्नं पक्वमिव भवतीति **पलितम्**, केशश्वैत्यं वा। फस्य पः।

उदा०—(1) पलितम् (= श्वेत केश)—फलति। फल निष्पत्तौ। फल् इतच्—आदि वर्ण को पकार—पल् इत—सु—अतोऽम्। अथवा 'ञिफला विशरणे' से प्रत्यय होता है।

(718) कृञादिभ्यः सञ्ज्ञायां वुन् [5.35]

पद०—कृञादिभ्यः 5.3, सञ्ज्ञायाम् 7.1, वुन् 1.1

सं०—सञ्ज्ञायां गम्यमानायां कृञादिभ्यो धातुभ्यो वुन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—यदि सञ्ज्ञा गम्यमान हो तो कृ आदि धातुओं से परे 'वुन्' प्रत्यय होता है। 'न्' इत्सञ्ज्ञक है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। 'वु' शेष रहता है। 'युवोरनाकौ' (पा० 7.1.1) से 'वु' को 'अक' आदेश होता है। 'आर्धधातुकं शेषः' से 'वुन्' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—करोतीति **करकः**; **करका**, वृष्टिपाषाणो वा। **करको**, दाडिमः कमण्डलुर्वा। कटति वर्षत्यावृणोति वा स **कटकः**, बाहुभूषणं शिखरो वा। नृणाति नयतीति **नरकम्**, पापभागो वा। सरति गच्छतीति **सरकम्**, गमनं वा। अलति भूषितो भवतीति **अलकम्**, शीतादिकं वा; अलति वारयति येभ्यस्ते **अलकाः**, कुटिलाः केशा वा। [कुरति शब्दयतीति] **कोरकः** कलिका, 'कली' इति प्रसिद्धा।

उदा०—(1) करकः (= ओला, कमण्डलु)—करोतीति। डुकृञ् करणे। कृ वुन्—अनुबन्धलोप, अक आदेश—कृ अक—'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—करक सु।

(2) कटकः (= बाहुभूषण)—कटति वर्षत्यावृणोति । कट वर्षणे । कट् वुन्—पूर्ववत् ।

(3) नरकम् (= नरक)—नृणाति नयति । नृ वुन्—'वु' को 'अक' आदेश, गुण, रपरत्व, सु ।

(4) सरकम् (= गमन)—सरति गच्छति । सृ गतौ । 'करक' की तरह ।

(5) अलकम् (= शीतादिक)—अलति भूषितो भवति । अल भूषणे । अल् वुन्—अल् अक सु ।

(6) अलकाः (= अलक)—अलति वारयति येभ्यस्ते । अल् अक—जस् ।

(7) कोरकः (= कली)—कुरति शब्दयति । कुर् वुन्—'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपधगुण—कोर् अक—'युवोरनाकौ' से अक आदेश, सु ।

(719) चीकयते राद्यन्तविपर्ययश्च [5.36]

पद०—चीकयतेः 5.1, आद्यन्तविपर्ययः 1.1, च—अव्य० ।

अनु०— 'कृञादिभ्यः सञ्ज्ञायां वुन्' (उ०सू० 5.35) से 'वुन्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—चीक्धातोर् वुन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्चाऽद्यन्तविपर्ययो भवति ।

व्याख्या—चीक् धातु से परे 'वुन्' प्रत्यय होता है तथा धातु के आदि और अन्त्य वर्णों के मध्य अदला-बदली होती है । सार यह है कि धातु का आदि वर्ण अन्त्य बन जाता है तथा अन्त्य वर्ण आदि बन जाता है ।

स्वा०द०वृ०—चीकयते सहतेऽसौ **कीचकः**, वंशभेदो वा ।

उदा०—(1) कीचकः (= बाँस)—चीकयते सहतेऽसौ । चीक आमर्षणे । चीक् वुन्—आद्यन्त वर्णों की अदला-बदली—कीच् अक—'वु' को 'अक' आदेश, सु ।

(720) पचिमच्योरिच्चोपधायाः [5.37]

पद०—पचिमच्योः 6.2, इत् 1.1, च—अव्य०, उपधायाः 6.1

अनु०—'कृञादिभ्यः सञ्ज्ञायां वुन्' (उ०सू० 5.35) से 'वुन्' का अनुवर्त्तन है ।

सं०—पच् मच् इत्येताभ्यां धातुभ्यां वुन्प्रत्ययो भवति, धातोश्च य उपधासञ्ज्ञको वर्णस्तस्य स्थान इकाराऽऽदेशो भवति ।

व्याख्या—'पचिमच्योः' पद को विभक्तिविपरिणाम से पञ्चम्यन्त (यथा—पचिमचिभ्याम्) बना लिया जाता है । 'तस्मादित्युत्तरस्य' (पा० 1.1.66) परिभाषा प्रवृत्त

होती है। 'पचिमच्योः' पद का 'उपधायाः' पद के साथ अन्वय किया जाता है। 'षष्ठी स्थानेयोगा' प्रवृत्त होता है। अर्थ—पच् और मच्—इन धातुओं से परे 'वुन्' प्रत्यय होता है और धातु की जो उपधा, उसके स्थान पर इकार आदेश होता है। 'इत्' में तकार उच्चारणार्थ है। इत्=ह्रस्व इकार। 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' (पा० 1.1.64) से उपधा सञ्ज्ञा है।

स्वा०द०वृ०—पचतीति **पेचकः**, उलूकपक्षी वा। मचते शब्दयतीति **मेचकः**, कृष्णवर्णो मयूरपक्षचिह्नं वा।

उदा०—(1) पेचकः (= उलूक, जूँ)—पचतीति। डुपचष् पाके। अनुबन्ध-लोप, आदिर्ञिटुडवः, हलन्त्यम्—पच् वुन्—पच् वु—उपधा को इकार—पिच् वु—पिच् अक—लघूपध गुण—पेचक सु।

(2) मेचकः (= मोरपंख, बादल)—मचते शब्दयति। मच कल्कने। मच् वुन्—पूर्ववत्।

(721) जनेररष्ठ च [5.38]

पद०—जनेः 5.1, अरः 1.1, ठ 1.1, च—अव्य०।

सं०—जन्धातोर् अरप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च ठकारादेशः स्यात्।

व्याख्या—'जनेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'जनेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'जनेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—जन् धातु से परे 'अर' प्रत्यय होता है तथा धातु को ठकार आदेश होता है। ठकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'अलोऽन्त्यस्य' से ठकार आदेश धातु के अन्त्य अल् (अर्थात् नकार) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—जायतेऽस्मादिति **जठरम्**, उदरं कठिनं वा।

उदा०—(1) जठरम् (= उदर)—जायतेऽस्मात्। जनी प्रादुर्भावे। जन् अर—ठकार अन्तादेश—जठर सु—अतोऽम्।

(722) वचिमनिभ्यां चिच्च [5.39]

पद०—वचिमनिभ्याम् 5.2, चित् 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'जनेररष्ठ च' (उ०सू० 5.38) से 'अरः' तथा 'ठः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—वच् मन् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् अरप्रत्ययः स्यात्, स च चित्सञ्ज्ञकः। धातोश्च ठकारोऽन्तादेशो भवति।

व्याख्या—'वचिमनिभ्याम्' पद से 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होकर धातु से परे प्रत्यय होता है। 'वचिमचिभ्याम्' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर धातु को अन्तादेश किया जाता है। अर्थ—वच् तथा मन्—इन धातुओं से परे 'अर' प्रत्यय होता है तथा धातु को ठकार अन्तादेश होता है तथा प्रत्यय 'अर' चित्सञ्ज्ञक होता है। चित् करने का प्रयोजन अन्तोदात्त स्वर करना है।

स्वा०द०वृ०—अन्त्यस्य ठः। वक्तीति **वठरः**, मूर्खो वा। मन्यतेऽसौ **मठरः**, मुनिभेदो मत्तो वा; तस्यापत्यं **'माठरः; माठर्यः'**।

उदा०—(1) वठरः (= मूर्ख, जलपात्र)—वक्तीति। वच परिभाषणे। वच् अर—अन्तादेश—वठ् अर सु।

(2) मठरः (= मत्त, एक मुनि)—मन्यतेऽसौ। मनु अवबोधने। मन् अर—पूर्ववत्।

(3) माठरः—मठरस्याऽपत्यम्। 'अनृष्याऽऽनन्तर्ये विदा०' (पा० 4.1.104) से अञ्, आदिवृद्धि, सु।

(723) ऊर्जि दृणातेरलचौ [5.40]

पद०—ऊर्जि 7.1, दृणातेः 5.1, अल्-अचौ 1.2

सं०—'ऊर्ज्' इत्येतस्मिन् उपपदे दॄधातोर् अल् अच् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः।

व्याख्या—'ऊर्ज्' शब्द के उपपद रहते दॄ धातु से परे अल् और अच् प्रत्यय होते हैं। 'अल्' का 'ल्' इत्सञ्ज्ञक है। 'अच्' का 'च्' इत्सञ्ज्ञक है। 'ल्' अनुबन्ध 'लिति' (पा० 6.1.191) से उदात्त स्वर के लिए है। 'च्' अनुबन्ध 'चितः' (पा० 6.1.161) से अन्तोदात्त स्वर के लिए है। अल् और अच् में स्वरूपगत अन्तर न होते हुए भी दोनों में स्वर का अन्तर है।

स्वा०द०वृ०—ऊर्क् पराक्रमं रसं वा दृणातीति **ऊर्दरः**, शूरो दुष्टो वा। स्वरभेदार्थं प्रत्ययद्वयम्।

उदा०—(1) ऊर्दरः (= शूर, दुष्ट)—ऊर्क् पराक्रमं दृणाति। ऊर्ज् दॄ अल् (या अच्)। ऊर्ज् दर् अ—आर्धधातुक गुण, जकार लोप, सु।

(724) कृदरादयश्च [5.41]

पद०—कृदरादयः 1.3, च—अव्य०।

सं०—कृदरादयश्शब्दा अल्-अच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

व्याख्या—कृदर आदि शब्द अल् प्रत्ययान्त अथवा अच् प्रत्ययान्त निपातित हैं।

स्वा०द०वृ०—कृत्स्नं दृणातीति **कृदरः**, कुशूलो वा। मृदं दृणातीति **मृदरः**, व्याधिर्बिलं वा। सृष्टिं दृणातीति **सृदरः** सर्पः।

उदा०—(1) कृदरः (= कुशूल)—कृत्स्नं दृणाति। कृत्स्न शब्द को 'कृ' आदेश। कृ दॄ अ—गुण, रपरत्व, सु। अथवा—कृद् दॄ अरच्—उपपद के उत्तरपद (= दकार) का 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० 6.3.108) से लोप, गुण आदि।

(2) मृदरा (= रोग, छिद्र)—मृदं दृणाति। 'मृद्' को निपातन से 'मृ' आदेश। मृ दॄ अ—गुण, रपरत्व, सु। अथवा—मृ द् दॄ अरच्—पूर्ववत्।

(3) सृदरः (= सर्प)—सृष्टिं दृणाति। 'सृष्टि' को 'सृ' आदेश। सृ दॄ अ—गुण, पूर्ववत्। सृ द् दॄ अरच्—सृ दर् अ सु।

विशेष—दशपादीवृत्ति के अनुसार—कुर्वन्ति तस्मिन्। कृ—दुक् आगम, अर् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, गुणनिषेध। म्रियतेऽनेन। मृङ्प्राणत्यागे। मृ दुक् अर—पूर्ववत्। अथवा—'मृदु क्षोदे' धातु से अर। मृद्नाति। दृणातीति। दॄ भये—दुक् आगम, अर प्रत्यय, गुणनिषेध—दृदरः सर्पः। शृणातीति। शॄ हिंसायाम्। शॄ दुक् आगम अर प्रत्यय, धातु को ह्रस्व आदेश—शृ द् अर—सु।

(725) हन्तेर्युन्नाद्यन्तयोर्घत्वतत्वे [5.42]

पद०—हन्तेः 5.1, युन् 1.1, आद्यन्तयोः 6.2, घत्वतत्वे 1.2

सं०—हन्धातोर् युन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च आद्यन्तयोर् वर्णयोः स्थाने क्रमेण घकारतकाराव् आदेशौ स्तः।

व्याख्या—हन् धातु से परे 'युन्' प्रत्यय होता है तथा धातु के आदि और अन्त्य वर्णों के स्थान पर घकार तथा तकार आदेश क्रमेण होते हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (पा० 1.3.10) की प्रवृत्ति होकर घत्व और तत्व क्रमशः होते हैं। सार यह है कि हन् धातु के आदि वर्ण (अर्थात् हकार) के स्थान पर घकार आदेश तथा अन्त्य वर्ण (अर्थात् नकार) के स्थान पर तकार आदेश होता है। 'युन्' का 'न्' इत्सञ्ज्ञ है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। 'यु' शेष रहता है। 'युवोरनाकौ' (पा० 7.1.1) से 'यु' को 'अन' आदेश होता है।

स्वा०द०वृ०—हन्तीति **घातनः**, मारको वा।

उदा०—(1) घातनः (= मारक)—हन्तीति। हन हिंसागत्योः। हन् युन्—हन्

यु—हन् अन—बाहुलकात् उपधावृद्धि—हान् अन—घकार-तकार आदेश—घातन सु।

(726) क्रमिगमिक्षमिभ्यस्तुन् वृद्धिश्च [5.43]

पद०—क्रमिगमिक्षमिभ्यः 5.3, तुन् 1.1, वृद्धिः 1.1, च—अव्य०।

सं०—क्रम् गम् क्षम् इत्येतेभ्यो धातुभ्यस् तुन्प्रत्ययो भवति, धातोश्च वृद्धिर् आदेशो भवति।

व्याख्या—'क्रमिगमिक्षमिभ्यः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर इसका अन्वय 'वृद्धिः' पद के साथ किया जाता है। 'इको गुणवृद्धी' (पा० 1.1.3) से गुण और वृद्धि कार्य इक् वर्ण के स्थान पर प्राप्त होते हैं। परन्तु प्रकृत में इक् वर्ण के उपलब्ध न रहने से 'अचः' पद का अध्याहार करके 'क्रमिगमिक्षमेर् योऽच् तस्य स्थाने वृद्धिः स्यात्' ऐसा अर्थ किया जाता है। सूत्रोक्त तीनों धातुओं में अच् वर्ण अकार है। 'स्थानेऽन्तरतमः' से अकार के स्थान पर आकार के रूप में वृद्धि आदेश होता है। अर्थ—क्रम्, गम् और क्षम्—इन धातुओं से परे तुन् प्रत्यय होता है और धातु में स्थित अच् वर्ण (अकार) के स्थान पर वृद्धि आदेश (आकार) होता है। तुन् का 'न्' इत्सञ्ज्ञक है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—क्रामति पादान् विक्षपतीति **क्रान्तुः**, पक्षी वा। गच्छतीति **गान्तुः**, पथिको वा। '**आगान्तुः**' अभ्यागतः। क्षमतेऽसौ **क्षान्तुः**, सहनशीलो वा।

उदा०—(1) क्रान्तुः (= पक्षी)—क्रामति पादान् विक्षिपति। क्रमु पादविक्षेपे। क्रम् तुन्—वृद्धि आदेश—क्राम् तु—'नश्चाऽपदान्तस्य०' (पा० 8.3.24) से अनुस्वार—क्रां तु—'अनुस्वारस्य ययि०' (पा० 8.4.57) से परसवर्ण। क्रान्तु सु—

(2) गान्तुः (= पथिक)—गच्छतीति। गम्लृ गतौ। गम् तुन्—पूर्ववत् वृद्धि आदि।

(3) आगान्तुः (= अभ्यागत)—आगच्छति। आ गम् तुन्—पूर्ववत्।

(4) क्षान्तुः (= सहनशील)—क्षमतेऽसौ। क्षमूष् मर्षणे। क्षम् तुन्—वृद्धि आदि पूर्ववत्।

विशेष—दशपादीवृत्ति (7.45) में तुमुन् प्रत्यय किया है। तुमुन् का 'तुम्' शेष रहता है। तदनु—क्रान्तुम्, गान्तुम्, क्षान्तुम् आदि प्रयोग बनते हैं।

(727) हर्यतेः कन्यन् हिर च [5.44]

पद०—हर्यतेः 5.1, कन्यन् 1.1, हिर 1.1, च—अव्य०।

सं०—हृधातो: कन्यन्प्रत्ययो भवति, धातोश्च 'हिर्' इत्यादेश: स्यात्।

व्याख्या—'हर्यते:' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'हर्यते:' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'हर्यते:' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर धातु को आदेश किया जाता है। अर्थ—हृ धातु से परे कन्यन् प्रत्यय होता है तथा धातु के स्थान पर 'हिर्' आदेश होता है। 'हिर' के रेफ में स्थित अकार उच्चारणार्थ है। 'हिर्' अनेकाल् आदेश है। 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' (पा० 1.1.55) से सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् हृ) के स्थान पर 'हिर्' आदेश होता है। 'कन्यन्' के अन्त्य 'न्' की 'हलन्त्यम्' (पा० 1.3.3) से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.8) से इत्सञ्ज्ञा है। 'अन्य' शेष रहता है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है। 'हिर् अन्य' इस दशा में 'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० 7.3.86) से लघूपध गुण प्राप्त था। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—हर्यते काम्यते तत् **हिरण्यम्,** सुवर्णं वा।

उदा०—(1) हिरण्यम् (= सोना, वीर्य, कौड़ी)—हर्यते काम्यते तत्। हृञ् हरणे। हृ कन्यन्—अनुबन्धलोप—हृ अन्य—'हिर्' आदेश, गुणनिषेध—हिरन्य—'अट्कुप्वाङ्नुम्०' (पा० 8.4.2) से णत्व, सु, अतोऽम्।

(728) कृञ: पास: [5.45]

पद०—कृञ: 5.1, पास: 1.1
सं०—कृधातो: पासप्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—कृ धातु से परे 'पास' प्रत्यय होता है। 'आर्धधातुकं शेष:' से 'पास' की आर्धधातुक सञ्ज्ञा है। दुशपादीवृत्ति में 'पासञ्' किया है।

स्वा०द०वृ०—क्रियत उत्पाद्यतेऽसौ **कर्पास:**, सस्यभेदो वा; कर्पासस्य **विकार:** **'कार्पासम्'** वस्त्रम्। **बिल्वादित्वाद्** [द्रष्टव्य—अ० 4.3.135] अण्।

उदा०—(1) कर्पास: (= रुई)—क्रियत उत्पाद्यतेऽसौ। डुकृञ्—करणे। कृ पास—'सार्वधातुकार्धधातु०' (पा० 7.3.84) से गुण, 'उरण् रपर:' से रपरत्व—कर् पास सु। कृ पासञ्—इस दशा में वृद्धि आदेश होकर 'कार्पास' बनता है।

(2) कार्पासम् (= कपास से बना वस्त्र)—कर्पासस्य विकार:। कर्पास अण्—'बिल्वादिभ्योऽण्' (पा० 4.3.135) से अण्, आदिवृद्धि—कार्पास अ—अकारलोप, सु।

(729) जनेस्तु रश्च [5.46]

पद०—जनेः 5.1, तु 1.1, रः 1.1, च—अव्य० ।

सं०—जन्धातोस् तुप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च 'र्' इत्यन्तादेशः स्यात् ।

व्याख्या—'जनेः' पद की आवृत्ति की जाती है । प्रथम 'जनेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है । द्वितीय 'जनेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बनाकर धातु को आदेश किया जाता है । अर्थ—जन् धातु से परे 'तु' प्रत्यय होता है तथा धातु को रेफ आदेश होता है। रेफस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'अलोऽन्त्यस्य' से रेफ आदेश धातु के अन्त्य अल् (अर्थात् नकार) के स्थान पर होता है । 'तु' यह लुप्तप्रथमान्त रूप है । 'तु सु' इस दशा में 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण०' (पा० 7.1.39) से विभक्ति (सु) का लुक् हुआ है ।

स्वा०द०वृ०—जायते यत इति **जर्त्तुः**, उपस्थेन्द्रियं हस्ती वा ।

उदा०—(1) जर्तुः (= शिश्न, हाथी)—जायते यतः ।

(2) जर्त्तः (= वस्त्रलोम)—दशपादीवृत्ति (6.25) में 'त' प्रत्यय का विधान है ।

(730) ऊर्णोतेर्डः [5.47]

पद०—ऊर्णोतेः 5.1, डः 1.1

सं०—ऊर्णुधातोर् डप्रत्ययः स्यात् ।

व्याख्या—ऊर्णु धातु से 'ड' प्रत्यय होता है । 'ड्' की 'चुटू' (पा० 1.3.7) से इत्सञ्ज्ञा है । प्रत्यय को डित् करने का प्रयोजन टिलोप करना है ।

स्वा०द०वृ०—ऊर्णोत्याच्छादयति यया सा **ऊर्णा,** अविमेषयो रोमाणि वा; ऊर्णां याति प्राप्नोति **'ऊर्णायुः'**, मेषो मेषोर्णाकम्बलो वा। [मृदुत्वाद्] ऊर्णा इव नाभिरस्य स **'ऊर्णनाभः'** । समासान्तोऽच्; **'ऊर्णनाभिः'** इति वा। समासान्तस्य विधेरनित्यत्वात् । लूताहिर्वा ['मकड़ी' इति प्रसिद्धा] ।

उदा०—(1) ऊर्णा (= ऊन)—ऊर्णोत्याच्छादयति यया सा। ऊर्णुञ् आच्छादने । ऊर्णु ड—अनुबन्धलोप, टि का लोप—ऊर्ण् अ—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ, सु, अपृक्त सकार का लोप ।

(2) ऊर्णायुः (= मेष)—ऊर्णां याति प्राप्नोति । ऊर्णा या उ—सु ।

(3) ऊर्णनाभः (= मकड़ी)—ऊर्णा इव नाभिरस्य । उज्ज्वलदत्त के अनुसार 'अच्प्रकरणे नाभेरुपसङ्ख्यानम्' से समासान्त अच् प्रत्यय । इकार लोप—ऊर्णनाभ् अ सु । परन्तु आचार्य भानुजी दीक्षित ने अमरकोष की टीका (2.5.13) में 'ऊर्णनाभ' शब्द

की व्याख्या करते हुए 'अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्०' (पा० 5.4.75) सूत्र का 'अच्' इस प्रकार योगविभाग से 'अच्' समासान्त माना है।

(4) ऊर्णनाभिः—समासान्त विधि के अनित्य होने से अच् न हुआ। ऊर्णनाभि तथा तथा 'ऊर्णनाभ' में 'ङ्यापोः सञ्ज्ञाछन्दसो०' (पा० 6.3.62) से ह्रस्व आदेश होता है।

(731) दधातेर्यन्नुट् च [5.48]

पद०—दधातेः 5.1, यत् 1.1, नुट् 1.1 च—अव्य०।

सं०—धाधातोर् यत्प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च 'नुट्' आगमो भवति।

व्याख्या—धा धातु से परे यत् प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को 'नुट्' आगम होता है। नुट् का टकार इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। 'न्' शेष रहता है। नुट् आगम टित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से प्रत्यय का आद्यवयव बनता है। यत् के तकार की इत्सञ्ज्ञा है। 'य' शेष रहता है। 'त्' अनुबन्ध स्वरित स्वर के लिए है। द्रष्टव्य—'तित् स्वरितम्' (पा० 6.1.184)।

स्वा०द०वृ०—दधाति पुष्णाति लोकानीति **धान्यम्**, व्रीहिर्वा; धाने पोषणे साधु='**धान्यम्**' इत्यपि।

उदा०—(1) धान्यम् (=अन्न)—दधाति पुष्णाति। डुधाञ् यत्—अनुबन्धलोप। धा न् य—नुट् आगम, सु, अतोऽम्, अमि पूर्वः। आचार्य पतञ्जलि के अनुसार 'धि' धातु से 'धान्य' शब्द बनता है।

(732) जीर्यतेः क्रिन् रश्च वः [5.49]

पद०—जीर्यतेः 5.1, क्रिन् 1.1, रः 6.1, च—अव्य०, वः 1.1

सं०—जॄधातोः क्रिन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च यो रेफस्तस्य स्थाने वकार आदेशः स्यात्।

व्याख्या—'जीर्यतेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'जीर्यतेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'जीर्यतेः' पद को विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर इसका 'रः' इस षष्ठ्यन्त पद के साथ अन्वय किया जाता है। अर्थ—जॄ धातु से परे क्रिन् प्रत्यय होता है तथा धातु में स्थित जो रेफ, उसके स्थान पर वकार आदेश होता है। वकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। क्रिन् के 'न्' की 'हलन्त्यम्' (पा० 1.3.3) से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.8) से इत्सञ्ज्ञा है। 'रि' शेष रहता है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—यो जीर्यति येन वा स **जिव्रिः**, कालः पक्षी वा। **हलि च** [अ० 8.2.77] इति बाहुलकाद्दीर्घाभावः।

उदा०—(1) जिव्रिः (= काल, पक्षी)—यो जीर्यति (येन वा)। जॄ वयोहानौ। जॄ क्रिन्—अनुबन्धलोप—जॄ रि—'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातु०' (पा० 7.3.84) से गुण प्राप्त, 'क्ङिति च' से निषेध, 'ॠत इद् धातोः (पा० 7.1.100) से इकार आदेश प्राप्त, 'उरण् रपरः' से रपरत्व—जिर् रि—'हलि च' (पा० 8.2.77) से दीर्घ आदेश प्राप्त हुआ, परन्तु बहुलवचन से निषेध—जिर् रि—'रो रि' (पा० 8.3.14) से प्राप्त रेफलोप को बाध कर प्रकृत सूत्र से रेफ के स्थान पर वकार आदेश, सु।

(733) मव्यतेर्यलोपो मश्चाप्तुट् चालः [5.50]

पद०—मव्यतेः 5.1, यलोपः, मः 1.1, च—अव्य०, आप्तुट् 1.1, च—अव्य०, आलः 1.1

सं०—मव्यधातोर् आलप्रत्ययः स्याद् धातोश्च यो यकारस्तस्य लोपो भवति, धातोश्च यो वकारस्तस्य स्थाने मकार आदेशः स्यात्, प्रत्ययस्य 'आप्तुट्' आगमः स्यात्।

व्याख्या—'मव्य्' धातु से परे 'आल' प्रत्यय होता है, धातु का जो यकार, उसका लोप होता है, धातु में स्थित जो वकार, उसके स्थान पर मकार आदेश होता है तथा प्रत्यय को 'आप्तुट्' आगम होता है। मकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। आप्तुट् के टकार की इत्सञ्ज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ है। 'आप्त्' शेष रहता है। 'आप्तुट्' टित् आगम है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से यह प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—मव्यति बध्नातीति **ममाप्तालः**, बन्धनहेतुर्विषयो वा।

उदा०—(1) ममाप्तालः (= बन्धन हेतु)—मव्यति बध्नाति। मव्य बन्धने। मव्य् आल—यकारलोप। मव् आल—वकार को मकार आदेश—मम् आल आगम—अनुबन्धलोप—मम् आप्त् आल—सु।

(734) ऋजेः कीकच् [5.51]

पद०—ऋजेः 5.1, कीकच् 1.1

सं०—ऋज्धातोः कीकच्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—ऋज् धातु से परे 'कीकच्' प्रत्यय होता है। प्रत्यय के 'च्' की 'हलन्त्यम्' से तथा आदि में स्थित 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा है। 'ईक' शेष

रहता है। 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है। 'क्' अनुबन्ध गुणनिषेध के लिए है।

स्वा०द०वृ०—अर्जति गच्छतीति **ऋजीक:**, सूर्यो धूमो वा।

उदा०—(1) ऋजीक: (= सूर्य, धूम)—अर्जति गच्छति। ऋज गत्यादिषु। ऋज् कीकच्—अनुबन्धलोप—ऋज् ईक—'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त गुण का निषेध, सु।

(735) तनोतेर्डउ: सन्वच्च [5.52]

पद०—तनोते: 5.1, डउ: 1.1, सन्वत्—अव्य०, च—अव्य०।
सं०—तन्धातोर् 'डउ' प्रत्यय: स्याद्, धातोश्च सन्वत् कार्यं भवति।

व्याख्या—तन् धातु से परे 'डउ' प्रत्यय होता है तथा धातु को सन्वत् कार्य होता है। सन्वत् का तात्पर्य है कि 'डउ' प्रत्यय के परे रहते वे सभी कार्य होते हैं, जो सन् प्रत्यय के परे रहते होते हैं। सन् के परे रहते धातु को द्वित्व आदि कार्य होते हैं। 'डउ' के डकार की 'चुटू' से इत्सञ्ज्ञा है। 'अ उ' शेष रहता है। डित्करण टिलोप के लिए है।

स्वा०द०वृ०—तनोति विस्तृणोति येन तत् **तितउ:** 'चालनी' पेषणशोधकपात्रम्।

उदा०—(1) तितउ: (= छाज, छलनी)—तनोति विस्तृणोति। तनु विस्तारे। तन् डउ—अनुबन्धलोप, धातु को द्वित्व (द्रष्टव्य—सन्यङो:)—तन् तन् अउ—'पूर्वोऽभ्यास:' से अभ्यास सञ्ज्ञा, 'हलादि: शेष:' से हलादि शेष—त तन् अउ—टि का लोप—तत् अउ—'सन्यत:' (पा० 7.4.79) से ह्रस्व अकार के स्थान पर इकार आदेश—तितउ सु।

(736) अर्भकपृथुकपाका वयसि [5.53]

पद०—अर्भकपृथुकपाका: 1.3, वयसि 7.1
सं०—अर्भक पृथुक पाक—इत्येते शब्दा निपात्यन्ते, वयसि गम्यमाने।

व्याख्या—अर्भक, पृथुक और पाक—ये शब्द निपातन से सिद्ध हैं, 'वयस्' अर्थ गम्यमान हो तो।

स्वा०द०वृ०—ऋध्यति वर्धतेऽसौ **अर्भक:**। 'ऋधु'धातोर्वुन् धस्य भ:। प्रथते वर्धते स **पृथुक:**। कुकन्प्रत्यय: सम्प्रसारणं च। पिबतीति **पाक:**। कन् प्रत्यय:। अर्भकपृथुकपाका बालकपर्याया:।

उदा॰—(1) अर्भक: (= बालक, मूर्ख)—ऋध्यति वर्धतेऽसौ। ऋधु वृद्धौ। ऋध् वुन्—न् की इत्सञ्ज्ञा, 'वु' के स्थान पर 'युवोरनाकौ' (पा॰ 7.1.1) से 'अक' आदेश—ऋध् अक—'वुन्' की 'आर्धधातुकं शेष:' से आर्धधातुक सञ्ज्ञा, निपातन से धकार को भकार—ऋभ् अक—'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा॰ 7.3.86) से लघूपध गुण प्राप्त, 'उरण् रपर:' से रपरत्व। अर्भक सु।

(2) पृथुक: (= बालक, मूर्ख)—प्रथते वर्धते। प्रथ विस्तारे। प्रथ् कुकन्—'हलन्त्यम्' से नकार की तथा 'लशक्वतद्धिते' से प्रत्यय के आदि में स्थित ककार की इत्संज्ञा, अनुबन्धलोप—प्रथ् उक—रेफ के स्थान पर ऋकार (इग्यण: सम्प्रसारणम्)—पृथ् उक सु।

(3) पाक: (बालक, घूक)—पिबतीति। पा पाने। पा कन्—पाक सु। दशपादीवृत्ति (3.50) के अनुसार ऋ धातु से आक प्रत्यय और भुक् आगम होकर 'अर्भक' शब्द बनता है। 'पृथुक' में उक प्रत्यय है।

(737) अवद्याऽवमाऽधमाऽर्वरेफा: कुत्सिते [5.54]

पद॰—अवद्य-अवम-अधम-अर्व-रेफा: 1.3, कुत्सिते 7.1

सं॰—कुत्सिते गम्यमाने अवद्य अवम अधम अर्वन् रेफ—इत्येते शब्दा निपात्यन्ते।

व्याख्या—'कुत्सित' अर्थ गम्यमान हो तो अवद्य, अवम, अधम, अर्वन् तथा रेफ—ये शब्द निपातन से सिद्ध हैं।

स्वा॰द॰वृ॰—वदितुमयोग्यम् **अवद्यम्**। नञ्पूर्वाद् 'वद'धातोर्यत्। अवतीति **अवमम्**। अम: प्रत्यय:। तत्रैव वस्य ध:=**अधमम्**। ऋच्छति गच्छतीति **अर्व:**, वन्। रिफति निन्दतीति **रेफ:**। कुत्सितपर्याया इमे।

उदा॰—(1) अवद्यम् (= पाप, अपराध)—वदितुम् अयोग्यम्। नञ् वद व्यक्तायां वाचि। यत् प्रत्यय—न वद् य—अनुबन्धलोप—अवद्य—'नलोपो नञ:' (पा॰ 6.3.73) से नकारलोप—अ वद् य सु—अतोऽम्, अमि पूर्व:।

(2) अवमम् (= रक्षक, घृणा के योग्य)—अवतीति। अव रक्षणादिषु। अव् अम—सु, पूर्ववत्।

(3) अधमम् (= अधम)—अव् अम—निपातनात् वकार को धकार, सु।

(4) अर्वा (= अश्व, इन्द्र)—ऋच्छति गच्छति। ऋ वनिप्—गुण, रपरत्व, सु। अथवा—अर्यतेऽसौ—इस अर्थ में 'ऋ गतौ' से 'वनि' प्रत्यय होता है।

(5) रेफ: (= रेफ, निंदक)—रिफति निन्दति। रिफ् अच्—लघूपधगुण—रेफ् अ—सु।

(738) लीरीङोर्ह्रस्वः पुट् च तरौ श्लेषणकुत्सनयोः [5.55]

पद०—लीरीङोः 6.2, ह्रस्वः 1.1, पुट् 1.1, च—अव्य०, तरौ 1.2, श्लेषण-कुत्सनयोः 7.2

सं०—ली री इत्येताभ्यां धातुभ्यां यथासङ्ख्यं तरौ प्रत्ययौ भवतो धातोश्च ह्रस्वादेशः स्यात्, प्रत्ययस्य 'पुट्' आगमः स्याद् यथासङ्ख्यं श्लेषणकुत्सनयोर् गम्यमानयोः।

व्याख्या—'लीरीङोः' पद को विभक्तिविपरिणाम से पञ्चम्यन्त (यथा—लीरीङ्भ्याम्) बना लिया जाता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होती है। दो प्रकृतियाँ (यथा—ली, री) हैं तथा दो ही प्रत्यय (यथा—त, र) हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' की प्रवृत्ति होती है। 'लीरीङोः' इस षष्ठ्यन्त पद के साथ 'ह्रस्वः' पद का अन्वय होता है। प्रकृत में दो प्रत्यय हैं तथा दो ही अर्थ वाच्य हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' की प्रवृत्ति होती है। अर्थ—ली और री—इन धातुओं से परे क्रमशः 'त' और 'र' प्रत्यय होते हैं, धातु को ह्रस्व आदेश होता है तथा प्रत्यय को 'पुट्' आदेश होता है; क्रमशः श्लेषण और कुत्सन अर्थों के वाच्य रहते। सार यह है कि ली धातु से 'त' प्रत्यय होता है, 'श्लेषण' अर्थवाच्य रहते तथा री धातु से परे 'र' प्रत्यय होता है, 'कुत्सन' अर्थ वाच्य रहते। इसके अतिरिक्त दोनों दशाओं में धातु को ह्रस्व आदेश होता है और प्रत्यय को 'पुट्' आगम होता है। ह्रस्व आदेश धातु में स्थित अच् वर्ण के स्थान पर होता है। पुट् का टकार इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। 'प्' शेष रहता है। पुट् टित् आगम है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से आगम प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—लीयते श्लिष्यत इति **लिप्तम्** श्लिष्टम्। रीयते तत् **रिप्रम्** कुत्सितम्। तरौ प्रत्ययौ पुडागमः।

उदा०—(1) लिप्तम् (= श्लिष्ट)—लीयते श्लिष्यते। लीङ् श्लेषणे। ली त—'त' प्रत्यय, धातु को ह्रस्व आदेश—लि प् त—पुट् आगम, अनुबन्धलोप, सु, अतोऽम्।

(2) रिप्रम् (= निन्दक)—रीयते तत्। रीङ् गतौ। री र—'र' प्रत्यय, धातु को ह्रस्व आदेश—रि र—रि प् र—पुट् आगम, शेष पूर्ववत्।

(739) क्लिशेरीच्चोपधायाः कन् लोपश्च लो नाम् च [5.56]

पद०—क्लिशेः 5.1, ईत् 1.1, च—अव्य०, उपधायाः 6.1, कन् 1.1, लोपः 1.1, च—अव्य, लः 6.1 नाम् 1.1, च—अव्य०।

सं०—क्लिश्धातोः कन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च या उपधा, तस्याः स्थाने

ईकाराऽऽदेशः स्यात्, धातोश्च यो लकारस्तस्य लोपः स्याद्, धातोश्च 'नाम्' इत्यागमः स्यात्।

व्याख्या—'उपधायाः' पद का 'ईत्' के साथ सम्बन्ध है। 'लः' पद का 'लोपः' के साथ सम्बन्ध है। अर्थ—क्लिश् धातु से परे कन् प्रत्यय होता है, धातु की जो उपधा, उसके स्थान पर ईकार आदेश होता है, धातु में स्थित लकार का लोप होता है तथा धातु को 'नाम्' आगम होता है। 'कन्' के 'न्' की 'हलन्त्यम्' से तथा आदि में स्थित 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्सञ्ज्ञा होती है। 'कन्' का 'अ' शेष रहता है। 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' (पा० 1.1.64) से उपधासञ्ज्ञा होती है। 'इत्' में तकार उच्चारणार्थ है। ईत्=दीर्घ ईकार। 'नाम्' के 'म्' की इत्सञ्ज्ञा है। 'नाम्' आगम मित् है। 'मिदचोऽन्त्यात् परः' (पा० 1.1.46) से 'नाम्' आगम अन्त्य अच् से परे होता है।

स्वा०द०वृ०—क्लिश्नातीति **कीनाशः**, कृषीवलो न्यायाधीशो वा। धातोरुपधाया ईत्वं लकारलोपः कन्प्रत्ययो नामागमश्चान्त्यादचः परः।

उदा०—(1) कीनाशः (=कृषक, वानरविशेष, तुच्छ)—क्लिश्नातीति। क्लिश उपतापे। क्लिश् कन्—अनुबन्धलोप—क्लिश् अ—उपधा के स्थान पर ईकार—क्लीश् अ—लकार का लोप। कीश् अ—'नाम्' आगम—की नाम् श् अ—अनुबन्धलोप, सु।

(740) अश्नोतेराशुकर्मणि वरट् च [5.57]

पद०—अश्नोतेः 5.1, आशुकर्मणि 7.1, वरट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'क्लिशेरीच्चोपधायाः कन्०' (उ०सू० 5.56) से 'कन्' का तथा 'ईच्चोपधायाः' का अनुवर्त्तन है।

सं०—आशुकर्मणि गम्यमाने अश्धातोः कन्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च या उपधा, तस्याः स्थाने ईकार आदेशः स्याद्, प्रत्ययस्य 'वरट्' इत्यागमः स्यात्।

व्याख्या—'आशुकर्म' अर्थ के वाच्य रहते अश् धातु से परे 'कन्' प्रत्यय होता है, धातु की उपधा के स्थान पर ईकार आदेश होता है तथा प्रत्यय को 'वरट्' आगम होता है। 'कन्' का 'अ' शेष रहता है। 'वरट्' का टकार इत्सञ्ज्ञक है। 'ट्' अनुबन्ध स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय के लिए है। वरट् टित् आगम है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से वरट् आगम प्रत्यय का आद्यवयव बनता है। रेफस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—अश्नुते आशु शीघ्रं करोति जगद्रचयति स **ईश्वरः**, स्वामी वा। टित्त्वात् **'ईश्वरी'**; 'वरच्'प्रत्यये **'ईश्वरा'**।

उदा०—(1) ईश्वरः (= स्वामी, राजा, ईश्वर)—अश्नुते शीघ्रं जगद् रचयति।

अशूङ् व्याप्तौ। अश् कन्—अश् अ—उपधा को ईकार—ईश् अ—आगम—वरट्—ईश् वरट् अ—अनुबन्धलोप—ईश् वर् अ सु।

(2) ईश्वरी—'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'टिड्ढाऽणञ्०' (पा० 4.1.15) से ङीप्, अनुबन्धलोप—ईश्वर ङीप् > ई—यचि भम्, 'यस्येति च' से अकारलोप—ईश्वर् ई—सु, लोप।

(3) ईश्वरा—'स्थेशभासपिसकसो वरच्' (पा० 3.2.175) से ईश् धातु से वरच् प्रत्यय होकर 'ईश्वर' शब्द निष्पन्न होता है। इस दशा में स्त्रीत्व में सामान्य टाप् होकर 'ईश्वरा' शब्द बनता है।

(741) चतेरुरन् [5.58]

पद०—चतेः 5.1, उरन् 1.1
सं०—चत्धातोर् उरन्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—चत् धातु से परे 'उरन्' प्रत्यय होता है। 'न्' इत्सञ्ज्ञक है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए है। अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—चतते याचतेऽसौ **चतुः**, संख्यावाची वा। **चत्वारः; चतस्रः, [चत्वारि]**।

उदा०—(1) चतुः (= चार)—चतते याचतेऽसौ। चत याचने। चत् उरन्—अनुबन्धलोप—चत् उर्—चतुर् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(742) प्राततेररन् [5.59]

पद०—प्रातते: 5.1, अरन् 1.1
सं०—प्रपूर्वकाद् अत्धातोर् अरन्प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—'प्र' शब्दपूर्वक अत् धातु से परे 'अरन्' प्रत्यय होता है। 'न्' की इत्सञ्ज्ञा है। रेफस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'अर्' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—प्रकृष्टमतति गच्छतीति **प्रातः**, प्रभातकालो वा। **स्वरादित्वाद्** [द्रष्टव्य—अ० 1.1.36] अव्ययम्।

उदा०—(1) प्रातः (= सुबह)—प्रकृष्टम् अतति। अत सातत्यगमने। प्र अत् अरन्—सवर्णदीर्घ—प्रात् अर्—अनुबन्धलोप, सु, लोप।

(743) अमेस्तुट् च [5.60]

पद०—अमेः 5.1, तुट् 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'प्राततेररन्' (उ०सू० 5.51) से 'अरन्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—अम्धातोर् अरन्प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययस्य च 'तुट्' इत्यागमो भवति।

व्याख्या—अम् धातु से परे 'अरन्' प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय को 'तुट्' आगम होता है। 'अरन्' का 'अर्' शेष रहता है। तुट् का टकार इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। 'त्' शेष रहता है। तुट् आगम टित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से तुट् आगम प्रत्यय का आद्यवयव बनता है।

स्वा०द०वृ०—अमति गच्छति यत्रेति **अन्तः**, मध्यं वा। पूर्ववदव्ययम्।

उदा०—(1) अन्तः (= मध्य)—अमति गच्छति यत्र। अम गतौ। अम् तुट् अरन्—अनुबन्धलोप—अम् त् अर्—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (पा. 8.3.24) से अनुस्वार—अंतर्—'अनुस्वारस्य ययि०' (पा० 8.4.57) से परसवर्ण—अन्तर् सु—अपृक्त सकार का लोप।

(744) दहेर्गो हलोपो दश्च नः [5.61]

पद०—दहेः 5.1, गः 1.1, हलोपः 1.1, दः 6.1, च—अव्य०, नः 1.1

सं०—दह्धातोर् गप्रत्ययः स्याद्, धातोश्च यो हकारस्तस्य लोपः स्याद्, धातोश्च यो दकारस्तस्य स्थाने नकारः स्यात्।

व्याख्या—दह् धातु से परे 'ग' प्रत्यय होता है, धातु के हकार का लोप होता हैं तथा धातु का जो दकार, उसके स्थान पर नकार आदेश होता है। नकारस्थ अकार उच्चारणार्थ है। 'लशक्वतद्धिते' (पा० 1.3.8) से गकार की इत्सञ्ज्ञा प्राप्त है। बहुलवचनात् निषेध होता है।

स्वा०द०वृ०—दहति दह्यति वा स **नगः**, पर्वतो वृक्षो वा। [गप्रत्ययो हकारस्य लोपो दकारस्य च नकारादेशः।] बाहुलकान्नकारस्य नाकारः—**नागः**, सर्पभेदो वा।

उदा०—(1) नगः (= पर्वत, वृक्ष, हाथी, सूर्य)—दहति दह्यते वा। दह भस्मीकरणे। दह् ग—हकारलोप। द ग—नकार आदेश—नग सु।

(2) नागः (= एक सर्प)—नकार के अकार को बाहुलकात् आकार आदेश—दह् ग—द ग—नग—नाग सु।

(745) सिचेः सञ्ज्ञायां हनुमौ कश्च [5.62]

पद०—सिचेः 5.1, सञ्ज्ञायाम् 7.1, हनुमौ 1.2, कः 1.1, च—अव्य०।

सं०—सिच्धातोर् हप्रत्ययो 'नुम्' आगमश्च स्याताम्। धातोश्च ककारोऽन्तादेशः स्यात्, सञ्ज्ञायां गम्यमानायाम्।

व्याख्या—सिच् धातु से परे 'ह' प्रत्यय होता है, धातु को 'नुम्' आगम होता है तथा धातु को ककार आदेश होता है; यदि सञ्ज्ञा गम्यमान हो। 'नुम्' का मकार इत्सञ्ज्ञक है। उकार उच्चारणार्थ है। 'न्' शेष रहता है। नुम् 'मित्' है। 'मिदचोऽन्त्यात् परः' (पा० 1.1.46) से अन्त्य अच् (इकार) से परे होता है। ककार आदेश 'अलोऽन्त्यस्य' से धातु के अन्त्य अल् (चकार) के स्थान पर होता है। ककारस्थ अकार उच्चारणार्थ है।

स्वा०द०वृ०—सिञ्चतीति **सिंहः**, प्रसिद्धो वा। धातोर्हकारान्त्यादेशो नुमागमः कश्च प्रत्ययः; हिनस्तीति '**सिंहः**' इति, **पृषोदरादित्वाद्** [द्रष्टव्य—अ० 6.3.108] अप्याद्यन्तविपर्ययः।

उदा०—(1) सिंहः (= शेर)—सिञ्चतीति। षिच सेचने। 'धात्वादेः षः सः' (पा० 6.1.62) से धातु के षकार को सकार—सिच् ह प्रत्यय, ककार अन्तादेश—सिक् ह—नुम् आगम—सि नुम् क् ह—अनुबन्धलोप—सिन् क् ह—'स्कोः संयोगा०' (पा० 8.2.29) से ककार का लोप—सिन् ह—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (पा० 8.3.24) से अनुस्वार, सु।

विशेष—स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार धातु से 'क' प्रत्यय होता है। अर्थ—सिच् धातु को हकार अन्तादेश, नुम् आगम तथा 'क' प्रत्यय होते हैं। यथा—सिच्—सिह् क—सि न् ह् क—अनुबन्धलोप, 'क्' की इत्सञ्ज्ञा—सिंह सु—अनुस्वार। प्रकृत सूत्र में 'क' प्रत्यय मानने में उत्तरसूत्र में 'क' की अनुवृत्ति प्रमाण है। यदि उत्तरसूत्र में 'क' का अनुवर्त्तन नहीं मानते हैं तो 'व्याघ्र' शब्द सिद्ध नहीं होता है। दशपादीवृत्तिकार के अनुसार भी 'कन्' प्रत्यय तथा हकार अन्तादेश होते हैं। (द्रष्टव्य—द०वृ० 9.106)

(746) व्याङि घ्रातेश्च जातौ [5.63]

पद०—व्याङि 7.1, घ्रातेः 5.1, च—अव्य०, जातौ 7.1

अनु०— 'सिचेः सञ्ज्ञायां हनुमौ कश्च' (उ०सू० 5.62) से 'कः' की अनुवृत्ति है।

सं०—वि-आङ्पूर्वकाद् घ्राधातोः कप्रत्ययः स्याद् जातौ गम्यमानायाम्।

व्याख्या—वि तथा आङ्—इन शब्दों के पूर्वपद में रहते घ्रा धातु से परे 'क' प्रत्यय होता है, 'जाति' अर्थ वाच्य होतो। 'क' का 'अ' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—विशेषेण समन्ताज्जिघ्रतीति **व्याघ्रः**, द्वीपी वा।

उदा०—(1) व्याघ्रः (= बाघ, चीता)—विशेषेण समन्ताज् जिघ्रति। वि आङ्

घ्रा क—अनुबन्धलोप, इको यणचि—व्या घ्रा अ—'आतो लोप इटि च' (पा० 6.4.64) से आकारलोप, सु।

(747) हन्तेरच् घुर च [5.64]

पद०—हन्तेः 5.1, अच् 1.1, घुर 1.1, च—अव्य०।

सं०—हन्धातोर् अच्प्रत्ययः स्याद्, धातोश्च स्थाने 'घुर्' इत्यादेशो भवति।

व्याख्या—'हन्तेः' पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'हन्तेः' पद को पञ्चम्यन्त मानकर धातु से परे प्रत्यय किया जाता है। द्वितीय 'हन्तेः' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त मानकर धातु के स्थान पर आदेश किया जाता है। अर्थ—हन् धातु से परे अच् प्रत्यय होता है तथा धातु को 'घुर्' आदेश होता है। अच् का 'च्' इत्सञ्ज्ञक है। 'च्' अनुबन्ध का प्रयोजन आद्युदात्त स्वर करना है। घुर के रेफ में स्थित अकार उच्चारणार्थ है। 'घुर्' अनेकाल् आदेश है। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से 'घुर्' आदेश सम्पूर्ण स्थानी (अर्थात् हन् धातु) के स्थान पर होता है।

स्वा०द०वृ०—हन्तीति **घोरम्**, भयानकं वा।

उदा०—(1) घोरम् (= भयानक, विष)—हन्तीति। हन हिंसागत्योः। हन् अच्—सर्वादेश—घोर् अ सु—अतोऽम्।

विशेष—दशपादीवृत्ति (8.104) के अनुसार हन् धातु से रन् प्रत्यय तथा घकार आदेश होकर 'घर' शब्द निष्पन्न होता है। यथा—हन्ति हन्यते वा। हन्—घ रन्—घ घर सु। घरः=गृह। द्रष्टव्य—हन्ते रन् घ च (द०वृ० 8.104)।

(748) क्षमेरुपधालोपश्च [5.65]

पद०—क्षमेः 5.1, उपधालोपः 1.1, च—अव्य०।

अनु०— 'हन्तेरच् घुर च' (उ०सू० 5.64) से 'अच्' का अनुवर्त्तन है।

सं०—क्षम्धातोर् अच्प्रत्ययो भवति, धातोश्च या उपधा—तस्या लोपो भवति।

व्याख्या—'क्षमेः' पद की पूर्ववत् आवृत्ति करके सूत्रार्थ किया जाता है। अर्थ—क्षम् धातु से परे अच् प्रत्यय होता है तथा धातु की उपधा का लोप होता है। 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' (पा० 1.1.64) से उपधासञ्ज्ञा होती है। 'अच्' का 'अ' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—क्षमते सहते सर्वमिति **क्ष्मा**, पृथिवी वा।

उदा०—(1) क्ष्मा (= पृथ्वी)—क्षमते सहते। क्षमूष् सहने। क्षम् अच्—अनुबन्धलोप, उपधा (अकार) का लोप—क्ष् म् अ—'स्त्रियाम्' (पा० 4.1.3) के

अधिकार में 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० 4.1.4) से टाप्—क्ष्मा टाप्—अनुबन्धलोप, सवर्ण दीर्घ, सु, अपृक्त सकार का लोप।

(749) तरतेर्ड्रिः [5.66]

पद०—तरते: 5.1, ड्रि: 1.1

सं०—तृधातोर् ड्रिप्रत्ययो भवति।

व्याख्या—तृ धातु से परे ड्रि प्रत्यय होता है। 'चुटू' (पा० 1.3.8) से डकार की इत्सञ्ज्ञा है। 'रि' शेष रहता है। प्रत्यय को डित् करने का प्रयोजन धातु के 'टि' का लोप करना है।

स्वा०द०वृ०—तरतीति **त्रिः,** संख्यावाची वा; **त्रयः, त्रीन्, त्रिभ्यः**।

उदा०—(1) त्रि: (= संख्या)—तरतीति। तृ प्लवनसन्तरणयो:। तृ ड्रि—अनुबन्धलोप—तृ रि—टिलोप—त् रि—सु।

(750) ग्रहेरनिः [5.67]

पद०—ग्रहे: 5.1, अनि: 1.1

सं०—ग्रह्धातोर् अनिप्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—ग्रह् धातु से परे 'अनि' प्रत्यय होता है।

स्वा०द०वृ०—गृह्णातीति **ग्रहणिः**। **'कृदिकारादक्तिनः'** (अ० 4.1.45 गणसूत्र) इति ङीष् **'ग्रहणी',** संग्रहणी व्याधिभेदो वा।

उदा०—(1) ग्रहणि: (= अतिसार रोग)—गृह्णातीति। ग्रह उपादाने। ग्रह् अनि—'अट्कुप्वाङ्नुम्' (पा० 8.4.2) से णत्व, सु।

(751) प्रथेरमच् [5.68]

पद०—प्रथे: 5.1, अमच् 1.1

सं०—प्रथ्धातोर् अमच्प्रत्यय: स्यात्।

व्याख्या—प्रथ् धातु से परे 'अमच्' प्रत्यय होता है। प्रत्यय का 'च्' इत्संज्ञक है। 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—प्रथते प्रख्यातो भवतीति **प्रथमः,** आद्य उत्तमो नूतनो वा।

उदा०—(1) प्रथम: (= प्रथम, उत्तम)—प्रथते प्रख्यातो भवति। प्रथ प्रख्याने।

(752) चरेश्च [5.69]

पद०—चरे: 5.1, च—अव्य०।

अनु०— 'प्रथेरमच्' (उ०सू० 5.68) से 'अमच्' का अनुवर्त्तन है।
सं०—चर्धातोर् अमच्प्रत्ययः स्यात्।

व्याख्या—चर् धातु से परे 'अमच्' प्रत्यय होता है। 'अमच्' का 'अम' शेष रहता है।

स्वा०द०वृ०—चरति गच्छति भक्षयतीति वा स **चरमः**, अन्त्यः पश्चिमो वा।

उदा०—(1) चरमः (= अन्तिम, वृद्ध)—चरति गच्छति। चर गतौ। चर् अमच्—चर् अम सु।

(753) मङ्गेरलच् [5.70]

पद०—मङ्गेः 5.1, अलच् 1.1
सं०—मङ्ग्धातोर् अलच्प्रत्ययो भवति।

व्याख्या—मङ्ग् धातु से परे 'अलच्' प्रत्यय होता है। प्रत्यय का 'च्' इत्सञ्ज्ञक है। 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है।

स्वा०द०वृ०—मङ्गति प्राप्नोति सुखं येन तत् **मङ्गलम्** प्रशस्तम्; **मङ्गलो** वारभेदो'वा। मङ्गलस्य भावो **'माङ्गल्यम्'**।

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

उदा०—(1) मङ्गलम् (= शुभ, एक वार)—मङ्गति प्राप्नोति सुखं येन तत्। मगि गतौ। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम् आगम—म नुम् ग्—अनुबन्धलोप—मन् ग्—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार—मंग्—'अनुस्वारस्य ययि०' से परसवर्ण—मङ्ग् अलच्—मङ्गल सु—अतोऽम्, अमि पूर्वः।

॥ इति हरियाणाप्रदेशीय-भिवानीमण्डलान्तर्गत-भिवानीनाम्नि 'लघुकाशी'त्याख्यया विख्याते दिव्यधाम्नि नगरे राजकीय-स्नातकोत्तरमहाविद्यालयीय-संस्कृत-विभागाऽध्यक्षाणामीश्वरचन्द्रशर्म्मणामात्मजासोमलेखा विरचित 'पीयूष'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतोणादिकोषे पञ्चमः पादः ॥

23.02.2008 इति ख्रीस्तीये दिनाङ्के चतुष्षष्ट्यधिकद्विसहस्रतमे वैक्रमाऽब्दे फाल्गुनमासस्य कृष्णपक्षस्य शनिवासरान्वितायां द्वितीयायां तिथौ ग्रन्थोऽयं पूर्णतामगात्।

●

'क' परिशिष्टे

(ग्रन्थस्थसूत्राणां वर्णाऽनुक्रमेण सूची। अत्र निर्दिष्टा अङ्का वामतः क्रमेण पादसूत्रक्रमप्रत्यायकाः)

31 उ०को०

•

'ख' परिशिष्टे

उणादिसूत्रेषु निर्दिष्टानां प्रत्ययानां वर्णानुक्रमेण सूची । अत्र निर्दिष्टा अङ्काः क्रमेण वामतः पादसूत्रक्रमप्रत्यायकाः ।

अक्नुच्	3.81
अङ्गच्	1.119-22
-कित्	1.121
अच्	5.19,20,31,32,40
	41,54,64,65
अचः (पा०)	4.2
अजिः	1.136-138
-कित्	1.137
अटच्	4.105
अटन्	4.82
अटिः	1.134,135
अठः	1.100,101
अण्डन्	1.129
अतच्	3.110,111
-कित्	3.111
अतिः	2.85,86; 4.60-64
	5.5-7
-चित्	4.61
-नित्	4.64; 5.6
अत्रन्	3.105-107
-चित्	3.107
अत्रिन्	4.70
अथः	3.113-116
-ङित्	3.115
-चित्	3.114

अदिः	1.130-133
डित्	1.132
अन्	5.33
अनिः	2.104-109; 5.67
-कित	2.109
अनुङ्	3.52
अन्यः	3.100-103
-नित्	3.102
अन्युच्	3.81
अपः	3.141
अबक	4.97
अभच्	3.122-125
-कित्	3.123
-नित्	3.124
अमः	4.85; 5.54
अमच्	5.68,69
अम्बच्	4.83,84,97
-णित्	4.84
अयुः	3.22
अरः	3.131,132; 5.38.39
-चित्	3.132; 5.39
अरन् (अर)	4.156
अरन्	5.59,60
अरुः	4.80,81
-कित्	4.81

•

'ग' परिशिष्टे

ग्रन्थस्थोदाहरणानां वर्णानुक्रमेण सूची

(साक्षाद् उणादिसूत्रघटिता बाहुलकात् परम्परया च प्राप्ताः शब्दा अत्र सङ्कलिताः । अत्र निर्दिष्टाऽङ्का वामतः क्रमेण पादसूत्र-क्रम-प्रत्यायकाः सन्ति ।)

ह

•

अष्टाध्यायी। 'चन्द्रलेखा'-हिन्दीव्याख्यायुताऽनेकोपयोगिविषयै-रुपबृंहिता सूत्रपाठ-सूत्रवार्त्तिकोदाहरणानां सूच्या चान्विता।विस्तृत हिन्दी व्याख्या सहित। पं. ईश्वरचन्द्र शर्मा

अष्टाध्यायीसूत्रपाठः। सम्पादक-श्रीगोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी'

काशिकावृत्तिः। 'सोमलेखा'-हिन्दीव्याख्यायुताऽनेकोपयोगिविषयैरुपबृंहिता काशिकास्थ-सूत्र-वार्त्तिकेष्टि-फिट्सूत्र-गणसूत्र-परिभाषोणादिसूत्र-कारिकोदाहरण-प्रत्युदाहरणाद्यभूतपूर्वसूचीभिरलंकृता। (सम्पूर्ण 1-3 भाग) । पं. ईश्वरचन्द्र

परिभाषेन्दुशेखरः। म. म. तात्याशास्त्रीकृत'भूति' टीका

पाणिनीयलिङ्गानुशासनम्। 'आशुबोधिनी'-संस्कृत हिन्दी टीकाद्वयोपेतमनेकोपयोगि परिशिष्टैरूपसहितम्। पं. ईश्वरचन्द्र

फिट्सूत्रपाठः। 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीटीका सहित।व्याख्याकर्त्री-सोमलेखा। भूमिका लेखक पं. ईश्वरचन्द्र।

बृहद्धातुकुसुमाकरः। (सिद्धान्तकौमुदी के सभी धातु-रूपों का संग्रह)। पं. हरेकान्त मिश्र

बृहच्छब्दकुसुमाकरः। (शब्दरूपों का संग्रह)। पं. हरेकान्त मिश्र

मुग्धबोधव्याकरणम्। बोपदेव विरचित। श्रीदुर्गादासतर्कवागीश, श्रीरामतर्क वागीश कृत टीकासहित। सम्पादक-पं. जीवानन्दविद्यासागर

रूपचन्द्रिका। (शब्द एवं धातुरूपों का सङ्कलन) । डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

लघुशब्देन्दुशेखरः। श्रीनागेशभट्ट। 'सुबोधिनी' हिन्दी व्याख्या सहित। पञ्चसन्ध्यन्तः। आचार्य विश्वनाथ मिश्र

The Laghusiddhanta Kaumudi : Translated by James R. Ballantyne Edited by S. N. Sharma & V. Narain

व्याकरणमहाभाष्यम्। 'प्रदीप' 'उद्योत' तथा पायगुण्डे कृत 'छाया' सहित। (सम्पूर्ण 1-6 भाग)

वैयाकरणभूषणसारः। 'दर्पण' 'सुबोधिनी' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित। डॉ. चन्द्रिका प्रसाद द्विवेदी

वैयाकरणभूषणसारः। श्री हरिशास्त्रीकृत 'काशिका' टीका एवं श्रीहरिवल्लभ पर्वतीयकृत 'दर्पण' टीका। श्रीगुरुप्रसादशास्त्रीकृत टिप्पणी। सम्पादकः-पं. नन्दकिशोर शास्त्री एवं श्रीबालशास्त्री।

(वैयाकरण) सिद्धान्तकौमुदी। पुष्पाञ्जलिसमाख्य-व्याख्ययोपेता कौमुदीगताऽष्टा-ध्यायीसूत्र-वार्त्तिक-गणसूत्रेष्टि-कारिका-परिभाषा-पारिभाषिकशब्दोणादिफिट्सूत्रो-दाहरणानां सूचीभिरन्विताऽनेकोपयोगिविषयैश्चोपबृंहिता।(सम्पूर्ण 1-4 भाग) व्याख्याकारौ-पं. ईश्वरचन्द्र एवं सोमलेखा

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली